षट्खण्डागम की शास्त्रीय भूमिका

षट्खण्डागम की शास्त्रीय भूमिका

षोडस संरचनात्मक प्रस्तावनाएं

प्राच्य विद्याचार्य (डॉ.) हीरालाल जैन

संकलन संपादन

प्रोफेसर (डॉ.) धरमचंद जैन

प्रकाशक

प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर

द्रव्य प्रदत्त :
नरेशचन्द्र भूषणप्रसाद जैन
X-3425, गली नं० 1
गांधीनगर, दिल्ली

डॉ. हीरालाल जैन जन्मशताब्दी समारोह के अंतर्गत

जन्मशतवार्षिकी प्रकाशन की पहली प्रस्तुति

संस्करण : अक्टूबर 2000

मूल्य : रू. 495/-

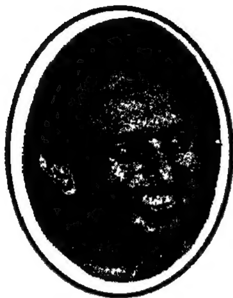
प्रकाशक
प्राच्य श्रमण भारती
12/ए, प्रेमपुरी, जैन मन्दिर के पास
मुजफ्फरनगर (उ. प्र.) 251001
दूरभाष : 0131-450228, 408901

प्राप्तिस्थान
प्राच्य श्रमण भारती
12/ए, प्रेमपुरी, जैन मन्दिर के पास
मुजफ्फरनगर (उ. प्र.) 251001
दूरभाष : 0131-450228, 408901

मुद्रक
ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स
प्राच्य-विद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता
29/5, शक्ति नगर, दिल्ली-110007
दूरभाष : 7451485

जिसने श्रुत की धार बहाई
सुधी जनों में मेरे मन में।
हेतु भूत श्रुत सम्पादन में
बाबूजी को पूज्य भाव से।।

विषय-सूची



परमपूज्य उपाध्याय

१०८ श्री ज्ञानसागरजी

शुभाशंसा

डॉ. हीरालाल जैन ने, कर्नाटक की महार्घ्य निधि षट्खंडागम एवं उसकी धवला टीका को, श्रवणबेलगोला के शिलाशासनों से निकालकर, इस महादेश और अखिल विश्व के सुधीजनों को जैनधर्म के प्राचीनतम आगमग्रंथ से परिचित कराया है। उन्होंने षट्खण्डागम और उसकी धवलाटीका का सम्पादन और भाषानुवाद के साथ सोलह जिल्दों के लिये जो शास्त्रीय भूमिकाएँ प्रस्तुत की हैं वे ऐतिहासिक हैं।

द्वितीय सहस्राब्दि के पहले संपादक-शिरोमणि और जैनागम के दूसरे पारगामी विद्वान को, उनकी जन्मशताब्दी पर, सिद्धान्त चक्रवर्ती पदवी से विभूषित करना हमारे जैन साधु और श्रावक समाज का दायित्व है।

मेरे आशीर्वाद

मालपुरा (राज.)

दि. ३.६.२०००



अन्तस्तोष

उस कल्पनाकार का अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान देखता है। वर्षों से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि मेरे पूज्य पिता डॉ. हीरालाल जैन ने बीस लम्बे सालों के अखूट सात्विक श्रम से पाठालोचन, विवेचन, निर्यूहण और भाषानुवाद द्वारा जिस जैन सिद्धान्त ग्रंथ षट्खण्डागम का मानक सम्पादन कर षोड़सिक प्रस्फोटन प्रस्तुत किया था, उसका आस्वाद सुधीजनों को यथासाध्य सहजरूप से हो सके।

पूज्य मुनिवर उपाध्यायश्री ज्ञानसागर महाराज के आशीर्वाद और उनके तलस्पर्शी भक्तों की प्रतिनिधि संस्था प्राच्य श्रमण भारती के तत्पर सौजन्य से मेरा संकल्प फलवान बना।

डॉ. हीरालाल जैन जन्मशताब्दी समारोह समिति के तत्वावधान में, मुझे केन्द्र मान, मेरे आत्मीय, परिजन और मित्रों का परिवार मेरे पिता की अद्वितीय उपलब्धि को श्रावक-सुलभ और सहज ग्राह्य बनाने में संलग्न हुआ। मैं इस अन्तस्तोष में उन सबको सहभागी बनाना चाहता हूँ जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं।

प्रफुल्ल कुमार मोदी

उपोद्घात -

साहित्य के भीतर दो कोटि के तत्व होते हैं - एक उसका शाब्दिक और रचनात्मक रूप तथा दूसरा आर्थिक और विचारात्मक रूप। जैन परम्परा में इन्हें क्रमश: द्रव्यश्रुत और भावश्रुत कहा गया है। महावीर तीर्थंकर के पहिले द्रव्यश्रुत की दृष्टि से कोई जैन साहित्य उपलब्ध नहीं है, किन्तु महावीर-पूर्व प्रचलित ज्ञानभंडार को श्रमण परंपरा में पूर्व की संज्ञा दी गई है। यहां यह कहना प्रासंगिक होगा कि तीर्थंकर कथित गुणधर रचित और आचार्य परंपरा से आगत अर्थ को व्यक्त करने वाले सिद्धान्तग्रंथ भारतीय परंपरा में आगम कहे गये हैं। जैन परंपरा में द्वादशांग आगम स्वीकृत हैं। द्वादशांग आगम के बारहवें अंग दृष्टिवाद में ऐसे चौदह पूर्वों का उल्लेख है जिनमें श्रमण परंपरा की अनेक विचारधाराओं, मत-मतान्तरों तथा ज्ञान-विज्ञान का संकलन तीर्थंकर महावीर के प्रधान शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम द्वारा किया गया है। वस्तुत: धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक विचारों तथा मंत्र, तंत्र, शकुनशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, फलित ज्योतिष, नाना कलाओं और आयुर्वेद आदि विज्ञान विषयक ज्ञान भंडार की समग्र प्रस्तुति के कारण इन पूर्वो को प्राचीन काल का ज्ञानकोष कहा जाता है।

उक्त समस्त पूर्वों के अंतिम ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। दुर्भाग्यवश अधिकांश पूर्व और आगम साहित्य सुरक्षित नहीं रहा। जैन मुनियों के लिये उपयुक्त और आवश्यक था उतना पूर्व साहित्य द्वादशांग में समाविष्ट कर लिया गया। आगमों का भी आंशिक ज्ञान मुनि परंपरा में सुरक्षित रहा। वीर निर्वाण के लगभग सात शताब्दियों पश्चात् गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी एकमात्र आचार्य धरसेन ही आगम के एक देश ज्ञाता थे। उन्हें आग्राहणीय पूर्व के कुछ अधिकारों का विशेष ज्ञान था। उन्होंने यह ज्ञान पुष्पदंत और भूतवलि नामक शिष्यों को सिखाया था। धरसेन गुरू से शिक्षा प्राप्त कर आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि ने षट्खंडागम की छै हजार सूत्रों में रचना ई.सन्.०११६ में सम्पूर्ण की। अगले सात सौ वर्षो में इसकी छै टीकाएँ लिखी गईं। किन्तु भट्टारक वीरसेन द्वारा रचित ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवलाटीका ही आज उपलब्ध है।

धवला टीका की शौरसेनी प्राकृत में ताड़पत्र पर कन्नड़ लिपि में लिखी हुई तीन प्रतियां मूड़बिद्री (कर्नाटक) के 'सिद्धान्तवसति' मन्दिर में सुरक्षित हैं। नेमिचंद्र आचार्य ने इसी धवलसिद्धान्त का निर्यूहण ९६२ गाथाओं में गोम्मटसार भाग-१ और २ नामक ग्रंथों में ई. सन् ११३६ में प्रस्तुत कर सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त की थी। अनुमान है कि गोम्मटसार के प्रचार में आने के बाद मूल षट्खंडागम के अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली समाप्त हो गयी और ग्रंथराज केवल पूजा की वस्तु रह गये। शताब्दियों पुरानी प्रतियों की उत्तरोतर बढ़ती जीर्णता को देखकर समाज के कर्णधारों को चिंता हुई और १८९५ ई.सन् के आसपास से इन सिद्धांत ग्रंथों के उद्धार का उपक्रम शुरू हुआ। इस उद्धार कथा का इतिहास जितना रोचक है उतना ही पीड़ादायक है। इसका विस्तार से वर्णन उद्धार-पुरोधा डॉ.हीरालाल जैन ने अपनी ऐतिहासिक भूमिका में यथास्थान किया है। यहां इतना उल्लेख ही इलम है कि प्राच्य विद्या के विशिष्ट क्षेत्र जैनसिद्धान्त तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अप्रतिम और समर्पित विद्वान डॉ.हीरालाल जैन को इस विशाल ज्ञानयज्ञ में अपने मूल्यवान जीवन के बीस वर्ष और अमूल्य जीवन संगिनी का उत्सर्ग करना पड़ा।

डॉ.हीरालाल जैन ने षट्खंडागम और उसकी धवला टीका का सम्पादन कार्य सन् १९३८ ई. में प्रारंभ किया था। उन्होंने सोलह जिल्दों में इस महान रचना का मूल पाठ, उसका मूलगामी अनुवाद, विशिष्ट स्पष्टीकरण, शंका- समाधान, तुलनात्मक टिप्पण तथा ऐतिहासिक विवेचन और पारिभाषिक शब्दों की सूची प्रस्तुत की है। इस कार्य में उन्होंने अपने आत्मीय मित्र, प्राकृत-कन्नड़ भाषाविद् प्रोफेसर डॉ.ए.एन.उपाध्ये का उदार सहयोग पं हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, पं. बालचंद्र शास्त्री, पं.देवकीनंदन सिद्धांत शास्त्री और पं फूलचंद शास्त्री जैसे परंपरा-पोषक पंडितों की सहायता भी लेना पड़ी। लेकिन दो हजार वर्ष पुराने ग्रंथों का, जिनकी भाषा और भावधारा आज की भाषा और भावधारा से बहुत व्यवधान पा चुकी हो, सम्पादन कार्य बेहद जटिल और दुरुह होता है। इसका अनुभव दशवैकालिक का सम्पादन करते हुये मुनि नथमलजी को भी हुआ था। इसीलिये इस प्रसंग में उनका यह कथन उल्लेखनीय है "मनुष्य अपनी शक्ति में विश्वास करता है और अपने पौरुष से खेलता है, अत: वह किसी भी कार्य को इसलिये नहीं छोड़ देता कि वह दुरुह है। यह पलायन की प्रवृत्ति होती तो प्राप्य की संभावना नष्ट हो जाती और जो आज प्राप्त है वह अतीत के किसी भी क्षण में विलुप्त हो जाता।"

प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन में दुरूहता की जो प्रतीति डॉ.हीरालाल जैन और मुनि नथमलजी को दूसरी सहस्राब्दि के अंतिम वर्ष में हुई थी वैसी ही नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि को भी एक सहस्रवर्ष पूर्व हो चुकी थीं। डॉ. हीरालाल जैन को भी अशुद्ध प्रतिलिपि से वास्ता पड़ा। अर्थबोध की सम्यक गुरुपरंपरा उन्हें भी नहीं मिली। अर्थ की आलोचनात्मक कृति का अभाव उन्हें खलता रहा। आगम अध्ययन-अध्यापन की परंपरा भी उनकी सहायता के लिये नही थीं। छिद्रान्वेषक पंडितों के अर्थ-विषयक मतभेद अपनी जगह थे ही। इन सब बाधाओं के बावजूद पलायन की प्रवृत्ति न होने के कारण ही पौरुष से खेलने में उन्हें जीवन रस मिलता रहा। इसीलिये उन्हें प्रारंभ में मिलने वाले विरोध की मुद्रा भी अंततः अनुरोध के शील में परिवर्तित हो गई।

१९५८ में, २० वर्षो के सात्विक श्रम के पश्चात्, षट्खंडागम के षोडषिक प्रस्फोटन की अंतिम जिल्द को सम्पूर्ण करते समय सम्पादक डॉ.हीरालाल जैन के मन में जितनी प्रसन्नता थी उतनी ही उद्विग्नता भी थी। उनके विचार से सम्पादन कौशल के निखार और सम्पादक के कर्तव्य को पूर्णता के लिये जिन कार्यो को वे पूरा करना चाहते थे वे अवशिष्ट ही रह गये थे। जैसे -

१ षट्खंडागम और टीका धवला के मूल-पाठ का तीनों उपलब्ध ताड़प्रतियों से मिलान और पाठ भेदों का अंकन।

२. कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी दिगम्बर और श्वेताम्बर तथा वैदिक और बौद्ध साहित्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन व पाश्चात्य दर्शन प्रणाली से उसका विवेचन।

३. सूत्रों और टीका का प्राकृत भाषा सम्बन्धी अध्ययन।

डॉ.जैन आशावादी थे। उनका विश्वास था कि वर्तमान युग की बढ़ती हुई ज्ञान-पिपासा तथा विशेष अध्ययन की ओर अभिरुचि व प्रोत्साहन को देखते हुये उक्त प्रवृत्तियों को हाथ लगाने में विलम्ब न होगा। अपूर्व प्रतिभा दृभट मेधा और ज्ञान की साधना में भक्तिपरक तल्लीनता से रत षट्खंडागम के पारगामी ऋषि को हमारी यही सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी कि हम उनके विश्वास को खंडित न होने दें।

षट्खंडागम की सोलह पुस्तकों में उन्होने, प्रत्येक भाग के साथ भूमिका में, ग्रंथ सम्बन्धी ऐतिहासिक विवरण व विषय का परिचय भी दिया है और परिशिष्ट में दी है - शब्द सूची। एक मई १९५८ को कार्य समाप्त करते समय उनको लगा था कि प्रस्तावना

सम्बन्धी समस्त सामग्री का पुनरावलोकन सहित स्वतंत्र संकलन और पारिभाषिक शब्द सूची को संकलित कर प्रकाशित करना आवश्यक है। किन्तु उनकी इच्छानुसार विधि अनुकूल नहीं रहा। आवश्यक ऐतिहासिक व विषय-परिचय सम्बन्धी जानकारी तथा पारिभाषिक शब्दकोश को संकलित कर उसकी एकधा प्रस्तुति का कार्य विलम्बित में ही सही डॉ.हीरालाल जैन के जन्म शताब्दी वर्ष में मुनिश्रेष्ठ उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी की प्रेरणा और प्रकाशन सम्बन्धी निर्देशानुसार पूरा हो रहा है। षट्खंडागम के सम्पादन और प्रकाशन व्यवस्था के दौर में शास्त्रोद्धार के लिये श्रीमंत सेठ सितावराय लक्ष्मीचंद के सात्विक दान को डॉ.जैन ने भविष्य के प्रति जिस विश्वास और आशावादी दृष्टिकोण से सराहा है। यहां उनके कथनांश को उद्धृत करना आवश्यक लगता है। "वे (सेठ लक्ष्मीचंद्र) गजरथ महोत्सव कराने जा रहे थे कि मेरे परम सुहृत् बैरिस्टर जमनाप्रसाद जैन ने इटारसी परिषद के अधिवेशन के समय उनकी सद्बुद्धि को यह मोड़ दिया। गजरथ आज भी चलाये जा रहे हैं। और उनमें अपरिमित धन-व्यय किया जा रहा है। पाठक विचारकर देखें कि आज दान की प्रवृत्ति किस दिशा में सार्थक है"। गजरथ पर ज्ञानरथ को वरीयता देने वाले धनपति आज भी कम नहीं हैं। दान की प्रवृत्ति सार्थक दिशा में यथेच्छ मुड़ी तो डॉ.जैन द्वारा निर्दिष्ट कार्य सम्पूर्ण होकर प्रकाशित होने में अब और विलम्ब नहीं होगा।

धरसेनाचार्य ने पुष्पदंत और भूतबलि को वे ही सिद्धांत सिखाये थे जो उन्हें आचार्य परंपरा से प्राप्त हुये थे और जिनकी परंपरा महावीर स्वामी तक पहुंचती है। पुष्पदंत और भूतबलि ने उन सिद्धान्तों को शौरसेनी प्राकृत में सूत्रबद्ध किया। आचार्य वीरसेन ने संस्कृत-प्राकृत में इसकी विस्तृत टीका लिखी जो पूर्व-परंपरा की मर्यादा को लिये हुये हैं। षट्खंडागम के छै खंड जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध हैं। इन विभागों को, धवलाटीका प्रस्तुत करते हुये, आचार्य वीरसेन ने आचार्य भूतबलि की मर्यादा को यथारूप बनाये रखा है। डॉ.हीरालाल जैन ने इन्हीं छै खंडों की सामग्री को सोलह पुस्तकों में वीरसेन की मर्यादा के अनुकूल विवेचन करते हुये विशिष्ट व्याख्या, हिन्दी अनुवाद, पांडित्यपूर्ण टिप्पणी और पाठालोचन के सिद्धान्तों पर आश्रित पाठ-शुद्धि सहित प्रस्तुत किया है। प्रत्येक पुस्तक में ऐतिहासिक प्रस्तावना के साथ उनकी शास्त्रीय भूमिका महत्वपूर्ण है। इस महत्वपूर्ण प्रस्तावना में आचार्य वीरसेन की विषय-संगति की मर्यादा का पूर्णत: निर्वाह हुआ है। अनेक विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार

किया गया है। विद्वानों की शंकाओं के समाधान दिये गये हैं और भाषा-शास्त्रियों के लिये मध्यकालीन आर्य भाषा की लुप्त कड़ियों को श्रंखलाबद्ध करने की सामग्री भी भरपूर सुलभ की है।

षट्खंडागम की शास्त्रीय भूमिका नाम से जैनागम की षोड़षिक प्रस्तुति की प्रस्तावना में लिखी गई डॉ.जैन की ऐतिहासिक और अत्यंत महत्वपूर्ण कृति को उनकी आकांक्षानुरूप पुस्तकारूढ किया जा रहा है। इसमें केवल संकलन है, पुनरावलोकन नहीं। सिद्धान्त सूत्रों पर लिखी गई धवला टीका की शास्त्रीय रचना के मूलगामी अनुवाद और भाषा के साथ जैसी मूल पाठ की संगति बैठी है उसी तरह प्रस्तुत शास्त्रीय भूमिका में संकलित षोड़ष प्राक्कथन और विषय विवेचन की एकधा प्रस्तुति के अंतर्गत संगति और समरसता बनाये रखना हमारा लक्ष्य रहा है। इसीलिये आगम के षट्खंडों का पारस्परिक अनुपात आचार्य वीरसेन की धवलाटीका के विषय-विवेचन के वजन पर ही बना हुआ है। डॉ.हीरालाल जैन का मूल प्राक्कथन और अंग्रेजी में लिखा आमुख भी यथावत है। पुस्तक क्रमांक एक की प्रस्तावना को लगभग पूर्णत: मुखबन्ध उपशीर्षक के साथ, इसी पूर्वकथन में मिला दिया गया है। वह भूमिका का अंग बनकर और प्रभावी हो गया है। दूसरी पुस्तक से सोलहवीं पुस्तक की सामग्री मूल रचना के अनुसार छै अध्यायों में वर्गीकृत है। प्रत्येक अध्याय में किन पुस्तकों की सामग्री दी गई है। इसका उल्लेख अध्याय के पूर्व दिये गये विषय संकेत की सूचना में स्पष्ट है। परिशिष्ट में सर्वप्रथम डॉ.हीरालाल जैन के व्यक्तित्व और उनकी उपलब्धियों की विविध किन्तु संक्षिप्त जानकारी है। फि र अत्यंत महत्वपूर्ण आधार ग्रंथ, संस्था और व्यक्तियों का चित्रमय संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अंत में सभी सोलह पुस्तकों में संकलित की गई पारिभाषिक शब्द सूची दी गई है। सुधीजन सहमत होंगें कि इस शब्द-सूची के आधार पर 'आगम संदर्भ कोश' तैयार कर प्रकाशित करना अत्यंत उपयोगी होगा। षट्खंडागम के मूल सूत्रों के साथ डॉ.हीरालाल जैन द्वारा किये गये मूलगामी हिन्दी अनुवाद यदि तीन खंडों में प्रकाशित किये जा सकें तो जैनागम की सहज जानकारी पाने के लिये जिज्ञासु श्रावक और सुधीजनों के लिये अत्यंत हितकारी कार्य होगा। इस तरह जैन सिद्धान्तग्रंथ जन सामान्य तक पहुंचेंगे और सरलता से उन्हें जीवन में उतारने का मार्ग प्रशस्त होगा। विश्वास है पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी के आशीर्वाद से इस योजना को मूर्तरूप देने का ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न होने में न तो विलम्ब होगा और न ही साधनों की कमी होगी।

डॉ.हीरालाल जैन जन्म शताब्दी समारोह का समारंभ जबलपुर में हुआ था। शतवार्षिक आयोजनों का समारंभ महाराज श्री के सान्निध्य में राष्ट्रीय संगोष्ठी के साथ अजमेर में प्रारंभ कर उच्चकोटि के वार्षिक उत्सवों की दुंदुभी बजाने वाले डॉ.भागचंद जैन 'भागेन्दु' का, मैं, मान सहित स्मरण रहा हूँ। वे पूज्य उपाध्यायश्री के कृपापात्र हैं और प्राच्य श्रमण भारती और हमारी शतवार्षिकी प्रकाशन योजना के सेतु भी। इस योजना की पहिली पुस्तक के प्रकाशन पर उनके प्रति आदरपूर्वक आभार व्यक्त करना मेरा पहला कर्तव्य है। षट्खंडागम पर सोलह भागों में डॉ. हीरालाल जैन की कृति उनके सुयोग्य पुत्र, मेरे अग्रज और कुलपति आदरणीय प्रफुल्ल कुमार मोदी ने उपलब्ध करायी और आगम के ज्ञान की समझ और प्रस्तुत ग्रंथ-रचना सम्बन्धी सूझ भी दी। उनका आशीर्वाद सदैव मिलता रहा है। आशीर्वाद के लिए आभार व्यक्त नहीं किया जाता। उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया जाता है। इस स्वीकृति में मुझे अपार प्रसन्नता हो रही है ।

धरमचंद जैन

जबलपुर

१५.८.२०००

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं
अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति
जस्स धम्मे सया मणो ॥

षट्खंडागम की प्रस्तावना

- मूल प्राक्कथन
- **Introduction to Shatkhandagam**
- मुखबन्ध

षट्खंडागम पु.क्र.१ (प्रस्तावना पृष्ठ ७४ तक)

(मूल) प्राक्कथन

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

सन् १९२४ में मैंने कारंजा के शास्त्रभंडारों का अवलोकन किया और वहां के ग्रंथों की सूची बनाई। वहां अपभ्रंश भाषा का बहुत सा अश्रुतपूर्व साहित्य मेरे दृष्टिगोचर हुआ। उसको प्रकाश में लाने की उत्कंठा मेरे तथा संसार के अनेक भाषा-कोविदों के हृदय में उठने लगी। ठीक उसी समय मेरी कारंजा के समीप ही अमरावती, किंग एडवर्ड कालेज में नियुक्ति हो गई और मेरे सदैव सहयोगी सिद्धांतशास्त्री पं. देवकीनन्दनजी के सुप्रयत्न से व श्रीमान् सेठ गोपाल सावजी चबरे व बलात्कारगण मन्दिर के अधिकारियों के सदुत्साह से उन अपभ्रंश ग्रंथों के सम्पादन प्रकाशन का कार्य चल पड़ा, जिसके फलस्वरूप पांच छह अत्यन्त महत्वपूर्ण अपभ्रंश काव्यों का अब तक प्रकाशन हो चुका है।

मूड़ाविद्री के धवलादि सिद्धांत ग्रंथों की कीर्ति में बचपन से ही सुनता आ रहा हूँ। सन् १९२२ में मैंने जैन साहित्य का विशेष रूप से अध्ययन प्रारम्भ किया, और उसी समय के लगभग इन सिद्धांत ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियों के कुछ-कुछ प्रचार की चर्चा सुनाई पड़ने लगी। किन्तु उनके दर्शनों का सौभाग्य मुझे पहले-पहले तभी प्राप्त हुआ जब हमारे नगर के अत्यन्त धर्मानुरागी, साहित्य प्रेमी श्रीमान् सिंघई पन्नालाल जी ने धवल और जयधवल की प्रतिलिपियां कराकर यहां के जैन मन्दिर में विराजमान कर दीं। अब हृदय में चुपचाप आशा होने लगी कि कभी न कभी इन ग्रंथों को प्रकाश में लाने का अवश्य सुअवसर मिलेगा।

सन् १९३३ के दिसम्बर मास नें अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् का वार्षिक अधिवेशन इटारसी में हुआ और उसके सभापति हुए मेरे परमप्रिय मित्र बैरिस्टर जमनाप्रसाद जी सब जज। अधिवेशन में भेलसा निवासी सेठ लक्ष्मीचन्द्र सिताबरायजी भी आये थे। पहले दिन के जलसे के पश्चात् रात्रि के समय हम लोग एक कमरे में बैठे हुए जैन साहित्य के उद्धार के विषय में चर्चा कर रहे थे। जजसाहब दिन भर की धूमधाम व दौड़-धूप से थककर सुस्त से लेटे हुए थे। इसी बीच किसी ने खबर दी कि भेलसा निवासी सेठ लक्ष्मीचन्द्र जी भी अधिवेशन में आये हुए हैं और वे किसी धार्मिक कार्य में, सम्भवतः रथ चलाने में, कुछ द्रव्य लगाना चाहते हैं। इस खबर से जजसाहब

का चेहरा एकदम चमक उठा और उनमें न जाने कहां की स्फूर्ति आ गई। वे हम लोगों से बिना कुछ कहे सुने वहां से चल दिये। रात के कोई एक बजे लौटकर उन्होंने मुझे जगाया और एक पुर्जा मेरे हाथ में दिया जिसमें सेठ लक्ष्मी चन्द्र जी ने साहित्योद्धार के लिये दस हजार के दान की प्रतिज्ञा की थी। इस दान के उपलक्ष्य में दूसरे दिन प्रातःकाल उपस्थित समाज ने सेठ जी को श्रीमन्त सेठ की पदवी से विभूषित किया।

आगामी गर्मी की छुट्टियों में जज साहब मुझे लेकर भेलसा पहुंचे और वहां सेठ राजमल जी बड़जात्या व श्रीमान् तखतमल जी वकील के सहयोग से सेठ जी के उक्त दान का ट्रस्ट रजिस्ट्री करा लिया गया और यह भी निश्चय हो गया कि उस द्रव्य से श्री धवलादि सिद्धांतों के संशोधन प्रकाशन का कार्य किया जाये।

गर्मी के पश्चात् अमरावती लौटने पर मुझे श्रीमन्त सेठजी के दानपत्र की सद्भावना को क्रियात्मक रूप देने की चिन्ता हुई। पहली चिन्ता धवल जयधवल की प्रतिलिपि प्राप्त करने की हुई। उस समय इन ग्रंथों को प्रकाशित करने के नाम से ही धार्मिक लोग चौकन्ने हो जाते थे और उस कार्य के लिये कोई प्रतिलिपि देने के लिये तैयार नहीं थे। ऐसे समय में श्रीमान् सिंघई पन्नालाल जी ने व अमरावती पंचायत ने सत्साहस करके अपने यहां की प्रतियों का सदुपयोग करने की अनुमति दे दी।

इन प्रतियों के सूक्ष्मावलोकन से मुझे स्पष्ट हो गया कि यह कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य है क्योंकि ग्रंथों का परिमाण बहुत विशाल, विषय अत्यन्त गहन और दुरूह, भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत, और प्राप्तय प्रति बहुत अशुद्ध व स्खलन-प्रचुर ज्ञात हुई। हमारे सम्मुख जो धवल और जयधवल की प्रतियां थीं उनमें से जयधवल की प्रति सीताराम शास्त्री की लिखी हुई थी और दूसरी की अपेक्षा कम अशुद्ध जान पड़ी। अतः मैंने इसके प्रारम्भ का कुछ अंश संस्कृत रूपान्तर और हिन्दी भाषान्तर सहित छपाकर चुने हुए विद्वानों के पास इस हेतु भेजा कि वे उसके आधार से उक्त ग्रंथों के सम्पादन प्रकाशनादि के सम्बंध में उचित परामर्श दे सकें। इस प्रकार मुझे जो सम्मतियां प्राप्त हो सकीं उन पर से मैंने सम्पादन कार्य के विषय में निम्न निर्णय किये -

१. सम्पादन कार्य धवला से ही प्रारम्भ किया जाये, क्योंकि, रचना-क्रम की दृष्टि से तथा प्रचलित परंपरा में इसी का नाम पहले आता है।

२. मूलपाठ एक ही प्रति के भरोसे न रखा जाय। समस्त प्रचलित प्रतियां एक ही आधुनिक प्रति की प्रायः एक ही हाथ की नकलें होते हुए भी उनमें से जितनी मिल

सकें उनका उपयोग किया जाये तथा मूडबिद्रीकी की ताड़पत्र की प्रति से मिलान करने का प्रयत्न किया जाय, और उसके अभाव में सहारनपुर की प्रति के मिलान का उद्योग किया जाय।

३. मूल के अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद दिया जाय, क्योंकि, उसके बिना सर्व स्वाध्याय प्रेमियों को ग्रंथराज से लाभ उठाना कठिन है। संस्कृत छाया न दी जाय क्योंकि एक तो उससे ग्रंथ का कलेवर बहुत बढ़ता है, दूसरे उससे प्राकृत के पठन-पाठन का प्रचार नहीं होने पाता, क्योंकि, लोग उस छाया का ही आश्रय लेकर बैठ रहते हैं और प्राकृत की ओर ध्यान नहीं देते, और तीसरे जिन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान है उन्हें मूलानुगामी अनुवाद की सहायता से प्राकृत के समझने में भी कोई कठिनाई नहीं होगी।

४. संस्कृत छाया न देने से जो स्थान की बचत होगी उसमें अन्य प्राचीन जैन ग्रंथों में से तुलनात्मक टिप्पण दिये जायें।

५. ऐसे ग्रंथों का सम्पादन प्रकाशन बार-बार नहीं होता, अतःएव इस कार्य में कोई ऐसी उतावली न की जाय जिससे ग्रंथ की प्रमाणिकता व शुद्धता त्रुटि पड़े।

६. उक्त कार्य में जितना हो सके उतना अन्य विद्धानों का सहयोग प्राप्त किया जाये।

इन निर्णयों को सन्मुख रखकर मैंने सम्पादन कार्य की व्यवस्था का प्रयत्न किया। मेरे पास तो अपने कालेज के दैनिक कर्तव्य से तथा गृहस्थी की अनेक चिन्ताओं और विघ्न-बाधाओं से बचा हुआ ही समय था,[1] जिसके कारण कार्य बहुत ही मन्दगति से चल सकता था। अतःएव एक सहायक स्थायी रूप से रख लेने की आवश्यकता प्रतीत हुई। सन् १९३५ में बीना निवासी पं. वंशीधर जी व्याकरणाचार्य को मैंने बुला लिया, किन्तु लगभग एक माह कार्य करने के पश्चात् ही कुछ गार्हस्थिक आवश्यकता के कारण उन्हें कार्य छोड़कर चले जाना पड़ा। तत्पश्चात् साढूमल (झांसी) के निवासी पं. हीरालाल जी शास्त्री न्यायतीर्थ को बुलाने की बात हुई। वे प्रथम तीन वर्ष उज्जैन

१. मेरी गृहीणी सन १९२७ से हृदयरोग से ग्रसित हो गई थी। अनेक औषधि उपचार करने पर भी उसका यह रोग हटाया नहीं जा सका. किन्तु धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। बहुतबार मरणप्राय अवस्था में बड़े मंहगे इलाजों के निमित्त से प्राणरक्षा की गई। इस प्रकार ग्यारह वर्ष तक उसकी जीवनयात्रा चलाई। अन्ततः सन् १९३८ के दिसम्बर मास में उसका चिरवियोग हो गया।

में रायबहादुर सेठ लालचन्दजी के यहां रहते हुए ही कार्य करते रहे। किन्तु गत जनवरी से वे यहां बुला लिये गये और तब से वे इस कार्य में मेरी सहायता कर रहे हैं। उसी समय से बीना निवासी पं. फूलचन्द जी सिद्धांतशास्त्री की भी नियुक्ति कर ली गई है और वे भी अब इसी कार्य में मेरे साथ तत्परता से संलग्न हैं। तथा व्यक्तिगत रूप से यथावसर अन्य विद्वानों का भी परामर्श लेते रहे हैं।

प्राकृतपाठ संशोधन सम्बन्धी नियम हमने प्रेस कापी के दो सौ पृष्ठ राजाराम कालेज कोल्हापुर के अर्धमागधी के प्रोफेसर, हमारे सहयोगी व अनेक प्राकृत ग्रंथों का अत्यन्त कुशलता से सम्पादन करने वाले डाक्टर ए.एन्. उपाध्ये के साथ पढ़कर निश्चित किये। तथा अनुवाद के संशोधन में जैन धर्म के प्रकाण्ड विद्वान सि.शा.पं. देवकीनन्दनजी का भी समय-समय पर साहाय्य लिया गया। इन दोनों सहयोगियों की इस निर्व्याज सहायता का मुझ पर बड़ा अनुग्रह है। शेष समस्त सम्पादन, प्रूफशोधनादि कार्य मेरे स्थायी सहयोगी पं. हीरालालजी शास्त्री व पं. फूलचंदजी शास्त्री के निरन्तर साहाय्य से हुआ है, जिसके लिये मैं उन सबका बहुत कृतज्ञ हूँ। यदि इस कृति में कुछ अछाई व सौन्दर्य हो तो वह सब इसी सहयोग का ही सुफल है।

अब जिनके पूर्व परिश्रम, सहायता और सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हो रहा है उनका हम उपकार मानते हैं। काल के दोष से कहो या समाज के प्रमाद से, इन सिद्धांत ग्रंथों का पठन-पाठन चिरकाल से विच्छिन्न हो गया था। ऐसी अवस्था में भी एकमात्र अवशिष्ट प्रति शताब्दियों तक सावधानी से रक्षा करने वाले मूड़विद्री के सन्मान्य भट्टारकजी हमारे महान् उपकारी हुए हैं। गत पचास वर्षों में इन ग्रंथों को प्रकाश में लाने का महान् प्रयन्त करने वाले स्व.सेठ माणिकचन्दजी जवेरी, बम्बई, मूलचन्दजी सोनी अजमेर व स्व. सेठ हीराचन्द नेमीचन्दजी सोलापूर के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। यह स्व. सेठ हीराचन्दजी के ही प्रयत्न का सुफल है कि आज हमें इन महान् सिद्धांतों के एक अंश को सर्वसुलभ बनाने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। स्व. लाला जम्बूप्रसादजी जमीदार की भी लक्ष्मी सफल है जो उन्होंने इन ग्रंथों की एक प्रतिलिपि को अपने यहां सुरक्षित रखने की उदारता दिखाई और इस प्रकार उनके प्रकट होने में निमित्त कारण हुए। हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र स्व. पं. गजपतिजी उपाध्याय और उनकी स्व.भार्या विदुषी लक्ष्मीबाई तथा पं.सीतारामजी शास्त्री हैं जिन्होंने इन ग्रंथों की प्रतिलिपियों के प्रचार का कठिन कार्य किया और उस कारण उन भाईयों के क्रोध और विक्षेप को सहन किया जो इन ग्रंथों के प्रकट होने में अपने धर्म की हानि समझते हैं। श्रीमान्

सिंघई पन्नालालजी ने जिस धार्मिकभाव और उत्साह से बहुत धन व्यय करके इन ग्रंथों की प्रतियां अमरावती में मंगाई और उन्हें संशोधन व प्रकाशन के लिये हमें प्रदान की उसका उपर उल्लेख कर ही आये हैं। इस कार्य के लिये उनका जितना उपकार माना जावे सब थोड़ा है। प्रिय सुहृत, बैरि. जमनाप्रसादजी सबजज का भारी उपकार है जो उन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी को इस साहित्योद्धार कार्य के लिये प्रेरित किया। वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक कार्यो में सदैव कप्तान का कार्य किया करते हैं। श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी तो इस समस्त व्यवस्था के आधार-स्तम्भ ही हैं। आर्थिक संकटमय वर्तमान काल में उनके हायस्कूल, छात्रवृत्ति, व साहित्योद्धार निमित्त दिये हुए अनेक बड़े-बड़े दानों द्वारा धर्म और समाज का जो उपकार हो रहा है उसका पूरा मूल्य अभी आंका नहीं जा सकता। वह कार्य कदाचित् हमारी भावी पीढ़ी द्वारा ही सुचारू रूप से किया जा सकेगा। सेठजी को उनके इन उदार कार्यों में प्रवृत्त कराने और उनका निर्वाह कराने वाले भेलसा निवासी सेठ राजमलजी बड़जात्या और श्रीमान् तखतमलजी वकील हैं जिन्होंने इस योजना में भी बड़ी रुचि दिखाई और हमें हर प्रकार से सहायता पहुंचाकर उपकृत किया। साहित्योद्धार की ट्रस्ट कमेटी में सिं. पन्नालालजी, पं. देवकीनन्दनजी व सेठ राजमलजी के अतिरिक्त भेलसा के श्रीयुत मिश्रीलालजी व सरसावा निवासी पं. जुगोलकिशोरजी मुख्तार भी हैं। इन्होंने प्रस्तुत कार्य को सफल बनाने में सदैव अपना पूरा योग दिया है। पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार से हमें सम्पादन कार्य में विशेष साहाय्य मिलने की आशा थी, किन्तु हमारे दुर्भाग्य से इसी बीच उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और हम उनके साहाय्य से बिल्कुल वंचित रहे। किन्तु आगे संशोधन कार्य में उनसे सहायता मिलने की हमें पूरी आशा है। जब से इन ग्रंथों के प्रकाशन का निश्चय हुआ है तब से शायद ही कोई माह ऐसा गया हो जब हमारी समाज के अद्वितीय कार्यकर्ता श्रीयुक्त ब्रह्मचारी शीतल प्रसादजी ने हमें इस कार्य को आगे बढ़ाने और पूरा करने की प्रेरणा न की हो। धर्मप्रभावना के ऐसे कार्यों को सफल देखने के लिये ब्रह्मचारी का हृदय ऐसा तड़पता है जैसे कोई शिशु अपनी माता के दूध के लिये तड़पे। उनकी इस निरन्तर प्रेरणा के लिये हम उनके बहुत उपकृत हैं। हम जानते है वे इतने कार्य को सफल देख बहुत ही प्रसन्न होंगे। सम्पादन व प्रकाशन सम्बन्धी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों को सुलझाने में निरन्तर साहाय्य हमें अपने समाज के महारथी साहित्यिक श्रद्धेय पं. नाथूरामजी प्रेमी से मिला है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमीजी जैन समाज में नवीन युग के साहित्यकों के प्रमुख स्फूर्तिदाता है। जिन-

जिन कार्यो में जिस-जिस प्रकार हमनें प्रेमीजी की सहायता ली है और उन्हें उनकी वृद्धावस्था में कष्ट पहुंचाया है उसका यहां विवरण न देकर इतना ही कहना वश है कि हमारी इस कृति के कलेवर में जो कुछ उत्तम और सुन्दर है उसमें हमारे प्रेमीजी का अनुभवी और कुशल हाथ प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से विद्यमान है। बिना उनके तात्कालिक सत्परामर्श, सदुपदेश और सत्साहाय्य के न जाने हमारे इस कार्य की क्या गति होती। जैसा भूमिका से ज्ञात, प्रस्तुत ग्रंथ के संशोधन में हमें सिद्धान्तभवन, आरा व महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा की प्रतियों से बड़ी सहायता मिली है, इस हेतु हम इन दोनों संस्थाओं के अधिकारियों के व प्रति की प्राप्ति में सहायक पं. के. भुजबली शास्त्री व पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री के बहुत कृतज्ञ हैं। जिन्होंने हमारी प्रश्नावली का उत्तर देकर हमें मूड़विद्री से व तत्पश्चात् सहारनपुर से प्रतिलिपि बाहर आने का इतिहास लिखने में सहायता दी उनका हम बहुत उपकार मानते हैं। उनकी नामावली अन्यत्र प्रकाशित है। इनमें श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोशी,[1] सोलापुर, पं. लोकनाथजी शास्त्री, मूडविद्री व श्रीयुक्त नेमिचन्द्रजी वकील, उसमानाबाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अमरावती के सुप्रसिद्ध, प्रवीण ज्योतिर्विद् श्रीयुक्त प्रेमशंकरजी दबे की सहायता से ही हम धवला की प्रशस्ति के ज्योतिष सम्बन्धी उल्लेखों की छानबीन और संशोधन करने में समर्थ हुए हैं। इस हेतु हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं। इस ग्रंथ का मुद्रण स्थानीय सरस्वती प्रेस में हुआ है। यह कचित् ही होता है कि सम्पादक को प्रेस के कार्य और विशेषतः उसी मुद्रण की गति और वेग से सन्तोष हो। किन्तु इस प्रेस के मैनेजर मि. टी. एम. पाटील को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने हमारे कार्य में भी असन्तोष का कारण उत्पन्न नहीं होने दिया और अल्प समय में ही इस ग्रंथ का मुद्रण पूरा करने में उन्होंने व उनके कर्मचारियों ने बेहद परिश्रम किया है।

इस वक्तव्य को पूरा करते समय हृदय के पावित्र्य और दृढ़ता के लिये हमारा ध्यान पुनः हमारे तीर्थंकर भगवान् महावीर व उनकी धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि तक की आचार्य परम्परा की ओर जाता है जिनके प्रसाद-लव से हमें यह साहित्य प्राप्त हुआ है। तीर्थंकरों और केवलज्ञानियों का जो विश्वव्यापी ज्ञान द्वादशांग साहित्य में ग्रथित हुआ था, उससे सीधा सम्बन्ध रखने वाला केवल इतना ही साहित्यांश बचा है जो धवल, जयधवल व महाधवल कहलाने वाले ग्रंथों में निबद्ध हैं; दिगम्बर

---

१. इसके छपते हमें समाचार मिला है कि दोशीजी का २० अक्टूबर को स्वर्गवास हो गया, इसका हमें अत्यन्त शोक है। हमारे समाज का एक भारी कर्मठ पुरुषरत्न उठ गया।

मान्यतानुसार शेष सब काल के गाल में समा गया। किन्तु जितना भी शेष बचा है वह भी विषय और रचना की दृष्टि से हिमाचल जैसा विशाल और महोदधि जैसा गंभीर है। उसके विवेचन की सूक्ष्मता और प्रतिपादन के विस्तार को देखने से हम जैसे अल्पज्ञानियों की बुद्धि चकरा जाती है और अच्छे अच्छे विद्वानों का भी गर्व खर्व होने लगता है। हम ऐसी उच्च और विपुल साहित्यिक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हैं इसका हमें भारी गौरव है।

इस गौरव की वस्तु के एक अंश को प्रस्तुत रूप में पाकर पाठक प्रसन्न होंगे। किन्तु इसके तैयार करने में हमें जो अनुभव मिला है उससे हमारा हृदय भीतर ही भीतर खेद और विषाद के आवेग से रो रहा है। इन सिद्धान्त ग्रंथों में जो अपार ज्ञाननिधि भरी हुई है उसका गत कई शताब्दियों में हमारे साहित्य को कोई लाभ नहीं मिल सका, क्योंकि, इनकी एकमात्र प्रति किसी प्रकार तालों के भीतर बन्द हो गई और अध्ययन की वस्तु न रहकर पूजा की वस्तु बन गई। यदि ये ग्रंथ साहित्य-क्षेत्र में प्रस्तुत रहते तो उनके आधार से अब तक न जाने कितना किस कोटि का साहित्य निर्माण हो गया होता और हमारे साहित्य को कौनसी दिशा व गति मिल गई होती। कितनी ही सैद्धान्तिक गुत्थियां जिनमें विद्वत्समाज के समय और शक्तिका न जाने कितना ह्रास होता रहता है, यहां सुलझी हुई पड़ी हैं। ऐसी विशाल सम्पत्ति पाकर भी हम दरिद्री ही बने रहे और इस दरिद्रता का सबसे अधिक सन्ताप और दुःख हमें इनके संशोधन करते समय हुआ। जिन प्रतियों को लेकर हम संशोधन करने बैठे वे त्रुटियों और स्खलनों से परिपूर्ण हैं। हमें उनके एक एक शब्द के संशोधनार्थ न जाने कितनी मानसिक कसरतें करनी पड़ी हैं और कितने दिनों तक रात के दो-दो बजे तक बैठकर अपने खून को सुखाना पड़ा है। फिर भी हमने जो संशोधन किया उसका सोलहों आने यह भी विश्वास नहीं कि वे ही आचार्य-रचित शब्द हैं। और यह सब करना पड़ा, जब कि मूडविद्री की आदर्श प्रतियों के दृष्टिपात मात्र से संभवतः उन कठिन स्थलों का निर्विवाद रूप से निर्णय हो सकता था। हमें उस मनुष्य के जीवन जैसा अनुभव हुआ जिसके पिता की अपार कमाई पर कोई ताला लगाकर बैठ जाय और वह स्वयं एक एक टुकड़े के लिये दर-दर भीख मांगता फिरे और इससे जो हानि हुई वह किसकी? जितना समय और परिश्रम इनके संशोधन में खर्च हो रहा है उससे मूल प्रतियों की उपलब्धि में न जाने कितनी साहित्य सेवा हो सकती थी और समाज का उपकार किया जा सकता था। ऐसे ही समय और शक्ति के अपव्यय से समाज की गति रुकती है। इस मंदगति से न जाने

कितना समय इन ग्रंथों के उद्धार में खर्च होगा। यह समय साहित्य, कला व संस्कृति के लिये बड़े संकट का है। राजैनतिक विप्लव से हजारों वर्षों की सांस्कृतिक सम्पत्ति कदाचित् मिनटों में भस्मसात् हो सकती है। दैव रक्षा करे, किन्तु यदि ऐसा ही संकट यहां आ गया तो ये द्वादशांगवाणी के अवशिष्ट रूप फिर कहां रहेंगे ? हब्श, चीन आदि देशों के उदाहरण हमारे सन्मुख हैं। प्राचीन प्रतिमाएं खण्डित हो जाने पर नई कभी भी प्रतिष्ठित हो सकती हैं, पुराने मन्दिर जीर्ण होकर गिर जाने पर नये कभी भी निर्माण कराकर खड़े किये जा सकते हैं, धर्म के अनुयायियों की संख्या कम होने पर कदाचित् प्रचार द्वारा बढ़ाई जा सकती है, किन्तु प्राचीन आचार्यों के जो शब्द ग्रंथों में ग्रंथित हैं उनके एकवार नष्ट हो जाने पर उनका पुनरुद्धार सर्वथा असम्भव है। क्या लाखों करोड़ों रुपया खर्च करके भी पूरे द्वादशांग श्रुत का उद्धार किया जा सकता है ? कभी नहीं। इसी कारण सजीव देश, राष्ट्र और समाज अपने पूर्व साहित्य के एक-एक टुकड़े पर अपनी सारी शक्ति लगाकर उसकी रक्षा करते हैं। यह ख्याल रहे कि जिन उपायों से अभी तक ग्रंथ रक्षा होती रही, वे उपाय अब कार्यकारी नहीं। संहारक शक्ति ने आजकल भीषण रूप धारण कर लिया है। आजकल साहित्य रक्षा का इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं कि ग्रंथों की हजारों प्रतियां छपाकर सर्वत्र फैला दी जाये ताकि किसी भी अवस्था में कहीं न कहीं उनका अस्तित्व बना हीरहेगा। यह हमारी श्रुत-भक्ति का अत्यन्त बुद्धिहीन स्वरूप है जो हम ज्ञान के इन उत्तम संग्रहों की ओर इतने उदासीन हैं और उनके सर्वथा विनाश की जोखम लिये चुपचाप बैठे हैं। यह प्रश्न समस्त जैन समाज के लिये विचारणीय है। इसमें उदासीनता घातक है। हृदय के इन उद्‌गारों के साथ अब मैं अपने प्राक्‌कथन को समाप्त करता हूँ और इस ग्रंथ को पाठकों के हाथों सौंपता हूँ।

किंग एडवर्ड कालेज
अमरावती
१.११.३९

हीरालाल जैन

INTRODUCTION TO ṢAṬKHAṆḌĀGAMA

Dhavala, Jaidhavala and Mahadhavala

The only surviving pieces of the original Jain Canon of twelve Angas are, according to Digambara tradition, preserved in what are popularly known as Dhavla, Jaidhavala and Mahadhavala siddhantas. Manuscripts of these were preserved only at the Jain pontifical seat of Mudbidri in South Kanara. It is only during the last twenty years that copies of the first two have become available, while the last still remains inaccessible.

How Shatkhandāgama was reduced to writing

The story of the composition of Satkhandāgama is told in the introductory part of the Dhavala which is the commentary. The teachings of Lord Mahavira were arranged into Twelve Angas by his pupil Indrahhuti Gautama, and they were handed down from preceptor to pupil by word of mouth till gradually they fell into oblivion. Only fraction of them were known to Dharasena who practised penances in the Chandra Guphā of Girinagara in the country of Saurastra (modern Kathiawar). He felt the necessity of preserving the knowledge and so he called two sages who afterwards became famous as Puspadanta and Bhutabali, and taught to them portions of the fifth Anga Viahapannatti and of the twelth Anga Ditthivada. These were subsequently reduced to writing in Sutra form by the two eminent pupils, Puspandanta composed the first 177 Sutras which are all embodied in the present edition of satprarupana, and his colleague Bhutabali wrote the rest, the total being 6000 Sutras.

Date of Shatkhandagama

As regards the time of this composition we are told definitely that Dharasena lived after Loharya the 28th in succession after Mahavira, but how long afterwards is left uncertain. Most of the succession lists available show that the time that elapsed from the Nirvana of Mahavira up to Laharya was 683 years. Butthe Prakrit Pạttavali of Nandi sangha carries on the list of succession from Laharya to five more Acharyas, the last three of which are Dharasena, Puspadanta and Bhutabali and makes

them all fall within the 683 years after Vira Nirvana. According to this account Dharasena succeeded his predecessor Maghanadi 614 years after Vira Nirvana. Though this account stands by itself in opposition to the unanimous account given in the Dhavala commentary and many other works, it is in a way supported by an old list Brihad-Tippanilka which attributes a work by name Joni Pahuda to Dharasena and assigns it to 600 years after Vira Nirvana. The reliability of this tippana has been unquestioned so far and the statement is coroborated by the fact that in the Dhavala itself is found a reference to Jonipahuda as a work on Mantra shastra and with the knowledge of this subject Dharasena has also been associated. There is, thus, a strong case for indentifying our Dharasena with the author of the Jonipahuda and then the combined evidence of the Brihat Tippana and the Prakrit Pattavali would make the composition of Satkhāndagama fall between 614 and 683 years after Vira Nirvana. i.e. between the 1st and 2nd centuries of the Christian Era.

Commentaries of Shatkhandāgama

This inference about the period of the composition of Shatkhāndagama is corroborated by the account of its commentaries as given by Indranandi in his Srutāvatāra which work I have now come to regard as authentically preserving old traditions. According to Indranandi, six commentaries were written on Satkhandagama in succession, the last. being the Dhavala . The first of these commentaries was Parikarma written by Kundakunda. References to Parikarma are many and various in the Dhavala itself, and a creful examination of them has led me to believe that it was really a commentary by Kindakunda on this work. The time of Kundakunda is approximately the 2nd centuary A.D. and so the Shatkhandagama has to be assigned to a period before that. Other commentators mentioned by Indranandi are Shamakunda, Tumbulura, Samantabhadra and Bappadeva, before we come to Virasena the author of Dhavala, and we would not be far wrong in separating them each in succession by about a century, and assign them to 3rd, 4th, 5th and 6th century respectively. None of these commentaries have so far been discovered, but traces of most of them may be found in the existing literature.

Dhavala, its date & author

As regards thetime of the commentary Dhavala there is no uncertainty. Its author Virsena has recorded many astronomical details of the time of his composition in the ending verses. But after a careful scrutiny of the text and its contents, however, I have been able to interpret it correctly, and it yields the result that the Dhavala was completed by Virasena on the 13th day of the bright fortnight of Karttika in the year 738 of the Saka era, when Jagattunga (i.e. Govinda III of the Rashtrakuta dynasty) has abandoned the throne and Boddana Raya (Probably Amoghavarsha I) was ruling. I have worked out the astronomical details and found them correct, and the date corresponds, according to Swami Kannu Pillai'sIndian Ephemeris, to the 8th October 816 A.D., Wednesday morning.

In the ending verses of the Jayadhavala we are told that Virasena's pupil Jinasena completed that commentary in Saka 759. The Volume of 60 thousand slokas, thus, took 21 years to compose, which comes roughtly to 3000 verses per year. If we take this as the average speed at which Virasena wrote, it gives as the period between 792 and 823 A.D. for the vigorous literary activity of Virasena alone, which produced the complete Dhavala equal to 72 thousand slokas, and the first one-third of the Jayadhavala i.e. equal to 20 thousand slokas. This single man, thus, accomplished the stupendous and extraordinary task of writing philosophical prose equal to 92 thousand slokas in the course of 31 years, and he was succeeded by an equally gigantic writer Jinasena, his pupil, who wrote the 40 thousand slokas of the Jayadhavala, the beautiful little poem Parsvabhyudaya and the magnificent Sanskrit Adipurana, before he died. What a bewildering amount of literary effusion ?

Literature before Virasena

The various mentions found in the Dhavala reveal to us that there was a good deal of manuscript material before Virasena, and he utilised it very judiciously and cautiously. He had to deal with various recensions of the Sūtras which did not always agree in their statements.

Virasena satisfied himself by giving their alternative views, leaving the question of right and wrong between them to those who might know better than himself. He also had to deal with opposite opinious of earlier commentators and teachers, and here he boldly criticizes their views in offering his own explanation. On certain points he mentious two different schools of thought which he calls the Northern and the Southern. At present I am examining these views a bit more closely. They may ultimately turn out to be the S'vetambara and Digambara schools. Works mentioned and quoted from are (1)Santa-Kamma Pāhuda, (2) Kasāya Pāhuda, (3) Sammaisutta, (4)Tiloya-pannatti Sutta, (5) Pancatthi Pāhuda (6)Tattvartha Sutra of Griddhapinchha, (7) Acāranga, (8) Sārasamgraha of Pujayapāda, (9) Tattvārtha Bhasya of Akalanks, (10) Jivasamasa (11) Chhedasutra (12) Kammapavāda and (13) Dāsakarani samgraha, while authors mentioned without the name of their works are Aryu-mankshu, Nāgahasti, Prabhāchandra and others.

Besides these, there are numerous quotattions both prose and verse without the mention of their source. In the Satprarupana alone there are 216 such verses of whichI have been able to trace many in the Acārānga, Brihatkalpa Sūtra, Dasvaikalika Sūtra, Sthanānga Tika, Anuyogadvāra, and Avasyaka Niryukti of the Svetambara canon, besides quite a large number of them in the Digambara literature. These mentions give us an insight into the comparative and critical faculty as well as the coordinating power of Virasena.

Relation with the Canon, and the Six Khandas

The Satkhāndagama, was reduced to writing, as told before, just at the time when the whole Jain Canon was on the point of being forgotten. In this connection it is important to note that according to the Digambara tradition all the twelve Angas have been lost except these portions of the last of them i.e. Ditthivaya and a bit of the fifth Anga. According to the Svetambaras, on the other hand, the first eleven are preserved though in a multilated form, while the Ditthivāya is totally lost. Thus to a certain extent, the two traditions mutually complement each other.

A look at the tables showing the connnection of the present work with the original canon will convey some idea of the extraordinary extent of the Pūrvas in particular and of the whole canon in general. The section dealing with the twenty four subjects Kriti, Vedana and others was called in the canon Mahakamma Payadi Pāhuda. The same twenty four subjects have been dealt with in the present work which was called Santa Kamma-Pahuda, but which, owing to its six subdivisions acquired the handy title of Shaṯkhandāgama. Its six subdivisions are Jivatthana, Khudd, Bandha, Bandha-Samitta-Vichaya, Vedana, Vaggana and Mahabandha.

Subject matter of the present work

The whole work deals with the Karma philosophy, the first three divisions from the point of view of the soul which is the agent of the bondage, and the last three from the point of view of the objective karmas, their nature and extent. The portion now published is the first part ofthe Jivatthana and it deals with the quest of the soul qualities and the stages of spiritual advancement through some expressed characterstics such as conditions of existence, senses, bodies, vibratory activities and the like. I propose to deal with the subject in some detail in the next volume when Satprarupana will be completed.

Language

The presentwork consists of the original Sutras, the commentary of Virasena called Dhavala and the various quotation given by the commentator from the writings of his predecessors. The language of the Sutras is Prakrit and so also of the most of the quoted Gathas. The prose of Virasena is Prakrit alternating with Sanskrit. In the present portion Sanskrit predominates, being three time as much as Prakrit. This condition of the whole text clearly reflects the comparative position of Prakrit and Sanskrit in the Digambara Jain literature of the South. The most ancient literature was all in Prakrit as shown by the Sutras and their first reputed commentary. Parikarma as well as all the other works of Kundakunda, and also by the preponderance of Prakrit verses quoted in the Dhavala.But about the time of Virasena the tables has turned against Prakrit and Sanskrit had got the upperhand as revealed by the present portion of Dhavala as well as its contemporary literature.

The Prakrit of the Sutras, the Gathas as well as of the commentary, is Sauraseni influenced by the older Ardha Māgadhi on the one hand and the Māhārashtri on the other, and this is exactly the nature or the language called Jain Saurseni by Dr. Pischel and subsequent writers. It is, however, only a very small fraction of the whole text that has now been edited critically so far as was possible with the available material. Final conclusions on this subject as well as on all others pertaining to this work must wait till the whole or at least a good deal of it has been so edited.

I have avoided details in this survey of Shatkhandagama because I have discussed all these topics fully inmy introduction in Hindi to which my learned readers are referred for details. The available manuscripts of the work are all very corrupt and full of lacunae, being very recent copies of a transcript which, so to say, had to be stolen from Mudbidri. My great regret is that inspite of all efforts, I could notget at the only oll manuscript preserved there. So the text had to be constituted from the available copies as critically as was possible according to the principles which I have explained in full in my Hindi introduction. Inspite of all these difficulties,however, I hope my readers will not find the text as unsatisfactory as it might have been expected under the circumstances.

मुखबन्ध

श्री धवलादि सिद्धान्तों के प्रकाश में आने का इतिहास

सुना जाता है कि श्री धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों को प्रकाश में लाने और उनका उत्तर भारत में पठन-पाठन द्वारा प्रचार करने का विचार पंडित टोडरमल जी के समय में जयपुर और अजमेर की ओर से प्रारंभ हुआ था। किंतु कोई भी महान् कार्य सुसंपादित होने के लिये किसी महान् आत्मा की वाट जोहता रहता है। बम्बई के दानवीर, परमोपकारी स्व. सेठ माणिकचंदजी जे.पी. का नाम किसने न सुना होगा ? आज से छप्पन वर्ष पहले वि.सं.१९४० (सन् १८८३ ई.) की बात है। सेठजी संघ लेकर मूडविद्री की यात्रा को गये थे। वहां उन्होंने रत्नमयी प्रतिमाओं और धवलादि सिद्धांत ग्रंथों की प्रतियों के दर्शन किये। सेठजी का ध्यान जितना उन बहुमूल्य प्रतिमाओं की ओर गया, उससे कहीं अधिक उन प्रतियों की ओर आकर्षित हुआ। उनकी सूक्ष्म धर्मरक्षक दृष्टि से यह बात छुपी नहीं रही कि उन प्रतियों के ताड़पत्र जीर्ण हो रहे हैं। उन्होंने उस समय के भट्टारकजी तथा वहां के पंचों का ध्यान भी उस ओर दिलाया और इस बात की पूछताछ की कि क्या कोई उन ग्रंथों को पढ़ समझ भी सकता है या नहीं ? पंचों ने उत्तर दिया 'हम लोग तो इनका दर्शन पूजन करके ही अपने जन्म को सफल मानते हैं। हां, जैनविद्री (श्रवणवेलगुल) में ब्रह्मसूरि शास्त्री हैं, वे इनको पढ़ना जानते हैं'। यह सुनकर सेठजी गंभीर विचार में पड़ गये। उस समय इससे अधिक कुछ न कर सके, किंतु उनके मन में सिद्धान्त ग्रंथों के उद्धार की चिन्ता स्थान कर गई।

यात्रा से लौटकर सेठजी ने अपने परम सहयोगी मित्र, सोलापुर निवासी श्री सेठ हीराचन्द नेमचन्दजी को पत्र लिखा और उसमें श्री धवलादि ग्रंथों के उद्धार की चिन्ता प्रगट की, तथा स्वयं भी जाकर उक्त ग्रंथों के दर्शन करने और फिर उद्धार के उपाय सोचने की प्रेरणा की। सेठ माणिकचंदजी की इस इच्छा को मान देकर सेठ हीराचंदजी ने दूसरे ही वर्ष, अर्थात् वि.सं. १९४१ (सन् १८८४) में स्वयं मूडविद्री की यात्रा की। वे अपने साथ श्रवण वेलगुल के पंडित ब्रह्मसूरि शास्त्री को भी ले गये। ब्रह्मसूरिजी ने उन्हें तथा उपस्थित सज्जनों को श्री धवल सिद्धान्त का मंगलाचरण पढ़कर सुनाया, जिसे सुनकर वे सब अति प्रसन्न हुए। सेठ हीराचंदजी के मन में सिद्धान्त ग्रंथों की प्रतिलिपि कराने की भावना दृढ़ हो गई और उन्होंने ब्रह्मसूरि शास्त्री से प्रतिलिपि का कार्य अपने हाथ में लेने का आग्रह किया।

वहां से लौटकर सेठ हीराचंदजी बम्बई आये और सेठ माणिकचंदजी से मिलकर उन्होंने ग्रंथों की प्रतिलिपि कराने का विचार पक्का किया। किंतु उनके वहां से लौटने पर वे तथा सेठ माणिकचंदजी अपने-अपने व्यावसायिक कार्यो में गुंथ गये और कोई दश वर्ष तक प्रतिलिपि कराने की बात उनके मन में ही रह गई।

इसी बीच में अजमेर निवासी श्रीयुक्त सेठ मूलचंदजी सोनी श्रीयुक्त पं. गोपालदासजी वरैया के साथ मूडबिद्री की यात्रा को गये। उस समय उन्होंने सिद्धान्त ग्रंथों के दर्शन कर वहां के पंचों और ब्रह्मसूरि शास्त्री के साथ यह बात निश्चित की कि उन ग्रन्थों की प्रतिलिपियां की जांय। तदनुसार लेखनकार्य भी प्रारंभ हो गया। यात्रा से लौटते समय सेठ मूलचंदजी सोनी सोलापुर और बम्बई भी गये और उन्होंने सेठ हीराचंदजी व माणिकचंदजी को भी अपने उक्त कार्य की सूचना दी, जिसका उन्होंने अनुमोदन किया। श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी अमरावती वालों से ज्ञात हुआ है कि जब उनके पिता स्व. सिंघई वंशीलालजी सं. १९४७ (सन् १८९०) के लगभग मूडबिद्री की यात्रा को गये थे तब ब्रह्मसूरि शास्त्री द्वारा लेखनकार्य प्रारंभ हो गया था। किंतु लगभग तीन सौ श्लोक प्रमाण प्रतिलिपि होने के पश्चात् ही वह कार्य बन्द पड़ गया, क्योंकि सेठजी वह प्रतिलिपि अजमेर के लिये चाहते थे और यह बात मूडबिद्री के भट्टारकजी व पंचों को इष्ट नहीं थी।

इसी विषय को लेकर सं. १९५२ (१८९५) में सेठ माणिकचंदजी और सेठ हीराचंदजी के बीच पुन: पत्र व्यवहार हुआ, जिसके फलस्वरूप सेठ हीराचंदजी ने प्रतिलिपि कराने के खर्च के लिये चन्दा एकत्र करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने अपने पत्र जैन बोधक में सौ-सौ रूपये के सहायक बनने के लिये अपील निकालना प्रारंभ कर दिया। फलत: एक वर्ष के भीतर चौदह हजार से ऊपर के चन्दे की स्वीकारता आ गई। तब सेठ हीराचंदजी ने सेठ माणिकचंदजी को सोलापुर बुलाया और उनके समक्ष ब्रह्मसूरि शास्त्री से एक सौ पच्चीस (१२५) रुपया मासिक वृत्तिपर प्रतिलिपि कराने की बात पक्की हो गई। उनकी सहायता के लिये मिरज निवासी गजपति शास्त्री भी नियुक्त कर दिये गये। ये दोनों शास्त्री मूडबिद्री पहुंचे और उसी वर्ष की फाल्गुन शुक्ला ७ बुधवार को ग्रंथ की प्रतिलिपि करने का कार्य प्रारंभ हो गया। उसके एक माह और तीन दिन पश्चात् चैत्र शुक्ला १० को ब्रह्मसूरि शास्त्री ने सेठ हीरचंदजी को पत्र द्वारा सूचित किया कि जयधवल के पन्द्रह पत्र अर्थात् लगभग १५०० श्लोकों की कापी हो चुकी। इसके कुछ ही पश्चात् ब्रह्मसूरि शास्त्री अस्वस्थ हो गये और अन्तत: स्वर्गवासी हुए।

ब्रह्मसूरि शास्त्री के पश्चात् गजपति शास्त्री ने प्रतिलेखन का कार्य चालू रक्खा और लगभग सोलह वर्ष में धवल और जयधवल की प्रतिलिपि नागरी लिपि में पूरी। इसी अवसर में मूडविद्री के पण्डित देवराज सेठी, शांतप्पा उपाध्याय तथा ब्रह्मय्य इंद्र द्वारा उक्त ग्रंथों की कनाडी लिपि में भी प्रतिलिपि कर ली गई। उस समय सेठ हीराचंदजी पुन: मूडविद्री पहुंचे और उन्होंने यह इच्छा प्रगट की कि तीसरे ग्रंथराज महाधवल की भी प्रतिलिपि हो जाय और इन ग्रंथों की सुरक्षा तथा पठन-पाठन रूप सदुपयोग के लिये अनेक प्रतियां कराकर भिन्न-भिन्न स्थानों में रक्खी जावें। किंतु इस बात पर भट्टारक जी व पंच लोग राजी नहीं हुए। तथापि महाधवल की कनाडी प्रतिलिपि पंडित नेमिराजजी द्वारा किये जाने की व्यवस्था करा दी गई। यह कार्य सन् १९१८ से पूर्व पूर्ण हो गया। इसके पश्चात् सेठ हीराचंदजी के प्रयत्न से महाधवल की नागरी प्रतिलिपि पं. लोकनाथजी शास्त्री द्वारा लगभग चार वर्ष में पूरी हुई। इस प्रकार इन ग्रंथों का प्रतिलिपि कार्य सन् १८९६ से १९२२ तक अर्थात् २६ वर्ष चला, और इतने समय में इनकी कनाडी लिपि पं. देवराज सेठी, पं. शांतप्पा इन्द्र, पं. ब्रह्मय्य इन्द्र तथा पं. नेमिराज सेठी द्वारा तथा नागरी लिपि पं. ब्रह्मसूरि शास्त्री, पं. गजपति उपाध्याय और पं. लोकनाथ जी शास्त्री द्वारा की गई। इस कार्य में लगभग बीस हजार रुपया खर्च हुआ।

धवल और जयधवल की प्रति के बाहर निकलने का इतिहास

धवल और जयधवल की नागरी प्रतिलिपि करते समय श्री गजपति उपाध्याय ने गुप्त रीति से उनकी एक कनाडी प्रतिलिपि भी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया। इस कार्य में विशेष हाथ उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाई का था, जिनकी यह प्रबल इच्छा थी कि इन ग्रंथों का पठन-पाठन का प्रचार हो। सन् १९१५ में उन प्रतिलिपियों को लेकर गजपति उपाध्याय सेठ हीराचंदजी के पास सोलापुर पहुंचे और न्योछावर देकर उन्हें अपने पास रखने के लिये कहा। किंतु सेठजी ने उन्हें अपने पास रखना स्वीकार नहीं किया तथा अपने घनिष्ठ मित्र सेठ माणिकचंदजी को भी लिख दिया कि वे उन प्रतियों को अपने पास न रक्खें। उनके ऐसा करने का कारण यही जाना जाता है कि वे मूडविद्री से बाहर प्रतियों को न ले जाने के लिये मूडविद्री के पंचों और भट्टारकजी से वचनबद्ध हो चुके थे। अतएव प्रतियों के प्रचार की भावना रखते हुए भी उन्होंने प्रतियों को अपने पास रखना नैतिक दृष्टि से उचित नहीं समझा। तब गजपति उपाध्याय उन प्रतियों को लेकर सहारनपुर पहुंचे और

वहाँ श्री लाला जम्बूप्रसादजी रईस ने उन्हें यथोचित पुरस्कार देकर उन प्रतियों को अपने मंदिर में विराजमान कर दिया।

गजपति उपाध्याय ने लाला जी को यह आश्वासन दिया था कि वे स्वयं उन कनाडी प्रतियों की नागरी लिपि कर देंगें। किंतु पुत्र की बीमारी के कारण उन्हें शीघ्र घर लौटना पड़ा। पश्चात् उनकी पत्नी भी बीमार हुई और उनका देहान्त हो गया। इन संकटों के कारण उपाध्याय जी फिर सहारनपुर न जा सके और सन् १९२३ में उनका भी शरीरान्त हो गया। लालाजी ने उन ग्रंथों की नागरी प्रतिलिपि पण्डित विजयचंद्रय्या और पं. सीताराम शास्त्री के द्वारा कराई। यह कार्य सन् १९१६ से १९२३ तक संपन्न हुआ। सन् १९२४ में सहारनपुर वालों ने मूडविद्री के पं. लोकनाथजी शास्त्री को बुलाकर उनसे कनाडी और नागरी लिपियों का मिलान करा लिया।

सहारनपुर की कनाडी प्रति की नागरी लिपि करते समय पं. सीताराम शास्त्री ने एक और कापी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया, यह लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनुपर, की सूचना से ज्ञात हुआ है। पर यह भी सुना जाता है कि जिस समय पं. विजयचंद्रय्या और पं. सीताराम शास्त्री कनाडी की नागरी प्रतिलिपि करने बैठे उस समय पं. विजयचंद्रय्या पढ़ते जाते थे और पं सीताराम शास्त्री सुविधा और जल्दी के लिये कागज के खर्रों पर नागरी में लिखते जाते थे। इन्हीं खर्रों से उन्होंने पीछे शास्त्राकार प्रति सावधानी से लिखकर लालाजी को दे दी, किंतु उन खर्रों को अपने पास ही रख लिया, और उन्हीं खर्रों पर से पीछे सीताराम शास्त्री ने अनेक स्थानों पर धवल-जयधवल की लिपियां करके दीं। वे ही तथा उन पर से की गई प्रतियां अब अमरावती, आरा, कारंजा, दिल्ली, बम्बई, सोलापुर, सागर, झालरापाटन, इन्दौर, सिवनी, व्यावर और अजमेर में विराजमान हैं।

पं. गजपति उपाध्याय तथा पं. सीताराम शास्त्री ने चाहे जिस भावना से उक्त कार्य किया हो और भले ही नीति की कसौटी पर वह कार्य ठीक न उतरता हो, किंतु इन महान् सिद्धांत ग्रंथों की सैकड़ों वर्षो के कैद से मुक्त करके विद्वत् और जिज्ञासु संसार का महान् उपकार करने का श्रेय भी उन्हीं को हैं। इस प्रसंग में मुझे गुमानी कवि का निम्न पद्य याद आता है -

पूर्वजशुद्धिमिषाद् भुवि गंगां प्रापितवान् स भगीरथभूपः।
बन्धुरभूज्जगतः परमोऽसौ सज्जन है सबका उपकारी ॥

सिद्धान्त ग्रंथों की प्रतियों का इतिहास संग्रह करने के लिये हमने जो प्रश्नावली प्रकाशित की थी उसका जिन अनेक महानुभावों ने सूचनात्मक उत्तर भेजने की कृपा की। हम उन्हीं उत्तरों के आधार से पूर्वोक्त इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ हुए, इस हेतु हम इन सज्जनों का आभार मानते हैं।

धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों की प्रति-उद्धार संबन्धी प्रश्नावली का उत्तर भेजने वाले सज्जनों की नामावली -

१. श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोशी, सोलापुर

२. श्रीमान् लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर

३. श्रीमान् पंडित नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई

४. श्रीमान् पं. लोकनाथजी शास्त्री, मंत्री, वीरवाणी सिद्धान्त भवन, मूडविद्री

५ श्रीमान् ब्र.शीतलप्रसादजी

६. श्रीमान् पं. देवकीनन्नदनजी सिद्धान्तशास्त्री, कारंजा

७. श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी वंशीलालजी, अमरावती

८. श्रीमान् पं. मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना

९ श्रीमान् पं. रामप्रसादजी शास्त्री, श्री ऐ. पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन, बम्बई

१०. श्रीमान् पं. के.भुजवलीजी शास्त्री, जैन सिद्धान्त भवन, आरा

११. श्रीमान् पं. दयाचन्दजी न्यायतीर्थ, सत्तर्कसुधातरंगिणी पाठशाला, सागर

१२. श्रीमान् सेठ वीरचंद कोदरजी गांधी, फलटन

१३. श्रीमान् सेठ ठाकुरदास भगवानदासजी जव्हेरी, बम्बई

१४.श्रीमान् सेठ मूलचन्द किशनदासजी कापड़िया, सूरत

१५. श्रीमान् सेठ राजमल बड़जात्या, भेलसा

१६. श्रीमान् गांधी नेमचंद बालचंदजी, वकील, उसमानाबाद

१७. श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी, सम्पादक वीर, अलीगंज

हमारी आदर्श प्रतियां

१. धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों की एकमात्र प्राचीन प्रति दक्षिण कर्नाटक देश के मूडविद्री नगर के गुरुवसदि नामक जैन मंदिर में वहां के भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी महाराज तथा जैन पंचों के अधिकार में है। तीनों ग्रथों की प्रतियां ताड़पत्र पर कनाडी लिपि में है। धवला के ताड़पत्रों की लम्बाई लगभग २ फुट, चौड़ाई ३ इंच, और कुलसंख्या ५९२ है। यह प्रति कब की लिखी हुई है इसका ठीक ज्ञान प्राप्त प्रतियों पर से नहीं होता है। किन्तु लिपि प्राचीन कनाड़ी है जो पांच छै सौ वर्षो से कम प्राचीन नहीं अनुमान की जाती। कहा जाता है कि ये सिद्धान्त ग्रंथ पहले जैनविद्री अर्थात् श्रवणबेलगोल नगर के एक मंदिर जी में विराजमान थे। इसी कारण उस मंदिर की अभी तक 'सिद्धान्त बस्ती' नाम से प्रसिद्धि है। वहां से किसी समय ये ग्रंथ मूडविद्री पहुंचे।

(एपीग्राफिआ कर्नाटिका, जिल्द २, भूमिका पृ.२८)

२. इसी प्रति की धवला की कनाडी प्रतिलिपि पं. देवराज सेठी, शान्तप्पा उपाध्याय और ब्रह्मय्या इन्द्र द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच पूर्ण की गयी थी। यह लगभग १ फुट २ इंच लम्बे और ६ इंच चौड़े काश्मीरी कागज के २८०० पन्नों पर है। यह भी मूडविद्री के गुरुवसदि मंदिर में सुरक्षित है।

३. धवला के ताड़पत्रों की नागरी प्रतिलिपि पं. गजपति उपाध्याय द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच की गई थी। यह प्रति १ फुट ३ इंच लम्बे, १० इंच चौड़े काश्मीरी कागज के १३२३ पन्नों पर है। यह भी मूडविद्री के गुरुवसदि मंदिर में सुरक्षित है।

४. मूडविद्री के ताड़पत्रों पर से सन् १८९६ और १९१६ के बीच पं. गजपति उपाध्याय ने उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाई की सहायता से प्रति गुप्त रीति से की थी वह आधुनिक कनाडी लिपि में कागज पर है। यह प्रति अब सहारनपुर में लाला प्रधुम्नकुमारजी रईस के अधिकार में है।

५. पूर्वोक्त नं. ४ की प्रति की नागरी प्रतिलिपि सहारनुप में पं. विजयचंद्रैया और पं.सीताराम शास्त्री के द्वारा सन् १९१६ और १९२४ के बीच कराई गई थी। यह प्रति १ फुट लम्बे, ८ इंच चौड़े कागज के १६५० पन्नों पर हुई है। इसका नं. ४ की कनाड़ी प्रति से मिलान मूडविद्री के पं. लोकनाथ जी शास्त्री द्वारा सन् १९२४ में किया गया था। यह प्रति भी उक्त लालाजी के ही अधिकार में है।

६. पूर्वोक्त नं. ५ की नागरी प्रतिलिपि करते समय पं. सीताराम शास्त्री ने एक और नागरी प्रतिलिपि करके अपने पास रख ली थी, ऐसा श्रीमान् लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर, की सूचना से जाना जाता है। यह प्रति अब भी पं. सीताराम शास्त्री के अधिकार में है।

७. पूर्वोक्त नं. ६ की प्रति पर से ही सीताराम शास्त्री ने अनेक प्रतियां की हैं जो अब कारंजा, आरा, सागर आदि स्थानों में विराजमान है। सागर की प्रति १३॥ इंच लम्बे ७॥ इंच चौड़े कागज के १५९६ पन्नों पर है। यह प्रति सत्तर्कसुधातंरगिणी पाठशाला, सागर, के चैत्यालय में विराजमान हैं और श्रीमान् पं. गणेशप्रसादजी वर्णी के अधिकार में है।

८ नं. ७ पर से अमरावती की धवला प्रति १७ इंच लम्बे, ७ इंच चौड़े कागज के १४६५ पन्नों पर बटुकप्रसादजी कायस्थके हाथ से संवत् १९८५ के माघकृष्णा ८ शनि. को लिखी गई है। यह प्रति अब इस साहित्य उद्धारक फंड के ट्रस्टी श्रीमान् सिंघई पन्नालाल बंशीलालजी के अधिकार में है और अमरावती के परवार दि. जैन मन्दिर में विराजमान है। इसके ३६५ पन्नों का संशोधन सहारनपुरवाली नं. ५ की प्रति पर से १९३८ में कर लिया गया था।

प्रस्तुत ग्रंथ की प्रथम प्रेसकापी इसी प्रतिपर से की गई थी। इसका उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथ की टिप्पणियों में 'अ' संकेत द्वारा किया गया है।

९. दूसरी प्रति जिसका हमने पाठ संशोधन में उपयोग किया है, आरा के जैन सिद्धान्त भवन में विराजमान है और लाला निर्मलकुमारजी चक्रेश्वरकुमारजी के अधिकार में है। यह उपर्युक्त प्रति नं. ६ पर से स्वयं सीताराम शास्त्री द्वारा वि.सं. १९८३ माघ शुक्ल ५ रविवार को लिखकर समाप्त की हुई है। इसके कागज १४॥ इंच लम्बे और ६॥ इंच चौड़े हैं, तथा पत्र संख्या ११२७ है। यह हमारी टिप्पणियों आदि की 'आ' प्रति है।

१० हमारे द्वारा उपयोग में ली गई तीसरी प्रति कारंजा के श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम की है और हमें पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्त शास्त्री के द्वारा प्राप्त हुई। यह भी उपर्युक्त नं. ६ पर से स्वयं सीताराम शास्त्री द्वारा १३॥ इंच लंबे ८ इंच चौड़े कागज के १४१२ पन्नों पर श्रावण शुक्ला १५ सं. १९८८ में लिखी गई है। इस प्रति का उल्लेख टिप्पणियों आदि में 'क' संकेत द्वारा किया गया है।

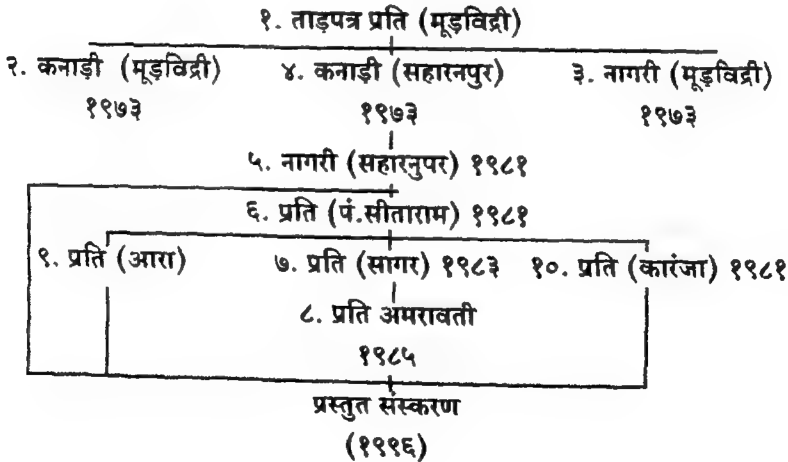
सहारनपुर की प्रति से लिए गए संशोधनों का संकेत 'स' प्रति के नाम से किया गया है।

इनके अतिरिक्त, जहां तक हमें ज्ञात है, सिद्धान्त ग्रंथों की प्रतियाँ सोलापुर, झालरा-पाटन, ब्यावर, बम्बई, इन्दौर, अजमेर, दिल्ली और सिवनी में भी है। इनमें से केवल बम्बई दि. जैन सरस्वती भवन की प्रति का परिचय हमारी प्रश्नावली के उत्तर में वहां के मैनेजर श्रीयुत पं. रामप्रसादजी शास्त्री ने भेजने की कृपा की, जिससे ज्ञात हुआ कि वह प्रति आरा की उपर्युक्त नं. ९ की प्रति पर से पं. रोशनलाल द्वारा सं. १९८९ में लिखी गई है, और उसी पर से झालरा-पाटन ऐलक पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन के लिए प्रति कराई गई है। सागर की सत्तर्कसुधातरंगिणी पाठशाला की प्रति का जो परिचय वहां के प्रधानाध्यापक पं. दयाचंदजी शास्त्री ने भेजने की कृपा की है, उससे ज्ञात हुआ है कि सिबनी की प्रति सागर की प्रति पर से ही की गई है। शेष प्रतियों का हमें हमारी प्रश्नावली के उत्तर में कोई परिचय भी नहीं मिल सका।

इससे स्पष्ट है कि स्वयं सीताराम शास्त्री के हाथ की लिखी हुई जो तीन प्रतियां कारंजा, आरा और सागर की हैं, उनमें से पूर्व दो का तो हमने सीधा उपयोग किया है और सागर की प्रति का उसकी अमरावती वाली प्रतिलिपि पर से लाभ लिया है।

धवल सिद्धान्त की प्रतियों की पूर्वोक्त परम्परा का निदर्शक

वंशवृक्ष



इस विवरण और वंशवृक्ष से स्पष्ट है कि यथार्थ में प्राचीन प्रति एक ही है किंतु खेद है कि अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी हमें मूडबिद्री की प्रति के मिलान का लाभ नहीं मिल सका। यही नहीं, जिस प्रति पर से हमारी प्रथम प्रेस-कापी तैयार हुई वह उस प्रति की छठवीं पीढी की है। उसके संशोधन के लिये हम पूर्णत: दो पांचवी पीढी की प्रतियों का लाभ पा सके। तीसरी पीढी की सहारनपुर वाली प्रति अन्तिम संशोधन के समय हमारे सामने नहीं थी। उसके जो पाठ-भेद अमरावती की प्रति पर अंकित कर लिये गये थे उन्हीं से लाभ उठाया गया है। इस परंपरा में भी दो पीढियों की प्रतियां गुप्त रीति से की गई थी। ऐसी अवस्था में पाठ - संशोधन का कार्य कितना कठिन हुआ है यह वे पाठक विशेष रूप से समझ सकेंगे जिन्हें प्राचीन ग्रंथों के संशोधन का कार्य करना पड़ा है। भाषा के प्राकृत होने और विषय की अत्यन्त गहनता और दुरूहता ने संशोधन कार्य और भी जटिल बना दिया था ।

यह सब होते हुए भी हम प्रस्तुत ग्रंथ पाठकों के हाथ में कुछ दृढता और विश्वास के साथ दे रहे हैं। उपर्युक्त अवस्था में जो कुछ सामग्री हमें उपलब्ध हो सकी उसका पूरा लाभ लेने में कसर नहीं रखी गई। सभी प्रतियों में कहीं-कहीं लिपिकार के प्रमाद से एक शब्द से लेकर कोई सौ शब्द तक छूट गये हैं। इनकी पूर्ति एक दूसरी प्रति से कर ली गई है। प्रतियों में वाक्य-समाप्ति-सूचक विराम-चिन्ह नहीं हैं। कारंजा की प्रति में लाल स्याही के दण्डक लगे हुए हैं, जो वाक्य समाप्ति के समझने में सहायक होने की अपेक्षा भ्रामक ही अधिक हैं। ये दण्डक किस प्रकार लगाये गये थे इसका इतिहास श्रीमान पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री सुनाते थे। जब पं. सीतारामजी शास्त्री ग्रंथों को लेकर कारंजा पहुंचे तब पंडितजी ने ग्रंथों को देखकर कहा कि उनमें विराम-चिन्हों की कमी है। पं. सीतारामजी शास्त्री ने इस कमी की वहीं पूर्ति कर देने का वचन दिया और लाल स्याही लेकर कलम से खटाखट दण्ड लगाना प्रारंभ कर दिया। तब पंडितजी ने उन दण्डकों को जाकर देखा और उन्हें अनुचित स्थानों पर भी लगा पाया तब उन्होंने कहा यह क्या किया ? पं. सीताराम जी ने कहा जहां प्रति में स्थान मिला, आखिर वहीं तो दण्डक लगाये जा सकते हैं ? पण्डितजी इस अनर्थ को देखकर अपनी कृति पर पछताये। अतएव वाक्य का निर्माण करने में ऐसे विराम-चिन्हों का ख्याल बिल्कुल ही छोड़कर विषय के तारतम्य द्वारा ही हमें वाक्य-समाप्ति का निर्णय करना पड़ा है। इस प्रकार तथा अन्यत्र दिये हुए संशोधन के नियमों द्वारा अब जो पाठ प्रस्तुत किया जा रहा है वह समुचित साधनों की अप्राप्ति को देखते हुए असंतोषजनक नहीं कहा जा सकता। हमें तो बहुत थोड़े स्थानों पर शुद्ध पाठ में संदेह रहा है। हमें आश्चर्य इस बात

का नहीं है कि ये थोड़े स्थल शंकास्पद रह गये, किंतु आश्चर्य इस बात का है कि प्रतियों की पूर्वोक्त अवस्था होते हुए भी उन पर से इतना शुद्ध पाठ प्रस्तुत किया जा सका। इस सम्बन्ध में हमसे पुन: यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि गजपतिजी उपाध्याय और पं. सीतारामजी शास्त्री ने भले ही किसी प्रयोजनवश नकलें की हों, किंतु उन्होंने कार्य किया उनकी शक्तिभर ईमानदारी से और इसके लिये उनके प्रति, और विशेषत: पं. गजपति जी उपाध्याय की धर्मपत्नी लक्ष्मीबाई के प्रति हमारी कृतज्ञता कम नहीं है।

पाठ संशोधन के नियम

१. प्रस्तुत ग्रंथ के पाठ संशोधन में ऊपर बतलाई हुई अमरावती, सहारनपुर, कारंजा और आरा की चार हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया गया है। यद्यपि ये सब प्रतियां एक ही प्रति की प्राय एक ही व्यक्ति द्वारा गत पंद्रह वर्षो के भीतर की हुई नकलें हैं, तथापि उनसे पूर्व की प्रति अलभ्य होने की अवस्था में पाठ-संशोधन में इन चार प्रतियों से बहुत सहायता मिली है। कम से कम उनके मिलान द्वारा भिन्न-भिन्न प्रतियों में छूटे हुए भिन्न-भिन्न पाठ, जो एक मात्रा से लगा कर लगभग सौ शब्दों तक पाये जाते हैं, उपलब्ध हो गये और इस प्रकार कम से कम उन सबकी उस एक आदर्श प्रति का पाठ हमारे सामने आ गया। पाठ का विचार करते समय सहारनुपर की प्रति हमारे सामने नहीं थी, इस कारण उसका जितना उपयोग चाहिये उतना हम नहीं कर सके। केवल उसके जो पाठ-भेद अमरावती की हस्तप्रति पर अंकित कर लिये गये थे, उन्हीं से लाभ उठाया गया है। जहां पर अन्य सब प्रतियों से इसका पाठ भिन्न पाया गया वहां इसी को प्रामाण्य दिया गया है। ऐसे स्थल परिशिष्ट में दी हुई प्रति-मिलान की तालिका के देखने से ज्ञात हो जावेंगे। प्रति-प्रामाण्य के बिना पाठ-परिवर्तन केवल ऐसे ही स्थानों पर किया गया है जहां वह विषय और व्याकरण को देखते हुए नितान्त आवश्यक जंचा। फिर भी वहां पर कम से कम परिवर्तन द्वारा काम चलाया जाता है।

२. जहां पर प्रतियों के पाठ-मिलान मात्र से शुद्ध पाठ नहीं मिल सका वहां पहले यह विचार किया गया है कि क्या कनाड़ी से नागरी लिपि करने में कोई दृष्टि-दोषजन्य भ्रम वहां संभव है ? ऐसे विचार द्वारा हम निम्न प्रकार के संशोधन कर सके -

(अ) प्राचीन कनाड़ी में प्राकृत लिखते समय अनुस्वार और वर्ण-द्वित्व-बोधक संकेत एक बिन्दु ही होता है, भेद केवल इतना है कि अनुस्वार का बिन्दु कुछ छोटा (०) और द्वित्वका कुछ बड़ा (0) होता है। फिर अनुस्वार का बिन्दु वर्ण के पश्चात् और द्वित्वका वर्ण

से पूर्व रखा जाता है। अतएव लिपिकार द्वित्वको अनुस्वार और अनुस्वार को द्वित्व भी पढ़ सकता है। उदाहरणार्थ, प्रो. पाठक ने अपने एक लेख में [1] त्रिलोकसार की कनाड़ी ताड़पात्र प्रति पर से कुछ नागरी में गाथाएं उदधृत की है जिनमें से एक यहां देते हैं -

सो उ०म०गाहिमुहो चउ०मुहो 'सदरि-वास-परमाऊ।

चालीस र०जओ जिदभूमि पु०छइ स-मंति-गणं ॥

इसका शुद्धरूप है -

सो उम्मग्गाहिमुहो चउम्मुहो सदरि-वास-परमाऊ।

चालीस-रज्जओ जिदभूमि पुच्छइ स-मंति-गणं ॥

ऐसे भ्रम की संभावना ध्यान में रखकर निम्न प्रकार के पाठ सुधार लिये गये हैं -

(१) अनुस्वार के स्थान पर अगले वर्ण का द्वित्व -

अंगे गिज्झा-अंगग्गिज्झा (पृ.६), लक्खणं खइणो-लक्खणक्खइणो (पृ.१५)

संबंध-संबद्ध (पृ.२५,२९२,) वंस-वस्स (पृ.११०) आदि।

(२) द्वित्व के स्थान पर अनुस्वार -

भग्ग-भंग (पृ.४९) अक्कुलेसर-अंकुलेसर (पृ.७१) कक्खा-कंखा (पृ.७३) समिइवइस्सया दंतं - समिइवइं सया दंतं (पृ.७) सव्वेयणी-संवेयणी (पृ.१०४) ओरालिय त्ति ओरालियं ति (पृ. २९१) पावग्गालिय-पावं गालिय (पृ. ४८) पडिमव्वा-पडिमं वा (पृ.५८) इत्यादि।

(आ) कनाड़ी में द और ध प्राय: एक से ही लिखे जाते हैं जिससे एक दूसरे में भ्रम हो सकता है।

द-ध, दरिद-धरिद (पृ.२९) ध-द, दविध-दविद (पृ.२०) हरधणु हरदणु (पृ.२७३) इत्यादि।

(इ) कनाड़ी में थ और ध में अन्दर केवल वर्ण के मध्य में एक बिंदु के रहने न रहने का है, अतएव इनके लिखने पढ़ने में भ्रान्ति हो सकती है। अत: कर्थ के स्थान पर कधं और इसको तथा पूर्वोक्त अनुस्वार द्वित्व-विभ्रम को ध्यान में रखकर संबंधोवा के स्थान पर सव्वत्थोवा कर दिये गये हैं।

---

1. Bhandarkar commemoration Vol., 1917, P. 221

यद्यपि शौरसेनी के नियमानुसार कथं आदि में थ के स्थान पर ध ही रक्खा है, किंतु जहां ध करने से किसी अन्य शब्द से भ्रम होने की संभावना हुई वहां थ ही रहने दिया। उदाहरणार्थ- किसी किसी प्रति में 'गंथो' के स्थान पर 'गंधो' भी है किंतु हमने 'गंथो' ही रक्खा है।

(ई) ह्रस्व और दीर्घ स्वरों में बहुत व्यत्यय पाया जाता है, विशेषत: प्राकृत रूपों में। इसका कारण यही जान पड़ता है कि प्राचीन कनाड़ी लिपि में ह्रस्व और दीर्घ का कोई भेद ही नहीं किया जाता। अत: संशोधन में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व व्याकरण के नियमानुसार रक्खा गया है।

(उ) प्राचीन कनाड़ी ग्रंथों में बहुधा आदि ल के स्थान पर अ लिखा मिलता है जैसा कि प्रो. उपाध्येने परमात्मप्रकाश की भूमिका में (पृ.८३ पर) कहा है। हमें भी पृ.३२६ की अवतरण गाथा नं. १६९ में 'अहइ' के स्थान पर 'लहइ' करना पड़ा।

३. प्रतियों में न और ण के द्वित्व को छोड़कर शेष पंचमाक्षरों में हलंत रूप नहीं पाये जाते। किंतु यहां संशोधित संस्कृत में पंचमाक्षर यथास्थान रक्खे गये हैं।

४. प और य में प्राचीन कनाड़ी तथा वर्तमान नागरी लिपि में बहुत भ्रम पाया जाता है। यही बात हमारी प्रतियों में भी पाई गई। अत: संशोधन वे दोनों यथास्थान रक्खे गये हैं।

५. प्रतियों में ब और व का भेद नहीं दिखाई देता, सर्वत्र व ही दिखाई देता है। अत: संशोधन में दोनों अक्षर यथास्थान रक्खे गये हैं। प्राकृत में व या ब संस्कृत के वर्णानुसार रक्खा गया है।

६. 'अरिहंत:' संस्कृत में अकारांत के रूप से प्रतियों में पाया जाता है। हमने उसके स्थान पर संस्कृत नियमानुसार अरिहंता ही रक्खा है। (देखो, भाषा व व्याकरण का प्रकरण)

७. ग्रंथ में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का खूब उपयोग हुआ है, तथा प्रतियों की नकल करने वाले संस्कृत के ही जानकार रहे हैं। अत:एव बहुत स्थानों पर प्राकृत के बीच संस्कृत के और संस्कृत के बीच प्राकृत के रूप आ गये हैं। ऐसे स्थानों पर शुद्ध करके उनके प्राकृत और संस्कृत रूप ही दिये गये हैं। जैसे, इदि-इति, वणं-वनं, गदि-गति, आदि।

८. प्रतियों में अवतरण गाथाएं प्राय: अनियमित रूप से उक्तं च या उत्तं च कहकर उद्धृत की गई है। नियम के लिये हमने सर्वत्र संस्कृत पाठ के पश्चात् उक्तं च और प्राकृत पाठ के पश्चात् उत्तं च रक्खा है।

९. प्रतियों में संधि के संबंध में भी बहुत अनियम पाया जाता है। हमनें व्याकरण के संधि संबंधी नियमों को ध्यान में रखकर यथाशक्ति मूल के अनुसार ही पाठ रखने का प्रयत्न किया है, किंतु जहां विराम चिन्ह आ गया है वहां संधि अवश्य ही तोड़ दी गई है।

१०. प्रतियों में प्राकृत शब्दों के लुप्त व्यंजनों के स्थानों में कहीं य श्रुति पाई जाती है और कहीं नहीं। हमनें यह नियम पालने का प्रयत्न किया है कि जहां आदर्श प्रतियों में अवशिष्ट स्वर ही हो वहां यदि संयोगी स्वर अ या आ हो तो य श्रुतिका उपयोग करना, नहीं तो य श्रुतिका उपयोग नहीं करना। प्रतियों में अधिकांश स्थानों पर इसी नियम का प्रभाव पाया जाता है। पर ओ के साथ भी बहुत स्थानों पर य श्रुति मिलती है और ऊ अथवा ए के साथ कदाचित् ही, अन्य स्वरों के साथ नहीं।

(१) ओ के साथ य श्रुति के उदाहरण -

मणिय्रों, जाणयो, विसारयो, पारयो, आदि।

(२) ऊके साथ - वज्जियूण

(३) ए के साथ-परिणयेण (परिणतेन) एक्कारसीये, आदीये, इत्यादि।

षट्खंडागम के रचयिता

आचार्य धरसेन -

प्रस्तुत ग्रंथ के अनुसार (पृ.६७) षट्खंडागम के विषय के ज्ञाता धरसेनाचार्य थे, जो सोरठ देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में ध्यान करते थे। नंदिसंघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार वे आचारांग के पूर्ण ज्ञाता थे किन्तु 'धवला' के शब्दों में वे अंगों और पूर्वो के एक देश ज्ञाता थे। कुछ भी हो वे थे भारी विद्वान् और श्रुत-वत्सल। उन्हें इस बात की चिंता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञान का लोप हो जायगा, अत: उन्होंने महिमा नगरी के मुनि सम्मेलन को पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप वहां से दो मुनि उनके पास पहुंचे। आचार्य ने उनकी बुद्धि की परीक्षा करके उन्हें सिद्धान्त पढ़ाया। ये दोनों मुनि पुष्पदंत और भूतबलि थे।

धरसेनाचार्य ने इन्हें सिखाया तो उत्तमता से किंतु ज्यों ही आषाढ़ शुक्ला एकादशी को अध्ययन पूरा हुआ त्यों ही वर्षाकाल के बहुत समीप होते हुए भी उन्हें उसी दिन[१] अपने पास से विदा कर दिया। दोनों शिष्यों ने गुरु की बात अनुलंघनीय मानकर उसका पालन किया और वहां से चलकर अंकुलेश्वर में [२] चातुर्मास किया। धरसेनाचार्य ने इन्हें वहां तत्क्षण क्यों रवाना कर दिया यह प्रस्तुत ग्रंथ में नहीं बतलाया गया है। किंतु इद्रनन्दिकृत श्रुतावतार तथा विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतार में लिखा है कि धरसेनाचार्य को ज्ञात हुआ कि उनकी मृत्यु निकट है, अतएव इन्हें उस कारण क्लेश न हो इससे उन्होंने उन मुनियों को तत्काल अपने पास से विदा कर दिया [३]। संभव है उनके वहां रहने से आचार्य के ध्यान और तप में विघ्न होता, विशेषत: जब कि वे श्रुतज्ञान का रक्षासंबन्धी अपना कर्तव्य पूरा कर चुके थे। वे संभवत: यह भी चाहते होंगे कि उनके वे शिष्य वहां से जल्दी निकल कर उस श्रुतज्ञान का प्रचार करें। जो भी हो, धरसेनाचार्य की हमें फिर कोई छटा देखने को नहीं मिलती, वे सदा के लिये हमारी आंखों से ओझल हो गये।

आचार्य अर्हद्बलि और माघनन्दि -

धवलाकार ने धरसेनाचार्य के गुरु का नाम नहीं दिया। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतारमें लोहार्य तक की गुरुपरम्परा के पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्यो का उल्लेख किया गया है। वे सब अंगों और पूर्वो के एकदेश ज्ञाता थे। इनके पश्चात् अर्हद्बलिका उल्लेख आया है। अर्हद्बलि बड़े भारी संघनायक थे। वे पूर्वदेश में पुंड्रवर्धनपुर के कहे गये हैं। उन्होंने पंचवर्षीय युग-प्रतिक्रमण के समय बड़ा भारी यति-सम्मेलन किया जिसमें सौ योजन के यति एकत्र हुए। उनकी भावनाओं पर से उन्होंने जान लिया कि अब पक्षपात का जमाना आ गया है। अत: उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामों से भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये जिसमें एकत्व और अपनत्व की भावना से खूब धर्म-वात्सल्य और धर्म-प्रभावना बढ़े।

श्रुतावतार के अनुसार अर्हद्बलि केअनन्तर माघनन्दि हुए जो मुनियों में श्रेष्ठ थे।

---

१ इन्द्रनन्दि के अनुसार धरसेनाचार्य ने उन्हें दूसरे दिन विदा किया।

२ इन्द्रनन्दि ने इस पत्तन का नाम कुरीश्वर दिया है। वहां वे नौ दिन की यात्रा करके पहुँचे।

३ स्वासन्नमृतिं ज्ञात्वा मा भूत्संक्लेशामेतयोतस्मिन्। इति गुरुणा संचिन्त्य द्वितियदिवसे ततस्तेन। इन्द्रनन्दि, श्रुतावतार आत्मनो निकटमरणं ज्ञात्वा धरसेनस्तयोर्मा क्लेशो भवतु इति मत्वा तन्मुनिविसर्जन करिष्यति।

विबुधश्रीधर, श्रुतावतार. मा. दि. जै. ग्रं. २१, पु. ३१७.

उन्होंने अंगों और पूर्वों का एकदेश प्रकाश फैलाया और पश्चात् समाधिमरण किया। उनके पश्चात् ही सौराष्ट्र देश के गिरिनगर के समीप ऊर्जयन्त पर्वत की चन्द्रगुफा के निवासी धरसेनाचार्य का वर्णन आया है।

इन चार आरातीय यतियों और अर्हद्बलि, माघनन्दि व धरसेन आचार्यो के बीच इन्दनन्दि ने कोई गुरु-शिष्य-परम्परा का उल्लेख नहीं किया केवल अर्हद्बलि आदि तीन आचार्यो में एक के पश्चात् दूसरे के होने का स्पष्ट संकेत किया है। पर इन तीनों के गुरु-शिष्य तारतम्य के सबन्ध में भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। यही नहीं प्रत्युत उन्होंने स्पष्ट कहा दिया है कि -

गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः ।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ।। १५१।।

अर्थात् गुणधर और धरसेन की पूर्वापर गुरुपरम्परा हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि, उसका वृत्तान्त न तो हमें किसी आगम में मिला और न किसी मुनिने ही बतलाया।

किंतु नन्दि संघ की प्राकृत पट्टावली में अर्हद्बलि, माघनन्दि और धरसेन तथा उनके पश्चात् पुष्पदन्त और भूतवलिको एक दूसरे के उत्तराधिकारी बतलाया है जिससे ज्ञात होता है कि धरसेन के दादागुरु और गुरु माघनन्दि थे।

नन्दिसंघ की संस्कृत गुर्वावली में भी माघनन्दिका नाम आया है। इस पट्टावली के प्रारंभ में भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तकी वंदना की गई है, किन्तु उनके नाम के साथ संघ आदि का उल्लेख नहीं किया गया है। उनकी वन्दना के पश्चात् मूलसंघ में नन्दिसंघ बलात्कारगण के उत्पन्न होने के साथ ही माघनन्दिका उल्लेख किया गया है। संभव है कि संघभेद के विधाता अर्हद्बलि आचार्य ने उन्हें ही नन्दिसंघ का अग्रणी बनाया हो। उनके नाम के साथ 'नन्दि' पर होने से उनका इस गण के साथ संबन्ध प्रकट होता है। यथा -

श्रीमानशेषनरनायकवन्दितांघ्रिः श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुतनामधेयः ।
यो भद्रबाहुमुनिपुंगवपट्टपद्यः सूर्यः स वो दिशतु निर्मलसंघवृद्धिम् ।।१।।
श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघः तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्यः ।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्धः ।।२।।

जै.सि.भा.१,४,पृ.५१.

पट्टावली में इनके पट्टधारी जिनचन्द्र और उसके पश्चात् पद्मनन्दि कुन्दकुन्द का

उल्लेख किया गया है, पर धरसेन का नहीं। अत: संशय हो सकता है कि ये वे ही धरसेन के गुरु हैं या नहीं। किंतु उनके 'पूर्वपदांशवेदी' अर्थात् पूर्वों के एकदेश को जानने वाले ऐसे विशेषण से पता चलता है कि ये वे ही हैं। पट्टावली में उनके शिष्य धरसेन का उल्लेख न आने का कारण यह हो सकता है कि धरसेन विद्यानुरागी थे और वे संघ से अलग रहकर शास्त्राभ्यास किया करते थे। अत: उनकी अनुपस्थिति में संघ का नायकत्व माघनन्दि के अन्य शिष्य जिनचन्द्र पर पड़ा हो। उधर धरसेनाचार्य ने अपनी विद्या द्वारा शिष्य परम्परा पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा चलाई।

माघनन्दिका उल्लेख 'जंबूदीवपण्णत्ति' के कर्ता पद्मनन्दिने भी किया है और उन्हें, राग, द्वेष और मोह से रहित, श्रुतसागर के पारगामी, मति-प्रगल्भ, तप और संयम से सम्पन्न तथा विख्यात कहा है। इनके शिष्य सकलचंद्र गुरु थे जिन्होंने सिद्धान्तमहोदधि में अपने पापरूपी मैल धो डाले थे। उनके शिष्य श्रीनन्दि गुरु हुए जिनके निमित्त जंबूदीवपण्णत्ति लिखी गई। यथा -

गय-राय-दोस-मोहो सुद-सायर-पारओ मइ-पगब्भो।
तव-संजम-संपण्णो विक्खाओ माघनंदि गुरू ॥ १५४ ॥
तस्सेव य वरसिस्सो सिद्धंत-महोदहिम्मि धुय-कलुसो।
णय-णियम-सील-कलिदो गुणउत्तो सयलचंद-गुरू ॥ १५५ ॥
तस्सेव य वर-सिस्सो णिम्मल-वर-णाण-चरण-संजुत्तो।
सम्मद्दंसण-सुद्धो सिरिणंदि गुरु त्ति विक्खाओ ॥ १५६ ॥
तस्स णिमित्तं लिहियं जंबूदीवस्स तह य पण्णत्ती।
जो पढइ सुणइ एदं सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥ १५७ ॥
(जैन साहित्य संशोधक, खं. १. जंबूदीवपण्णत्ति, लेखक पं. नाथूरामजी प्रेमी)

जंबूदीवपण्णत्तिका रचनाकाल निश्चित नहीं है। किन्तु यहां माघनन्दि को श्रुतसागर पारगामी कहा है जिससे जान पड़ता है कि संभवत: यहां हमारे माघनन्दि से ही तात्पर्य है।

माघनन्दि सिद्धान्तवेदी के संबन्ध का एक कथानक भी प्रचलित है। कहा जाता है कि माघनन्दि मुनि एकबार चर्या के लिये नगर में गये थे। वहां एक कुम्हार की कन्या ने इनसे प्रेम प्रगट किया और वे उसी के साथ रहने लगे। कालान्तर में एक बार संघ में किसी सैद्धान्तिक विषय पर मत भेद उपस्थित हुआ और जब किसी से उसका समाधान नहीं हो सका तब संघनायक ने आज्ञा दी कि इसका समाधान माघनान्दि के पास जाकर किया जाय।

अत: साधु माघनन्दि के पास पहुंचे और उनसे ज्ञान की व्यवस्था मांगी। माघनन्दि ने पूछा 'क्या संघ मुझे अब भी यह सत्कार देता है ? मुनियों ने उत्तर दिया आपके श्रुतज्ञान का सदैव आदर होगा।' यह सुनकर माघनन्दि को पुन: वैराग्य हो गया और वे अपने सुरक्षित रखे हुए पीछी कमंडलु लेकर पुन: संघ में आ मिले। जैन सिद्धान्तभास्कर, सन् १९१३, अंक ४, पृष्ठ १५१ पर 'एक ऐतिहासिक स्तुति' शीर्षक से इसी कथानक का एक भाग छपा है और उसके साथ सोलह श्लोकों की एक स्तुति छपी है जिसे, कहा गया है कि, माघनन्दि ने अपने कुम्हार जीवन के समय कच्चे घड़ों पर थाप देते समय गाते गाते बनाया था।

यदि इस कथानक में कुछ तथ्यांश हो भी तो संभवत: यह उन माघनन्दि नाम के आचार्यों में से किसी एक के सम्बन्ध का हो सकता है जिनका उल्लेख श्रवण बेलगोल के अनेक शिलालेखों में आया है। (देखो जैन शिलालेख संग्रह) इनमें से नं. ४७१ के शिलालेख में शुभचंद्र त्रैविद्यदेव के गुरु माघनन्दि सिद्धान्तदेव कहे गये हैं। शिलालेख नं.१२९ में बिना किसी गुरु-शिष्य संबन्ध के माघनन्दि को जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्तवेदी कहा है। यथा -

नमो नम्रजनानन्दस्यन्दिने माघनन्दिने।
जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तवेदिने चित्प्रमोदिने ॥ ४ ॥

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि-

ये दोनों आचार्य हमारे षट्खण्डागम के सच्चे रचयिता हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में इनके प्रारम्भिक नाम, धाम व गुरु-परम्परा का कोई परिचय नहीं पाया जाता। धवलाकार ने उनके संबन्ध में केवल इतना ही कहा है कि जब महिमा नगरी में सम्मिलित यतिसंघ को धरसेनाचार्य का पत्र मिला तब उन्होंने श्रुत-रक्षा संबन्धी उनके अभिप्राय को समझकर अपने संघ में से दो साधु चुने जो विद्याग्रहण करने और स्मरण रखने में समर्थ थे, जो अत्यन्त विनयशील थे, शीलवान् थे, जिनका देश, कुल और जाति शुद्ध था और जो समस्त कलाओं में पारंगत थे। उन दोनों को धरसेनाचार्य के पास गिरिनगर (गिरनार) भेज दिया। धरसेनाचार्य ने उनकी परीक्षा की। एक को अधिकाक्षरी और दूसरे को हीनाक्षरी विद्या बताकर उनसे उन्हें षष्ठोपवास से सिद्ध करने को कहा। जब विद्याएं सिद्ध हुई तो एक बड़े बड़े दांतों वाली और दूसरी कानी देवी के रूप में प्रकट हुई। इन्हें देख कर चतुर साधकों ने जान लिया कि उनके मंत्रों में कुछ त्रुटि है। उन्होंने विचारपूर्वक उनके अधिक और हीन अक्षरों की कमी वेशी करके पुन: साधना की, जिससे देवियां अपने स्वाभाविक सौम्य रूप में प्रकट हुई। उनकी इस कुशलता से गुरु ने जान लिया कि ये सिद्धान्त सिखाने के योग्य पात्र हैं। फिर उन्हें क्रम

से सब सिद्धान्त पढ़ा दिया। यह श्रुताभ्यास आषाढ़ शुक्ला एकादशीको समाप्त हुआ और उसी समय भूतों ने पुष्पोपहारोंद्वारा शंख, तूर्य और वादित्रों की ध्वनि के साथ एक की बड़ी पूजा की। इसी से आचार्यश्री ने उनका नाम भूतबलि रक्खा। दूसरे की दंतपंक्ति अस्त-व्यस्त थी, उसे भूतों ने ठीक कर दी, इससे उनका नाम पुष्पदन्त रक्खा गया। ये ही दो आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि षट्खण्डागम के रचयिता हुए।

इन दोनों ने धरसेनाचार्य से सिद्धान्त सीखकर ग्रंथ-रचना की, अत: धरसेनाचार्य उनके शिक्षा गुरु थे। पर उनके दीक्षागुरु कौन थे इसका कोई उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथ में नहीं मिलता। ब्रह्म नेमिदत्त ने अपने आराधना-कथा कोष में भी धरसेनाचार्य की कथा दी है। उसमें कहा है कि धरसेनाचार्य ने जिस मुनिसंघ को पत्र भेजा था उसके संघाधिपति महासेनाचार्य थे और उन्हीं ने अपने संघ में से पुष्पदन्त और भूतबलि को उनके पास भेजा। यह कहना कठिन है कि ब्रह्म नेमिदत्त ने संघाधिपति का नाम कथानक के लिये कल्पित कर लिया है या वे किसी आधार पर से उसे लिख रहे हैं।

बिबुध श्रीधर ने अपने श्रुतावतार में भविष्यवाणी के रूप में एक भिन्न ही कथानक दिया है जो इस प्रकार है -

इसी भरत क्षेत्र के वांमिदेश (ब्रह्मदेश ?) में बसुंधरा नाम की नगरी होगी। वहां के राजा नरवाहन और रानी सुरुपा को पुत्र न होने से राजा खेदखिन्न होगा। तब सुबुद्धि नाम के सेठ उन्हें पद्मावती की पूजा करने का उपदेश देंगे। राजा के तदनुसार देवी की पूजा करने पर पुत्रप्राप्ति होगी और वे उस पुत्र का नाम पद्म रक्खेंगे। फिर राजा सहस्त्रकूट चैत्यालय बनवावेंगे और प्रतिवर्ष यात्रा करेंगे। सेठ जी राज प्रासाद से पद पद पर पृथ्वी को जिन मंदिरों से मंडित करेंगे। इसी समय बसंत ऋतु में समस्त संघ वहां एकत्र होगा और राजा सेठजी के साथ जिनपूजा करके रथ चलावेंगे। उसी समय राजा अपने मित्र मगधस्वामी को मुनीद्र हुआ देख सुबुद्धि सेठ के साथ वैराग्य से जैनी दीक्षा धारण करेंगे। इसी समयएक लेखवाहक वहां आवेगा। वह जिन देवोंको नमस्कार करके व मुनियों की तथा (परोक्ष में) धरसेन गुरु की वन्दना करके लेख समर्पित करेगा। वे मुनि उसे वांचेंगे कि गिरिनगर के समीप गुफावासी धरसेन मुनीश्वर आग्रायणीय पूर्व की पंचम वस्तु के चौथे प्राभृतशास्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ करने वाले हैं। धरसेन भट्टारक कुछ दिनों में नरवाहन और सुबुद्धि नाम के मुनियों को पठन, श्रवण और चिन्तनक्रिया कराकर आषाढ़ शुक्ल एकादशी को शास्त्र समाप्त करेंगे। उनमें से एक की भूत रात्रि को बलिविधि करेंगे और दूसरे के चार दांतों को सुन्दरबना देंगे। अतएव भूत-बलि के प्रभाव से नरवाहन मुनि का नाम भूतबलि और चार

दांत समान हो जाने से सुबुद्धि मुनि का नाम पुष्पदन्त होगा[१]। इसके लेखक का समय यदि अज्ञात है और यह कथानक कल्पित जान पड़ता है । अतएव उसमें कही गई बातों पर कोई जोर नहीं दिया जा सकता।

श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख (नं. १०५) में पुष्पदन्त भूतबलि को स्पष्ट रूप से संघभेद-कर्त्ता अर्हद्बलिके शिष्य कहा है। यथा -

> यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे।
> फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङकुराभ्यामिव कल्पभूजः ॥ २५ ॥
> अर्हद्बलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघम्।
> कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेराल्पीकरणाय चक्रे ॥ २६ ॥

यद्यपि यह लेख बहुत पीछे अर्थात शक सं. १३२० का है, तथापि संभवतः लेखक ने किसी आधार पर से ही इन्हें अर्हद्बलि के शिष्य कहा होगा। यदि ऐसा हो तो यह भी संभव है कि ये इन दोनों के दीक्षा-गुरु हों और धरसेनाचार्य ने जिस मुनि-सम्मेलन को पत्र भेजा था वह अर्हद्बालिका युग-प्रतिक्रमण के समय एकत्र किया हुआ समाज ही हो, और वहीं से उन्होंने अपने अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि को धरसेनाचार्य के पास भेजा हो। पट्टावली के अनुसार अर्हद्बलि के अन्तिम समय और पुष्पदन्त के प्रारम्भ समय में २१ + १९ = ४० वर्ष का अन्तर पड़ता है जिससे उनका समसामयिक होना असंभव नहीं है। केवल इतना ही है कि इस अवस्था में, लेख लिखते समय धरसेनाचार्य की आयु अपेक्षाकृत कम ही मानना पड़ेगी।

पुष्पदन्त और जिनपालित -

प्रस्तुत ग्रन्थ में पुष्पदन्त का सम्पर्क एक और व्यक्ति से बतलाया गया है। अंकुलेश्वर में चातुर्मास समाप्त करके जब वे निकले तब उन्हें जिनपालित मिल गये और उनके साथ वे वनवास देश को चले गये। [२] ('जिणवालियं दट्ठण पुप्फ यताइरियो वणवासविसयं गदो' पृष्ठ ७१) दट्ठण का साधारतः दृष्ट्वा अर्थात् देखकर अर्थ होता है। पर यहां पर दट्ठूण का देखकर यही अर्थ ले लिया जाता है तो यह नहीं मालूम होता कि वहां

---

१ विबुधश्रीधर-श्रुतावतार (मा.जै.ग्रं. २१. सिद्धान्तसारादिसंग्रह, पृ. ३१६)

२ विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतार के अनुसार पुष्पदन्त और भूतबलिने अंकुलश्वर में ही षडंग आगम की रचना की। (तन्मुनिद्वयं अंकुलेसुरपुरे गत्वा मत्वा षडंगरचनां कृत्वा शास्त्रेषु लिखाप्य...)

जिनपालित कहां से आ गये ? दट्ठूण का अर्थ द्रष्टु अर्थात् देखने के लिये भी हो सकता है,[१] जिसका तात्पर्य यह होगा कि पुष्पदन्त अंकुलेश्वर से निकलकर जिनपालित को देखने के लिये वनवास चले गये। संगति की दृष्टि से यह अर्थ ठीक बैठता है। इन्द्रनन्दिने जिनपालित को पुष्पदन्त का भागिनेय अर्थात् भनेज कहा है। पर इस रिश्ते के कारण वे उन्हें देखने के लिये गये यह कदाचित् साधु के आचार की दृष्टि से ठीक न समझा जाय इसलिये वैसा अर्थ नहीं किया। वनवास देश सेही वे गिरिनगर गये थे और वहां से फिरा वनवास देश को ही लौट गये। इससे यही प्रान्त पुष्पदन्ताचार्य की जन्मभूमि ज्ञात होती है। वहां पहुंचकर उन्होंने जिनपालित को दीक्षा दी और 'बीसादि सूत्रों' की रचना करके उन्हें पढ़ाया, और फिर उन्हें भूतबलि के पास भेज दिया। भूतबलि ने उन्हें अल्पायु जान, महाकर्म प्रकृति पाहुड़ के विच्छेद-भय से द्रव्यप्रमाण से लगाकर आगेकी ग्रन्थ-रचना की। इस प्रकार पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों इस सिद्धान्त ग्रंथ के रचयिता हैं और जिनपालित उस रचना के निमित्त कारण हुए।

पुष्पदन्त भूतबलि से जेठे थे -

पुष्पदन्त और भूतबलि बीच आयु में पुष्पदन्त ही जेठे प्रतीत होते हैं। धवलाकार ने अपनी टीका के मंगलाचरण में उन्हें ही पहले नमस्कार किया है और उन्हें 'इसि-समिइ-वइ' (ऋषिसमिति-पति) अर्थात ऋषियों व मुनियों की सभा के नायक कहा है। उनकी ग्रंथ-रचना भी आदि में हुई और भूतबलि ने अपनी रचना अन्ततः उन्हीं के पास भेजी जिसे देख वे प्रसन्न हुए। इन बातों से उनका ज्येष्ठत्व पाया जाता है। नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली में वे स्पष्टतः भूतबलि से पूर्व पट्टाधिकारी हुए बतलाये गये हैं।

पुष्पदन्त और भूतबलि के बीच किसने कितना ग्रंथ रचा -

वर्तमान ग्रंथ में पुष्पदन्त की रचना कितनी है और भूतबलि कितनी, इसका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। पुष्पदन्त ने आदि के प्रथम 'वीसदि-सूत्र' रचे। पर इन वीस सूत्रों से धवलाकार समस्त सत्प्ररूपणा के बीस अधिकारोंसे तात्पर्य है, न कि आदि के २० नम्बर तक के सत्रों से, क्योंकि, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि भूतबलि ने द्रव्यप्रमाणानुगम से लेकर रचना की (पृ. ७१)। जहां से द्रव्य प्रमाणानुगम अर्थात संख्याप्ररूपणा प्रारंभ होती है वहां पर भी कहा गया है कि -

---

१ जैसे, रामो तिसमुद्दमेहलं पुहइं पालेउम समत्थो। पउम च. ३१, ५०, संसार-गमण-भीओ इच्छइ घेत्तूण पव्वज्जं। पउम च. ३१, ४८

संपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणं पडिवोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।

अर्थात् - 'अब चौदह जीवसमासों के अस्तित्व को ज्ञान लेने वाले शिष्यों को उन्हीं जीवसमासों के परिमाण बतलाने के लिये भूतबलि आचार्य सूत्र कहते हैं'।

इस प्रकार सत्प्ररूपणा अधिकार के कर्ता पुष्पदन्त और शेष समस्त ग्रंथ के कर्ता भूतबलि ठहराते हैं।

श्रुतपंचमी का प्रचार -

धवला में इस ग्रंथ की रचना का इतना ही इतिहास पाया जाता है। इससे आगे का वृत्तान्त इन्द्रनदिकृत श्रुतावतार में मिलता है। उसके अनुसार भूतबलि आचार्य ने षट्खण्डागम की रचना पुस्तकारुढ करके ज्येष्ठ शुक्ल ५ को चतुर्विध संघ के साथ उन पुस्तकों को उपकरण मान श्रुतज्ञान की पूजा की जिससे श्रुतपंचमी तिथि की प्रख्याति जैनियों में आज तक चली आती है और उस तिथि को वे श्रुत की पूजा करते हैं [१]। फिर भूतबलि ने उन षट्खण्डागम पुस्तकों को जिनपालित के हाथ पुष्पदन्त गुरु के पास भेजा। पुष्पदन्त उन्हें देखकर और अपने चिन्तित कार्य को सफल जान अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने भी चातुर्वर्ण संघहित सिद्धान्त की पूजा की।

आचार्य-परम्परा

धरसेनाचार्य से पूर्व की गुरु-परम्परा -

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि धरसेनाचार्य और उनसे सिद्धान्त सीखकर ग्रंथ रचना करने वाले पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य कब हुए ? प्रस्तुत ग्रंथ में इस सम्बध की कुछ सूचना महावीर स्वामी से लगाकर लोहाचार्य तक की परम्परा से मिलती है। जह परम्परा इस प्रकार है, महावीर भगवान् के पश्चात् क्रमश: गौतम, लोहार्य और जम्बूस्वामी

१ ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेत: ।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वक पूजाम् ॥ १४३ ॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परमाप ।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैना: ॥ १४४ ॥ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार

समस्त श्रुत के ज्ञायक और अन्त में केवलज्ञानी हुए। उनके पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवली हुए। उनके पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव, और धर्मसेन, ये ग्यारह एकादश अंग और दशपूर्व के पारगामी हुए। तत्पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंस, ये पांच एकादश अंगों के धारक हुए और इनके पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य, ये चार आचार्य एक आचारंग के धारक और शेष श्रुत के एकदेश ज्ञाता हुए। इसके पश्चात् समस्त अंगों और पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परासे आकर धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ (६५-६६)। यह परम्परा इस प्रकार है -

महावीर की शिष्य-परम्परा

१. गौतम	३	१५. धृतिसेन	
२. लोहार्य	केवली	१६. विजय	
३. जम्बू		१७. बुद्धिल	
		१८. गंगदेव	
४. विष्णु		१९. धर्मसेन	
५. नन्दिमित्र	५		
६. अपराजित	श्रुतकेवली	२०. नक्षत्र	
७. गोवर्धन		२१. जयपाल	५
८. भद्रबाहु		२२. पाण्डु	एकादशांगधारी
		२३. ध्रुवसेन	
९. विशाखाचार्य		२४. कंस	
१०. प्रोष्ठिल	११		
११. क्षत्रिय	दशपूर्वी	२५. सुभद्र	
१२. जय		२६. यशोभद्र	४
१३. नाग		२७. यशोबाहु	आचारांगधारी
१४. सिद्धार्थ		२८. लोहार्य	

आचार्य - परम्परा के नाम भेद -

ठीक यही परम्परा धवला में आगे पुन: वेदनाखंड के आदि में मिलती है। इन दोनों स्थानों तथा बेल्गोल के शिलालेख नं. १ में नं. २ के आचार्य का नाम लोहार्य ही पाया जाता है, किन्तु हरिवंशपुराण, श्रुतावतार व ब्रह्म हेमकृत श्रुतस्कंध व शिलालेख नं. १०५ (२५४) में उस स्थान पर सुधर्म का नाम मिलता है। यही नहीं, स्वयं धवलाकार द्वारा ही रची हुई 'जयधवला' में भी उस स्थान पर लोहार्य नहीं सुधर्म का नाम है। इस उलझन को सुलझाने वाला उल्लेख 'जंबूदीवपण्णत्ति' में पाया जाता है। वहां यह स्पष्ट कहा गया है कि लोहार्य का ही दूसरा नाम सुधर्म था। यथा -

'तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
गणधर-सुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिद्दिट्ठं ॥ १० ॥

(जै सा. सं. १ पृ. १४९)

नं. ४ पर विष्णु के स्थान में भी नामभेद पाया जाता है। जंबूदीवपण्णत्ति, आदिपुराण व श्रुतस्कंध में उस स्थान पर 'नन्दी' या नन्दीमुनि नाम मिलता है। यह भी लोहार्य और सुधर्म के समान एक ही आचार्य के दो नाम प्रतीत होते हैं। इस भेद का कारण यह प्रतीत होता है कि इन आचार्य का पूरा नाम विष्णुनन्दि होगा और वे ही एक स्थान पर संक्षेप से विष्णु और दूसरे स्थान पर नन्दि नाम से निर्दिष्ट किये गये हैं। यही बात आगे नं. १८ के गंगदेव विषय में पाई जाती है।

नं. ५ और ६ के आचार्यों का शिलालेख नं. १०५ में विपरीत क्रम से उल्लेख किया गया है, अर्थात वहां अपराजिता का नाम पहिले और नंदिमित्र का पश्चात् किया गया है। संभवत: यह छंद-निर्वाह मात्र के लिये है, कोई भिन्न मान्यता का द्योतक नहीं।

आगे के अनेक आचार्यों के नाम भी शिलालेख नं. १०५ में भिन्न क्रम से दिये गये हैं जिसका कारण भी छंदरचना प्रतीत होता है और इसी कारण संभवत: धर्मसेन का नाम यहां भिन्न क्रम से सुधर्म दिया गया है।

उसी प्रकार नं. ११ और १२ का उल्लेख श्रुतस्कंध में विपरीत है, अर्थात् जयका नाम पहले और क्षत्रिय का नाम पश्चात् दिया गया है। क्षत्रिय के स्थान में शिलालेख नं. १ में कृत्तिकार्य नाम है जो अनुमानत: प्राकृत पाठ 'क्खत्तियारिय' का भ्रान्त संस्कृत रूप प्रतीत होता है। नंदिसंघ की प्राकृत पट्टावली में नं. १७ के बुद्धिल के स्थान पर बुद्धिलिंग व नं. १८ के गंगदेव के स्थान पर केवल 'देव' नाम है।

नं. २१ के जयपाल के स्थान पर जयधवला में 'जसफल' तथा हरिवंशपुराण में यश:पाल नाम दिये हैं।

नं. २३ के ध्रुवसेन के स्थान पर श्रुतावतार व शिलालेख नं. १०५ में द्रुमसेन तथा श्रुतस्कंध में 'धुतसेन' नाम है।

नं. २६ के यशोभद्र के स्थान पर श्रुतावतार में अभयभद्र नाम है।

नं. २७ केयशोबाहु के स्थान पर जयधवला में जहबाहु, श्रुतावतार में जयबाहु, व नंदि संघ प्राकृत पट्टावली में व आदि पुराण में भद्रबाहु नाम है। संभवत: ये ही नंदिसंघ की संस्कृत पट्टावली के भद्रबाहु द्वितीय हैं।

इन सब नाम-भेदों का मूल कारण प्राकृत नामों पर से भ्रमवश संस्कृत रूप बनाना प्रतीत होता है। कहीं कहीं लिपि में भ्रम होने से भी पाठ-भेद पड़ जाना संभव है।

धरसेनाचार्य के समय का विचार-

उक्त आचार्य परम्परा का प्रस्तुत खण्ड में समय नहीं दिया गया है। किन्तु धवला के वेदनाखण्ड के आदि में, जयधवला में व इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में गौतम स्वामी से लगाकर लोहार्य तक का समय मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि महावीर निर्वाण के क्रमश: ६२ वर्ष में तीन केवली, १०० वर्ष में पांच श्रुतकेवली, १८३ वर्ष में ग्यारह दशपूर्वी, २२० वर्ष में पांच एकादशांगधारी और ११८ वर्ष में चार एकांगधारी आचार्य हुए। इस प्रकार महावीर निर्वाण से लोहाचार्य (द्वि.) तक ६२ +१०० + १८३ +२२० +११८ = ६८३ वर्ष व्यतीत हुए और इसके पश्चात् किसी समय धरसेनाचार्य हुए।

अब प्रश्न यह है कि लोहाचार्य से कितने समय पश्चात् धरसेनाचार्य हुए। प्रस्तुत ग्रन्थ में तो इसके संबन्ध में इतना ही कहा गया है कि इसके पश्चात् की आचार्य-परम्परा में धरसेनाचार्य हुए (पृष्ठ ६७)। अन्यत्र जहां यह आचार्य - परम्परा पाई जाती है वहां सर्वत्र वह परम्परा लोहाचार्य पर ही समाप्त हो जाती है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतार में प्रस्तुत ग्रंथों के निर्माण का वृतान्त विस्तार से दिया है। किन्तु लोहार्य के पश्चात् आचार्यों का क्रम स्पष्टत: सूचित नहीं किया। प्रत्युत, जैसा ऊपर बता आये हैं, उन्होंने कहा है कि इन आचार्यों की गुरु-परम्परा का कोई निश्चय नहीं, क्योंकि, उसके कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं। उन्होंने लोहार्य के पश्चात् चार और आचार्यों के नाम गिनाये हैं, विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त। और उन्हें आरातीय तथा अंशों और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता कहा है।

लोहार्य के पश्चात् चार आरातीय यतियों का जिस प्रकार इन्द्रनन्दिने एकसाथ उल्लेख किया है उससे ज्ञान पड़ता है कि संभवत: वे सब एक ही काल में हुए थे। इसी से श्रीयुक्त पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने उन चारों का एकत्र समय २० वर्ष अनुमान किया है। उनके पश्चात् के अर्हद्बलि आदि आचार्यों का समय मुख्तारजी क्रमश: १० वर्ष अनुमान करते हैं (समन्तभद्र पृ. १६१)। इसके अनुसार धरसेनाचार्य का समय वीनिर्वाण से ६८२ + २० + १० + १० = ७२३ वर्ष पश्चात् आता है।

किन्तु नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली इसका समर्थन नहीं करती। यथार्थत: यह पट्टावली अन्य सब परम्पराओं और पट्टावलियों से इतनी विलक्षण है और उन विलक्षणताओं का प्रस्तुत आचार्यों के काल-निर्णय से इतना घनिष्ट संबन्ध है कि उसका पूरा परिचय यहां देना आवश्यक प्रतीत होता है। और चूंकि यह पट्टावली, जहां तक हमें ज्ञात है, केवल जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, सन् १९१३ में छपी थी जो अब अप्राप्य है, अत: उसे हम यहां पूरी बिना संशोधन का प्रयत्न किये उद्धृत करते हैं -

नन्दि - आम्नाय की पट्टावली

श्रीत्रैलोक्याधिपं नत्वा स्मृत्वा सद्गुरुभारतीम्।
वक्ष्ये पट्टावलीं रम्यां मूलसंघगणाधिपाम्॥ १॥
श्रीमूलसंघप्रवरे नन्द्याम्नाये मनोहरे।
बलात्कारगणोत्तंसे गच्छे सारस्वतीयके॥ २॥
कुन्दकुन्दान्वये श्रेष्ठमुत्पन्नं श्रीगणाधिपम्।
तमेवात्र प्रवक्ष्यामि श्रूयतां सज्जना जनाः॥ ३॥

पट्टावली

अंतिम-जिण-णिव्वाणे केवलणाणी य गोयम-मुणिंदो।
बारह-वासे य गये सुधम्म-सामी य संजादो॥ १॥
तह बारह-वासे पुणसंजादो जम्बु-सामि मुणिणाहो।
अठतीस-वास रहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो॥ २॥
वासट्ठि-केवल-वासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जंबू य।
बारह बारह दो जणतिय दुगहीणं च चालीसं॥ ३॥

सुयकेवलि पंच जणा बासट्ठि-वासे गये सुसंजादा
पढमं चउदह-वासं विण्हुकुमारं मुणेयव्वं ।। ४ ।।
नंदिमित्त वास सोलह तिय अपराजिय वास वावीसं ।।
इग-हीण-वीस वासं गोवद्धण भद्दबाहु गुणतीसं ।। ५ ।।
सद सुयकेवलणाणी पंच जणा विण्हु नंदिमित्तो य ।।
अपराजिय गोवद्धणतह भद्दबाहु य संजादा ।। ६ ।।
सद-वासट्ठि सुवासे गए सु-उप्पण्ण दह सुपुव्वहरा ।।
सद-तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ।। ७ ।।
आयरिय विसाख पोट्ठल खत्तिय जयसेण नागसेण मुणी ।।
सिद्धत्थ थित्ति विजयं बुहिलिंग देव धमसेणं ।। ८ ।।
दह उगणीस य सत्तर इकवीस अट्ठारह सत्तर ।।
अट्ठारह तेरह वीस चउदह चोदय (सोडस) कमेणेंय ।। ९ ।।
अंतिम जिण-णिव्वाणे तियसय-पण-चालवास जादेसु ।
एगादहंगधारिय पंच जणा मुणिवरा जादा ।। १० ।।
नक्खत्तो जयपालग पंडव धुवसेन कंस आयरिया ।
अठारह वीस-वासं गुणचालं चोद बत्तीसं ।। ११ ।।
सद तेवीस वासे एगादह अंगधरा जादा ।
वासं सत्ताणवदिय दसंग नव अंग अट्ठधरा ।। १२ ।।
सुभद्दं च जसोभद्दं भद्दबाहु कमेण च ।
लोहाचय्य मुणीसं च कहियं च जिणागमे ।। १३ ।।
छह अट्ठारह बासे तेवीस वावण (पणास) वास मुणिणाहं ।
दस णव अट्ठंगधरा वास दुसदवीस सधेसु ।। १४ ।।
पंचसये पणसठे अंतिम-जिण-समय-जादेसु ।
उप्पणा पंच जणा इयंगधारी मुणेयव्वा ।। १५ ।।
अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली ।
अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस बीस वास पुणो ।। १६ ।।

इगसय-अठार-वासे इयंगधारी य मुणिवरा जादा ।
छसय-तिरासिय-वासे णिव्वाणा अंगद्दित्ति कहिय जिणे ॥ १७ ॥
सत्तरि-चउ-सद-युतो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।
अठ-वरस बाललीला सोडस-वासेहि भम्मिए देसे ॥ १८ ॥
पणरस-वासे रज्जं कुणंति मिच्छोवदेससंयुत्तो ।
चालीस -वरण जिणवर-धम्मं पालीय सुरपयं लहियं ॥ १९ ॥

प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण के पश्चात् काल-गणना इस प्रकार आती है -

वीर निर्वाण के पश्चात्

१.गौतम	केवली	१२
२. सुधर्म	,,	१२
३. जम्बूस्वामी	,,	३८
		६२
४. विष्णु	श्रुतकेवली	१४
५. नन्दिमित्र	,,	१६
६. अपराजित	,,	२२
७. गोवर्धन	,,	१९
८. भद्रबाहु	,,	२९
		१००
९. विशाखाचार्य	दशपूर्वधारी	१०
१०. प्रोष्ठिल	,,	१९
११. क्षत्रिय	,,	१७
१२. जयसेन	,,	२१
१३. नागसेन	,,	१८
१४. सिद्धार्थ	,,	१७
१५. धृतिषेण	,,	१८
१६. विजय	,,	१३
१७. बुद्धिलिंग	,,	२०
१८. देव	,,	१४
१९. धर्मसेन	,,	१४ (१६)
		१८१ (१८३)
२०. नक्षत्र	ग्यारह अंगधारी	१८
२१. जयपाल	,,	२०
२२. पांडव	,,	३९
२३. ध्रुवसेन	,,	१४
२४. कंस	,,	३२
		१२३
२५. सुभद्र	दश नव व आठ अंगधारी	६
२६. यशोभद्र	,,	१८

२७. भद्रबाहु	आठ अंगधारी	२३	३१. घरसेन	एक अंगधारी	१९
२८. लोहाचार्य	,,	५२ (५०)	३२. पुष्पदन्त	,,	३०
		९९ (९७)	३३. भूतबलि	,,	२०
२९. अर्हद्बलि	एक अंगधारी	२८			११८
३०. माघनन्दि	,,	२१		कुल जोड़	६८३

नन्दि-आम्नायकीपट्टावली की विशेषताएं -

इस पट्टावलीमें प्रत्येक आचार्य का समय अलग अलग निर्दिष्ट किया गया है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता और समष्टि रूप से भी वर्ष संख्यायें दी गई हैं। प्रथम तीन केवलियों, पांच श्रुतकेवलियों और ग्यारह दशपूर्वियों का समय क्रमशः वहीं ६२, १०० और १८३ वर्ष बतलाया गया है और इसका योग ३४५ वर्ष कहा है। किन्तु दशपूर्वधारी एक-एक आचार्य का जो काल दिया है उसका योग १८१ वर्ष आता है। अतएव स्पष्टतः कहीं दो वर्ष की भूल ज्ञात होती है, क्योंकि, नहीं तो यहां तक का योग ३४५ वर्ष नहीं आ सकता। इसके आगे जिन पांच एकादशांगधारियों का समय अन्यत्र २२० वर्ष बतलाया गया है उनका समय यहां १२३ वर्ष दिया है। इनके पश्चात् आगे के जिन चार आचार्यों को अन्यत्र एकांगधारी कह कर श्रुतज्ञान की परम्परा पूरी कर दी गई है उन्हें यहां क्रमशः दश, नव और आठ अंग के धारक कहा है, पर यह स्पष्ट नहीं किया गया कि कौन कितने अंगों का ज्ञाता था। इससे दश अंगों का अचानक लोप नहीं पाया जाता जैसा कि अन्यत्र। इनका समय ११८ वर्ष के स्थान पर ९७ वर्ष बतलाया गया है। पर आचार्यों का समय जोड़ने से ९९ आता है अतः दो वर्ष की यहां भी भूल है। तथा उनसे आगे पांच और आचार्यों के नाम गिनाये गये हैं जो एकांगधारी कहे हैं। उनके नाम अहिवल्लि (अर्हद्बलि) माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि है। इनका समय क्रमशः २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष दिया गया है जिसका योग ११८ वर्ष होता है। इससे पूर्व श्रुतावतार में विनयधर आदि जिन चार आचार्यों के नाम दिये गये हैं वे यहां नहीं पाये जाते। इस प्रकार इस पट्टावली के अनुसार भी अंग -परंपरा का कुल काल ६२ +१०० + १८३ +१२३ + ९७ +११८ = ६८३ वर्ष ही आता है जितना कि अन्यत्र बतलाया गया है। परन्तु भेद यह है कि अन्यत्र यह काल लोहाचार्य तक ही पूरा कर दिया गया है और यहां पर उसके अन्तर्गत वे पांच आचार्य भी हो जाते हैं जिनके भीतर हमारे ग्रंथकर्त्ता धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि भी सम्मिलित हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जो एकादशांगधारियों और उनके पश्चात् के आचार्यों के समयों में अन्तर पड़ता है वह क्यों और किस प्रकार ?

काल संबन्धी अंकों पर विचार करने से ही स्पष्ट हो जाता है कि जहां पर अन्यत्र पांच एकादशांगधारियों और चार एकांगधारियों का समय अलग अलग २२० और ११८ वर्ष बतलाया गया है वहां इस पट्टावली में उनका समय क्रमश: १२३ और ९७ वर्ष बतलाया है अर्थात् २२० वर्ष के भीतर नौ ही आचार्य आ जाते हैं और आगे ११८ वर्ष में अन्य पांच आचार्य गिनाये गये हैं जिनके अन्तर्गत धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि भी हैं।

जहां अनेक क्रमागत व्यक्तियों का समय समष्टि रूप से दिया जाता है वहां बहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है। किन्तु जहां एक एक व्यक्ति का काल निर्दिष्ट किया जाता है वहां ऐसी भूल की संभावना बहुत कम हो जाती है। हिन्दु पुराणों में अनेक स्थानों पर दो राजवंशों का काल एक ही वंश के साथ दे दिया गया है। स्वयं महावीर तीर्थंकर के निर्वाण से पश्चात् के राजवंशों का जो समय जैन ग्रंथों में पाया जाता है उसमें भी इस प्रकार की एक भूल हुई है, जिसके कारण वीरनिर्वाण के समय के संबन्ध में दो मान्यतायें हो गई हैं जिनमें परस्पर ६० वर्ष का अन्तर पड़ गया है। (देखो आगे वीरनिर्वाण संवत्)। प्रस्तुत परम्परा में इन २२० वर्षों के काल में भी ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है।

यह भी प्रश्न उठता है कि यदि अर्हद्बलि आदि आचार्य अंगज्ञाताओं की परम्परा थे तो उनके नाम सर्वत्र परम्पराओं में क्यों नहीं रहे, इसका कारण अर्हद्बलिके द्वारा स्थापित किया गया संघभेद प्रतीत होता है। उनके पश्चात् प्रत्येक संघ अपनी अपनी परम्परा अलग रखने लगा, जिसमें स्वभावत: संघभेद के पश्चात् के केवल उन्हीं आचार्यों के नाम रक्खे जा सकते थे जो उसी संघ के हों या जो संघभेद से पूर्व के हों। अत: केवल लोहार्य तक की ही परम्परा सर्वमान्य रही। संभव है कि इसी कारण काल-गणना में भी वह गड़बड़ी आ गई हो, क्योंकि अंगज्ञाताओं की परम्परा को संघ-पक्षपात से बचाने के लिये लेखकों का यह प्रयत्न हो सकता है कि अंग-परम्परा का काल ६८३ वर्ष ही बना रहे और उसमें अर्हद्बलि आदि संघ-भेद से सम्बन्ध रखने वाले आचार्य भी न दिखाये जावें।

प्रश्न यह है कि क्या हम इस पट्टावली को प्रमाण मान सकते है, विशेषत: जब कि उसकी वार्ता प्रस्तुत ग्रन्थों व श्रुतावतारादि अन्य प्रमाणों के विरुद्ध जाती है ? इस पट्टावली की जांच करने के लिये हमने सिद्धान्तभवन आरा को उसकी मूल हस्तलिखित प्रति भेजने के लिये लिखा किन्तु वहां से पं. भुजबलिजी शास्त्री सूचित करते हैं कि बहुत खोज करने पर

भी उस पट्टावली की मूल प्रति मिल नहीं रही है। ऐसी अवस्था में हमें उसकी जांच मुद्रित पाठ पर से ही करनी पड़ती है। यह पट्टावली प्राकृत में है और संभवत: एक प्रति पर से बिना कुछ संशोधन के छपाई गई होने से उसमें अनेक भाषादि -दोष है। इसलिए उस पर से उसकी रचना के समय के सम्बन्ध में कुछ कहना अशक्य है। पट्टावली के ऊपर जो तीन संस्कृत श्लोक है उनकी रचना बहुत शिथिल है। तीसरा श्लोक सदोष है। पर उन पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका रचयिता स्वयं पट्टावली की रचना नहीं कर रहा, किन्तु वह अपनी उस प्रस्तावना के साथ एक प्राचीन पट्टावली को प्रस्तुत कर रहा है। पट्टावली को नन्दि आम्नाय, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ व कुन्दकुन्दान्वय की कहने का यह तो तात्पर्य हो ही नहीं सकता कि उसमें उल्लिखित आचार्य उस अन्वय में कुन्दकुन्द के पश्चात् हुए हैं, किन्तु उसका अभिप्राय यही है कि लेखक उक्त अन्वय का था और ये सब आचार्य उक्त अन्वय में माने जाते थे। इस पट्टावली में जो अंगविच्छेद का क्रम और उसकी काल गणना पाई जाती है वह अन्यत्र की मान्यता के विरुद्ध जाती है। किन्तु उससे अकस्मात अंगलोप संबन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पांच आचार्यों का २२० वर्ष का काल असंभव नहीं तो दुःशक्य जंचता है उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि श्रुत-परम्परा के संबन्ध में हरिवंशपुराण के कर्त्ता से लगाकर श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनन्दि तक के सब आचार्यों ने धोखा खाया है और उन्हें वे प्रमाण उपलब्ध नहीं थे जो इस पट्टावली के कर्त्ता को थे। समयाभाव के कारण इस समय हम इसकी और अधिक जांच पड़ताल नहीं कर सकते। किन्तु साधक बाधक प्रमाणों का संग्रह करके इसका निर्णय किये जाने की आवश्यकता है।

यदि यह पट्टावली ठीक प्रमाणित हो जाय तो हमारे आचार्यों का समय वीर निर्वाण के पश्चात् ६२ +१०० +१८३ + १२३ + ९७ +२८ +२१ = ६१४ और ६८३ वर्ष के भीतर पड़ता है।

धरसेनकृत जोणिपाहुड -

धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि के समय पर प्रकाश डालनेवाला एक और प्रमाण है। प्रस्तुत ग्रन्थ की उत्थानिका में कहा गया है कि जब धरसेनाचार्य के पत्र के उत्तर में आन्ध्रप्रदेश से दो साधु, जो पीछे पुष्पदन्त और भूतबलि कहलाये, उनके पास पहुंचे तब धरसेनाचार्य ने उनकी परीक्षा के लिये उन्हें कुछ मन्त्रविद्याएं सिद्ध करने के लिये दीं। इससे धरसेनाचार्य की मन्त्रविद्या में कुशलता सिद्ध होती है। अनेकान्त भाग २ के गत १ जुलाई के

अंक ९ में श्रीयुत् पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार का लिखा हुआ योनिप्राभृत गन्थ का परिचय प्रकाशित हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ८०० श्लोक प्रमाण प्राकृत गाथाओं में है, उसका विषय मन्त्र-तन्त्रवाद है, तथा वह १५५६ वि. संवत् में लिखी गई बृहट्टिप्पणिका नाम की ग्रन्थ-सूची के आधार पर धरसेन द्वारा वीर निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् बना हुआ माना गया है [१]। इस ग्रंथ की एक प्रति भांडारकर इंस्टीट्यूट पूना में है, जिसे देखकर पं. बेचरदासजी ने जो नोट्स लिये थे उन्हीं पर से मुख्तार जी ने उक्त परिचय लिखा है। इस प्रति में ग्रंथ का नाम तो योनिप्राभृत ही है किन्तु उसके कर्ता का नाम पण्हसवण मुनि पाया जाता है। इन महामुनि ने उसे कूष्माण्डिनी महादेवी से प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदंत और भूतबलि के लिये लिखा था। इन दो नामों के कथन से इस ग्रंथ का धरसेनकृत होना बहुत संभव जंचता है। प्रज्ञाश्रमणत्व एक ऋद्धिका नाम है और उसके धारण करने वाले मुनि प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे[२]। जोणिपाहुडकी इस प्रति का लेखन-काल संवत् १५८२ है, अर्थात् वह चार सौ वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। 'जोणिपाहुड' नामक ग्रंथ का उल्लेख धवला में भी आया है। जो इस प्रकार है -

'जोणिपाहुडे भणिद-मंत-तंत-सत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो'

(धवला.अ. प्रति. पत्र ११९८)

इससे स्पष्ट है कि योनिप्राभृत नाम का मंत्रशास्त्र संबन्धी कोई अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ अवश्य है। उपर्युक्त अवस्था में आचार्य धरसेन निर्मित योनिप्राभृत ग्रंथ के होने में

---

१ योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम् (बृहट्टिपणिका जै.सा. सं. १, २ (परिशिष्ट)

२ धवला में पण्हसमणों को नमस्कार किया है और अन्य ऋद्धियों के साथ प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धिका विवरण दिया है। यथा -

णमो पण्हसमणाणं ॥ १८ ॥ औत्पत्तिकी वैनयिकी कर्मजा पारिणामिकी चेति चतुर्विधा प्रज्ञा। पदेसु पण्हसमणेसु केसिं गहणं। चदुण्हं पि गहणं। प्रज्ञा एवं श्रवण येषां ते प्रज्ञाश्रवणाः

धवला.प्रति ६८४

जयधवला की प्रशस्ति में कहा गया है कि वीरसेन के ज्ञान के प्रकाश को देखकर विद्वान् उन्हें श्रुतकेवली और प्रज्ञाश्रमण कहते थे। यथा -

यमाहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम्।

श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रवणसत्तमम् ॥ २ ॥

तिलोयपण्णत्ति गाथा ७० में कहा गया है कि प्रज्ञाश्रमणों में अन्तिम मुनि 'वज्रयश' नाम के हुए। यथा - पण्हसमणेसु चरिमो वइरजसो णाम। (अनेकान्त, २, १२ पृ. ६६८)

अविश्वास का कोई कारण नहीं है। तथा बृहट्टिपणिका में जो उसका रचनाकाल वीर निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात सूचित किया है वह भी गलत सिद्ध नहीं होता। अभी अभी अनेकान्त (वर्ष २, किरण १२, प. ६६६) में श्रीमान् पं. नाथूरामजी प्रेमी का 'योनिप्राभृत और प्रयोगमाला' शीर्षक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने प्रमाण देकर बतलाया है कि भंडारकर इंस्टीट्यूट वाला 'योनिप्राभृत' और उसी के साथ गुंथा हुआ 'जगत्सुंदरी योगमाला' संभवत: हरिषेणकृत है, किन्तु हरिषेणके समय में एक और प्राचीन योनिप्राभृत विद्यमान था। बृहट्टिपणिका की प्रामाणिकता के विषय में प्रेमीजी ने कहा है कि 'वह सूची एक श्वेतांबर विद्वान् ने प्रत्येक ग्रंथ देखकर तैयार की थी और अभी तक वह बहुत प्रामाणिक समझी जाती है.'। नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार धरसेन का काल वीर निर्वाण ६२ + १०० + १८३ + १२३+ ९७ + २८ + २१ = ६१४ वर्ष पश्चात् पड़ता है, अत: अपने पट्टकाल से १४ वर्ष पूर्व उन्होंने यह ग्रंथ रचा होगा। इस समीकरण से प्राकृतपट्टावली और बृहट्टिप्पणिका के संकेत, इन दोनों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि, ये दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र आधार पर लिखे हुए प्रतीत होते हैं।

कुन्दकुन्दकृत -

षट्खण्डागम के रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्य के संबन्ध से भी पड़ता है। इन्द्रनन्दिने श्रुतावतार में कहा है कि जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनों पुस्तकारूढ हो चुके तब कोण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनिने, जिन्हें सिद्धान्त का ज्ञान गुरु-परिपाटी से मिला था, उन छह खण्डों में से प्रथमतीन खण्डों पर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका-ग्रन्थ रचा। पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य का भी नाम था और श्रुतावतार में कोण्डकुन्दपुर का उल्लेख आने से इसमें संदेह नहीं रहता कि यहां उन्हीं से अभिप्राय है। यद्यपि प्रो.उपाध्ये कुन्दकुन्द के ऐसे किसी ग्रन्थ की रचना की बात को प्रामाणिक नहीं स्वीकार करते, क्योंकि उन्हें धवला व जयधवला में इसका कोई संकेत नहीं मिला। किंतु कुन्दकुन्द के सिद्धांत ग्रंथों पर टीका बनाने की बात सर्वथा निर्मूल नहीं कही जा सकती, क्योंकि, जैसाकि हम अन्यत्र बता रहे हैं, परिकर्म नामक ग्रन्थ के उल्लेख धवला व जयधवला में अनेक जगह पाये जाते हैं।

प्रो उपाध्ये ने कुन्दकुन्द के लिये ईस्वी का प्रारम्भ काल, लगभग प्रथम दो शताब्दियों के भीतर का समय, अनुमान किया है उससे भी षट्ण्डागम की रचना का समय उपरोक्त ठीक जंचता है।

भौगोलिक उल्लेख-

धरसेनाचार्य गिरिनगर की चन्द्रगुफामें रहते थे। यह स्थान काठियावाड़ के अन्तर्गत है। यह बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ की निर्वाणभूमि होने से जैनियों के लिये बहुत प्राचीन काल से अब तक महत्वपूर्ण है। मौर्य राजाओं के समय से लगाकर गुप्त काल अर्थात् ४ थी, ५ वीं शताब्दि तक इसका भारी महत्व रहा जैसा कि यहां पर एक ही चट्टान पर पाये गये अशोक मौर्य, रुद्रदामन और गुप्तवंशी स्कन्धगुप्त के समय के लेखों से पाया जाता है।

धरसेनाचार्य ने 'महिमा' में सम्मिलित संघको पत्र भेजा था जिससे महिमा किसी नगर या स्थान का नाम ज्ञात होताहै, जो कि आन्ध्र देश के अन्तर्गत वेणाक नदी के तीरपर था। वेण्या नाम की एक नदी बम्बई प्रान्त के सतारा जिले में है और उसी जिले में महिमानगढ़ नाम का एक गांव भी है, जो हमारी महिमा नगरी हो सकता है। इससे अनुमानत: यही सतारा जिले में वह जैन मुनियों का सम्मेलन हुआ था। यदि यह अनुमान ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि सतारा जिले का भाग उस समय आन्ध्र देश के अन्तर्गत था। आन्ध्रों का राज्य पुराणों व शिलादि लेखों पर से ईस्वी पूर्व २३२ से ई० सन् २२५ तक पाया जाता है। इसके पश्चात कम से कम इस भाग पर आन्ध्रों का अधिकार नहीं रहा। अतएव इस देश को आन्ध्र विषयान्तर्गत लेना इसी समय के भीतर माना जा सकता है। गिरनगर से लौटते हुए पुष्पदंत और भूतबलि ने जिस अंकुलेश्वर स्थान में वर्षाकाल व्यतीत किया था वह निस्संदेह गुजरात में भडोंच जिले का प्रसिद्ध नगर अंकलेश्वेश्र ही होना चाहिये। वहां से पुष्पदन्त जिस वनवास देश को गये वह उत्तर कर्नाटका का ही प्राचीन नाम है जो तुंगभद्रा और वरदा नदियों के बीच बसा हुआ है। प्राचीन काल में यहां कदम्ब वंश का राज्य था। जहां इसकी राजधानी 'बनवासि' थी वहां अब भी उस नाम का एक ग्राम विद्यमान है। तथा भूतबलि जिस द्रमिल देश को गये वह दक्षिण भारत का वह भाग है जो मद्रास से सेरिंगपट्टम और कामोरिन तक फैला हुआ है और जिसकी प्राचीन राजधानी कांचीपुरी थी। प्रस्तुत ग्रंथ की रचना-संबंधी इन भौगोलिक सीमाओं से स्पष्ट जाना जाता है कि उस प्राचीन काल में काठियावाड़ से लगाकर देश के दक्षिणतम भाग तक जैन मुनियों का प्रचुरता से बिहार होता था और उनके बीच पारस्परिक धार्मिक व साहित्यिक आदानर-प्रदान सुचारूरुप से चलता था। वह परिस्थिति विक्रम की दूसरी शताब्दि तक के समय का संकेत करती है।

वीर-निर्वाण काल

पूर्वोक्त प्रकार से षट्खंडागम की रचना का समय वीरनिर्वाण पश्चात् सातवीं शताब्दि के अन्तिम या आठवीं शताब्दि के प्रारम्भिक भाग में पड़ता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि महावीर भगवान् का निर्वाणकाल क्या है ?

जैनियों में एक वीर निर्वाण प्रचलित है जिसका इस समय २४६५ वां वर्ष चालू है। इसे लिखते समय मेरे सन्मुख 'जैन मित्र' का तारीख १४ सितम्बर १९३९ का अंक प्रस्तुत है जिस पर वीर सं. २४६५ भादों सुदी १, दिया हुआ है। यह संवत् वीर निर्वाण दिवस अर्थात् पूर्णिमान्त मास-गणना के अनुसार कार्तिक कृष्ण पक्ष १४ के पश्चात् बदलता है। अत: आगामी नवम्बर ११ सन् १९३९ से निर्वाण संवत् २४६६ प्रारम्भ हो जायेगा। इस समय विक्रम संवत् १९९६ प्रचलित है और यह चैत्र शुक्ल पक्ष से प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार निर्वाण संवत् और विक्रम संवत् में २४६६ - १९९६ = ४७० वर्ष का अन्तर है। दोनों संवतों के प्रारम्भ मास में भेद होने से कुछ मासों में यह अन्तर ४६९ वर्ष आता है जैसा कि वर्तमान में। अत: इस मान्यता के अनुसार महावीर का निर्वाण विक्रम् संवत् से कुछ मास कम ४७० वर्ष पूर्व हुआ।

किन्तु विक्रम संवत् के प्रारम्भ के सम्बन्ध में प्राचीन काल से बहुत मतभेद चला आ रहा है जिसके कारण वीर निर्वाण काल के सम्बन्ध में भी कुछ गड़बड़ी और मतभेद उत्पन्न हो गया है। उदाहरणार्थ, जो नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली ऊपर उद्धृत की गई है उसमें वीरनिर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम का जन्म हुआ, ऐसा कहा गया है, और चूंकि ४७० वर्ष का ही अन्तर प्रचलित निर्वाण संवत् और विक्रम संवत् में पाया जाता है, इससे प्रतीत होता है कि विक्रम संवत् विक्रम के जन्म से ही प्रारम्भ हो गया था। किन्तु मेरुतुंगकृत स्थविरावली [१] तपागच्छ पट्टावली,[२] जिन प्रभसूरिकृत पावापुरीकल्प[३], प्रभचन्द्रसूरि कृत प्रभावकचरित [४] आदि ग्रंथों में उल्लेख है कि विक्रम संवत् का प्रारम्भ विक्रम राजा के राज्यकाल से या उससे भी कुछ पश्चात् प्रारम्भ हुआ।

---

१. विक्रम-रज्जारंभा पुरओ सिरि-वीर-णिव्वुई भणिया। सुन्न-मुणि-वेय-जुतो विक्कम-कालाउ जिणकालो ॥ (मेरुतुंग-स्थविरावली)

२. तद्राज्यं तु श्रीवीरात् सप्तति-वर्ष-शत-चतुष्टये ४७० संजातम्। (तपागच्छ पट्टावली)

३. मह मुक्ख-गमणाओं पालय नंद-चंद्गुत्ताइ-राईसु वोलीणेसु चउसयसत्तरेहिं वासेहिं विक्कमाइच्चो राया होही। (जिनप्रभसूरि-पावापुरीकल्प)

४. इत: श्रीविक्रमादित्य: शास्त्यवन्तीं नराधिप:। अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम् ॥ (प्रभाचन्द्रसूरि - प्रभावकचरित)

श्रीयुत् बैरिस्टर काशीप्रसादजी जायसवाल ने इसी मत को मान देकर निश्चित किया कि चूंकि जैन ग्रंथों में ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम का जन्म हुआ कहा गया है और चूंकि विक्रम का राज्यारंभ उनकी १८ वर्ष की आयु में होना पाया जाता है, अत: वीर निर्वाण का ठीक समय जानने के लिये ४७० वर्ष में १८ वर्ष और जोड़ चाहिये अर्थात् प्रचलित विक्रम संवत् से ४८८ वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण हुआ।[१]

एक और तीसरा मत हेमचंद्राचार्य के उल्लेख पर से प्रारम्भ हो गया है। हेमचन्द्र ने अपने परिशिष्ट पर्व में कहा है कि महावीर की मुक्ति से १५५ वर्ष जाने पर चन्द्रगुप्त राजा हुआ[२]। यहां उनका तात्पर्य स्पष्टत: चन्द्रगुप्त मौर्य से है। और चूंकि चन्द्रगुप्त से लगाकर विक्रम तक का काल सर्वत्र २५५ वर्ष पाया जाता है, अत:वीर निर्वाण का समय विक्रम से २५५ + १५५ = ४१० वर्ष पूर्व ठहरा। इस मत के अनुसार ४७० में से ६० वर्ष घटा देने से ठीक विक्रम पूर्व वीर निर्वाण काल ठहरता है। पाश्चिमिक विद्वानों, जैसे डॉ. याकोबी[३] डॉ. चार्पेंटियर[४] आदि ने इसी मत का प्रतिपादन किया है और इधर मुनि कल्याणविजयजीने[५] भी इसी मत की पुष्टि की है।

किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में जो उल्लेख मिलते हैं वे इस उलझन को बहुत कुछ सुलझा देते हैं। इन उल्लेखों के अनुसार शक संवत् की उत्पत्ति वीरनिर्वाण से कुछ मास अधिक ६०५ वर्ष पश्चात् हुई[६] तथा जो विक्रम संवत प्रचलित है और जिसका अन्तर

---

१. Bihar and Orissa Research Society Journal, 1915.

२. एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते। पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृप:॥ (परिशिष्ट-पर्व)

३. Sacred books of the East XXII.

४ Indian Antiquary XLIII.

५. 'वीर निर्वाण संवत् और जैनकालगणना, संवत् १९८७.

६. णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास-सदेसु पंचवरिसेसु। पणमासेसु संजादो सेगणिओ अहवा॥

(तिलोयपण्णत्ति)

वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्। मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥

(जिनसेन-हरिवंशपुराण)

पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो। सगराजो ......॥ ८५०॥

(नेमिचन्द्र- त्रिलोकसार)

एसो वीरजिणिंद-णिव्वाण-गद- दिवसादो जाव सगकालस्य आदी होदि तावदिय-कालो कुदो ६०५ -५, एदम्हि काले सग-णरिंद-कालम्हि पक्खित्ते वड्ढमाणजिण-णिव्वुदि-कालागमणादो वुत्तं च-

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया। सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥

वीरनिर्वाण काल से ४७० वर्ष पड़ता है उसका प्रारम्भ विक्रम के जन्म या राज्यकाल से नहीं किन्तु विक्रम की मृत्यु से हुआ था[१]। ये उल्लेख उपर्युक्त उल्लेखों की अपेक्षा अधिक प्राचीन भी हैं। उससे पूर्व प्रचलित वीर और बुद्ध के निर्वाण संवत् मृत्युकाल से ही सम्बद्ध पाये जाते हैं।

इन उल्लेखों से पूर्वोक्त उलझन इस प्रकार सुलझती है। प्रथम शक संवत् को लीजिये। यह वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष पश्चात् चला। प्रचलित विक्रम संवत् और शक संवत् में १३५ वर्ष का अन्तर पाया जाता है। अत: इस मत के अनुसार विक्रम संवत् का प्रारम्भ वीरनिर्वाण से ६०५ - १३५ = ४७० वर्ष पश्चात हुआ। अब विक्रम संवत् पर विचार कीजिये जो विक्रम की मृत्यु से प्रारम्भ हुआ। मेरुतुंगाचार्य ने विक्रम का राज्यकाल ६० वर्ष कहा है [२], अतएव ४७० वर्ष में से ये ६० वर्ष निकाल देने से विक्रम के राज्य का प्रारम्भ वीरनिर्माण से ४१० वर्ष पश्चात् विक्रम का राज्य प्रारम्भ माना गया है वह ठीक बैठ जाता है, किन्तु उसे विक्रम संवत् का प्रारम्भ नहीं समझना चाहिए। जिन मतों में विक्रम के राज्य से पूर्व या जन्म से पूर्व ४७० वर्ष बतलाये गये हैं उनमें विक्रम के जन्म, राज्यकाल व मृत्यु के समय से संवत् प्रारंभ के सम्बन्ध में लेखकों की भ्रान्ति ज्ञात होती है। भ्रान्तिका एक दूसरा भी कारण हुआ है। हेमचन्द्रने वीरनिर्वाण से नन्द राजातक ६० वर्ष का अन्तर बतलाया है और चन्द्रगुप्त मौर्य तक १५५ वर्ष का। इस प्रकार नन्दों का राज्यकाल ९५ वर्ष पड़ता है। किन्तु अन्य लेखकों ने चन्द्रगुप्त के राज्यकाल तक के १५५ वर्षों को नन्दवंश का ही काल मान लिया है और उससे पूर्व ६० वर्षों को नन्दकाल तक भी कायम रखा है। इस प्रकार जो

---

१. छत्तीसे वरिस-सए विक्कमरायस्स मरण-पत्तस्स। सारट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥ ११॥

पंच-सए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिण-महुरा-जादो दाविडसंघो महामोहो॥२८॥
सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो॥ ३८॥
(देवसेन-दर्शनसार)

सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि। सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया॥
(वामदेव-भावसंग्रह)

समारुढे पूत-त्रिदशवसतिं विक्रमनृपे। सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।
समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुंजनृपतौ। सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनधम्॥
(अमितगति-सुभाषितरत्नसंदोह)

मृते विक्रम-भूपाले सप्तविंशति-संयुते। दशपंचशतेऽब्दानामतीते श्रृणुतापरम्॥ १५७॥
(रत्ननन्दि-भद्रबाहुचरित)

२. विक्रमस्य राज्यं ६० वर्षाणि। (मेरुतुंग-विचारश्रेणी, पृष्ठ ३, जै. सा. संशोधक २)

६० वर्ष बढ़ गये उसे उन्होंने अन्त में विक्रमकाल में घटाकर जन्म या राज्यकाल से ही संवत् का प्रारम्भ मान लिया और इस प्रकार ४७० वर्ष की संख्या कायम रखी। इस मत का प्रतिपादन पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार ने किया है।

इस मत का बुद्धनिर्वाण व आचार्य-परम्परा की गणना आदि से कैसा सम्बन्ध बैठता है, यह पुन: विवादास्पद विषय है जिसका स्वतंत्रता से विचार करना आवश्यक है। यहां पर तो प्रस्तुत प्रमाणों पर से यह मान लेने में आपत्ति नहीं कि वीर-निर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम की मृत्यु के साथ प्रचलित विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ। अत: प्रस्तुत षट्खंडागम का रचना काल विक्रम संवत् ६१४ - ४७० = १४४, शक संवत् ६१४ - ६०५ = ९ तथा ईस्वी सन् ६१४ - ५२७ = ८७ के पश्चात् पड़ता है।

षट्खण्डागम की टीका धवला के रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथ धवला के अन्त में निम्न नौ गाथाएं पाई जाती हैं जो इसके रचयिता की प्रशस्ति है -

धवला की अन्तिम प्रशस्ति

जस्स सेसाएण (पसाएण) मए सिद्धंतमिंद हि अहिलहुंदी (अहिलहुदं)
मह सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥ १ ॥

वंदामि उसहसेण तिहुवण-जिय-बंधवं सिवं संतं।
णाण-किरणावहासिय-सयल-इयर-तम-पणासियं दिहं ॥ २ ॥

अरहंतपदो (अरहंतो) भगवंतो सिद्धा सिद्धा पसिद्ध आइरिया
साहू य महं पसियंतु भडारया सव्वे ॥ ३ ॥

अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जुव-कम्मस्स चंदसेणस्स।
तह णत्तुवेण पंचत्थुहण्यंभाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥

सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाण-सतथ-णिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥ ५ ॥

अट्ठतीसम्हि सासिय विक्कमरायम्हि एसु संगरमो । (?)
पासे सुतेरसीए भाव-विलग्गे धवल-पक्खे ।। ६ ।।

जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए सेते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ।। ७ ।।

चावम्हि वरणिवुत्ते सिंधे सुक्कम्मि णेमिचंदम्मि ।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ।। ८ ।।

वोद्दणराय-णरिंदे णरिंदे-चूडामणिम्हि भुंजते ।
सिद्धंतगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ।। ९ ।।

टीकाकार वीरसेनाचार्य -

दुर्भाग्यत: इस प्रशस्तिका पाठ अनेक जगह अशुद्ध है जिसे उपलब्ध अनेक प्रतियों के मिलान से भी अभी तक हम पूरी तरह शुद्ध नहीं कर सके । तो भी इस प्रशस्ति से टीकाकार के विषय में हमें बहुत सी ज्ञातव्य बातें विदित हो जाती हैं । पहली गाथा से स्पष्ट है कि इस टीका के रचयिता का नाम वीरसेन है और उनके गुरु का नाम एलाचार्य । फिर चौथी गाथा में वीरसेन के गुरु का नाम आर्यनन्दि और दादा गुरु का नाम चन्द्रसेन कहा गया है । संभवत: एलाचार्य उनके विद्यागुरु और आर्यनन्दि दीक्षागुरु थे । इसी गाथा में उनकी शाखा का नाम भी पंचस्तूपान्वय दिया है । पांचवी गाथा में कहा गया है कि इस टीका के कर्ता वीरसेन सिद्धांत, छंद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण अर्थात् न्याय, इन शास्त्रों में निपुण थे और भट्टारक पद से विभूषित थे । आगे की तीन अर्थात् ६ से ८ वीं तक की गाथाओं में इस टीका का नाम 'धवला' दिया गया है और उसके समाप्त होने का समय वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र व अन्य ज्योतिषसंबन्धी योगों के सहित दिया है और जगतुंगदेव के राज्य का भी उल्लेख किया है । अन्तिम अर्थात् ९ वीं गाथा में पुन: राजा का नाम दिया है जो प्रतियों में 'वोद्दणराय' पढ़ा जाता है । वे नरेन्द्रचूड़ामणि थे । उन्हीं के राज्य में सिद्धान्त ग्रन्थ के ऊपर गुरु के प्रसाद से लेखक ने इस टीका की रचना की ।

द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्राभृत की टीका 'जयधवला' का भी एक भाग इन्हीं वीरसेनाचार्य का लिखा हुआ है । शेष भाग उनके शिष्य जिनसेन ने पूरा किया था । उसकी प्रशस्ति में भी वीरसेन के संबंध में प्राय: ये ही बातें कहीं गई हैं । चूंकि वह प्रशस्ति उनके

शिष्य द्वारा लिखी गई है [१] अतएव उसमें उनकी कीर्ति विशेष रूप से वर्णित पाई जाती है। वहां उन्हें साक्षात् केवली के समान समस्त विश्व के पारदर्शी कहा है। उनकी वाणी षट्खण्ड आगम में अस्खलित रूप से प्रवृत्त होती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर सर्वज्ञ की सत्ता में किसी मनीषा को शंका नहीं रही थी। विद्वान लोग उनकी ज्ञानरूपी किरणों के प्रसार को देखकर उन्हें प्रज्ञा श्रमणों में श्रेष्ठ आचार्य और श्रुतकेवली कहते थे। सिद्धान्तरूपी समुद्र के जल से उनकी बुद्धि शुद्ध हुई थी जिससे वे तीव्रबुद्धि प्रत्येकबुद्धों से भी स्पर्धा करते थे। उनके विषय में एक मार्मिक बात यह कही गई है कि उन्होंने चिरंतन काल की पुस्तकों (अर्थात पुस्तकारुढ सिद्धान्तों) की खूब पुष्टि की और इस कार्य में वे अपने से पूर्व के समस्त पुस्तक पाठियों से बढ गये। इसमें सन्देह नहीं कि वीरसेन की इस टीकाने इन आगम-सूत्रों को चमका दिया और अपने से पूर्व की अनेक टीकाओं को अस्तमित कर दिया।

जिनसेन ने अपने आदिपुराण में भी गुरु वीरसेन की स्तुति की है और उनकी भट्टारक पदवी का उल्लेख किया है। उन्हें वादि-वृन्दारक मुनि कहा है, उनकी लोकविज्ञता, कवित्वशक्ति और वाचस्पति के समान वाग्मिता की प्रशंसा की है, उन्हें सिद्धान्तोपनिबन्धकर्ता कहा है तथा उनकी 'धवला' भारती को भुवनव्यापिनी कहा है [२]।

---

१. भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम्। शासनं वरिसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम ॥ १७॥
आसीदासीददासन्नभव्यसत्त्वकुमुद्वतीम्। मुद्वंती कर्तुमीशो यः शशांक इव पुष्कलः ॥ १८॥
श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः। पारदृश्वाधिविश्वानां साक्षादिव स केवली ॥ १९॥
प्रीणितप्राणिसंपत्तिराक्रांताशेषगोचरा। भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥ २०॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्। जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥ २१॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम्। श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥ २२॥
प्रसिद्ध-सिद्धसिद्धान्तवार्धिवार्धौतशुद्धधीः। सार्द्ध प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः ॥ २३॥
पुस्तकानां चिरत्नानां गुरुत्वमिह कुर्वता। येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥ २४॥
यस्तप्तोद्दीप्तकिरणैर्भव्यांभोजानि बोधयन्। व्यद्योतिष्ट मुनीनेनः पंचस्तूपान्वयांवरे ॥ २५॥
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम्। कुलं गणं च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥ २६॥
तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनसमिद्धधीः। (जयधवला-प्रशस्ति)

२. श्री वीरसेन इत्याप्त-भट्टारकपृथुप्रथः। स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥ ५५॥
लोकवित्त्व कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम्। वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥ ५६॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम्। मन्मनः सरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम्। धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ५८॥
आदिपुराण-उत्थानिका

इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में वीरसेन द्वारा धवला और जयधवला टीका लिखे जाने का इस प्रकार वृत्तान्त दिया है। बप्पदेव गुरुद्वारा सिद्धान्त ग्रंथों की टीका लिखे जाने के कितने ही काल पश्चात् सिद्धान्तों के तत्वज्ञ श्रीमान् एलाचार्य हुए जो चित्रकूटपुर में निवास करते थे। उनके पास वीरसेन गुरु ने समस्त सिद्धान्त का अध्ययन किया और ऊपर के निबन्धनादि आठ अधिकार लिखे। फिर गुरु की अनुज्ञा पाकर वे वाटग्राम में आये और वहां के आनतेन्द्र द्वारा बनवाये हुए जिनालय में ठहरे। वहां उन्हें व्याख्याप्रज्ञप्ति (बप्पदेव गुरु की बनाई हुई टीका) प्राप्त हो गई। फिर उन्होंने ऊपर के बन्धनादि अठारह अधिकार पूरे करके सत्कर्म नामका छठवां खण्ड संक्षेप से तैयार किया और इस प्रकार छह खण्डों की ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित धवला टीका लिखी। तत्पश्चात् कषायप्राभृत की चार विभक्तियों की २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखने के पश्चात् ही वे स्वर्गवासी हो गये। तब उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) गुरु ने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूरा किया। इस प्रकार जयधवला ६० हजार श्लोक-प्रमाण तैयार हुई [1]।

वीरसेन स्वामी की अन्य कोई रचना हमें प्राप्त नहीं हुई और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनका समस्त सज्ञान अवस्था का जीवन निश्चयत: इन सिद्धान्त ग्रंथों के अध्ययन, संकलन और टीका-लेखन में ही बीता होगा। उनके कृतज्ञ शिष्य जिनसेनाचार्य ने उन्हें जिन विशेषणों और पदवियों से अलंकृत किया है उन सबके पोषक प्रमाण उनकी धवला और जयधवला टीका में प्रचुरता से पाये जाते हैं। उनकी सूक्ष्म मार्मिक बुद्धि, अपार पाण्डित्य, विशाल स्मृति और अनुपम व्यासंग उनकी रचना के पृष्ठ पृष्ठ पर झलक रहे हैं। उनकी उपलब्ध रचना ७२ + २० = ९२ हजार श्लोक प्रमाण है। महाभारत शतसाहस्री अर्थात् एक

---

१. काले गते कियत्यपि तत: पुनश्चित्रकूटपुरवासी। श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञ: ॥ १७७॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरु:। उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख ॥ १७८ ॥
आगत्य चित्रकूटात्तत: स भगवान्गुरोरनुज्ञानात्। वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥ १७९ ॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्। उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पै: ॥ १८० ॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य। इति षण्णां खण्डानां ग्रंथसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥ १८१ ॥
प्राकृत -संस्कृत-भाषा-मिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्। जयधवलां च कषायप्राभृत के चतसृणां विभक्तीनाम् ॥ १८२ ॥
विंशतिसहस्रसद्ग्रंथरचनया संयुता विरच्य दिवम्। यातस्तत: पुनस्तच्छिष्यो जयसेन (जिनसेन) गुरुनामा ॥ १८३ ॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रै: समापितवान् । जयधवलैवं षष्टिसहस्रग्रंथोऽभवट्टीका ॥ १८४ ॥

लाख श्लोक-प्रमाण होने से संसार का सबसे बड़ा काव्य समझा जाता है। पर वह सब एक व्यक्ति की रचना नहीं है। वीरसेन की रचना मात्रा में शतसाहस्री महाभारत से थोड़ी ही कम है, पर वह उन्हीं एक व्यक्ति के परिश्रम का फल है। धन्य है वीरसेन स्वामी की अपार प्रज्ञा और अनुपम साहित्यिक परिश्रम को। उनके विषय में भवभूति कवि के वे शब्द याद आते हैं-

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

वीरसेनाचार्य का रचनाकाल -

वीरसेनाचार्य का समय निश्चित है। उनकी अपूर्ण टीका जयधवला को उनके शिष्य जिनसेनने शक स. ७५९ की फाल्गुन शुक्ल दशमी तिथि को पूर्ण की थी और उस समय अमोघवर्ष का राज्य था [१]। मान्यखेट के राष्ट्रकूट नरेश अमोघ वर्ष प्रथम के उल्लेख उनके समय के ताम्रपटों में शक स. ७३७ से लगाकर ७८८ तक अर्थात् उनके राज्य के ५२ वें वर्ष तक के मिलते हैं [२]। अत: जयधवला टीका अमोघवर्ष के राज्य के २३ वीं वर्ष में समाप्त हुई सिद्ध होती है। स्पष्टत: इससे कई वर्ष पूर्व धवला टीका समाप्त हो चुकी थी और वीरसेनाचार्य स्वर्गवासी हो चुके थे।

धवला टीका के अन्त की जो प्रशस्ति स्वयं वीरसेनाचार्य की लिखी हुई हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं उसकी छटवीं गाथा में उस टीका की समाप्ति के सूचक काल का निर्देश है। किन्तु दुर्भाग्यत: हमारी उपलब्ध प्रतियों में उसका पाठ बहुत भ्रष्ट है इससे वहां अंकित

---

१. इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी। वाटग्रामपुरे श्रीमद्गूर्जरार्यानुपालिते। ६॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके। प्रवर्द्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे॥ ७॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया। निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका॥ ८॥
एकोन्नषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य। समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या॥९॥
जयधवला प्रशस्ति

२. Altekar : The Rashtrakutas and their times, p.71. Dr. Altekar, on page 87 of his book says "His (Amoghavarsha's) latest known date is Phalguna S'uddha 10, S'aka 799 (i.e. March 878 A.D.), When the Jayadhavala Tika of Virasena was finished. This is a gross mistake. He has wrongly taken S'aka 759 to be saka 799.

वर्ष का ठीक निश्चय नहीं होता। किन्तु उसमें जगतुंगदेव के राज्य का स्पष्ट उल्लेख है। राष्ट्रकूट नरेशों में जंगतुंग उपाधि अनेक राजाओं की पाई जाती है। इनमें से प्रथम जगतुंग गोविंद तृतीय थे जिनके ताम्रपट शक संवत् ७१६ से ७३५ तक के मिले हैं[१]। इन्हीं के पुत्र अमोघवर्ष प्रथम थे जिनके राज्य में जयधवला टीका जिनसेन द्वारा समाप्त हुई। अतएव यह स्पष्ट है कि धवला की प्रशस्ति में इन्हीं गोविन्दराज जगतुंग का उल्लेख होना चाहिए।

अब कुछ प्रशस्ति की उन शंकास्पद गाथाओं पर विचार कीजिये। गाथा नं. ६ में 'अट्ठतीसंम्हि' और 'विक्कमरायम्हि' सुस्पष्ट है। शताब्दि की सूचना के अभाव में अड़तीसवां वर्ष हम जगतुंगदेव के राज्य का ले सकते थे। किन्तु न तो उसका विक्रमराज से कुछ संबन्ध बैठता और न जगतुंग का राज्य ही ३८ वर्ष रहा। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं उनका राज्य केवल २० वर्ष के लगभग रहा था। अतएव इस ३८ वर्ष का संबन्ध विक्रम से ही होना चाहिये। गाथा में शतसूचक शब्द गड़बड़ी में है। किन्तु जान पड़ता है लेखक का तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम संवत् के कहने का है। किन्तु विक्रम संवत् के अनुसार जगतुंगका राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अत: उसके अनुसार ३८ के अंक की कुछ सार्थकता नहीं बैठती। यह भी कुछ साधारण नहीं जान पड़ता कि वीरसेन ने यहां विक्रम संवत् का उल्लेख किया हो। उन्होंने जहां जहां वीर निर्वाण की काल-गणना दी है वहां शक-काल का ही उल्लेख किया है। दक्षिण के प्राय: समस्त जैन लेखकों ने शककाल का ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्था में आश्चर्य नहीं जो यहां भी लेखक का अभिप्राय शक काल से हो। यदि हम उक्त संख्या ३८ के साथ सातसौ और मिला दें और ७३८ शक संवत् लें तो यह काल जगतुंग के ज्ञात काल अर्थात् शक संवत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जब गाथा में विक्रमराज का स्पष्ट उल्लेख है तब हम उसे शक संवत् अनुमान कैसे कर सकते हैं? पर खोज करने से जान पड़ता है कि अनेक जैन लेखकों ने प्राचीन काल से शक काल के साथ भी विक्रम का नाम जोड़ रक्खा है। अकलंक चरित में अकलंक के बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ का समय इस प्रकार बतलाया है।

विक्रमार्कशकाब्दीय शतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत ॥

यद्यपि इस विषय में मतभेद है कि यहां लेखक का अभिप्राय विक्रम संवत् से है या शक से, किन्तु यह तो स्पष्ट है कि विक्रम और शक का संबन्ध एक ही काल गणना से

१.रेऊ भारत के प्राचीन राजवंश. ३. पृ. ३६, ६५-६७.

जोड़ा गया है [१] । यह भ्रमवश हो और चाहे किसी मान्यतानुसार । यह भी बात नहीं है कि अकेला ही इस प्रकार का उदाहरण हो । त्रिलोकसार की गाथा नं. ८५० की टीका करते हुए टीकाकार श्री माधव चन्द्र त्रैविद्य लिखते हैं -

'श्री वीरनाथनिवृत्ते: सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांकशकराजो जायते । तत उपरि चतुर्णवत्युत्तरत्रिशत (३९४) वर्षाणि सप्तमासाधिकानि गत्वा पश्चात कल्की जायते' ।

यहां विक्रमांक शकराज का उल्लेख है और उसका तात्पर्य स्पष्टत: शकसंवत् के संस्थापक से है । उक्त अवतरण पर डा. पाठक ने टिप्पणी की है कि यह उल्लेख त्रुटि पूर्ण है । उन्होंने ऐसा समझकर यह कहा ज्ञात होता है कि उस शब्द का तात्पर्य विक्रम संवत् से ही हो सकता है । किन्तु ऐसा नहीं है । शक संवत् की सूचना में ही लेखक ने विक्रम का नाम जोड़ा है और उसे शकराज की उपाधि कहा है जो सर्वथा संभव है । शक और विक्रम के संबन्ध का कालगणना के विषय में जैन लेखकों में कुछ भ्रम रहा है यह तो अवश्य है । त्रिलोक प्रज्ञप्ति में जो शक की उत्पत्ति वीरनिर्वाण से ४६१ वर्ष पश्चात् या विकल्प से ६०५ वर्ष पश्चात् बतलाई गई है [२] उसमें यही भ्रम या मान्यता कार्यकारी है, क्योंकि, वीर नि. से ४६१ वां वर्ष विक्रम के राज्य में पड़ता हे और ६०५ वर्ष से शककाल प्रारम्भ होता है । ऐसी अवस्था में प्रस्तुत गाथा में यदि 'विक्कमरायम्हि' से शकसंवत् की सूचना ही हो तो हम कह सकते हैं कि उस गाथा के शुद्ध पाठ में धवला के समाप्त होने का समय शंक संवत् ७३८ निर्दिष्ट रहा है ।

इस निर्णय में एक कठिनाई उपस्थित होती है । शक संवत् ७३८ में लिखे गये नवसारी के ताम्रपट में जगतुंग के उत्तराधिकारी अमोघवर्ष के राज्य का उल्लेख है । यही नहीं, किन्तु शक संवत् ७८८ के सिरूर से मिले हुए ताम्रपट में अमोघवर्ष के राज्य के ५२ वें वर्ष का उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष का राज्य ७३७ से प्रारम्भ हो गया था। तब फिर शक ७३८ में जगतुंग का उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गाथा नं. ७ में 'जगतुंदेवरज्जे' के अनन्तर आये हुए 'रियम्हि'

---

1. Inscriptions at Sravana Belgola, Intro, P. 84 and
न्याय कु. चं. भूमिका पृ. १०३

२. वीरजिणं सिद्धिगदे चउ-सद-इसट्ठि वास-परिमाणे । कालम्मि अदिकंते उप्पणो एत्थ सगराओ ।८६ ॥
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास-सदेस पंच-वरिसेस । पण-मासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥ ८९ ॥
तिलोयपण्णत्ति

शब्द पर जाती है जिसका अर्थ होता है 'ऋते' या 'रिक्ते' । संभवत: उसी से कुछ पूर्व जगतुंगदेव का राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारुढ हुये थे । इस कल्पना से आगे गाथा नं. ९ में जो बोद्दणराय नरेन्द्र का उल्लेख है, उसकी उलझन भी सुलझ जाती है। बोद्दणराय संभवत: आमेघवर्ष का ही उपनाम होगा । या वह वड्डिगकाही रूप हो और वड्डिग अमोघवर्ष का उपनाम हो । अमोघवर्ष तृतीय का उपनाम वद्दिग या वड्डिग का तो उल्लेख मिलता ही है । यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन स्वामी के इन उल्लेखों का यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होंने धवला टीका शक संवत् ७३८ में समाप्त की जब जगतुंगदेव का राज्य पूरा हो चुका था और बोद्दणराय (अमोघवर्ष) राजगद्दी पर बैठ चुके थे । 'जगतुंगदेवज्जे रियम्हि' और 'बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते' पाठों पर ध्यान देने से यह कल्पना बहुत कुछ पुष्ट हो जाती है ।

अमोघवर्ष के राज्य के प्रारंभिक इतिहास को देखने से जान पड़ता है कि संभवत. गोविन्दराज ने अपने जीवन काल में ही अपने अल्पवयस्क पुत्र अमोघवर्ष को राजतिलक कर दिया था और उनके संरक्षक भी नियुक्त कर दिये थे, और आप राज्यभार से मुक्त होकर, आश्चर्य नहीं, धर्मध्यान करने लगे हों । नवसारी के शक ७३८ के ताम्रपटों में अमोघवर्ष के राज्य में किसी प्रकार की गड़बड़ी की सूचना नहीं है, किन्तु सूरत से मिले हुए शक संवत् ७४३ के ताम्रपटों में एक विप्लव के समन के पश्चात् अमोघवर्ष के पुन: राज्यारोहण का उल्लेख है । इस विप्लव का वृत्तान्त बड़ौदा से मिले हुए शक संवत् ७५७ के ताम्रपटों में भी पाया जाता है । अनुमान होता है कि गोविंदराज के जीवनकाल में तो कुछ गड़बड़ी नहीं हुई किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् राज्यसिंहासन के लिये विप्लव मचा जो शक संवत् ७४३ के पूर्व समन हो गया [१] । अतएव शक ७३८ में जगतुंग (गोविन्दराज) जीवित थे इस कारण उनका उल्लेख किया और उनके पुत्र सिंहासनारुढ़ हो चुके थे इससे उनका भी कथन किया, यह उचित जान पड़ता है ।

यदि यह कालसम्बंधी निर्णय ठीक हो तो उस परसे वीरसेन स्वामी के कुल रचनाकाल व धवला के प्रारंभकाल का भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । धवला टीका ७३८ शक में समाप्त हुई और जयधवला उसके पश्चात् ७५९ शक में तात्पर्य यह कि कोई २० वर्ष में जयधवला के ६० हजार श्लोक रचे गये जिसकी औसत एक वर्ष में ३ हजार आती है । इस अनुमान से धवला के ७२ हजार श्लोक रचने में २४ वर्ष लगना चाहिये । अत: उसकी रचना ७३८ - २४ = ७१४ शक में प्रारंभ हुई होगी, और चूंकि जयधवला के २० हजार

---

१. Altekar : The Rashtrakutas and their times p.71 ft.

श्लोक रचे जाने के पश्चात् वीरसेन स्वामी की मृत्यु हुई और उतने श्लोकों की रचना में लगभग ७ वर्ष लगे होंगे, अत: वीरसेन स्वामी के स्वर्गवास का समय ७३८ + ७ = ७४५ शक के लगभग आता है। तथा उनका कुल रचना-काल शक ७१४ से ७४५ अर्थात ३१ वर्ष पड़ता है [१]।

अब हम प्रशस्ति में दी हुई ग्रह-स्थिति पर भी विचार कर सकते हैं। सूर्य की स्थिति तुला राशि में बताई गई है सो ठीक ही है, क्योंकि, कार्तिक मास में सूर्य तुला में ही रहता है। चन्द्र की स्थिति का द्योतक पद अशुद्ध है। शुक्ल पक्ष होने से चन्द्र सूर्य से सात राशि के भीतर ही होना चाहिये और कार्तिक मास की त्रयोदशी को चन्द्र मीन या मेष राशि में ही हो सकता है। अतएव 'णेमिचंदम्मि' की जगह शुद्ध पाठ 'मीणे चंदम्मि' प्रतीत होता है जिससे चन्द्र की स्थिति मीन राशि में पड़ती है। लिपिकार के प्रमाद से लेखन में वर्णव्यत्यय हो गया जान पड़ता है। शुक्र की स्थिति सिंह राशि में बताई है जो तुला के सूर्य के साथ ठीक बैठती है।

संवत्सर के निर्णय में नौ ग्रहों में से केवल तीन ही ग्रह अर्थात् गुरु, राहु और शनि की स्थिति सहायक हो सकती है। इनमें से शनि का नाम तो प्रशस्ति में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। राहु और गुरु के नामोल्लेख स्पष्ट हैं किन्तु पाठ- भ्रमण के कारण उनकी स्थिति का निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं होता। अतएव इन ग्रहों की वर्तमान स्थिति पर से प्रशस्ति के उल्लेखों का निर्णय करना आवश्यक प्रतीत हुआ। आज इसका विवेचन करते समय शक १८६१, आश्विन शुक्ल ५, मंगलवार है और इस समय गुरु मीन में, राहु तुला में तथा शनि मेष में है। गुरु की एक परिक्रमा बारह वर्ष में होती है, अत: शक ७३८ से १८६१ अर्थात् ११२३ वर्ष में उसकी ९३ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष सात वर्ष में सात राशियाँ आगे बढ़ीं। इस प्रकार शक ७३८ में गुरु की स्थिति कन्या या तुला राशि में होना चाहिये। अब प्रशस्ति में गुरु को हम सूर्य के साथ तुला राशि में ले सकते हैं।

---

१. आज से कोई ३० वर्ष पूर्व विद्वद्वर पं. नाथूरामजी प्रेमी ने अपनी विद्वद्रत्नमाला नामक लेखमाला में वीरसेन के शिष्य जिनसेन स्वामी का पूरा परिचय देते हुए बहुत सयुक्तिक रूप से जिनसेन का जन्मकाल शक संवत् ६७५ अनुमान किया था और कहा था कि उनके गुरु का जन्म उनसे 'अधिक नहीं तो १० वर्ष पहले लगभग ६६५ शक में हुआ होगा'। इससे वीरसेन स्वामी का जीवनकाल शक ६६५ से ६४५ तक अर्थात् ८० वर्ष पड़ता है। ठीक यही अनुमान अन्य प्रकार से संख्या जोड़कर प्रेमीजी ने किया था ऐसा जान पड़ता है। विद्वद्रत्नमाला पृ.२५ आदि. व पृ. ३६. इन हमारे कविश्रेष्ठों के पूर्ण परिचय के लिये पाठको को प्रेमीजी का वह ८९ पृष्ठों का पूरा लेख पढना चाहिये।

राहु की परिक्रमा अठारह वर्ष में पूरी होती है अत: गत ११२३ वर्ष में उसकी ६२ परिक्रमाएं पूरी हुईं और शेष सात वर्ष में वह लगभग पांच राशि आगे बढ़ा। राहु की गति सदैव वक्री होती है। तदनुसार शक ७३८ में राहु की स्थिति तुला से पांचवी राशि अर्थात् कुंभ में होना चाहिए। अतएव प्रशस्ति में हम राहु का सम्बन्ध कुंभम्हि से लगा सकते हैं। राहु यहां तृतीयान्त पद क्यों है इसका समाधान आगे करेंगे।

शनि की परिक्रमा तीस वर्ष में पूरी होती है । तदनुसार गत ११२३ वर्ष में उसकी ३७ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष १३ वर्ष में वह कोई पांच राशि आगे बढ़ा। अत: शक ७३८ में शनि धनु राशि में होना चाहिए। जब धवलाकार ने इतने ग्रहों की स्थितियां दी हैं, तब वे शनि जैसे प्रमुख ग्रह को भूल जाय यह संभव न जान हमारी दृष्टि प्रशस्ति के चापम्हि वरणिवुत्ते पाठ पर गई। चाप का अर्थ तो धनु होता ही है, किन्तु वरणिवुत्ते से शनि का अर्थ नहीं निकल सका। पर साथ ही यह ध्यान में आते देर न लगी कि संभवत: शुद्ध पाठ तरणि -वुत्ते (तरणिपुत्रे) है। तरणि सूर्य का पर्यायवाची है और शनि सूर्य पुत्र कहलाता है। इस प्रकार प्रशस्ति में शनि का भी उल्लेख मिल गया और इन तीन ग्रहों की स्थिति से हमारे अनुमान किए हुए धवला के समाप्तिकाल शक संवत् ७३८ की पूरी पुष्टि हो गई।

इन ग्रहों का इन्हीं राशियों में योग शक ७३८ के अतिरिक्त केवल शक ३७८, ५५८, ९१८, १०९८, १२७८, १४५८, १६३८ और १८१८ में ही पाया जाता है, और ये कोई भी संवत् धवला के रचनाकाल के लिये उपयुक्त नहीं हो सकते।

अब ग्रहों में से केवल तीन अर्थात् केतु, मंगल और बुध ही ऐसे रह गये जिनका नामोल्लेख प्रशस्ति में हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। केतुकी स्थिति सदैव राहु से सप्तम राशि पर रहती हे, अत: राहू की स्थिति बता देने पर उसकी स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है कि उस समय केतु सिंह राशि में था। प्रशस्ति के शेष शब्दों पर विचार करने से हमें मंगल और बुध का पता लग जाता है। प्रशस्ति में 'कोणे' शब्द आया है। कोण शब्द कोष के अनुसार मंगल का भी पर्यायवाची है [१]। जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, कुंडली-चक्र में मंगल की स्थिति कोने में आती है, इसी से संभवत: मंगल का यह पर्याय कुशल कवि को यहां उपयुक्त प्रतीत हुआ। अत: मंगल की स्थिति राहु के साथ कुंभ राशि में थी। राहु पद की तृतीया विभक्ति इसी साथ को व्यक्त करने के लिये रखी गई जान पड़ती है। अब केवल 'भावविलग्गे' और 'कुलविल्लए' शब्द प्रशस्ति में ऐसे बच रहे हैं जिनका अभी तक उपयोग

१.Apte : Sanskrit English Dictionary.

नहीं हुआ। कुल का अर्थ कोषानुसार बुध भी होता है,[१] और बुध सूर्य की आजू बाजू की राशियों से बाहर नहीं जा सकता। जान पड़ता है यहां कुलविल्लए का अर्थ 'कुलविलये' है। अर्थात् बुध की सूर्य की ही राशि में स्थिति होने से उसका विलय था। गाथा में मात्रा पूर्ति के लिये विलए का विल्लए कर दिया प्रतीत होता है।

जब तक लग्न का समय नहीं दिया जाता तब तक ज्योतिष कुंडली पूरी नहीं कही जा सकती। इस कमी की पूर्ति 'भावविलग्गे' पद से होती है। 'भावविलग्गे' का कुछ ठीक अर्थ नहीं बैठता। पर यदि हम उसकी जगह 'भाणुविलग्गे' पाठ ले लें तो उससे यह अर्थ निकलता है कि उस समय सूर्य लग्न की राशि में था, और क्योंकि सूर्य की राशि अन्यत्र तुला बतला दी है, अत: ज्ञात हुआ कि धवला टीका को वीरसेन स्वामी ने प्रात: काल के समय पूरी की थी जब तुला राशि के साथ सूर्यदेव उदय हो रहे थे।

इस विवेचन द्वारा उक्त प्रशस्ति के समयसूचक पद्यों का पूरा संशोधन जो जाता है, और उससे धवला की समाप्ति का काल निर्विवाद रूप से शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३, तदनुसार तारीख ८ अक्टूबर सन् ८१६, दिन बुधवार का प्रात:काल, सिद्ध हो जाता है। उससे वीरसेन स्वामी के सूक्ष्म ज्योतिष ज्ञान का भी पता चल जाता है।

अब हम उन तीन पद्यों का शुद्धता से इस प्रकार पढ़ सकते हैं -

अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सु-सगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणु-विलग्गे धवल-पक्खे ॥ ६ ॥
जगतुंगदेव-रज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होते ॥ ७ ॥
चावम्हि तरणि -वुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मीणे चंदम्मि।
कत्तिय-मासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥

इस पर से धवला की जन्मकुंडली निम्नप्रकार से खींची जा सकती है -

९ श.
८
७ सू.बु.गु.
६
५ के. शु.
१०
४
११ रा. मं.
१
३
१२ चं.
२

१. Apte : Sanskrit English Dictionary.

धवला नाम की सार्थकता -

वीरसेन स्वामी ने अपनी टीका का नाम धवला क्यों रक्खा यह कहीं बतलाया गया दृष्टिगोचर नहीं हुआ। धवला का शब्दार्थ शुक्ल के अतिरिक्त शुद्ध, विशद, स्पष्ट भी होता है। संभव है अपनी टीका के इसी प्रसाद गुण को व्यक्त करने के लिये उन्होंने यह नाम चुना हो। ऊपर दी हुई प्रशस्ति से ज्ञात है कि यह टीका कार्तिक मास के धवल पक्ष की त्रयोदशी को समाप्त हुई थी। अतएव संभव है इसी निमित्त से रचयिता को यह नाम उपयुक्त जान पड़ा हो। ऊपर बतला चुके हैं कि यह टीका वद्दिग उपनामधारी अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्य के प्रारंभकाल में समाप्त हुई थी। अमोधवर्ष की अनेक उपाधियों में एक उपाधि 'अतिशय-धवल' भी मिलती है [१]। उनकी इस उपाधि की सार्थकता या तो उनके शरीर के अत्यन्त गौरवर्ण में हो या उनकी अत्यन्त शुद्ध सात्विक प्रकृति में। अमोघवर्ष बड़े धार्मिक बुद्धि वाले थे। उन्होंने अपने वृद्धत्वकाल में राज्यपाट छोड़कर वैराग्य धारण किया था और 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' नामक सुन्दर काव्य लिखा था। बाल्यकाल से ही उनकी यह धार्मिक बुद्धि प्रकट हुई होगी। अत: संभव है उनकी यह 'अतिशय धवल' उपाधि भी धवला के नाम-करण में एक निमित्तकारण हुआ हो।

धवला से पूर्व के टीकाकार

ऊपर कह आये हैं कि जयधवला की प्रशस्ति के अनुसार वीरसेनाचार्य ने अपनी टीकाद्वारा सिद्धान्त ग्रन्थों की बहुत पुष्टि की, जिससे वे अपने से पूर्व के समस्त पुस्तक शिष्यकों से बढ़ गये [२]। इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वीरसेन से भी पूर्व इस सिद्धान्त ग्रन्थ की अन्य टीकाएं लिखी गई थीं ?' इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतार में दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों पर लिखी गई अनेक टीकाओं का उल्लेख किया है जिसके आधार से षट्खण्डागमकी धवला से पूर्व रची गई टीकाओं का यहां परिचय दिया जाता है।

१. परिकर्म और उसके रचियता कुन्दकुन्द -

कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) और कषायप्राभृत इन दोनों सिद्धान्तों का ज्ञान गुरु

१. रेऊ: भारत के प्राचीन राजवंश, ३, पृ. ४०

२. पुस्तकानां चिरवानां गुरुत्वमिह कुर्वता। येनातिशयिता: पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यका: ॥२४॥
(जयधवलाप्रशस्ति)

परिपाटी से कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुआ, और उन्होंने सबसे पहले षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण एक टीका ग्रन्थ रचा जिसका नाम परिकर्म था [१]। हम ऊपर बतला आये हैं कि इन्द्रनन्दिका कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि से हमारे उन्हीं प्रातः स्मरणीय कुन्दकुन्दाचार्य का ही अभिप्राय हो सकता है जो दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में सबसे बड़े आचार्य गिने गये हैं और जिनके प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रंथ जैन सिद्धान्त के सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं। दुर्भाग्यतः उनकी बनायी यह टीका प्राप्य नहीं है और न किन्हीं अन्य लेखकों ने उसके कोई उल्लेखादि दिये। किन्तु स्वयं धवला टीका में परिकर्म नाम के ग्रन्थ का अनेकबार उल्लेख आया है। धवलाकार ने कहीं 'परिकर्म' से उद्धृत किया है, [२] कहीं कहा है कि यह बात 'परिकर्म' के कथन पर से जानी जाती है [३] और कहीं अपने कथन का परिकर्म के कथन से विरोध आने की शंका उठाकर उसका समाधान किया है [४]। एक स्थान पर उन्होंने परिकर्म के कथन के विरुद्ध अपने कथन की पुष्टि भी की है और कहा है कि उन्हीं के व्याख्यान को ग्रहण करना चाहिए, परिकर्म के व्याख्यान को नहीं, क्योंकि, वह व्याख्यान सूत्र के विरुद्ध जाता है [५]। इससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि 'परिकर्म' इसी षट्खण्डागम की टीका थी। इसकी पुष्टि एक और उल्लेख से होती है जहां ऐसा ही विरोध उत्पन्न होने पर कहा है कि यह कथन उस प्रकार नहीं है, क्योंकि, स्वयं 'परिकर्म की' प्रवृत्ति इसी सूत्र के बल से हुई है [६]। इन उल्लेखों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि 'परिकर्म' नाम का ग्रंथ था, उसमें इसी आगम का व्याख्यान था और वह ग्रंथ वीरसेनाचार्य के सन्मुख विद्यमान था। एक उल्लेख द्वारा धवलाकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'परिकर्म' ग्रंथ को सभी आचार्य प्रमाण मानते थे [७]।

---

१. एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्। गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥ १६० ॥
श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः। ग्रन्थपरिकर्मकर्त्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥
इन्द्र: श्रुतावतार.

२. 'ति परियम्म वुत्तं' (धवला अ. १४१) 'परियम्मम्मि वुत्तं' (धवला अ. ६७८)

३. 'परियममवयणादो णव्वदे' (धवला अ. १६७) 'इदि परियम्मवयणादो' (धवला अ. २०३)

४. 'ण च परियम्मेण सह विरोही (धवला. अ. २०३)
परियम्मवयणेण सह एदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति ण (धवला अ. ३०४)

५. परियम्मेण एदं वक्खाणं किण्ण विरुज्झदे ? एदेण सह विरुज्झदे, किंतु सुत्तेण सह ण विरुज्झदे। तेण एदस्स वक्खाणस्स गहणं कायव्वंए ण परियममस्स तस्स सुत्तविरुज्झत्तादो। (धवला अ. २५९)

६. परियम्मादो असंखेज्जाओ जोयणकोडीओ सेढीए पमाणमवगदमिदि चे ण, एदस्स सुत्तस्स बलेण परियम्मपवुत्तीदो।' (धवला अ.पृ. १८६)

७. 'सयलाइरियसम्मदपरियम्मसिद्धत्तादो'। (धवला अ. पृ. ५४२)

उक्त उल्लेखों में से प्राय: सभी का सम्बन्ध षट्खण्डगम के प्रथम तीन खण्डों के विषय से ही है जिससे इन्द्रनन्दि के इस कथन की पुष्टि होती है कि वह ग्रंथ प्रथम तीन खण्डों पर ही लिखा गया था। उक्त उल्लेखों पर से 'परिकर्म के' कर्ता के नामादिक का कुछ पता नहीं लगता। किन्तु ऐसी भी कोई बात उनमें नहीं है कि जिससे वह ग्रंथ कुन्दकुन्दकृत न कहा जा सके। धवलाकार ने कुन्दकुन्द के अन्य सुविख्यात ग्रंथों का भी कर्ता का नाम दिये बिना ही उल्लेख किया है। यथा, वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे (धवला, अ.पृ.२८९)

इन्दनन्दिने जो इस टीका को सर्व प्रथम बतलाया है और धवलाकार ने उसे सर्व आचार्य-सम्मत कहा है, तथा उसका स्थान - स्थान पर उल्लेख किया है, इससे इस ग्रंथ के कुन्दकुन्दाचार्य कृत मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखती। यद्यपि इन्द्रनन्दिने यह नहीं कहा है कि यह ग्रंथ किस भाषा में लिखा गया था, किन्तु उसके जो 'अवतरण' धवला में आये हैं वे सब प्राकृत में ही है, जिससे जान पड़ता है कि वह टीका प्राकृत में ही लिखी गई होगी। कुन्दकुन्द के अन्य सब ग्रंथ भी प्राकृत में ही हैं।

धवला में परिकर्म का एक उल्लेख इस प्रकार से आया है -

" 'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं' इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि" (ध. १११०)

इसका कुन्दकुन्द के नियमसार की इस गाथा से मिलान कीजिये -

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।

अविभागी जं दव्वं परमाणू तं विआणाहि॥ २६॥

इन दोनों अवतरणों के मिलान से स्पष्ट है कि धवला में आया हुआ उल्लेख नियमसार से भिन्न है, फिर भी दोनों की रचना में एक ही हाथ सुस्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इन सब प्रमाणों से कुन्दकुन्दकृत परिकर्म के अस्तित्व में बहुत कम सन्देह रह जाता है।

धवलाकार ने एक स्थान पर 'परिकर्म' का सूत्र कह कर उल्लेख किया है। यथा- 'रूवाहियाणि त्ति परियम्मसुत्तेण सह विरुज्झइ' (धवला अ.पृ. १४३)। बहुधा वृत्तिरूप जो व्याख्या होती है उसे सूत्र भी कहते हैं। जयधवला में यतिवृषभाचार्य को 'कषायप्राभृत' का 'वृत्तिसूत्रकर्त्ता' कहा है। यथा -

'सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो में वरं देऊ' (जयध. मंगलाचरण गा. ८)

इससे जान पड़ता है कि परिकर्म नामक व्याख्यान वृत्तिरूप था। इन्द्रनन्दिने परिकर्म को ग्रंथ कहा है। वैजयन्ती कोष के अनुसार ग्रंथ वृत्ति का एक पर्याय -वाचक नाम

है। यथा - 'वृत्तिर्ग्रन्थजीवनयोः'। वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें सूत्रों का ही विवरण हो, शब्द रचना संक्षिप्त हो और फिर भी सूत्र के समस्त अर्थों का जिसमें संग्रह हो। यथा -

'सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्त-सद्द-रयणाए संगहिए-सुत्तासेसत्थाए वित्तसुत्त-वयएसादो। (जयध. अ. ५२)

२. शामकुंडकृत पद्धति-

इन्द्रनन्दिने दूसरी जिस टीका का उल्लेख किया है, वह शामकुंड नामक आचार्य-कृत थी। यह टीका छठवें खण्ड को छोड़कर प्रथम पांच खण्डों पर तथा दूसरे सिद्धान्त ग्रंथ (कषायप्राभृत) पर भी थी। यह टीका पद्धति रूप थी। वृत्तिसूत्र के विषम-पदों का भंजन अर्थात् विश्लेषणात्मक विवरण को पद्धति कहते हैं। यथा-

वित्तिसुत्त-विसम-पयाभंजिए विवरणाए पइद्द-ववएसादो (जयध. पृ. ५२)

इससे स्पष्ट है कि शामकुंड के सन्मुख कोई वृत्तिसूत्र रहे हैं जिनकी उन्होंने पद्धति लिखी। हम ऊपर कह ही आये हैं कि कुन्दकुन्दकृत परिकर्म संभवतः वृत्तिरूप ग्रंथ था। अतः शामकुंड ने उसी वृत्ति पर और उधर कपायप्राभृत की यतिवृषभाचार्यकृत वृत्ति पर अपनी पद्धति लिखी।

इस समस्त टीका का परिमाण भी बारह हजार श्लोक था और उसकी भाषा प्राकृत संस्कृत और कनाड़ी तीनों मिश्रित थी। यह टीका परिकर्म से कितने ही काल पश्चात् लिखी गई थी[1]। इस टीका के कोई उल्लेख आदि धवला व जयधवला में अभी तक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए।

३. चूड़ामणिकर्त्ता तुम्बुलूराचार्य -

इन्द्रनन्दि द्वारा उल्लिखित तीसरी सिद्धान्त टीका तुम्बुलूर नाम के आचार्य द्वारा लिखी गई। ये आचार्य 'तुम्बुलूर' नाम के एक सुन्दर ग्राम में रहते थे, इसी से वे तुम्बुलूराचार्य कहलाये, जैसे कुण्डकुन्दपुर में रहने के कारण पद्मनन्दि आचार्य की कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्धि हुई। इनका असली नाम क्या था यह ज्ञात नहीं होता। इन्होंने छठवें खंड को छोड़ शेष दोनों सिद्धान्तों पर एक बड़ी भारी व्याख्या लिखी, जिसका नाम 'चूड़ामणि' था और

१. काले ततः कियत्यपि गते पुनः शामकुण्डसंज्ञेन। आचार्येण ज्ञात्वा द्विभेदमप्यागमः कात्स्न्यात्॥ १६२॥
द्वादशगुणितसहस्रं ग्रन्थं सिद्धान्तयोरुभयोः। षष्ठेन विना खण्डेन पृथुमहाबन्धसंज्ञेन॥ १६३॥
प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धतिः परा रचिता॥ इन्द्र. श्रुतावतार

परिमाण चौरासी हजार। इस महती व्याख्या की भाषा कनाड़ी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने छठवें खंड पर सात हजार प्रमाण 'पञ्चिका' लिखी। इस प्रकार इनकी कुल रचना का प्रमाण ९१ हजार श्लोक हो जाता है। इन रचनाओं का भी कोई उल्लेख धवला व जयधवला में हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किन्तु महाधवलका जो परिचय 'धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों के प्रशस्ति संग्रह' में दिया गया है उसमें पंचिकारूप विवरण का उल्लेख पाया जाता है [१]। यथा-

वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं ॥ .... पुणो तेहितो सेसट्ठारसणि- योगद्दाणि संतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धेयण पंचिय सरूवेण भणिस्सामो।

जान पड़ता है यही तुम्बुलूराचार्यकृत षष्टम खंडकी वह पंचिका है जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है। यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेबा कि चूड़ामणि व्याख्या की भाषा कनाड़ी थी, किन्तु इस पंचिका को उन्होंने प्राकृत में रचा था।

भट्टाकलंक देव ने अपने कर्णाटक शब्दानुशासन में कनाड़ी भाषा में रचित 'चूड़ामणि' नामक तत्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यान का उल्लेख किया है। यद्यपि वहां इसका प्रमाण ९६ हजार बतलाया है जो इन्द्रनन्दि के कथन से अधिक है, तथापि उसका तात्पर्य इसी तुम्बुलूराचार्यकृत 'चूड़ामणि' से है ऐसा जान पड़ता है [२]। इनके रचना-काल के विषय में इन्द्रनन्दि ने इतना ही कहा है कि शामकुंड से कितने ही काल पश्चात् तुम्बुलूाचार्य हुए।[३]

४. समन्तभद्रस्वामी कृत टीका-

तुम्बुलूराचार्य के पश्चात कालान्तर में समन्तभद्र स्वामी हुए जिन्हें इन्दनन्दि ने 'तार्किकार्क' कहा है। उन्होंने दोनों सिद्धान्तों का अध्ययन करके षट्खण्डागम के पांच खंडों

---

१. वरिवार्णविलास जैनसिद्धान्तभवन का प्रथम बार्षिक रिपोर्ट, १९३५.

२. न चैषा (कर्णाटकी) भाषा शास्त्रानुपयोगिनी, तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य ग्रंथसंदर्भरूपस्य चूड़ामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्यान्येषां च शब्दागम युत्तयागम-परमागम-विषयाणां तथा काव्य-नाटक काशास्त्र-विषयाणां च बहूनां ग्रन्थानाप्तपि भाषाकृतानामुपलब्धमानत्वात्। (समन्तभद्र पृ. २१८)

३. तस्मादारात्पुनरपि काले गतवति कियत्यपि च। अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे। षष्ठेन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयो: ॥ १६५ ॥
चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम्। कर्णाटभाषायाऽकृत महतीं चूड़ामणि व्याख्याम्॥ १६६ ॥ सप्तसहस्रग्रन्थां षष्ठस्य च पंचिकां पुनरकार्षीत्। इन्द्र. श्रुतावतार.

पर ४८ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची। इस टीका की भाषा अत्यंत सुन्दर और मृदुल संस्कृत थी [१]।

यहां इन्द्रनन्दि का अभिप्राय निश्चयत: आप्तमीमांसादि सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के रचयिता से ही है, जिन्हें अष्टसहस्री के टिप्पणकार ने भी 'तार्किकार्क' कहा है। यथा-

तदेवं महाभागैस्तार्किकार्केरुपज्ञातां .... आप्तमीमांसाम् ....

(अष्टमस. पृ. १ टिप्पण)

धवला टीका में समन्तभद्र स्वामी के नाम सहित दो अवतरण हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। इनमें से प्रथम पत्र ४९४ पर है। यथा -

'तहा समंतभद्दसामिणा वि उत्तं, विधिर्विषक्तपतिषेधरूप .... इत्यादि'

यह श्लोक बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रका है। दूसरा अवतरण पत्र ७०० पर है। यथा -

'तथा समंतभद्रस्वामिनाप्युक्तं, स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंज को नय:।

यह आप्तमीमांसा के श्लोक १०६ का पूर्वार्ध है। और भी कुछ अवतरण केवल 'उक्तं च' रूप से आये हैं जो बृहत्स्वयभूस्तोत्रादि ग्रन्थों में मिलते हैं। पर हमें ऐसा कहीं कुछ अभी तक नहीं मिल सका जिससे उक्त टीका का पता चलता। श्रुतावतार के 'आसन्ध्यां पलरि' पाठ में संभवत: आचार्य के निवास स्थान का उल्लेख है, किन्तु पाठ अशुद्ध सा होने के कारण ठीक ज्ञात नहीं होता [२]।

जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण में समन्तभद्र निर्मित 'जीवसिद्धि' का उल्लेख आया है [३], किन्तु यह ग्रंथ अभीतक मिला नहीं है। कहीं यह समन्तभद्रकृत 'जीवट्ठाण' की टीका का ही तो उल्लेख न हो ? समन्तभद्रकृत गंधहस्तिमहाभाष्य के भी उल्लेख मिलते हैं, जिनमें

---

१. कालान्तरे तत: पुनरासंध्यां पलरि ?) तार्किकार्कोभूत् ॥ १६७॥

श्रीमान् समन्तभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधम्।

सिद्धान्तमत: षट्खण्डागमगतखण्डपञ्चकस्य पुन: ॥ १६८॥

अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रन्थरचनया युक्ताम्।

विरचितवानतिसुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम्॥ १६९॥ इन्द्र श्रुतावतार.

२. देखो, पं. जुगलकिशोर मुख्तारकृत समन्तभद्र पृ.२१२

३. जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्। वच: समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते॥

हरिवंशपुराण १ ३०.

उसे तत्त्वार्थ या तत्त्वार्थ सूत्र का व्याख्यान कहा है [१]। इस पर से माना जाता है कि समन्तभद्र ने यह भाष्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थ सूत्र पर लिखा होगा। किन्तु यह भी संभव है कि उन उल्लेखों का अभिप्राय समन्तभद्रकृत इन्हीं सिद्धान्तग्रंथों की टीका से हो। इन ग्रन्थों की भी 'तत्वार्थमहाशास्त्र' नाम से प्रसिद्धि रही है, क्योंकि, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, तुम्बुलूराचार्यकृत इन्हीं ग्रन्थों की 'चूड़ामणि' टीका को अकलंक देव ने तत्त्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यान कहा है।

इन्द्रनन्दि ने कहा है कि समन्तभद्र स्वामी द्वितीय सिद्धान्त की भी टीका लिखनेवाले थे, किन्तु उनके एक सधर्म ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। उनके ऐसा करने का कारण द्रव्यादि-शुद्धि-करण-प्रयत्न का अभाव बतलाया गया है [२]। संभव है कि यहां समन्तभद्र की उस भस्मक व्याधि की ओर संकेत हो, जिसके कारण कहा गया है कि उन्हें कुछ काल अपने मुनि आचार का अतिरेक करना पड़ा था। उनके इन्हीं भावों और शरीर की अवस्था को उनके सहधर्मी ने द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ की टीका लिखने में अनुकूल न देख उन्हें रोक दिया हो।

यदि समन्तभद्रकृत टीका संस्कृत में लिखी गई थी और वीरसेनाचार्य के समय तक, विद्यमान थी तो उसका धवला जयधवला में उल्लेख न पाया जाना बड़े आश्चर्य की बात होगी।

५. बप्पदेव गुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति

सिद्धान्तग्रन्थों का व्याख्यानक्रम गुरु परम्परा से चलता रहा। इसी परम्परा में शुभनन्दि और रविनन्दि नाम के दो मुनि हुए, जो अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि थे। उनसे बप्पदेव गुरु ने वह समस्त सिद्धान्त विशेष रूप से सीखा। वह व्याख्यान भीमरथि और कृष्णमेख नदियों

---

१. तत्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तक: । स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशक : ॥

(हस्तिमल्ल. विक्रान्तकौरवनाटक, मा. ग्रं. मा.)

तत्वार्थ-व्याख्यान-षण्णवति-सहस्र-गंधहस्ति-महाभाष्य विधायक-देवागम कवीश्वर-स्याद्वाद-विद्याधिपति-समन्तभद्र .... । (एक प्राचीन कनाड़ी ग्रन्थ, देखो समन्तभद्र. पृ. २२०)

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य । प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारै: कृतं यत् । (विद्यानन्द. आप्तमीमांसा)

२. विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन । द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात् प्रतिषिद्धम् ॥ १७० ॥ इन्द्र. श्रुतावतार

के बीच के प्रदेश में उत्कलिका ग्राम के समीप मगणवल्ली ग्राम में हुआ था। भीमरथि कृष्णा नदी की शाखा है आर इनके बीच का प्रदेश अब बेलगांव व धारवाड़ कहलाता है। वहीं यह बप्पदेव गुरु का सिद्धान्त- अध्ययन हुआ होगा। इस अध्ययन के पश्चात् उन्होंने महाबन्ध को छोड़ शेष पांच खंडों पर 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम की टीका लिखी। तत्पश्चात् उन्होंने छठे खण्ड की संक्षेप में व्याख्या लिखी। इस प्रकार छहों खंडों के निष्पन्न हो जाने के पश्चात् उन्होंने कषायप्राभृत की भी टीका रची। उक्त पांच खंडों और कषायप्राभृत की टीका का परिमाण साठ हजार, और महामंध की टीका का 'पांच अधिक आठ हजार' था, और इस सब रचना की भाषा प्राकृत थी [१]।

धवला में व्याख्याप्रज्ञप्ति के दो उल्लेख हमारी दृष्टि में आये हैं। एक स्थान पर उसके अवतरण द्वारा टीकाकार ने अपने मत की पुष्टि की है। यथा -

लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो (ध.१४३)

दूसरे स्थान पर उससे अपने मत का विरोध दिखाया है और कहा है कि आचार्य भेद से वह भिन्न-मान्यता को लिये हुए है और इसलिये उसका हमारे मत से ऐक्य नहीं है। यथा -

'एदेण वियाहपण्णत्तिसुत्तेण सह कधं ण विरोहो ? ण, एदम्हादो तस्स पुधसुदस्स आयरियभेएण भेदभावण्णस्स एयत्ताभावादो (ध. ८०८)

इस प्रकार के स्पष्ट मतभेद से तथा उसके सूत्र कहे जाने से इस व्याख्याप्रज्ञप्ति को इन सिद्धान्त ग्रन्थों की टीका मानने में आशंका उत्पन्न हो सकती है। किन्तु जयधवला में एक स्थान पर लेखक ने बप्पदेव का नाम लेकर उनके और अपने बीच के मतभेद को बतलाया है। यथा -

---

१. एवं व्याख्यानक्रममवाप्तवान् परमगुरुपरम्परया। आगच्छत् सिद्धान्तो द्विविधोऽप्यतिनिशितबुद्धिभयाम् ॥ १७१ ॥

शुभ-रवि-नन्दिमुनिभयां भीमरथ-कृष्णमेखयोः सरिताः। मध्यमविषये रमणीयोत्कलिकाग्रामसामीप्यम् ॥ १७२ ॥

विख्यातमगणवल्लीग्रामेऽथ विशेषरूपेण। श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं बप्पदेवगुरुः ॥ १७३ ॥

अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेषपंचखंडे तु ! व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खंडं च ततः संक्षिप्य ॥ १७४ ॥

षण्णां खंडानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य-प्राभृतकस्य च षष्ठिसहस्रग्रन्थप्रमाणयुताम् ॥ १७५ ॥

व्यलिखत्प्राकृतभाषारुपां सम्यक्पुरातनव्याख्याम्। अष्टसहस्रग्रंथां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबंधे ॥ १७६ ॥

चुण्णिसुत्तम्मि बप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो । अम्हेहि लिहिदुच्चरणाए पुण जह. एगसमओ, उक्क. संखेज्जा समया त्ति परूविदो (जयध. १८५)

इन अवतरणों से बप्पदेव और उनकी टीका 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' का अस्तित्व सिद्ध होता है। धवलाकार वीरसेनाचार्य के परिचय में हम कह ही आये हैं कि इन्द्रनन्दि के अनुसार उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति को पाकर ही अपनी टीका लिखना प्रारम्भ किया था।

उक्त पांच टीकाएं षट्खंडागम के पुस्तकारुढ होने के काल (विक्रम की २ री शताब्दि) से धवला के रचना काल (विक्रम की ९ वीं शताब्दि) तक रची गई जिसके अनुसार स्थूल मानसे कुन्दकुन्द दूसरी शताब्दि में, शामकुंड तीसरी में, तुम्बुलूर चौथी में, समन्तभद्र पांचवी में और बप्पदेव छठवीं और आठवीं शताब्दि के बीच अनुमान किये जा सकते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ये सब टीकाएं कहां गई और उनका पठन-पाठन रूप से प्रचार क्यों विच्छिन्न हो गया ? हम धवलाकार के परिचय में ऊपर कह आये हैं कि उन्होंने, उनके शिष्य जिनसेन के शब्दों में, चिरकालीन पुस्तकों का गौरव-बढ़ाया और इस कार्य में वे अपने से पूर्व के समस्त पुस्तक-शिष्यों से बढ़ गये। जान पड़ता है कि इसी टीका के प्रभाव में उक्त सब प्राचीन टीकाओं का प्रचार रूक गया। वीरसेनाचार्य ने अपनी टीका के विस्तार व विषय के पूर्ण परिचय तथा पूर्व मान्यताओं व मतभेदों के संग्रह, आलोचन व मंथन द्वारा उन पूर्ववती टीकाओं को पाठकों की दृष्टि से ओझल कर दिया। किन्तु स्वयं यह वीरसेनीया टीका भी उसी प्रकार के अन्धकार में पड़ने से अपने को नहीं बचा सकी। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने इसका पूरा सार लेकर संक्षेप में सरल और सुस्पष्ट रूप से गोम्मटसार की रचना कर दी, जिससे इस टीका का भी पठन-पाठन प्रचार रुक गया। यह बात इसी से सिद्ध है कि गत सात-आठ शताब्दियों में इसका कोई साहित्यिक उपयोग हुआ नहीं जान पड़ता और इसकी एकमात्र प्रति पूजा की वस्तु बनकर तालों में बन्द पड़ी रही। किन्तु यह असंभव नहीं है कि पूर्व की टीकाओं की प्रतियां अभी भी दक्षिण के किसी शास्त्रभंडार में पड़ी हुई प्रकाश की बाट जोह रही हों। दक्षिण में पुस्तकें ताडपत्रों पर लिखी जाती थीं और ताड़पत्र जल्दी क्षीण नहीं होते। साहित्य प्रेमियों को दक्षिणप्रान्त के भण्डारों की इस दृष्टि से भी खोजबीन करते रहना चाहिए।

धवलाकार के सन्मुख उपस्थित साहित्य

सत्प्ररूपणा में उल्लिखित साहित्य -

धवला और जयधवला को देखने से पता चलता है कि उनके रचयिता वीरसेन आचार्य के सन्मुख बहुत विशाल जैन साहित्य प्रस्तुत था। सत्प्ररूपणा का जो भाग अब प्रकाशित हो रहा है उसमें उन्होंने सत्कर्मप्राभृत व कषायप्रा भृत के नामोल्लेख व उनके विविध अधिकारों के उल्लेख व अवतरण आदि दिये हैं [१]। इनके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकरकृत सन्मतितर्क का 'सम्मइसुत्त' (सन्मतिसूत्र) नाम से उल्लेख किया है और एक स्थल पर उसके कथन से विरोध बताकर उसका समाधान किया है, तथा उसकी सात गाथाओं को उद्धृत किया है [२]। उन्होंने अकलंकदेवकृत तत्वार्थराजवार्तिका का 'तत्वार्थभाष्य' नाम से उल्लेख किया है और उसके अनेक अवतरण कहीं शब्दश: और कहीं कुछ परिवर्तन के साथ दिये हैं [३]। इनके सिवाय उन्होंने जो २१६ संस्कृत व प्राकृत पद्य बहुधा 'उक्तं च' कहकर और कहीं कहीं बिना ऐसी सूचना के उद्धृत किये हैं उनमें से हमें ६ कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार, पंचास्तिकाय व उसकी जयसेनकृत टीका में [४], ७ तिलोयपण्णत्ति में [५], १२ वट्टकेरकृत मूलाचार में [६], १ अकलंकदेवकृत लघीयस्त्रयी में [७], २ मूलाराधना में [८], ५ वसुनन्दिश्रावकाचार में [९], १ प्रभाचन्द्रकृत शाकटायन-न्यास में [१०], १ देवसनकृत नयचक्र में [११], व १ विद्यानन्दकृत आप्तपरीक्षा में मिले हैं [१२]। गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, व जीवप्रबोधनी टीका में इसकी ११० गाथाएं पाई गई हैं जो स्पष्टत: वहां पर यहीं से ली गई हैं। कई जगह तिलोयपण्णत्तिकी गाथाओं के विषय का उन्हीं शब्दों में संस्कृत पद्य अथवा गद्य द्वारा वर्णन किया [१३] है व यतिवृषभाचार्य के मत का भी यहां उल्लेख आया है [१४]। इनके

---

१. पृ. २०८, २२१, २२६ आदि

२. पृ. १५ व गाथा नं. ५, ६, ७, ८, ९, ६७, ६९.

३. पृ. २०३, २२६, २३२, २३४, २३९.

४. गाथा नं. १, १३, ४६, ७२, ७३, १९८.

५. गाथा नं. २०, ३५, ३७, ५५, ५६, ६०.

६. गाथा नं. १८, ३१ (पाठभेद) ६५ (पाठभेद) ७०, ७१, १३४, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२

७. गाथा नं. ११ ८. गाथा नं. १६७, १६८, ९. गाथा नं. ५८, १६७, १६८, ३०, ७४

१०. गाथा नं. २. ११. गाथा नं. १०. १२. गाथा नं. २२

१३. देखो पृ. १०, २८, २९, ३२, ३३ आदि १४. देखो पृ. ३०२

अतिरिक्त इन गाथाओं में से अनेक श्वेताम्बर साहित्य में भी मिली हैं। सन्मतितर्क की सात गाथाओं का हम ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। उनके सिवाय हमें ५ गाथाएं आचारांग में [1], १ बृहत्कल्पसूत्र में [2], ३ दशवैकालिकसूत्र में [3], १ स्थनांग टीका में [4], १ अनुप्रयोगद्वार में [5] व २ आवश्यक-निर्युक्ति में [6] मिली हैं। इसके अतिरिक्त और विशेष खोज कने से दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य में प्राय: सभी गाथाओं के पाये जाने की संभावना है।

सूत्र-पुस्तकों में पाठ भेद व मतभेद -

किंतु वीरसेनाचार्य के सन्मुख उपस्थित साहित्य की विशालता को समझने के लिये उनकी समस्त रचना अर्थात् धवला और जयधवलापर कम से कम एक विहंग-दृष्टि डालना आवश्यक है। यह तो कहने की आवश्यकता नहीं है कि उनके सन्मुख पुष्पदन्त, भूतबलि व गुणधर आचार्यकृत पूरा सूत्र-साहित्य प्रस्तुत था। पर इसमें भी यह बात उल्लेखनीय है कि इन सूत्र-ग्रंथों के अनेक संस्करण छोटे-बड़े पाठ-भेदों को रखते हुए उनके सन्मुख विद्यमान थे। उन्होंने अनेक जगह सूत्र-पुस्तकों के भिन्न-भिन्न पाठों व तज्जन्य मतभेदों का उल्लेख व यथाशक्ति समाधान किया है [7]।

कहीं कहीं सूत्रों में परस्पर विरोध पाया जाता था। ऐसे स्थलों पर टीकाकार ने निर्णय करने में अपनी असमर्थता प्रकट की है और स्पष्ट कह दिया है कि इनमें कौन सूत्र है और कौन असूत्र है इसका निर्णय आगम में निपुण आचार्य करें। हम इस विषय में कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि, हमें इसका उपदेश कुछ नहीं मिला [8]। कहीं उन्होंने दोनों विरोधी सूत्रों का व्याख्यान कर दिया है, यह कह कर कि 'इसका निर्णय तो चतुर्दश पूर्वधारी व केवलज्ञानी ही कर सकते हैं, किन्तु वर्तमान काल में वे हैं नहीं, और अब उनके पास से सुनकर आये हुए भी कोई नहीं पाये जाते। अत: सूत्रों की प्रमाणिकता नष्ट करने से डरने वाले आचार्यों को

---

१. गाथा नं. १४, १४९, १५०, १५१, १५२ (पाठभेद). २. गाथा नं. ६२

३. गाथा नं ३४, ७०, ७१ ४. गाथा नं. ८८. ५. गाथा नं. १४ ६ गाथा नं. ६८, १००.

७. केसु वि सुत्तपोत्थएसु पुरिसवेदस्संतरं छम्मासा। धवला अ. ३४५.
केसु वि सुत्तपोत्थएसु उवलब्भइ, तदो एत्थ उवएसं लद्धूण वत्तव्वं। धवला. अ. ५९१.
केसु वि सुत्तपोत्थएसु विदियमद्धमस्सिदूण परूविद-अप्पाबहुअभावादो। धवला अ. १२०६
केसु वि सुत्तपोत्थएसु एसो पाठो। धवला अ. १२४३

८. तदो तेहि सुत्तेहि एदेसिं सुत्ताणं विरोहो होदि त्ति भणिदे जदि एवं उवदेसं लद्धूण इदं सुत्तं इदं चासुत्तमिदि आगम-णिउणा भणंतु, ण च अम्हे एत्थ वोत्तुं समत्था अलद्धोवदेसत्तादो। धवला.अ. ५६३.

तो दोनों सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये [१]। कहीं कहीं तो सूत्रों पर उठाई गई शंका पर टीकाकार ने यहां तक कह दिया है कि 'इस विषय की पूछताछ गौतम से करना चाहिये, हमने तो यहां उनका अभिप्राय कहा है [२]।'

सूत्रविरोध का कहीं कहीं ऐसा कहकर भी उन्होंने समाधान किया है कि 'यह विरोध तो सत्य है किन्तु एकान्तग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, वह विरोध सूत्रों का नहीं है, किन्तु इन सूत्रों के उपसंग्रहणकर्त्ता आचार्य सकल श्रुत के ज्ञाता न होने से उनके द्वारा विरोध आ जाना संभव है [३]। इससे वीरसेन स्वामी का यह मत जाना जाता है कि सूत्रों में पाठ-भेदादि परम्परागत आचार्यों द्वारा भी हो चुके थे। और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि, उनके उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सूत्रों का अध्ययन कई प्रकार से चला करता था जिसके अनुसार कोई सूत्राचार्य थे [४], कोई उच्चारणाचार्य [५], कोई निक्षेपाचार्य [६] और कोई व्याख्यानाचार्य [७]। इनसे भी ऊपर 'महावाचकों' का पद ज्ञात होता है [८]। कषायप्राभृत के प्रकाण्ड ज्ञाता आर्यमंक्षु और नागहस्ति को अनेक जगह महावाचक कहा है। आर्यनन्दि का भी महावाचक रूप से एक जगह उल्लेख है। संभवतः ये स्वयं वीरसेन गुरु थे जिनका उल्लेख धवला की प्रशस्ति में भी किया गया है।

---

१. होदु णाम तुम्हेहि वुत्तत्थस्स सच्चत्तं, बहुएसु सुत्तेसु वणप्फदीणं उवरि णिगोदपदस्स अणुवलंभादो। चोद्दसपुव्वधरो केवलणाणी वा, ण च वट्टमाणकाले ते अत्थि। ण च तेसिं पासे सोदूणागदा वि संपहि उवलब्भंति। तदो थप्पं काऊण बे वि सुत्ताणि सुत्तासायण-भीरूहि आयरिएहि वक्खाणेयव्वाणि। धवला अ. ५६७

२. सुत्ते वणप्फ दिसण्णा किण्ण णिद्दिट्ठा ? गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो। अम्हेहि गोदमो बादरणिगोदपदिट्ठिदाणं वणप्फदिसण्णं णेच्छदि त्ति तस्स अभिप्पाओ कहिओ। धवला. अ. ५६७

३. कसायपाहुडसुत्तेणेदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति वुत्ते सच्चं विरुज्झइ किंतु एयंतग्गहो एत्थ ण कायव्वो। कधं सुत्ताणं विरोहो ? ण, सुत्तोवसंधाराणमसयलसुद-धारयाइरियपरतंताणं विरोह-संभव-दंसणादो। धवला अ. ५८९

४. सुत्ताइरिय-वक्खाण-पसिद्धो उवलब्भदे। तम्हा तेसु सुत्ताइरिय-वक्खाण-पसिद्धेण, ध. २९४.

५. एसो उच्चारणाइरिय-अभिप्पाओ। धवला अ. ७६४. एदेसिमणियोगद्दाराणमुच्चारणाइरियो-वएसबलेण परूवणं वत्तइस्सामो। जयध. अ. ८४२.

६. णिक्खेवाइरिय-परूविद-गाहाणमत्थं भणिस्सामो। धवला. अ. ८६३

७. वक्खाणाइरिय-परूविंद वत्तइस्सामो। धवला. अ. १२३५.
वक्खाणाइरियाणमभावादो। धवला. अ. ३४८.

८. महावाचयाणमज्जमंखुसमणाणमुवदेसेण .... महावाचयाणमज्जणंदीणं उवदेसेण। धवला. अ. १४५७. महावाचया अज्जिणंदिणो संतकम्मं करेंति। द्विदिसंतकम्मं पयासंति। धवला. अ. १४५८. अज्जमंखु-णागहत्थि-महावाचय-मुहकमल-विणिग्गएण सम्मत्तस्स। जयध. अ. ९७३.

धवलाकार ने कई जगह ऐसे प्रसंग भी उठाये हैं जहां सूत्रों पर इन आचार्यों का कोई मत उपलब्ध नहीं था। इनका निर्णय उन्होंने अपने गुरु के उपदेश के बल पर [१] व परम्परागत उपदेश [२] द्वारा तथा सूत्रों से अविरुद्ध अन्य आचार्यों के वचनों द्वारा[३] किया है।

धवला पत्र १०३६ पर तथा जयधवला के मंगलाचरण में कहा गया है कि गुणधराचार्य विरचित कषायप्राभृत आचार्य परम्परा से आर्यमंक्षु और नागहस्ति आचार्यों को प्राप्त हुआ और उनसे सीखकर यतिवृषभ ने उन पर वृत्तिसूत्र रचे। वीरसेन और जिनसेन के सन्मुख, जान पड़ता है, उन दोनों आचार्यों के अलग-अलग व्याख्यान प्रस्तुत थे क्योंकि उन्होंने अनेक जगह उन दोनों के मतभेदों का उल्लेख किया है [४] तथा उन्हें महावाचक के अतिरिक्त 'क्षमाश्रमण' भी कहा है। यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्रों की पुस्तक भी उनके सामने थी और उसके सूत्र-संख्या-क्रम का भी वीरसेन ने बड़ा ध्यान रक्खा है [५]।

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति-

सूत्रों और उनके व्याख्यानों में विरोध के अतिरिक्त एक और विरोध का उल्लेख मिलता है जिसे धवलाकार ने उत्तर-प्रतिपत्ति और दक्षिण-प्रतिपत्ति कहा है। ये दो भिन्न मान्यताएं थी जिनमें से टीकाकार स्वयं दक्षिण-प्रतिपत्ति को स्वीकार करते थे, क्योंकि, वह ऋजु अर्थात सरल, सुस्पष्ट और आचार्य - परम्परागत है, तथा उत्तर-प्रतिपत्ति अनृजु है और आचार्य-परम्परागत नहीं है। धवला में इस प्रकार के तीन मतभेद हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। प्रथम द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वार में उपशमश्रेणी की संख्या ३०४ बताकर कहा है -

---

१. कधमेदं णव्वदे ? गुरुवदेसादो। धवला. अ. ३१२

२. सुत्ताभावे सत्त सेव खंडाणि कीरंति त्ति कधं णव्वदे ? ण, आइरिय-परंपरागदुवदेसादो। धवला. अ. ५९२

३. कुदो णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो सुत्त-समाणादो। धवला. अ. १२५७ सुत्तेण विणा .... कुदो णव्वदे ? सुत्तविरुद्धाइरियवयणादो। धवला. अ. १३३७.

४. कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारे हि भण्णमाणे वे उवदेसा होंति। जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरुवणा कम्मट्ठिपरूवणे त्ति णागहत्थि-खमासमणा भणंति। अज्जमंखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणंति। एवं दोहि उवदेसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा। (धवला. अ. १४४०.) एत्थ दुवे उवएसा ...... महावाचयाणमज्जमंखुखवणा-णमुवदेसेण लोगपूरिदे आउगसमाण णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंत-कम्मं ठवेदि। महावाचयाणं णागहत्थि-खवणाण-सुवएसेण लोगे पूरिदे णामा-गोद-वेदणीयाण ट्ठिदिसंतकम्मं अंतोमुहुत्तपमाणं होदि। जयध. अ. १२३९.

५. जइवसह-चुण्णिसुत्तम्मि णव-अंकुवलंभादो। .... जइवसहठविद-वारहंकादो। जयध. अ. २४

'केवि पुवुत्तपमाणं पंचूणं करेंति। एदं पंचूणं वक्खाणं पवाइज्जमाणं दक्खिणमाइरिय -परंपरागयमिदि जं वुत्तं होई। पुव्वुत्त-वक्खाणमपवाइज्ज-माणं वाउं आइरियपरम्परा- अणागदमिदि णायव्वं।'

अर्थात् कोई-कोई पूर्वोक्त प्रमाण में पांच की कमी करते हैं। यह पांच की कमी का व्याख्यान-प्रवचन प्राप्त है, दक्षिण है और आचार्य-परम्परागत है। पूर्वोक्त व्याख्यान प्रवचन-प्राप्त नहीं है, वाम है और आचार्य परम्परा से आया हुआ भी नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

इसी के आगे क्षपकश्रेणी की संख्या ६०५ बताकर कहा गया है -

एसा उत्तर-पडिवत्ती। एत्थ दस अवणिदे दक्खिण-पडिवत्ती हवदि।

अर्थात यह (६०५ की संख्यासंबंधी) उत्तर प्रतिपत्ति है इसमें से दश निकाल देने पर दक्षिण-प्रतिपत्ति हो जाती है।

आगे चलकर द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वार में ही संयतों की संख्या ८९९९९९९७ बतलाकर कहा है 'एसा दक्खिण-पडिवत्ती' इसके अन्तर्गत भी मतभेदादिका निरसन करके, फिर कहा है 'एत्तो उत्तर-पडिवत्ति वत्तइस्सामो' और तत्पश्चात् संयतों की संख्या ६९९९९९९६ बतलाई है। यहां इनकी समीचीनता के विषय में कुछ नहीं कहा।

दक्षिण-प्रतिपत्ति के अंतर्गत एक और मतभेद भी उल्लेख किया गया है। कुछ आचार्यों ने उक्त संख्या के संबंध में जो शंका उठाई है उसका निरसन करके धवलाकार कहते हैं -

'जं दूसणं भणिदं तण्ण दूसणं, बुद्धिविहुणाइरियमुहविणिग्गयत्तादो।'

अर्थात् 'जो दूषण कहा गया है वह दूषण नहीं है, क्योंकि वह बुद्धिविहीन आचार्यों के मुख से निकली हुई बात है'। संभव है वीरसेन स्वामी ने किसी समसायिक आचार्य की शंका को ही दृष्टि में रखकर यह भर्त्सना की हो।

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति भेद का तीसरा उल्लेख अन्तरानुयोगद्वार में आया है जहां तिर्यंच और मनुष्यों के सम्यक्त्व और संयमादि धारण करने की योग्यता के कालका विवेचन करते हुए लिखते हैं -

'एत्थ वे उवदेसा, तं जहा- तिरिक्खेसु वेमासमुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मतं संजमासंजमं च जीवो पडिवज्जदि। मणुसेसु गब्भादिअट्ठवस्सेसु अंतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मतं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति। एसा दक्खिणपडिवत्ती। दक्खिणं उज्जुवं

आइरियपरंपरागदमिदि एयट्ठो । तिरिक्खेसु तिण्णि पक्ख तिण्णि दिवस अतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मतं संजासंजमं च पडिवज्जदि । मणुसेसु अट्ठवस्साणमुवरि सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि । एसा उत्तरपडिवत्ती, उत्तरमणुज्जुवं आइरियपरंपराए णागदमिदि एयट्ठो धवला.अ. ३३०

इसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व और संयमासंयमादि धारण करने की योग्यता दक्षिण प्रतिपत्ति अनुसार तिर्यंचों में (जन्म से) २ मास और मुहूर्तपृथक्त्व के पश्चात होती है, तथा मनुष्यों में गर्भ से ८ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त के पश्चात होती है । किन्तु उत्तर प्रतिपत्ति के अनुसार तिर्यंचोंमें वही योग्यता ३ पक्ष, ३ दिन और अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त, तथा मनुष्यों में ८ वर्ष के उपरान्त होती है । धवलाकार ने दक्षिण प्रतिपत्ति को यहां भी दक्षिण, ऋजु व आचार्य-परंपरागत कहा है और उत्तर प्रतिपत्ति को उत्तर, अनृजु और आचार्य-परम्परा से अनागत कहा है ।

हमने इन उल्लेखों का दूसरे उल्लेखों की अपेक्षा कुछ विस्तार से परिचय इस कारण दिया है, क्योंकि, यह उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तिका मतभेद अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय है । संभव है इनसे धवलाकार का तात्पर्य जैन समाज के भीतर की किन्हीं विशेष साम्प्रदायिक मान्यताओं से ही हो ?

तिलोयपण्णत्ति सूत्र व यतिवृषभाचार्य -

धवला में जिन अन्य आचार्यों व रचनाओं के उल्लेख दृष्टिगोचर हुए हैं वे इस प्रकार हैं । त्रिलोकप्रज्ञप्ति को धवलाकार ने सूत्र कहा है और उसका यथास्थान खूब उपयोग किया है [१] । हम उपर यह कह आये हैं कि सत्प्ररूपणा में तिलोयपण्णत्तिके मुद्रित अंश की सात गाथाएं ज्यों की त्यों पाई जाती हैं और उसके कुछ प्रकरण भाषा-परिवर्तन करके ज्यों के त्यों लिखे गये हैं । इस ग्रंथ के कर्त्ता यतिवृषभाचार्य कहे जाते हैं जो जयधवला के अतर्गत कषायप्राभृत पर चूर्णिसूत्र रचने वाले यतिवृष से अभिन्न प्रतीत होते हैं [२] । सत्प्ररूपणा में भी यतिवृषभका उल्लेख आया है [३] व आगे भी उनके मत का उल्लेख किया गया है ।

---

१. तिरियलोगो त्ति तिलोयपणत्तिसुत्तादो । धवला. अ. १४३.
चंदाइच्चबिंबपमाणपरूवयतिलोयपण्णत्तिसुत्तादो । धवला. अ. १४३.
तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारि । धवला.अ.२५९.

२. Catalogue of Sans. & Prak. Mss in C P. & Berar, Intro. p. XV.

३. यतिवृषभोपदेशात् सर्वघातिकर्मणां इत्यादि । धवला. अ. ३०२

४. एसो दंसणमोहणीय-उवसामओ त्ति जइवसहेण भणिदं । धवला. अ. ४२५

पंचत्थिपाहुड -

कुंदकुंद के पंचास्तिकाय का 'पंचत्थिपाहुड' नाम से उल्लेख आया है और उसकी दो गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं [१]। सत्प्ररूपणा में उनके ग्रंथों के जो अवतरण पाये जाते हैं उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। परिकर्म ग्रंथ के उल्लेख और उसके साथ कुंदकुंदाचार्य के सम्बन्ध का विवेचन भी हम ऊपर कर आये हैं [२]।

गृद्धपिच्छाचार्यकृत तत्वार्थसूत्र -

धवलाकार ने तत्वार्थसूत्र को गृद्धपिच्छाचार्य कृत कहा है और उसके कई सूत्र भी उद्धृत किये हैं [३]। इससे तत्वार्थसूत्रसंबंधी एक श्लोक व श्रवणबेलगोल के कुछ शिलालेखों के उस कथन की पुष्टि होती है जिसमें उमास्वाति को 'गृद्धपिंछोपलांछित' कहा है। सत्प्ररूपणा में भी तत्वार्थसूत्र के अनेक उल्लेख आये हैं।

आचारांग -

धवला में एक गाथा इस प्रकार से उद्धृत मिलती है - उत्तं च आयारंगे,

पंचत्थिकाया य छज्जीवणिकायकालदव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥

धवला. अ. २८९

यह गाथा वट्टकेरकृत मूलाचार में निम्न प्रकार से पाई जाती है -

पंचत्थिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥ ३९९ ॥

यदि उक्त गाथा यहीं से धवला में उद्धृत की गई हो तो कहा जा सकता है कि उस समय मूलाचार की प्रख्याति आचारांग के नाम से थी।

---

१. धवला अ. २८९ 'वुत्तं च 'पंचत्थिपाहुडे' कहकर चार गाथाएं उद्धृत की गई हैं जिनमें से दो पंचस्तिकाय में क्रमश. १०८, १०७ नंबर पर मिलती हैं। अन्य दो 'ण य परिणमइ सयं सो' आदि व 'लोयायासपदेसे' आदि गाथाएं हमारे सन्मुख वर्तमानपंचास्तिकाय में दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु वे दोनों गो. जीव में क्रमश: नं. ५७० और ५८९ पर पाई जाती हैं। धवला के उसी पत्र पर आगे पुन: वही 'वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे' कहकर तीन गाथाएं उद्धृत की हैं जो पंचास्तिकाय में क्रमश: २३, २५ और २६ नं. पर मिलती है। (पंचास्तिकायसार, आरा, १९२०.)

२. देखो ऊपर पृ. ४६ आदि.

३. देखो पृ. १५१, २३२, २३६, २३९, २४०.

'तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिद तच्चत्थसुत्ते विवर्तना परिणाम .... धवला पत्र $\frac{२८९}{च}$

स्वामी समन्तभद्र के जो उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं उनका परिचय हम षट्खंडागम की अन्य टीकाओं के प्रकरण में करा ही आये हैं।

पूज्यपादकृत सारसंग्रह-

धवलाकार ने नय का निरूपण करते हुए एक जगह पूज्यपाद द्वारा सारसंग्रह में दिया हुआ नयका लक्षण उद्धृत किया है। यथा -

सारसंग्रहहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः - अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतम-पर्यायाधिग में कर्त्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षों निरवद्यप्रयोगो नय इति। धवला. अ. ७०० वेदनाखंड

पहले अनुमान होता है कि संभव है पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि को ही यहां सारसंग्रह कहा गया हो। किन्तु उपलब्ध सर्वार्थसिद्धि में नयका लक्षण इस प्रकार से नहीं पाया जाता। इससे पता चलता है कि पूज्यपादकृत सारसंग्रह नाम का कोई और ग्रन्थ धवलाकार के सन्मुख था। ग्रंथ के नाम पर से जान पड़ता है कि उसमें सिद्धान्तों का मथितार्थ संग्रह किया गया होगा। संभव है ऐसे ही सुन्दर लक्षणों को दृष्टि में रखकर धनञ्जय ने अपने नाममाला कोष की प्रशस्ति में पूज्यपाद के 'लक्षण' को अपश्चिम अर्थात् बेजोड़ कहा है। यथा -

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥ २०३॥

पूज्यपाद भट्टारक अकलंक -

अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थराजवार्तिक का धवलाकार ने खूब उपयोग किया है और, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, कहीं शब्दशः और कहीं कुछ हेरफेर के साथ उसके अनेक अवतरण दिये हैं। किन्तु न तो उनके साथ कहीं अकलंक का नाम आया और न 'राजवार्तिकका'। उन अवतरणों को प्रायः 'उक्तं च तत्वार्थभाष्ये' या 'तत्वार्थभाष्यगत' प्रकट किया गया है। धवला में एक स्थान (पं. ७००) पर कहा गया है -

पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि - सामान्य-नय-लक्षणमिदमेव। तद्यथा, प्रमाण-प्रकाशितार्थ-विशेष-प्ररूपको नयः इति।

इसके आगे 'प्रकषेण मानं प्रमाणम्' आदि उक्त लक्षण की व्याख्या भी दी है। यही लक्षण व व्याख्या तत्वार्थराजवार्तिक, १, ३३, १ में आई है। जयधवला (पत्र २६) में भी यह व्याख्या दी गई है और वहां उसे 'तत्वार्थभाष्यगत' कहा है। 'अयं वाक्यनयः तत्वार्थभाष्यगतः' इससे सिद्ध होता है कि राजवार्तिक का असली प्राचीन नाम 'तत्वार्थभाष्य' है और उसके

कर्त्ता अकलंक का सम्मानसूचक उपनाम 'पूज्यपाद भट्टारक' भी था। उनका नाम भट्टाकलंकदेव तो मिलता ही है।

प्रभाचन्द्र भट्टारक -

धवलाके वेदनाखंडान्तर्गत नयके निरुपण में (प.७००) प्रभाचन्द्र भट्टारक द्वारा कहा गया नयका लक्षण उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है-

'प्रभाचन्द्र - भट्टारकैरप्यभाणि-प्रमाण-व्यपाश्रय-परिणाम-विकल्प-वशीकृतार्थ-विशेष-प्ररूपण-प्रवण: प्रणिधिर्य: स नय इति।'

ठीक यही लक्षण 'प्रमाणव्यपाश्रय' यदि जयधवला (पं. २६) में भी आया है और उसके पश्चात लिखा है 'अयं नास्य नय: प्रभाचन्द्रो य:'। यह हमारी प्रति की अशुद्धि ज्ञात होती है और इसका ठीक रूप 'अयं वाक्यनय: प्रभाचन्द्रीय:' ऐसा प्रतीत होता है।

प्रभाचन्द्रकृत दो प्रौढ़ न्याय-ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं, एक प्रमेयकमलमार्तण्ड और दूसरा न्यायकुमुदचन्द्रोदय। इस दूसरे ग्रंथ का अभी एक ही खंड प्रकाशित हुआ है। इन दोनों ग्रंथों में उक्त लक्षण का पता लगाने का हमने प्रयत्न किया किन्तु वह उनमें नहीं मिला। तब हमने न्या. कु.चं. के सुयोग्य सम्पादक पं. महेन्द्रकुमारजी से भी इसकी खोज करने की प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने भी परिश्रम करने के पश्चात् हमें सूचित किया कि बहुत खोज करने पर भी उस लक्षण का पता नहीं लग रहा। इससे प्रतीत होता है कि प्रभाचन्दकृत कोई और भी ग्रंथ रहा है जो अभी तक प्रसिद्धि में नहीं आया और उसी के अन्तर्गत वह लक्षण हो, या इसके कर्ता कोई दूसरे ही प्रभाचन्द्र हुए हों ?

धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममाला -

धवला में 'इति' के अनेक अर्थ बतलाने के लिये 'एत्थ उवज्जंतओ सिलोगो' अर्थात् इस विषय का एक उपयोगी श्लोक कहकर निम्न श्लोक उद्धृत किया है -

हेतावेंव प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्ययः।
प्रादुर्भावे समाप्तं च इति शब्द विदुर्बुधाः॥ धवला. अ. ३८७

यह श्लोक धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममाला का है और वहां वह अपने शुद्ध रूप में इस प्रकार पाया जाता है -

हेतावेवं प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये।
प्रादुर्भावे समाप्तौ च इति शब्दः प्रकीर्तितः॥ ३९॥

इन्हीं धनञ्जय का बनाया हुआ नाममाला कोष भी है जिसमें उन्होंने अपने द्विसंधान काव्य को तथा अकलंक के प्रमाण और पूज्यपाद के लक्षण को अपश्चिम कहा है अर्थात् उनके समान फिर कोई नहीं लिख सका।

इससे यह तो स्पष्ट था कि उक्त कोषकार धनञ्जय, पूज्यपाद और अकलंक के पश्चात् हुए। किन्तु कितने पश्चात् इसका अभी तक निर्णय नहीं होता था। धवला के उल्लेख से प्रमाणित होता है कि धनञ्जय का समय धवला की समाप्ति से अर्थात् शक ७३८ से पूर्व है।

धवला में कुछ ऐसे ग्रंथों के उल्लेख भी पाये जाते हैं जिनके संबंध में अभी तक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वे कहां के और किसके बनाये हुए हैं। इस प्रकार का एक उल्लेख जीवसमास का है। यथा, (धवला प २८९) जीवसमासाए वि उत्तं -

छप्पंचणव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्टाणं।

आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥

यह गाथा 'उक्तं च' रूप से सत्प्ररूपणा में भी दो बार आई है और गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी है।

एक जगह धवलाकार ने छेदसूत्र का उल्लेख किया है। यथा -

ण च दव्वित्थिणवुंसयवेदाणं चेलादिचाओ अत्थि छेदसुत्तेण सह विरोहादो।

धवला. अ. ९०७

एक उल्लेख कर्मप्रवाद का भी है। यथा -

'सा कम्मपवादे सवित्थरेण सवित्थरेण परूविदा' (धवला अ. १३७१)

जयधवला में एक स्थान पर दशकरणीसंग्रह का उल्लेख आया है। यथा -

शष्ककुड्यपतितसिकतामुष्टिवदनन्तरसमये निर्वर्तते कर्मेर्यापथं वीतरागाणामिति। दसकरणीसंगहे पुण पयडिबंधसंभवमेत्तमवेक्खिय वेदणीयस्स वीयरायगुणट्ठाणेसु वि बंधणाकरणमोवट्टणाकरणं च दो वि भणिदाणि त्ति। जयध. अ. १०४२.

इस अवतरण पर से इस ग्रंथ में कर्मों की बन्ध, उदय, संक्रमण आदि दश अवस्थाओं का वर्णन है ऐसा प्रतीत होता है।

ये थोड़े से ऐसे उल्लेख हैं जो धवला और जयधवलापर एक स्थूल दृष्टि डालने से प्राप्त हुए हैं। हमें विश्वास है कि इन ग्रंथों के सूक्ष्म अवलोकन से जैन धार्मिक और

साहित्यिक इतिहास के सम्बंध में बहुत सी नई बातें ज्ञात होगी जिनसे अनेक साहित्यिक ग्रंथियां सुलझ सकेंगी।

षट्खंडागम का परिचय (पु. १)

ग्रंथ नाम -

पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा जो ग्रंथ रचा गया उसका नाम क्या था ? स्वयं सूत्रों में तो ग्रंथ का कोई नाम हमारे देखने में नहीं आया, किन्तु धवलाकार ने ग्रंथ की उत्थानिका में ग्रंथ के मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्त्ता, इन छह ज्ञातव्य बातों का परिचय कराया है । वहां इसे 'खंडसिद्धान्त' कहा है और इसके खंडों की संख्या छह बतलाई है [१]। इस प्रकार धवलाकार ने इस ग्रंथ का नाम 'षट्खंड सिद्धान्त' प्रकट किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि सिद्धान्त और आगम एकार्थवाची हैं [२]। धवलाकार के पश्चात् इन ग्रंथों की प्रसिद्धि आगम परमागम व षट्खंडागम नाम से ही विशेषत: हुई। अपभ्रंश महापुराण के कर्ता पुष्पदन्तने धवल और जयधवल को आगम सिद्धान्त [३], गोम्मटसार के टीकाकार ने परमागम [४] तथा श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनन्दिने षट्खंडागम [५] कहा है, और इन ग्रंथों को आगम कहने की बड़ी भारी सार्थकता भी है । सिद्धान्त और आगम यद्यपि साधारणत: पर्यायवाची गिने जाते हैं, किन्तु निरुक्ति और सूक्ष्मार्थ की दृष्टि से उनमें भेद है। कोई भी निश्चित या सिद्ध मत सिद्धान्त कहा जा सकता है, किन्तु आगम वही सिद्धान्त कहलाता है

---

१ तदो एयं खंडसिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति। (पृ. ७१)
इदं पुण जीवट्ठाणं खंडसिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं पढमखंडं जीवट्ठाणमिदि। (पृ. ७४)

२ आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो। (पृ. २०.) आगम: सिद्धान्त:। (पृ.२९.)
कृतान्तागम-सिद्धान्त-ग्रंथा: शास्त्रमत: परम ॥ (धनंजय-नाममाला ४)

३. ण उ बुज्झिउ आयमु सद्दधामु। सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम ॥ (महापु. १, ९, ८.)

४. एवं विंशतिसंख्या गुणस्थानाद्य: प्ररूपणा: भगवदर्हद्गणधरशिष्य-प्रशिष्यादिगुरुपर्वागतया परिपाट्या अनुक्रमेण भणिता: परमागमे पूर्वाचार्यै: प्रतिपादिता: (गो.जी.टी. २१.) परमागमे निगोदजीवानां द्वैविध्यस्य सुप्रसिद्धत्वात्। (गो.जी.टी. ४४२)

५. षट्खंडागम रचनाभप्रायं पुष्पदन्तगुरो: ॥ १३७ ॥ षट्खंडागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्य: ॥ १३८ ॥ षट्खंडागमपुस्तकमहो मया चिंतितं-कार्यम् ॥ १४६ ॥ एवं षट्खंडागम सूत्रोत्पत्तिं प्ररूप्य पुनरधुना ॥ १४९ ॥ षट्खंडागमगत-खंड-पंचकस्य पुन: ॥ १६८ ॥

जो आप्तवाक्य है और पूर्व-परम्परा से आया है [१]। इस प्रकार सभी आगम को सिद्धान्त कह सकते हैं किन्तु सभी सिद्धान्त आगम नहीं कहला सकते। सिद्धान्त सामान्य संज्ञा है और आगम विशेष।

इस विवेचन के अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ पूर्णरूप से आगम सिद्धान्त ही है। धरसेनाचार्य ने पुष्पदन्त और भूतबलि को वे ही सिद्धान्त सिखाये जो उन्हें उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्राप्त हुए और जिनकी परम्परा महावीरस्वामी तक पहुंचती है। पुष्पदन्त और भूतबलि ने भी उन्हीं आगम सिद्धान्तों को पुस्तकारूढ किया और टीकाकार ने भी उनका विवेचन पूर्व मान्यताओं और पूर्व आचार्यों के उपदेशों के अनुसार ही किया है जैसा कि उनकी टीका में स्थान स्थान पर प्रकट है [२]। आगम की यह भी विशेषता है कि उसमें हेतुवाद नहीं चलता [३], क्योंकि, आगम अनुमान आदि की अपेक्षा नहीं रखता किन्तु स्वयं प्रत्यक्ष के बराबर का प्रमाण माना जाता है [४]।

पुष्पदन्त व भूतबलि की रचना तथा उस पर वीरसेन की टीका इसी पूर्व परम्परा की मर्यादा को लिये हुए है इसीलिये इन्द्रनन्दिने उसे आगम कहा है और हमने भी इसी सार्थकता को मान देकर इन्द्रनन्दि द्वारा निर्दिष्ट नाम षट्खंडागम स्वीकार किया है।

१. जीवट्ठाण-

षट्खंडों में प्रथम खंड का नाम 'जीवट्ठाण' है। उसके अन्तर्गत १ सत्, २ संख्या, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाव और ८ अल्पबहुत्व, ये आठ अनुयोगद्वार तथा १ प्रकृति, समुत्कीर्तना, २ स्थानसमुत्कीर्तना, ३-५ तीन महादण्डक, ६ जघन्य स्थिति, ७ उत्कृष्ट स्थिति, ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति और ९ गति-आगति ये नौ चूलिकाएं है। इस खंड का

---

१ राद्ध-सिद्ध-कृतेभ्योऽन्त आप्तोक्तिः समयागमौ (हमै २, १५६) पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहते.। द्योतकः सर्वभावनामाप्तव्याहृतिरागमः। (धवला अ. ७१६)

२ 'भूयसामाचार्याणामुपदेशाद्वा तदवगतेः' (१९७) 'किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात्' (२०६) 'जिणा ण अण्णहावाइणो' (२२१) 'आइरियपरंपराए णिरंतरमागयाणं आइरिएहि पोत्थेसु चडावियाणं असुत्तत्तणविरोहादो' (२२१) 'प्रतिपादकार्षोपलंभात्' (२३९) 'आर्षात्तदवगतेः (२५८) 'प्रवाहरूपेणापौरुषेयत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तारः (३४९)

३ 'किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् (२०६)

४ सुदकेवलं च णाणं दोण्णि वि सरिणाणि होंति बोहादो। सदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं॥ गो. जी. ३६९.

परिमाण धवलाकार ने अठारह हजार पद कहा है (पृ. ६०)। पूर्वोक्त आठ अनुयोग द्वारों और नौ चूलिकाओं में गुणस्थानों और मार्गणाओं का आश्रय लेकर यहां विस्तार से वर्णन किया गया है।

२. खुद्दाबंध-

दूसरा खंड खुद्दाबंध (क्षुल्लकबंध) है। इसके ग्यारह अधिकार हैं, १ स्वामित्व, २ काल, ३ अन्तर, ४ भंगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्शनानुगम, ८ नाना-जीव-काल, ९ नाना-जीव-अन्तर, १० भागाभागानुगम और ११ अल्पबहुत्वानुगम। इस खंड में इन ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा कर्मबन्ध करने वाले जीव का कर्मबन्ध के भेदों सहित वर्णन किया गया है।

यह खंड अ. प्रति के ४७५ पत्र से प्रारम्भ होकर ५७६ पत्रपर समाप्त हुआ है।

३. बंधस्वामित्वविचय-

तीसरे खंड का नाम बंधस्वामित्वविचय है। कितनी प्रकृतियों का किस जीव के कहां तक बंध होता है, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियों की किस गुणस्थान में व्युच्छित्ति होती है, स्वोदय बंधरूप प्रकृतियां कितनी हैं और परोदय बंधरूप कितनी हैं, इत्यादि कर्मबंधसंबन्धी विषयों का बंधक जीव की अपेक्षा से इस खंड में वर्णन है।

४. वेदना -

यह खंड अ. प्रति के ५७६ वें पत्र से प्रारम्भ होकर ६६७ वें पत्र पर समाप्त हुआ है। चौथे खंड का नाम वेदना है। इसके आदि में पुन: मंगलाचरण किया गया है। इसी खंड के अन्तर्गत कृति और वेदना अनुयोगद्वार हैं। किंतु वेदना के कथन की प्रधानता और अधिक विस्तार के कारण इस खंड का नाम वेदना रक्खा गया है [१]।

कृति में औदारिकादि पांच शरीरों की संघातन और परिशातनरूप कृति का तथा भव के प्रथम और अप्रथम समय में स्थित जीवों के कृति, नोकृति और अवक्तव्यरूप संख्याओं का वर्णन है। १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ गणना, ५ ग्रंथ, ६ करण और ७ भाव, ये कृति के सात प्रकार हैं, जिनमें से प्रकृत में गणनाकृति मुख्य बतलाई गई है।

---

१ कदि-पास-कम्म-पयाडे-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खंडगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? संखेवेण परुवणादो।

वेदना में १ निक्षेप, २ नय, ३ नाम, ४ द्रव्य, ५ क्षेत्र, ६ काल, ७ भाव, ८ प्रत्यय, ९ स्वामित्व, १० वेदना, ११ गति, १२ अनन्तर, १३ सन्निकर्ष, १४ परिमाण, १५ भागा-भागानुगम और १६ अल्पबहुत्वानुगम, इन सोलह अधिकारों के द्वारा वेदना का वर्णन है।

इस खंड का परिमाण सोलह हजार पद बतलाया गया है। यह समस्त खंड अ. प्रति के ६६७ वें पत्र से प्रारम्भ होकर ११०६ वें पत्रपर समाप्त हुआ है, जहां कहा गया है -

एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयाणाखंडं समत्ता (खंडो समत्तो)।

५ वर्गणा -

पांचवे खंड का नाम वर्गणा है। इसी खंड में बंधनीय के अन्तर्गत वर्गणा अधिकार के अतिरिक्त स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन का पहल भेद बंध, इन अनुयोगद्वारों का भी अन्तर्भाव कर लिया गया है।

स्पर्श में निक्षेप, नय आदि सोलह अधिकारों द्वारा तेरह प्रकार के स्पर्शो का वर्णन करके प्रकृत में कर्म-स्पर्श से प्रयोजन बतलाया है।

कर्म में पूर्वोक्त सोलह अधिकारों द्वारा १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ प्रयोग, ५ समवधान ६ अध., ७ ईर्यापथ, ८ तप, ९ क्रिया और १० भाव, इन दश प्रकार के कर्मो का वर्णन है।

प्रकृति में शील और स्वभाव को प्रकृति के पर्यायवाची बताकर उसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार भेदों में से कर्म-द्रव्य-प्रकृति का पूर्वोक्त १६ अधिकारों द्वारा विस्तार से वर्णन किया गया है।

इस खंड का प्रधान अधिकार बंधनीय है, जिसमें २३ प्रकार की वर्णणाओं का वर्णन और उनमें से कर्मबन्ध के योग्य वर्गणाओं का विस्तार से कथन किया है।

यह खंड अ. प्रति के ११०६ वें पत्र से प्रारम्भ होकर १३३१ वें पत्र पर समाम हुआ है और वहां कहा है -

एवं विस्ससोवचय-परूवणाए समत्ताए बाहिरिय-वग्गणा समत्ता होदि।

६. महाबंध -

इन्द्रनन्दिने श्रुतावतार में कहा है कि भूतबलिने पांच खंडों के पुष्पदन्त विरचित सूत्रों - सहित छह हजार सूत्र रचने के पश्चात् महाबंध नामके छठवें खंड की तीस हजार

श्लोक प्रमाण रचना की[१]। धवला में जहां वर्गणाखंड समाप्त हुआ है वहां सूचना की गई है कि -

'जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं, पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि। एदेसिं चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलि-भडारएण महाबंधे सप्पवंचेण लिहिदं ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदि'।(धवला क. १२५९-१२६०)

अर्थात् बंधविचार चार प्रकार का है, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। इन चारों प्रकार के बंधों का विधान भूतबलि भट्टारक ने महाबंध में सविस्तररूप से लिखा है, इस कारण हमने (वीरसेनाचार्य ने) उसे यहां नहीं लिखा। इस प्रकार से समस्त महाबंध के यहां प्ररूपण हो जाने पर बंधविधान समाप्त होता है।

ऐसा ही एक उल्लेख जयधवला में भी पाया जाता है जहां कहा गया है कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध का वर्णन विस्तार से महाबंध में प्ररूपित है और उसे वहां से देख लेना चाहिये, क्योंकि, जो बात प्रकाशित हो चुकी है उसे पुन: प्रकाशित करने में कोई फल नहीं। यथा -

सो पुण पयडिट्ठिदिअणुभागपदेसबंधो बहुसो परूविदो। (चूर्णिसूत्र) सो उण गाहए पुव्वद्धम्मि णिलीणो पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेस-विसओ बंधो बहुसो गंथंतरेसु परूविदो त्ति तत्थेव वित्थरो दट्ठव्वो, ण एत्थ पुणो परूविज्जदे, पयासियपयासणे फलविसेसाणुवलंभादो। तदो महाबंधा - णुसारेणेत्थ पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधेसु विहासियसमत्तेसु तदो बंधो समत्तो होई। जयध.अ.५४८

इससे इन्द्रनन्दि के कथन की पुष्टि होती है कि छठवां खंड स्वयं भूतबलि आचार्य द्वारा रचित सविस्तर पुस्तकारूढ है।

सत्कर्म-पाहुड-

किंतु इन्दनन्दिने श्रुतावतार में आगे चलकर कहा है कि वीरसेनाचार्य ने एलाचार्य से सिद्धान्त सीखने के अनन्तर निबन्धनादि अठारह अधिकारों द्वारा सत्कर्म नामक छठवें

१. तेन तत: परिपठितां भूतबलि: सत्प्ररूपणां श्रुत्वा। षट्खंडागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरो: ॥ १३७॥
विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य तत:। द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकार: खंडपंचकस्यान्वक् ॥१३८॥
सूत्राणि षट्सहस्रग्रंथान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महाबंधाह्वयं तत: षष्ठकं खंडम् ॥ १३९ ॥
त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रंथं व्यरचयदसौ महात्मा। इन्द्र, श्रुतावतार,

खंड का संक्षेप से विधान किया और इस प्रकार छहों खंडों की बहत्तर हजार ग्रंथप्रमाण धवला टीका रची गई । (देखो ऊपर पृ. ३८)

धवला में वर्गणाखंड की समाप्ति तथा उपर्युक्त भूतबलिकृत महाबंध की सूचना के पश्चात् निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीर्घ-ह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्म, निधत-अनिधत्त, निकाचित-अनिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिमस्कंध और अल्पबहुत्व, इन अठारह अनुयोगद्वारों का कथन किया गया है और इस समस्त भाग को चूलिका कहा है । यथा -

एत्तो उवरिम-गंथो चूलिया णाम ।

इन्द्रनन्दि के उपर्युक्त कथनानुसार यही चूलिका संक्षेप से छठवां खंड ठहरता है, और इसका नाम सत्कर्म प्रतीत होता है, तथा इसके सहित धवला षट्खंडागम ७२ हजार श्लोक प्रमाण सिद्ध होता है । विबुध श्रीधर के मतानुसार वीरसेनकृत ७२ हजार प्रमाण समस्त धवला टीका का नाम सत्कर्म है । यथा -

अत्रान्तरे एलाचार्यभट्टारकपार्श्वे सिद्धान्तद्वयं वीरसेननामा मुनि: पठित्वाऽपराणयपि अष्टादशा धिकाराणि प्राप्त पंच-खंडे षट्-खंडं संकल्प्य संस्कृतप्राकृतभाषया सत्कर्मनामटीकां द्वासमतिसहस्रप्रमितां धवलनामांकितां लिखाप्य विशंतिसहस्रकर्मपाभृतं विचार्य वीरसेनो मुनि: स्वर्गयास्यति । (विबुध श्रीधर. श्रुतावतार मा ग्रं.मा. २१, पृ.३१८)

दुर्भाग्यत महाबंध (महाधवल) हमें उपलब्ध नहीं है, इस कारण महाबंध और सत्कर्म नामों की इस उलझन को सुलझाना कठिन प्रतीत होता है । किन्तु मूडविद्री में सुरक्षित महाधवल का जो थोड़ा सा परिचय उपलब्ध हुआ है उससे ज्ञात होता है कि वह ग्रंथ भी सत्कर्म नाम से है और उस पर एक पंचिकारूप विवरण है जिसके आदि में ही कहा गया है -

'वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं । ...... चोव्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेदणाखंडम्हि पुणो फ ास (कम्म-पयडि-बंधणाणि) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि, पुणो बंधविधाणणामणियोगो [१] खुद्दाबंधम्हि सप्पवंचेण परूविदाणि । तो वि तस्सइगंभीरत्तादो अत्थ-विसम पदाणमत्थे थोरुद्धणेय (?) पंचियसरूवेण भणिस्सामो ।

(वीरवाणी सि.म.रिपोर्ट, १९३५)

१. यहाँ पाठ में कुछ त्रुटि जान पड़ती है, क्योंकि, धवला के अनुसार खुद्दाबंध से बंधक का वर्णन है और बंधविधान महाबंध का विषय है ।

इसका भावार्थ यह है कि महाकर्मप्रकृति पाहुड के चौबीस अनुयोग में से कृति और वेदना का वेदना खंड में, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधन के बंध और बंधनीय का वर्गणा-खंड और बंधविधान नामक अनुयोद्वार का खुद्दाबंध में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। इनसे शेष अठारह अनुयोगद्वार सब सत्कर्म में प्ररूपित किये गये हैं। तो भी उनके अतिगंभीर होने से उसके विषम पदों का अर्थ संक्षेप में पंचिकारूप से यहां कहा जाता है।

इससे जान पड़ा कि महाधवल का मूलग्रंथ संतकम्म (सत्कर्म) नामका है और उसमें महाकर्मप्रकृतिपाहुड के चौबीस अनुयोग द्वारों में से वेदना और वर्गणाखंड में बर्णित प्रथम छह को छोड़कर शेष निबंधनादि अठारह अनुयोगद्वारों का प्ररूपण है।

पहाधवल या सत्कर्म की उक्त पंचिका कब की और किसकी है ? संभवत: यह वही पंचिका है जिसको इन्द्रनन्दिने समन्तभद्रसे भी पूर्व तुम्बुलूराचार्यद्वारा सात हजार श्लोक प्रमाण विरचित कहा है। (देखो ऊपर पृ. ४९)

किंतु जयधवला में एक स्थान पर स्पष्ट कहा गया है कि सत्कर्म महाधिकार में कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वार प्रतिबद्ध हैं और उनमें उदय नामक अर्थाधिकार प्रकृति सहित स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य व अजघन्य उदय के प्ररूपण में व्यापार करता है। यथा -

संतकम्ममहाहियारे कदि-वेदणादि-चउवीसमणियोगद्दारेसु पडिबद्धेसु उदओ णाम अथाहियारो ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणं पयडिसमण्णियाणमुक्कस्साणुक्कस्स-जहण्णाजहण्णुदयपरूवणे य ववारो। जयध. अ. ५१२.

इससे जाना जाता है कि कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वारा का ही समष्टि रूप से सत्कर्म महाधिकार नाम है और चूंकि ये चौबीस अधिकार तीसरे अर्थात् बंधस्वामित्वविचय के पश्चात् क्रम से वर्णन किये गये हैं, अत: उस समस्त विभाग अर्थात् अन्तिम तीन खंडों का नाम संतकम्म या सत्कर्मपाहुड महाधिकार है।

किन्तु, जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, इन्हीं चौबीस अनुयोग द्वारों से जीवट्ठाण के थोड़े से भाग को छोड़कर शेष समस्त षट्खंडागम की उत्पत्ति हुई है। अत: जयधवला के उल्लेख पर से इस समस्त ग्रंथ का नाम भी सत्कर्म महाधिकार सिद्ध होता है। इस अनुमान की पुष्टि प्रस्तुत ग्रंथ के दो उल्लेखों से अच्छी तरह हो जाती है। पृ. २१७ पर कषायपाहुड और सत्कर्मपाहुड के उपदेश में मतभेद का उल्लेख किया गया है। यथा -

'एसो संतकम्म-पाहुड-उवएसो । कसायपाहुड-उवरसो पुण ......

आगे चलकर पृष्ठ २२१ पर शंका की गई कि इनमें से एक वचन सूत्र और दूसरा असूत्र होना चाहिये और यह संभव भी है, क्योंकि, ये जिनेन्द्र वचन नहीं हैं किन्तु आचार्य के वचन हैं । इसका समाधान किया गया है कि नहीं, सत्कर्म और कषायपाहुड दोनों ही सूत्र हैं, क्योंकि उनमें तीर्थकरद्वारा कथित, गणधर द्वारा रचित तथा आचार्य परंपरा से आगत अर्थ का ही ग्रंथन किया गया है । यथा -

'आइरियकहियाणं संतकम्म-कसाय-पाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे ण . (पृ. २२१)

यहां स्पष्टत: कषाय पाहुड के साथ सत्कर्मपाहुड से प्रस्तुत समस्त षट्खंडागम से ही प्रयोजन हो सकता है और यह ठीक भी है, क्योंकि, पूर्वो की रचना में उक्त चौबीस अनुयोगद्वारों का नाम महाकर्मप्रकृतिपाहुड है । उसी का धरसेन गुरु ने पुष्पदन्त भूतबलि द्वारा उद्धार कराया है, जैसा कि जीवट्ठाण के अन्त व खुद्धाबंध के आदि की एक गाथा से प्रकट होता है -

जयउ धरसेणणाहो जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो ।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयंतस्स ।। (धवला अ. ४७५)

महाकर्मप्रकृति और सत्कर्म संज्ञाएं एक ही अर्थ की द्योतक हैं । अत: सिद्ध होता है कि इस समस्त षट्खंडागम का नाम सत्कर्मप्राभृत है । और चूंकि इसका बहुभाग धवला टीका में ग्रथित है, अत: समस्त धवला को भी सत्कर्मप्राभृत कहना अनुचित नहीं । उसी प्रकार महाबंध या निबन्धनादि अठारह अधिकार भी इसी के एक खंड होने से सत्कर्म कहे जा सकते हैं । और जिस प्रकार खंड विभाग की दृष्टि से कृतिका वेदना खंड में, और स्पर्श, कर्म, प्रकृति तथा बंधन के प्रथम भेद बंध का वर्गणाखंड में अन्तर्भाव कर लिया गया है , उसी प्रकार निबन्धनादि अठारह अधिकारों का महाबंध नामक खंड में अन्तर्भाव अनुमान किया जा सकता है जिससे महाधवलान्तर्गत उक्त पंचिका के कथन की सार्थकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि, सत्कर्म का एक विभाग होने से वह भी सत्कर्म कहा जा सकता है ।

सत्कर्मप्राभृत व षट्खंडागम तथा उसकी टीका धवला की इस रचना को देखने से ज्ञात होता है कि उसके मुख्यत: दो विभाग हैं । प्रथम विभाग के अन्तर्गत जीवट्ठाण, खुद्दाबंध व बंध स्वामित्वविचय हैं । इनका मंगलाचरण, श्रुतावतार आदि एक ही बार जीवट्ठाण, खुद्दाबंध के आदि में किया गया है और उन सबका विषय भी जीव या बंधक की

मुख्यता से है। जीवट्ठाण में गुणस्थान और मार्गणाओं की अपेक्षा सत्, संख्या आदि रूप से जीवतत्व का विचार किया गया है। खुद्दाबंध में सामान्य की अपेक्षा बंधक, और बंधस्वामित्वविचय में विशेष की अपेक्षा बंधक का विवरण है।

दूसरे विभाग के आदि में पुन: मंगलाचरण व श्रुतावतार दिया गया है, और उसमें यथार्थत: कृति, वेदना आदि चौबीस अधिकारों का क्रमश: वर्णन किया गया है और इस समस्त विभाग में प्रधानता से कर्मो की समस्त दशाओं का विवरण होने से उसकी विशेष संज्ञा सत्कर्मप्राभृत है। इन चौबीसों में से द्वितीय अधिकार वेदना का विस्तार से वर्णन किये जाने के कारण उसे प्रधानता प्राप्त हो गई और उसके नाम से चौथा खंड खड़ा हो गया। बंधन के तीसरे भेद बंधनीय में वर्गणाओं का विस्तार से वर्णन आया और उसके महत्व के कारण वर्गणा नाम का पांचवां खंड हो गया। इसी बंधन के चौथे भेद बंधविधान के खूब विस्तार से वर्णन किये जाने के कारण उसका महाबंध नामक छठवां खंड बन गया और शेष अठारह अधिकार उन्हीं के आजूबाजू की वस्तु रह गये।

धवला की रचना के पश्चात् उसके सबसे बड़े पारगामी विद्वान् नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने इन दो ही विभागों को ध्यान में रखकर जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड की रचना की, ऐसा प्रतीत होता है। तथा उसके छहों खंडों का ख्याल करके उन्होंने गर्व के साथ कहा है कि 'जिस प्रकार एक चक्रवर्ती अपने चक्र के द्वारा छह खंड पृथिवी को निर्विघ्नरूप से अपने वश में कर लेता है, उसी प्रकार अपने मति रूपी चक्र द्वारा मैंने छह खंड सिद्धान्त का सम्यक प्रकार से साधन कर लिया' -

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं॥ ३९७॥ गो.क.

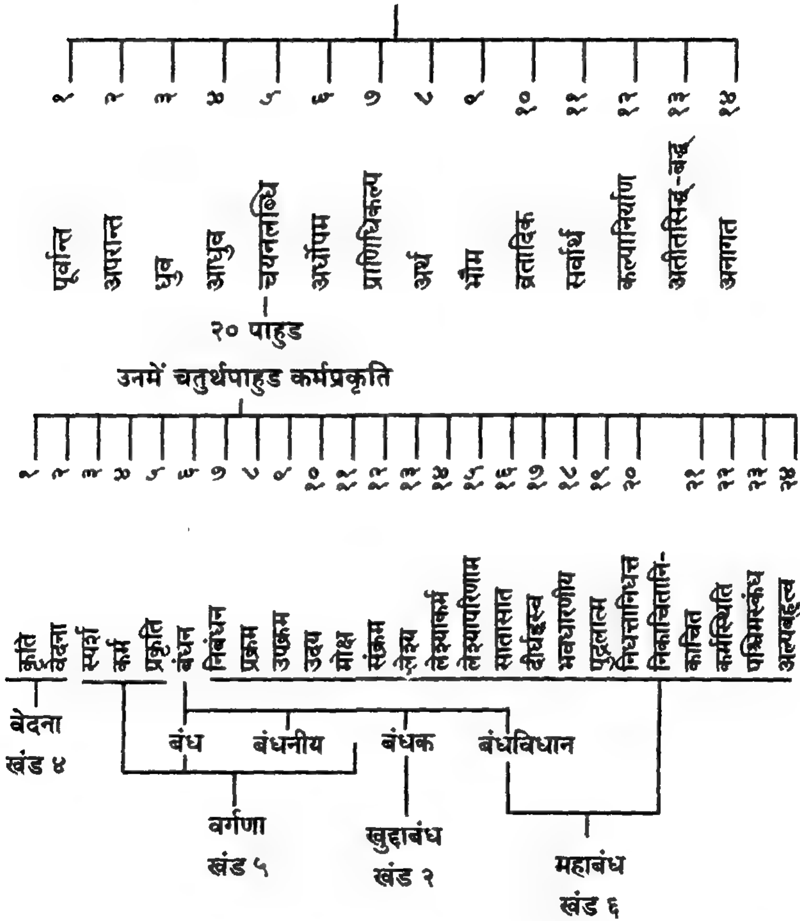
इससे आचार्य नेमिचंद्र को सिद्धान्तचक्रवर्ती का पद मिल गया और तभी से उक्त पूरे सिद्धान्त के ज्ञाता को इस पदवी से विभूषित करने की प्रथा चल पड़ी। जो इसके केवल प्रथम तीन खंडों में पारंगत होते थे, उन्हें ही जान पड़ता है, त्रैविद्यदेव का पद दिया जाता था। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में अनेक मुनियों के नाम इन पदवियों से अलंकृत पाये जाते हैं। इन उपाधियों ने वीरसेन से पूर्व की सूत्राचार्य, उच्चारणाचार्य, व्याख्यानाचार्य, निक्षेपाचार्य व महावाचक की पदवियों का सर्वथा स्थान ले लिया। किंतु थोड़े ही काल में गोम्मटसारने इन सिद्धान्तों का भी स्थान ले लिया और उनका पठन-पाठन सर्वथा रूक गया। आज कई शताब्दियों के पश्चात् इनके सुप्रचार का पुन: सुअवसर मिल रहा है।

षट्खंडागम का द्वादशांग से सम्बंध-

दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार षट्खंडागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रंथ हैं जिनका सीधा सम्बंध महावीर स्वामी की द्वादशांग वाणी से माना जाता है। शेष सब श्रुतज्ञान इससे पूर्व ही क्रमशः लुप्त व छिन्न भिन्न हो गया। द्वादशांग श्रुत का प्रस्तुत ग्रंथ में विस्तार से परिचय कराया गया है (पृ.९९ से)। इनमें से बारहवें अंग को छोड़कर शेष सब ही नामों की अंग-ग्रंथ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अब भी पाये जाते हैं। इन ग्रंथों की परम्परा क्या है और उनका विषय विस्तारादि दिगम्बर मान्यता के कहां तक अनुकूल प्रतिकूल है इसका विवेचन आगे के किसी खंड में किया जायेगा, जहां केवल यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो ग्यारह अंग श्वेताम्बर साहित्य में हैं वे दिगम्बर साहित्य में नहीं हैं और जिस बारहवें अंग का श्वेताम्बर साहित्य में सर्वथा अभाव है वही दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग प्रस्तुत सिद्धान्त ग्रंन्थों का उद्गमस्थान है।

बारहवें दृष्टिवाद के अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पांच प्रभेद हैं। इनमें से पूर्वगत के चौदह भेदों में के द्वितीय आग्रयणीय पूर्व से ही जीवट्ठाण का बहुभाग और शेष पांच खंड संपूर्ण निकले हैं जिनका क्रमभेद अगले पृष्ठों पर दिये वंशवृक्षों से स्पष्ट हो जायेगा।

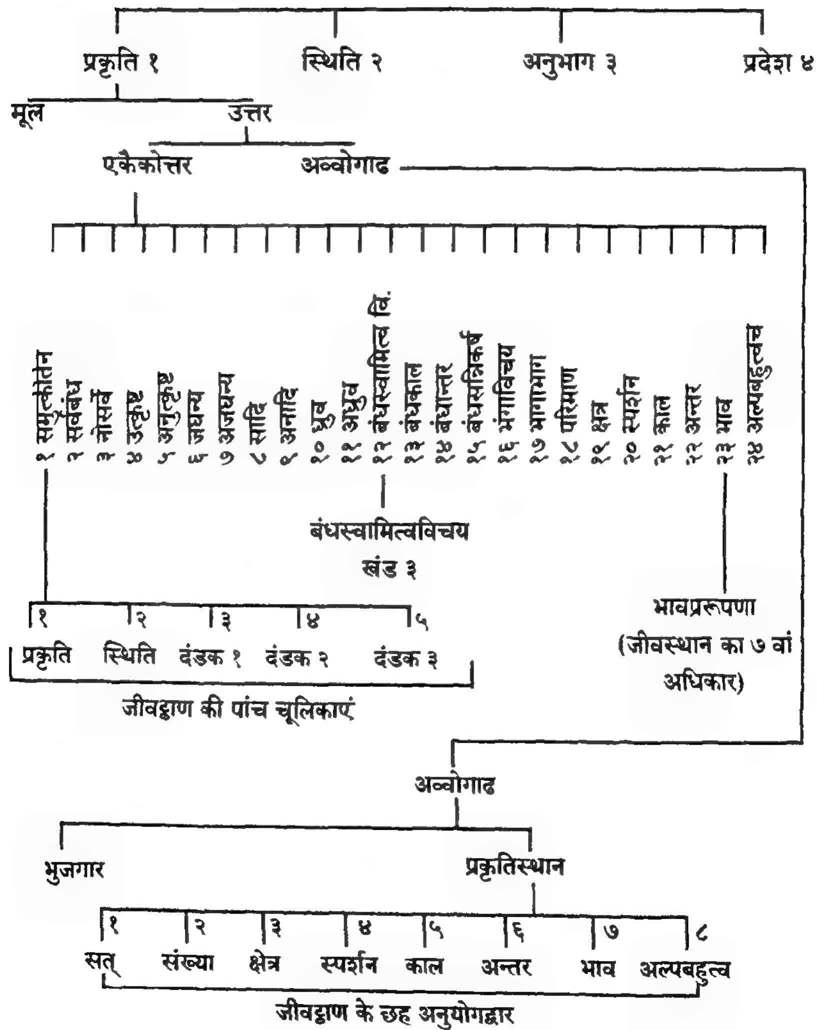
१. बारहवें अंग दृष्टिवाद के चतुर्थ भेद पूर्वगत का द्वितीय भेद आग्रायणीय पूर्व.

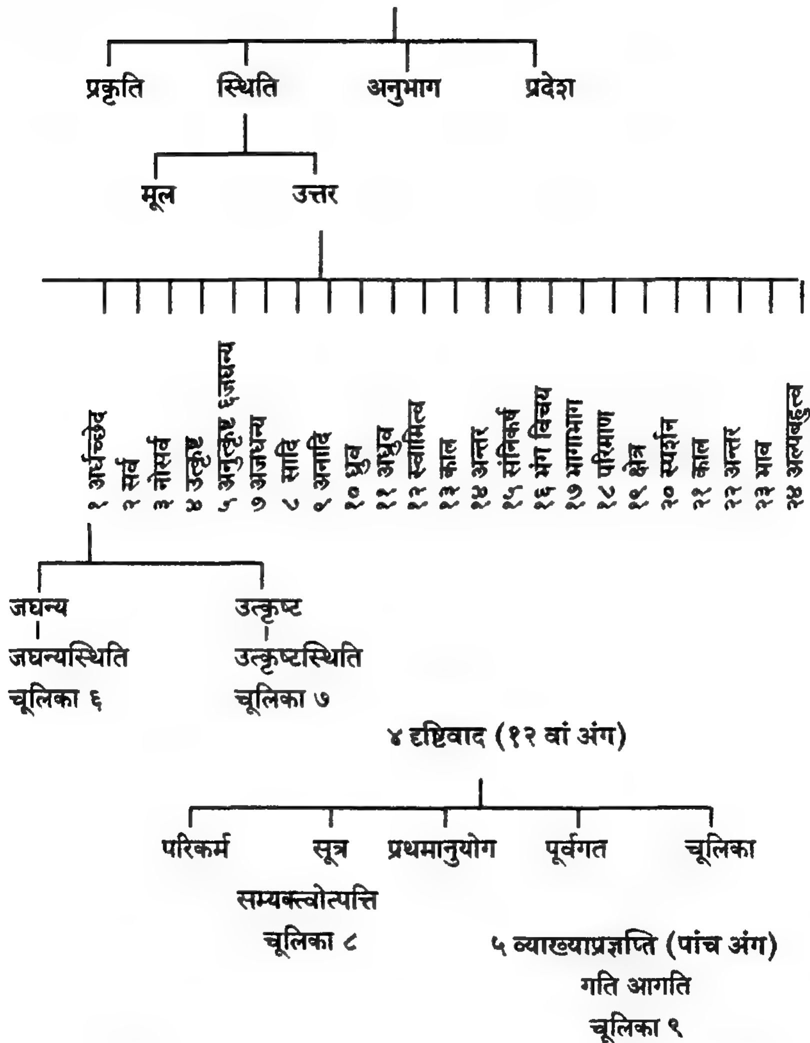


इस वंशवृक्ष से स्पष्ट है कि आग्रयणीय पूर्व के चयनलब्धि अधिकार के चतुर्थ भेद कर्म प्रकृति पाहुड के चौबीस अनुयोगद्वारों से ही चार खंड निष्पन्न हुए हैं। इन्हीं के बंधन अनुयोग द्वार के एकभेद बंधविधान से जीवट्ठाण का बहुभाग और तीसरा खंड बंधस्वामित्वविचय किस प्रकार निकले यह आगे के वंश वृक्षों से स्पष्ट हो जायगा।

बंधक के ११ अनुयोगद्वारों में पांचवां द्रव्यप्रमाणानुगम है वही जीवट्ठाण की संख्या प्ररूपणा का उद्गमस्थान है।

२. बंधविधान





इन वंश-वृक्षों से षट्खंडागम का द्वादशांगश्रुत से सम्बंध स्पष्ट हो जाता है और साथ ही साथ उस द्वादशांग वाणी के साहित्य के विस्तार का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है।

गुरुदिणयरु गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पा परहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥

षट्. १

जीवट्ठाण

- सत्प्ररूपणा
- द्रव्यप्रमाणानुगम प्ररूपणा।
- क्षेत्र, स्पर्श और कालानुगम प्ररूपणा
- अंतिम तीन प्ररूपणाएँ
- जीवट्ठाण की चूलिका

षट्खंडागम पु.क्र. १, २, ३, ४, ५, ६, की प्रस्तावना
(पृष्ठ ७४ से पृष्ठ ८८ तक)

सत्प्ररूपणा का विषय (पु.१ अ)

प्रस्तुत ग्रंथ में ही जीवट्ठाण की उत्थानिका में कहा गया है कि धरसेन गुरु से सिद्धान्त सीखकर पुष्पदन्ताचार्य बनवास देश को गये और वहां उन्होंने 'विंशति' सूत्रों की रचना करके और उन्हें जिनपालित को पढ़ाकर भूतबलि आचार्य, जो द्रमिल देश को चले गये थे, के पास भेजा। भूतबलि ने उन सूत्रों को देखा और तत्पश्चात् द्रव्यप्रमाण से प्रारम्भ करके शेष समस्त षट्खंडागम की सूत्र-रचना की। इससे स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणा के कुल सूत्र पुष्पदन्ताचार्य के बनाये हुए हैं। किन्तु उन सूत्रों की संख्या विंशति अर्थात् बीस नहीं परन्तु एक सौ सतत्तर है, तब प्रश्न उपस्थित होता है कि पुष्पदन्त के बनाये हुए बीस सूत्र कहने से धवलाकार का तात्पर्य क्या है ? धवलाकार ने सत्प्ररूपणा के सूत्रों का विवरण समाप्त होने के अन्तर जो ओघालाप प्रकरण लिखा है वह बीस प्ररूपणाओं को ध्यान में रखकर ही लिखा गया है। और इस सिद्धान्त का जो सार नेमिचंद्र सि च. ने गोम्मटसार जीवकाण्ड में संगृहीत किया है वह भी उन बीस प्ररूपणाओं के अनुसार ही है। वे बीस प्ररूपणाएं गोम्मटसार के शब्दों में इस प्रकार है -

गुणेजीवा [१] पज्जती [१] पाणा [१] सण्णा [१] य मग्गणाओ य।
उवओगो [१] वि य कमसो बीसं तु परूवणा भणिया ॥२॥

अर्थात् गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राणा, संज्ञा, चौदह मार्गणाएं और उपयोग ये बीस प्ररूपणाएं हैं।

अतएव विंशति सूत्र से इन्हीं बीस प्ररूपणाओं का तात्पर्य ज्ञात होता है। इन बीसों प्ररूपणाओं का विषय यहां चौदह गुणास्थानों और चौदह मार्गणाओं के भीतर आ जाता है।

राग, द्वेष व मिथ्यात्व भावों को मोह कहते हैं, और मन, वचन व कार्य के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों के चंचल होने को योग कहते हैं, और इन्हीं मोह और योग के निमित्त से दर्शन ज्ञान और चरित्र रूप आत्म गुणों की क्रम विकास रूप अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

ऐसे गुणस्थान चौदह हैं- १. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरतसम्यग्दृष्टि, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तविरत, ७. अप्रमत्तविरत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसाम्पराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगकेवली और १४. अयोगकेवली।

१. मिथ्यात्व अवस्था में जीव अज्ञान के वशीभूत होता है और इसका कारण दर्शन मोहनीय कर्म का उदय है। सासादन और मिश्र मिथ्यात्व और सम्यग्दृष्टि के बीच की अवस्थाएं हैं। चौथे गुणस्थान में सम्यकत्व हो जाता है किन्तु चारित्र नहीं सुधरता। देशविरत का चारित्र थोड़ा सुधरता है, प्रमत्तविरत का चारित्र पूर्ण तो होता है, किन्तु परिणामों की अपेक्षा अप्रमत्तविरत से चारित्र की क्रम से शुद्धि व वृद्धि होती जाती है। ग्यारहवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय का उपशम हो जाता है और बारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीय के क्षय से उत्पन्न होता है। तेरहवें गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की पूर्णता है किन्तु योगों का सद्भाव भी है। अन्तिम गुणस्थान में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पूर्णता तथा योगों का अभाव हो जाने से मोक्ष हो जाता है।

मार्गणा शब्द का अर्थ खोज करना है। अतएव जिन-जिन धर्मविशेषों से जीवों की खोज या अन्वेषण किया जाय उन धर्मविशेषों को मार्गणा कहते हैं। ऐसी मार्गणाएं चौदह हैं - गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, और आहार।

१. गति चार प्रकार की हैं - नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव।

२. इन्द्रियां द्रव्य और भावरूप होती हैं और वे पांच प्रकार की हैं - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

३. एकेन्द्रिय से पांच इन्द्रियों तक की शरीर रचना को कार्य कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव स्थावर और शेष त्रस कहलाते हैं।

४. आत्मप्रदेशों की चंचलता का नाम योग है इसी से कर्मबंध होता है। योग तीन निमित्तों से होता है - मन, वचन और कार्य।

५. पुरुष, स्त्री व नपुंसकरूप भाव व तद्रूप अवयवविशेष को वेद कहते हैं।

६. जो आत्मा के निर्मल भाव व चारित्र को कषे अर्थात् घात पहुंचाये वह कषाय है। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं।

७. मति, श्रुति, अवधि, मन:पर्यय, केवल, तथा कुमति, कुश्रुति और कुअवधि रूप से ज्ञान आठ प्रकार का होता है।

८. मन व इन्द्रियों की वृत्ति के निरोध का नाम संयम है और यह संयम हिंसादिक पापों की निवृत्ति से प्रकट होता है। सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम, ये संयम के सात भेद हैं।

९. चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये दर्शन के चार भेद हैं।

१०. कषायसे अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति व शरीर के वर्णों का नाम लेश्या है। इसके छह भेद हैं - कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

११. जिस शक्ति के निमित्त से आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण प्रगट होते हैं उसे भव्यत्व कहते हैं। तदानुसार जीव भव्य व अभव्य होते हैं।

१२. तत्वार्थ के श्रद्धान का नाम सम्यक्त्व है, और दर्शनमोह के उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, सम्यग्मिथ्यात्व, सासादन व मिथ्यात्वरूप भावों के अनुसार सम्यक्त्वमार्गणा के छह भेद हो जाते हैं।

१३. मनके द्वारा शिक्षादि के ग्रहण करने को संज्ञा कहते हैं और ऐसी संज्ञा जिसमें हो वह संज्ञी कहलाता है। तदनुसार जीव संज्ञी व असंज्ञी होते हैं।

१४. औदारिक आदि शरीर और पर्याप्ति के ग्रहण करने को आहार कहते हैं। तदनुसार जीव आहारक और अनाहारक होते हैं।

इन चौदह गुणस्थानों और मार्गणाओं का प्ररूपण करने वाले सत्प्ररूपणा के अन्तर्गत १७७ सूत्र हैं जिनका विषयक्रम इस प्रकार है। प्रथम सूत्र में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया है। आगे के तीन सूत्रों में मार्गणाओं का प्रयोजन बतलाया गया है और उनका गति आदि नाम निर्देश किया गया है। ५, ६, और ७ वें सूत्र में मार्गणाओं के प्ररूपण निमित्त आठ अनुयोग द्वारों के जानने की आवश्यकता बताई है और उनके सत्, द्रव्यप्रमाण (संख्या) आदि नामनिर्देश किये हैं। ८ वें सूत्र से इन अनुयोग द्वारों में से प्रथम सत् प्ररूपणा का विवरण प्रारम्भ होता है जिसके आदि में ही ओघ और आदेश अर्थात् सामान्य और विशेष रूप से विषय का प्रतिपादन करने की प्रतिज्ञा करके मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का निरूपण किया है जो ९ वें सूत्र से २३ वें सूत्र तक चला है। २४ वें सूत्र से विशेष अर्थात् गति आदि मार्गणाओं का विवरण प्रारम्भ हुआ है जो अन्त तक अर्थात् १७७ वें सूत्र तक चलता रहा है। गति मार्गणा ३२ वें सूत्र तक हैं। यहां पर नरकादि चारों गतियों के गुणस्थान बतलाकर यह प्रतिपादन किया है कि एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रियतक शुद्ध तिर्यंच होते हैं, संज्ञी मिथ्यादृष्टि से संयतासंयत गुणस्थान तक मिश्र तिर्यंच होते हैं, और इसी प्रकार मनुष्य भी। देव और नारकी असंयत गुणस्थानतक मिश्र अर्थात् परिणामों की अपेक्षा दूसरी तीन गतियों के जीवों के साथ समान होते हैं। प्रमत्तसंयत से आगे शुद्ध मनुष्य होते हैं। ३३वें

सूत्र से ३८ वें तक इन्द्रिय मार्गणा का कथन हैं और उससे आगे ४६ वें सूत्र तक कायका और फिर १०० वें सूत्र तक योग का कथन है। इस मार्गणा में योग के साथ पर्याप्ति अपर्याप्तियों का भी प्ररूपण किया गया है। तत्पश्चात् ११० वें सूत्रतक वेद, ११४ तक कषाय, १२२ तक ज्ञान, १३० तक संयम, १३५ तक दर्शन, १४० तक लेश्यां, १४३ तक भव्य १६१ तक सम्यक्त्व १७४ तक संज्ञी और फिर १७७ तक आहार मार्गणा का विवरण है।

प्रतियों में सूत्रों का क्रमांक दो कम पाया जाता है, क्योंकि, वहां प्रथम मंगलाचरण व तीसरे सूत्र 'तं जहा' की पृथक गणना नहीं की , किन्तु टीकाकार ने स्पष्टत: उनका सूत्ररूप से व्याख्यान किया है, अतएव हमने उन्हें सूत्र गिना है।

टीकाकारने प्रथम मंगलाचरण सूत्र के व्याख्यान में इस ग्रंथ का मंगल, निमित्त, हेतु परिमाण, नाम और कर्ता का विस्तार से विवेचन करके दूसरे सूत्र के व्याख्यान में द्वादशांग का पूरा परिचय कराया है और उसमें द्वादशांग श्रुत से जीवाट्ठाण के भिन्न-भिन्न अधिकारों की उत्पत्ति बतलाई है। चौथे सूत्र के व्याख्यान में गति आदि चौदह मर्गणाओं के नामों की निरुक्ति और सार्थकता बतलाते हुए उनका सामान्य परिचय करा दिया गया है। उसके पश्चात् विषय का खूब विस्तार सहित न्यायशैली से विवेचन किया है। टीकाकार की शैली सर्वत्र प्रश्न उठाकर उनका समाधान करने की रही है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में कोई छह सौ शंकाएं उठाई गई हैं और उनके समाधान किये गये हैं। उदाहरणों, दृष्टान्तों, युक्तियों और तर्कों द्वारा टीकाकार ने विषय को खूब ही छाना है और स्पष्ट किया है, किन्तु ये यव युक्ति और तर्क, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, आगम की मर्यादा को लिए हुए हैं, और आगम ही यहां सर्वोपरि प्रमाण है। टीकाकार द्वारा व्याख्यात विषय की गंभीरता, सूक्ष्मता और तुलनात्मक विवेचना हम अगले खंड में करेंगे जिसमें सत्प्ररूपणा का आलाप प्रकरण भी पूरा हो जावेगा। तब तक पाठक स्वयं सूत्रकार और टीकाकार के शब्दों का स्वाध्याय और मनन करने की कृपा करें।

ग्रंथ की भाषा

प्रस्तुत ग्रंथ रचना की दृष्टि से तीन भागों में बंटा हुआ है। प्रथम पुष्पदन्ताचार्य के सूत्र, दूसरे वीरसेनाचार्य की टीका और तीसरे टीका में स्थान-स्थान पर उद्धृत किये गये प्राचीन गद्य और पद्य। सूत्रों की भाषा आदि से अन्त तक प्राकृत है और इन सूत्रों की संख्या है १७७। वीरसेनाचार्य की टीका का लगभग तृतीय भाग प्राकृत में और शेष भाग संस्कृत में

है। उद्धृत पद्यों की संख्या २१६ है जिनमें १७ संस्कृत में और शेष सब प्राकृत में हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनाचार्य के सन्मुख जो जैन साहित्य उपस्थित था उसका अधिकांश भाग प्राकृत में ही था। किन्तु उनके समय के लगभग, जैन साहित्य में संस्कृत का प्राधान्य हो गया और उनकी टीका में जो संस्कृत-प्राकृत का परिमाण पाया जाता है वह प्राय: उन दोनों भाषाओं की तात्कालिक आपेक्षिक प्रबलता का द्योतक है। इस समय से प्राकृत का बल घट चला और संस्कृत का बढ़ा, यहां तक कि आजकल जैनियों में प्राकृत भाषा के पठन-पाठन की बहुत ही मन्दता है। दिगम्बर समाज के विद्यालयों में तो व्यवस्थित रूप से प्राकृत पढ़ाने की सर्वथा व्यवस्था रही ही नहीं। ऐसी अवस्था में प्रस्तुत ग्रंथ का परिचय कराते समय प्राकृत भाषा का परिचय करा देना भी उचित प्रतीत होता है। प्राकृत साहित्य में प्राकृत भाषा मुख्यत: पांच प्रकार की पाई जाती है - मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश।

मागधी-

महावीर स्वामी के समय में अर्थात् आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जो भाषा मगध प्रांत में प्रचलित थी वह मागधी कहलाती है। इस भाषा का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता। किंतु प्राकृत व्याकरणों में इस भाषा का स्वरूप बतलाया गया है, और कुछ शिलालेखों और नाटकों में इस भाषा के उदाहरण मिलते हैं जिनपर से इस भाषा की तीन विशेषताएं स्पष्ट समझ में आ जाती है -

१. र के स्थान में ल, जैसे, राजा-लाजा, नगर-णगल,

२. श, ष और स के स्थान पर श। जैसे, शम-शम, दासी-दाशी, मनुष-मनुश।

३. संज्ञाओं के कर्ताकारक एकवचन पुल्लिंग रूप में ए। जैसे, देव:-देवे, नर:-णले, उदाहरण -

अले कुंभीलआ ! कहेहि, कहिं तुए एशे मणिबंधणुक्किणणामहेए लाअकीलए अंगुलीअए शमाशादिए। (शकुंतला)

'अरे कुंभीलक ! कह, कहां तूने इस मणिबंध और उत्कीर्ण नाम राजकीय अंगुली को पाया'।

अर्धमागधी-

दूसरे प्रकार की प्राकृत अर्धमागधी इस कारण कहलाई कि उसमें मागधी के

आधे लक्षण पाये जाते हैं और क्योंकि, संभवत: वह आधे मगध देश में प्रचलित थी। इसी भाषा में प्राचीन जैन सूत्रों की रचना हुई थी और इसका रूप अव श्वेताम्बरीय सूत्र-ग्रंथों में पाया जाता है, इसीलिये डा. याकोवी ने इसे जैन प्राकृत कहा है। इसमें ष और स के स्थान पर श न होकर सर्वत्र स ही पाया जाता है, र के स्थान पर ल तथा कर्ता कारक में 'ए' विकल्प से होता है, अर्थात् कहीं होता है और कहीं नहीं होता, और अधिकरण कारक का रूप 'ए' व 'म्मि' के अतिरिक्त 'अंसि' लगाकर भी बनाया जाता है।

उदाहरण :-

कोहाइ माणं हणिया य वीरे लोभस्स पासे निरयं महंतं।

तम्हा हि वीरे विरओ वहाओ छिंदेज्ज सोयं लहुभूयगामी ।। (आचारांग)

क्रोधदि व मान का हनन करके महावीर ने लोभ के महान् पाश को तोड़ डाला। इस प्रकार वीर वध से विरत होकर भूतगामी शोक का छिन्दन करें।

सुसाणंसि वा सुन्नागारेंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलम्मि वा। (आचारांग)

श्मशान में या शून्यागार में या गिरिगुफा में व वृक्ष के मूल में (साधु निवास करे)

ये मागधी की प्रवृत्तियां अर्धमागधी में भी धीरे-धीरे कम होती गई हैं।

शौरसेनी -

प्राचीन शूरसेन अर्थात् मथुरा के आसपास के प्रदेश की भाषा का नाम शौरसेनी है। वैयाकरणों ने इस भाषा का जैसा स्वरूप बतलाया है वैसा संस्कृत नाटकों में कहीं कहीं मिलता है, पर इसका स्वतंत्र साहित्य दिगम्बर जैन ग्रंथों में ही पाया जाता है। प्रवचनसारादि कुंदकुंदाचार्य के ग्रंथ इसी प्राकृत में है। कहा जा सकता है कि यह दिगम्बर जैनियों की मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा है। किन्तु इस भाषा का रूप कुछ विशेषताओं को लिये हुए होने से उसका वैयाकरणों की शौरसेनी से पृथक् निर्देश करने के हेतु उसे 'जैन शौरसेनी' कहने का रिवाज हो गया है। जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, प्रस्तुत ग्रंथ की प्राकृत मुख्यत: यही है।

शौरसेनी की विशेषताएं ये हैं कि उसमें र का ल कदाचित् ही होता है, तीनों सकारों के स्थान पर स ही होता है, और कर्ताकारक पुलिंग एकवचन में ओ होता है। इसकी अन्य विशेषताएं ये हैं कि शब्दों के मध्य में त के स्थान पर द, थ के स्थान पर ध, म के

स्थान पर कहीं-कहीं ह और पूर्वकालिक कृदन्त के रूप संस्कृत प्रत्यय त्वा के स्थान पर त्ता, इअ या दूण होता है। जैसे - सुत: सुदो, भवति-भोदि या होई, कथम्-कधं, कृत्वा-करित्ता, करिअ, करिदूण, आदि। उदाहरण -

रत्तो बंधधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं राग-रहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ।। प्रवच. २, ८७
णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगद-घादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ।। पवच.१.६२.

अर्थात् आत्मा रक्त होकर कर्म बांधता है तथा रागरहित होकर कर्मों से मुक्त होता है। यह जीवों का बंध समास है, ऐसा निश्चय जानो।

घातिया कर्मों से रहित (केवली भगवान्) का सुख ही सुखों में श्रेष्ठ है, ऐसा सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं, और जो भव्य हैं वे उसे मानते हैं।

महाराष्ट्री-

महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन महाराष्ट्र की भाषा है जिसका स्वरूप गाथासप्तशती, सेतुबंध, गउडवह आदि काव्यों में पाया जाता है। संस्कृत नाटकों में जहा प्राकृत का प्रयोग होता है वहां पात्र बातचीत तो शौरसेनी में करते हैं और गाते महाराष्ट्री में हैं, ऐसा विद्वानों का मत है। इसका उपयोग जैनियों ने भी खूब किया है। पउमचरिअं, समराइच्चकहा, सुरसुंदरीचरिअं, पासणाहचरिअं आदि काव्य और श्वेताम्बर आगम सूत्रों के भाष्य, चूर्णी, टीका, आदि की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। पर यहां भी जैनियों ने इधर-उधर से अर्धमागधी की प्रवृत्तियां लाकर उस पर अपनी छाप लगा दी है, और इस कारण इन ग्रंथों की भाषा जैन महाराष्ट्री कहलाती है। जैन महाराष्ट्री में सप्तशती व सेतुबंध आदि की भाषा से विलक्षण आदि व, द्वित्वमें न और लुप्त वर्ण के स्थान पर य श्रुतिका उपयोग हुआ है, जैसा जैन शौरसेनी में भी होता है। महाराष्ट्री के विशेष लक्षण जो उसे शौरसेनी से पृथक करते हैं, ये हैं कि यहां मध्यवर्ती त का लोप होकर केवल उसका स्वर रह जाता है, किंतु वह द में परिवर्तित नहीं होता। उसी प्रकार थ यहां ध में परिवर्तित न होकर ह में परिवर्तित होता है, और क्रिया का पूर्वकालिक रूप उण लगाकर बनाया जाता है। जैन महाराष्ट्री में इन विशेषताओं के अतिरिक्त कहीं-कहीं र का ल व प्रथमान्त ए आ जाता है। जैसे -

जानाति-लाणइ, कथम्-कहं, भूत्वा-होउण, आदि।

उदाहरणार्थ -

सव्वायरेण चलणे गुरुस्स नमिऊण दसरहो राया।

पविसरइ नियय-नयरिं साएयं जण-धणाइण्णं ।।

(पउम. च. ३१, ३८, पृ. १३२.)

अर्थात् सब प्रकार से गुरु के चरणों को नमस्कार करके दशरथ राजा जन-धन-परिपूर्ण अपनी नगरी साकेत में प्रवेश करते हैं।

अपभ्रंश -

क्रम विकास की दृष्टि से अपभ्रंश भाषा प्राकृत का सबसे अन्तिम रूप है, उससे आगे फिर प्राकृत वर्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं का रूप धारण कर लेती है। इस भाषा पर भी जैनियों का प्राय: एकछत्र अधिकार रहा है। जितना साहित्य इस भाषा का अभी-तक प्रकाश में आया है उसमें का कम से कम तीन चौथाई हिस्सा दिगम्बर जैन साहित्य का है। कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि जितनी प्राकृत भाषाएं थीं उन सबका विकसित होकर एक-एक अपभ्रंश बना। जैसे, मागधी अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि। बौद्ध चर्यापदों व विद्यापति की कीर्तिलता में मागधी अपभ्रंश पाया जाता है। किन्तु विशेष साहित्यिक उन्नति जिस अपभ्रंश की हुई वह शौरसेनी महाराष्ट्री मिश्रित अपभ्रंश है, जिसे कुछ वैयाकरणों ने नागर अपभ्रंश भी कहा है, क्योंकि, किसी समय संभवत: वह नागरिक लोगों की बोलचाल की भाषा थी। पुष्पदन्तकृत महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, तथा अन्य कवियों के करकंडचरिउ, भविसयत्तकहा, सणकुमारचरिउ, सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, इसी भाषा के काव्य हैं। इस भाषा को अपभ्रंश नाम वैयाकरणों ने दिया है, क्योंकि वे स्थितिपालक होने से भाषा के स्वाभाविक परिवर्तन को विकाश न समझकर विकार समझते थे। पर इस अपमानजनक नामको लेकर भी यह भाषा खूल फली-फूली और उसी की पुत्रियां आज समस्त उत्तर भारत का काजव्यवहार सम्हाले हुए है।

इस भाषा की संज्ञा व क्रिया की रूपरचना अन्य प्राकृतों से बहुत कुछ भिन्न हो गई है। उदाहरणार्थ, कर्ता व कर्म कारक एकवचन, उकारान्त होता है जैसे, पुत्रो, पुत्रम्-पुतु; पुत्रेण-पुत्ते; पुत्राय, पुत्रात्, पुत्रस्य-पुत्तहु; पुत्रे-पुत्ते, पुत्ति, पुत्तहिं, आदि।

क्रिया में, करोमि-करउं; कुर्वन्ति-करहिं; कुरुथ-करहु, आदि।

इसमें नये-नये छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ जो पुरानी संस्कृत व प्राकृत में नहीं पाये

जाते, किंतु जो हिन्दी गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओं में सुप्रचलित हुए। अन्त-यमक अर्थात् तुकबंदी इन छन्दों की एक बड़ी विशेषता है। दोहा, चौपाई आदि छन्द यहां से ही हिन्दी में आये।

अपभ्रंश का उदाहरण -

सुहु सारउ मणुयत्तणहं तं सुहु धम्मायत्तु।
धम्मु वि रे जिय तं करहि जं अरहंतइं वुत्तु॥

सावयधम्मदोहा ॥ ४ ॥

अर्थात् सुख मनुष्यत्व का सार है और वह सुख धर्म के अधीन है। रे जीव ! वह धर्म कर जो अरहंत का कहा हुआ है।

इन विशेष लक्षणों के अतिरिक्त स्वर और व्यंजन सम्बंधी कुछ विलक्षणताएं सभी प्राकृतों में समान रूप से पाई जाती है। जैसे, स्वरों में ऐ और औ, ऋ और लृ का अभाव और उनके स्थान पर क्रमशः अइ, अउ, अथवा ए, ओ, तथा अ या इ का आदेश; मध्यवर्ती व्यंजनों में अनेक प्रकार के परिवर्तन व उनका लोप, संयुक्त व्यंजनों का असंयुक्त या द्विस्वरूप परिवर्तन, पंचमाक्षर ङ्, ञ् आदि सबके स्थान पर हलन्त अवस्थाा में अनुस्वार व स्वरसहित अवस्था में ण में परिवर्तन। ये परिवर्तन प्राकृत जितनी पुरानी होगी उतने कम और जितनी अर्वाचीन होगी उतनी अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। अपभ्रंश भाषा में ये परिवर्तन अपनी चरम सीमापार पहुंच गये और वहां से फिर भाषा के रूप में विपरिवर्तन हो चला।

इन सब प्राकृतों में प्रस्तुत ग्रंथ की भाषा का ठीक स्थान क्या है इसके पूर्णतः निर्णय करने का अभी समय नहीं आया, क्योंकि, समस्त धवल सिद्धान्त अमरावती की प्रति के १४६५ पत्रों में समाप्त हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ उसके प्रथम ६५ पत्रों मात्र का संस्करण है, अतएव यह उसका बाईसवां अंश है। तथा धवला और जयधवला को मिलाकर वीरसेन की रचना का यह केवल चालीसवां अंश बैठेगा। सो भी उपलभ्य एकमात्र प्राचीन प्रतिकी अभी-अभी की हुई पांचवी छठवीं पीढ़ी की प्रतियों पर से तैयार किया गया है और मूल प्रति के मिलान का सुअवसर भी नहीं मिल सका। ऐसी अवस्था में इस ग्रंथ की प्राकृत भाषा व व्याकरण के विषय में कुछ निश्चय करना बड़ा कठिन कार्य है, विशेषतः जब कि प्राकृतों का भेद बहुत कुछ वर्ण विपर्यय के ऊपर अवलम्बित है।तथापि इस ग्रंथ के सूक्ष्म अध्ययनादि

की सुविधा के लिये व इसकी भाषा के महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने के हेतु उसकी भाषा का कुछ स्वरूप बतलाना यहां अनुचित न होगा।

१. प्रस्तुत ग्रंथ में त बहुधा द में परिवर्तित पाया जाता है, जैसे, सूत्रों में - गदि-गति; चदु-चतुः; वीदराग-वीतराग; मदि-मति, आदि। गाथाओं में - पव्वद-पर्वत; अदीद-अतीत; तदिय-तृतीय, आदि। टीका में - अवदारो - अवतारः; एदे-एते; पदिद-पतित; चिंतिदं-चिंतितम्; संठिदं-संस्थितम् ; गोदम-गौतम, आदि।

किन्तु अनेक स्थानों पर त का लोप भी पाया जाता है, यथा- सूत्रों में - गइ-गति; चउ-चतुः; वीयराय-वीतराग; जोइसिय-ज्योतिष्क; आदि। गाथाओं में - हेऊ-हेतुः; पयई-प्रकृतिः, आदि। टीका में - सम्मइ-सम्मति; चउव्विह-चतुर्विध; सव्घाइ-सर्वघाति; आदि।

क्रिया के रूपों में भी अधिकतः ति या ते के स्थान पर दि या दे पाये जाते हैं। जैसे, (सूत्रों में अस्थि के सिवाय दूसरी कोई क्रिया नहीं है)। गाथाओं में - णयदि-नयति; छिज्जदे-छिद्यते; जाणदि-जानाति; लिंपदि-लिम्पति; रोचेदि-रोचते; सद्दहदि-श्रद्दधाति; कुणदि-करोति; आदि। टीका में - कीरदे, कीरदि-क्रियते; खिवदि-क्षिपति; उच्चदि-उच्यते; जाणदि-जानाति; परूवेदि-प्ररूपयति; वददि-वदति; विरुज्झदे-विरुध्यते; आदि।

किन्तु त का लोप होकर संयोगी स्वरमात्र शेष रहने के भी उदाहरण बहुत मिलते हैं यथा- गाथाओं में - होइ, हवइ-भवति; कहेइ-कथयति; वक्खाणइ-व्याख्याति; भमइ भ्रमति; भण्णइ-भण्यते, आदि। टीका में - कुणइ-करोति; वण्णेइ-वर्णयति; आदि।

२. क्रियाओं के पूर्वकालिक रूपों के उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं - इय- छड्डिय-त्यक्त्वा। त्तु-कट्टु-कृत्वा। अ- अहिगम्म-अधिगम्य। दूण- अस्सिदूण-आश्रित्य। ऊण-अस्सिऊण, दट्ठूण, मोत्तूण, दाऊण, चिंतिऊण, आदि।

३. मध्यवर्ती क के स्थान में ग आदेश के उदाहरण मिलते हैं। यथा- सूत्रों में - वेदग-वेदक। गाथा में - एगदेस-एकदेश, टीका में - एगत्त-एकत्व; बंधग -बन्धक; अप्पाबहुग-अल्पबहुत्व; आगास-आकाश; जाणुग-ज्ञायक; आदि।

किन्तु बहुधा मध्यवर्ती क का लोप पाया जाता है। यथा, सूत्रों में -- सांपराइय-साम्परायिक; एइंदिय-एकेन्द्रिय; सामाइय.सामायिक; काइय-कायिक। गाथाओं में -- तित्थयर-तीर्थकर: वायरणी-व्याकरणी; पयई-प्रकृति; पंचएण-पंचकेन; समाइण्ण-समाकीर्ण; अहियार-अधिकार। टीका में -- एण-एक; परियम्म-परिकर्म; किदियम्म-कृतिकर्म; वायरण-व्याकरण; भडारएण-भट्टारकेण, आदि।

४. मध्यवर्ती क, ग. च, ज, त, द, और प, के लोप के तो उदाहरण सर्वत्र पाये ही जाते हैं, किन्तु इनमें से कुछ के लोप न होने के भी उदाहरण मिलते हैं। यथा-ग-सजोग-सयोग; संजोग-संयोग; चाग-त्याग; जुग-जुग; आदि। त - वितीद-व्यतीत। द - छदुमत्थ-छद्मस्थ बादर-बादर; जुगादि-युगादि; अणुवाद-अनुवाद; वेद, उदार, आदि।

५. थ और घ के स्थान में प्राय: ह पाया जाता है, किंतु कहीं-कहीं थ के स्थान में ध और ध के स्थान में ध ही पाया जाता है। यथा-पुध-पृथक; कधं-कथम्; ओधि-अवधि; (सू.१३१) सोधम्म-सौधर्म (सू.१६९); साधारण (सू.४१); कदिविधो-कतिविध:; (गा.१८) आधार (टी.१९)

६. संज्ञाओं के पंचमी-एकवचन के रूप में सूत्रों में व गाथाओं में आ तथा टीका में बहुतायत से दो पाया जाता है । यथा- सूत्रों में - णियमा-नियमात्। गाथाओं में - मोहा-मोहात्। तम्हा-तस्मात्। टीका में - णाणादो, पढमादो, केवलादो, विदियादो, खेत्तदो, कालदो आदि।

संज्ञाओं के सप्तमी-एकवचन के रूप में म्मि और म्हि दोनों पाये जाते हैं। यथा-सूत्रों में - एकम्मि (३६, ४३, १२९, १४८, १४९) आदि। एक्कम्हि (६३, १२७) ।गाथाओं - एक्कम्मि, लोयम्मि, पक्खम्हि, मदम्हि, आदि। टीका में - वत्थुम्मि, चइदम्हि, जम्हि, आदि।

दो गाथाओं में कर्ताकारक एकवचन की विभक्ति उ भी पाई जाती है। जैसे थावरु (१३५) एक्कु (१४६) यह स्पष्टत: अपभ्रंश भाषा की ओर प्रवृत्ति है और उस लक्षण का शक ६३८ से पूर्व के साहित्य में पाया जाना महत्वपूर्ण है।

७. जहां मध्यवर्ती व्यंजन का लोप हुआ है वहां यदि संयोगी शेष स्वर अ अथवा आ हो तो बहुधा य श्रुति पायी जाती है। जैसे - तित्थयर-तीर्थकर: पयत्थ-पदार्थ; वेयणा-वेदना; गय-गत; गज; विमग्गया-विमार्गगा:, आहारया-आहारका:, आदि।

अ के अतिरिक्त 'ओ' के साथ भी और क्वचित् ऊ व ए के साथ भी हस्तलिखित प्रतियों में य श्रुति पाई गई है। किन्तु हेमचन्द्र के नियम का १ तथा जैन शौरसेनी के अन्यत्र प्रयोगों का विचार करके नियम के लिए इन स्वरों के साथ य श्रुति नहीं रखने का प्रस्तुत ग्रंथ में प्रयत्न किया गया है। तथापि इसके प्रयोग की ओर आगे हमारी सूक्ष्मदृष्टि रहेगी। (देखों ऊपर पाठ संशोधन के नियम पृ.१३)

उ के पश्चात् लुप्तवर्ण के स्थान में बहुधा व श्रुति पाई जाती है। जैसे-वालुवा-वालुका:; बहुवं-बहुकं; विहुव-विधूत, आदि। किन्तु 'पज्जव' में बिना उ के सामीप्य के भी नियम से व श्रुति पाई जाती है।

८. वर्ण विकार के कुछ विशेष उदाहरण इस प्रकार पाये जाते हैं - सूत्रों में - अड्ढाइज्ज-अर्धतृतीय (१६३), अणियोग-अनुयोग (५); आउ-अप् (३९) इड्ढि-ऋद्धि (५९) ओधि, ओहि-अवधि (११५,१३१); ओरालिय-औदारिक (५६); छदुमत्थ-छद्मस्थ (१३२); तेउ-तेजस (३९); पज्जव-पर्याय (११५); मोस-मृषा (४९); वेंतर-व्यन्तर (९६); णेरइय-नारक, नारकी (२५); गाथाओं में - इक्खय-इक्ष्वाकु (५०); उराल-उदार (१६०); इंगाल-अंगार (१५१); खेत्तण्हू-क्षेत्रज्ञ (५२); चाग-त्याग (९२); फद्दय-स्पर्धक (१२१); सस्सेदिम-संस्वेदज (१३९)।

गाथाओं में आए हुए कुछ देशी शब्द इस प्रकार हैं - कायोली- वीवध (८८); घुम्मंत-भ्रमत् (६३); चोक्खो-शुद्ध (२०७); णिमेण-आधार (७); भेज्ज-भीरु; (२०१); मेर-मात्रा, मर्यादा (९०)।

टीका के कुछ देशी शब्द - अल्लियइ-उपसर्पति (२२०); चडविय-आरूढ (२२१); छड्डिय त्यक्त्वा (२२१); णिसुढिय-नत (६८); वोलाविय-व्यतीत्य (६८)।

इन थोड़ें से उदाहरणों पर से ही हम सूत्रों, गाथाओं व टीका की भाषा के विषय में कुछ निर्णय कर सकते हैं। यह भाषा मागधी या अर्धमागधी नहीं है, क्योंकि उसमें न तो अनिवार्य रूप से, और न विकल्प से ही र के स्थान पर ल, क स के स्थान पर श पाया जाता, और न कर्त्ताकारक, एकवचन में कहीं ए मिलता।

त के स्थान पर द, क्रियाओं के एकवचन वर्तमान काल में दि व दे, पूर्वकालिक क्रियाओं - के रूप में त्तु व दूण, अपादानकारक की विभक्ति दो तथा अधिकरणकारक की विभक्ति म्हि, क के स्थान पर ग, तथा थ के स्थान पर ध आदेश, तथा द, और ध का लोपाभाव, ये सब शौरसेनी के लक्षण हैं। तथा त का लोप, क्रिया के रूपों में इ, पूर्व कालिक क्रिया के रूप में ऊण, ये महाराष्ट्री के लक्षण हैं। ये दोनों प्रकार के लक्षण सूत्रों, गाथाओं व टीका सभी में पाये जाते हैं। सूत्रों में जो वर्णविकार के विशेष उदाहरण पाये जाते हैं वे अर्धमागधी की ओर संकेत करते हैं। अत: कहा जा सकता है कि सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा शोरसेनी प्राकृत है, उस पर अर्धमागधी का प्रभाव है, तथा उस पर महाराष्ट्री का भी

संस्कार पड़ा है। ऐसी ही भाषा को पिशेल आदि पाश्चमिक विद्वानों ने जैन शौरसेनी नाम दिया है।

सूत्रों में अर्धमागधी वर्णविकार का बाहुल्य है। सूत्रों में एक मात्र क्रिया 'अत्थि' आती है और वह एकवचन व बहुवचन दोनों की बोधक है। यह भी सूत्रों के प्राचीन आर्ष प्रयोग का उदाहरण है।

गाथाएं प्राचीन साहित्य के भिन्न-भिन्न ग्रंथों की भिन्न-भिन्न कालकी रची हुई अनुमान की जा सकती हैं। अतएव उनमें शौरसेनी व महाराष्ट्रीपन की मात्रा में भेद है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा जितनी अधिक पुरानी है उतना उसमें शौरसेनीपन अधिक है और जितनी अर्वाचीन है उतना महाराष्ट्रीपन। महाराष्ट्री का प्रभाव साहित्य में पीछे-पीछे अधिकाधिक पड़ता गया है। उदाहरण के लिये प्रस्तुत ग्रंथ की गाथा नं.२०३ लीजिय जो यहां इस प्रकार पाई जाती है -

रूसदि णिंददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय-भय-बहुलो।
असुयदि परिभवदि परं पसंसदि अप्पयं बहुसो ॥

इसी गाथा ने गोम्मटसान (जीवकांड ५१२) में यह रूप धारण कर लिया है -

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय-भय-बहुलो।
असुयइ परिभवइ परं पसंसए अप्पयं बहुसो ॥

यहां की गाथाओं का गोम्मटसार में इस प्रकार का महाराष्ट्री परिवर्तन बहुत पाया जाता है। किन्तु कहीं-कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि जहां इस ग्रंथ में महाराष्ट्रीपन है वहां गोम्मटसार में शौरसेनीपन स्थिर है। यथा, गाथा २०७ में यहां 'खमइ बहुअं हि' है वहां गो.जी ५१६ में 'खमदि बहुगं पि' पाया जाता है। गाथा २१० में यहां 'एण-णिगोद' है, किन्तु गोम्मटसार १९६ में उसी जगह 'एग -णिगोद' है। ऐसे स्थलों पर गोम्मटसार में प्राचीन पाठ रक्षित रह गया प्रतीत होता है। इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि जब तक प्राचीन ग्रंथों की पुरानी हस्तलिखित प्रतियों की सावधानी से परीक्षा न की जाय और यथेष्ठ उदाहरण सन्मुख उपस्थित न हों तब तक इनकी भाषा के विषय में निश्चयत:कुछ कहना अनुचित है।

टीका का प्राकृत गद्य प्रौढ, महावरेदार और विषय के अनुसार संस्कृत की तर्कशैली से प्रभावित है। सन्धि और समासों का भी यथास्थान बाहुल्य है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि सूत्र-ग्रंथों को या स्फुट छोटी-मोटी खंड रचनाओं को छोड़कर दिगम्बर साहित्य में

अभी तक यही एक ग्रंथ ऐसा प्रकाशित हो रहा है जिसमें साहित्यिक प्राकृत गद्य पाया जाता है। अभी इस गद्य का बहुत बड़ा भाग आगे प्रकाशित होने वाला है। अत: ज्यों-ज्यों वह साहित्य सामने आता जायेगा त्यों-त्यों इस प्राकृत के स्वरूपपर अधिकाधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा।

इसी कारण ग्रंथ की संस्कृत भाषा के विषय में भी अभी हम विशेष कुछ नहीं लिखते। केवल इतना सूचित कर देना पर्याप्त समझते है कि ग्रंथ की संस्कृत शैली अत्यन्त प्रौढ, सुपरिमार्जित और न्यायशास्त्र के ग्रंथों के अनुरुप है। हम अपने पाठ-संशोधन के नियमों में कह आये हैं कि प्रस्तुत ग्रंथ में अरिहंत: शब्द अनेकबार आया है और उसकी निरुक्ति भी अरिहननाद् अरिहंत: आदि की गई है। संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार हमें यह रूप विचारणीय ज्ञात हुआ। अर्ह धातु से बना अर्हत् होता है और उसके एकवचन व बहुवचन के रूप क्रमश: अर्हन् और अर्हन्त: होते हैं। यदि अरि+हन् से कर्तावाचक रूप बनाया जाय तो अरिहन्तृ होगा जिसके कर्ता एकवचन व बहुवचन रूप अरिहन्ता और अरिहन्तार: होना चाहिये। चूंकि यहां व्युत्पत्ति में अरिहननात् कहा गया है अत: अर्हन् व अर्हन्त: शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमने प्रस्तुत ग्रंथ में अरिहन्ता कर दिया है, किन्तु है यह प्रश्न विचारणीय कि संस्कृत में अरिहन्त: जैसा रूप रखना चाहिये या नहीं। यदि हम हन् धातु से बना हुआ 'अरिहा' शब्द ग्रहण करें और पाणिमि के 'मघवा बहुलम्' सूत्र का इस शब्द पर भी अधिकार चलावें तो बहुवचन में अरिहन्त: हो सकता है। संस्कृत भाषा की प्रगति के अनुसार यह भी असंभव नहीं है कि यह अकारान्त शब्द अर्हत् के प्राकृत रूप अरहंत, अरिहंत, अरुहंत परसे ही संस्कृत में रूढ हो गया हो। विद्वानों का मत है कि गोविन्द शब्द संस्कृत के गोपेन्द्र का प्राकृत रूप है [१]। किन्तु पीछे से संस्कृत में भी वह रूढ हो गया और उसी की व्युत्पत्ति संस्कृत में दी जाने लगी। उस अवस्था में अरिहन्त: शब्द अकारान्त जैन संस्कृत में रूढ माना जा सकता है। वैयाकरणों को इसका विचार करना चाहिये।

---

१ Keith: History of Sans. Lit., P.24

निष्कर्ष -

अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी के वचनों की उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम ने द्वादशांग श्रुत के रूप में ग्रंथ रचना की जिसका ज्ञान आचार्य परम्परासे क्रमशः कम होते हुए धरसेनाचार्य तक आया। उन्होने बारहवें अंग दृष्टिवाद के अन्तर्गत पूर्वों के तथा पांचवे अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुछ अंशों को पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों को पढ़ाया और उन्होने वीर निर्वाण के पश्चात् ७ वीं शताब्दि के लगभग सत्कर्मपाहुड की छह हजार सूत्रों में रचना की। इसी की प्रसिद्धि षट्खंडागम नाम से हुई। इसकी टीकाएं क्रमशः कुन्दकुन्द, शामकुंड, तम्बुलूर, समन्तभद्र और बप्पदेवने बनाई, ऐसा कहा जाता है, पर ये टीकाएं अब मिलती नहीं हैं। इनके अन्तिम टीकाकार वीरसेनाचार्य हुए जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध टीका धवला की रचना शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३ को पूरी की। यह टीका ७२ हजार लोक प्रमाण है।

षट्खंडागमका छठवां खंड महाबंध है। जिसकी रचना स्वयं भूतबलि आचार्य ने बहुत विस्तार से की थी। अतएव पंचिकादिक को छोड़ उस पर विशेष टीकाएं नहीं रची गई। इसी महाबंध की प्रसिद्धि महाधवल के नाम से है जिसका प्रमाण ३० या ४० हजार कहा जाता है।

धरसेनाचार्य के समय के लगभग एक ओर आचार्य गुणधर हुए जिन्हें भी द्वादशांग श्रुत का कुछ ज्ञान था। उन्होने कषायप्राभृत की रचना की। इसका आर्यमंक्षु और नागहस्तिने व्याख्यान किया और यतिवृषभ आचार्य ने चूर्णिसूत्र रचे। इस पर भी वीरसेनाचार्य ने टीका लिखी। किन्तु वे उसे २० हजार प्रमाण लिखकर ही स्वर्गवासी हुए। तब उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्य ने ४० हजार प्रमाण और लिखकर उसे शक ७५९ में पूरा किया। इस टीका का नाम जयधवला है और वह ६० हजार श्लोक प्रमाण है।

इन दोनों या तीनों महाग्रंथों की केवल एकमात्र प्रति ताड़पत्र पर शेष रही थी जो सैकड़ों वर्षों से मूडविद्री के भंडार में बन्द थी। गत २०-२५ वर्षों में उनमें से धवला व जयधवला की प्रतिलिपियां किसी प्रकार बाहर निकल पाई हैं। महाबंध या महाधवल अब भी दुष्प्राय है। उनमें से धवला के प्रथम अंश का अब प्रकाशन हो रहा है। इस अंश में द्वादशांगवाणी व ग्रंथ रचना के इतिहास के अतिरिक्त सत्प्ररूपणा अर्थात्

जीवसमासों और मार्गणाओं का विशेष विवरण है। सूत्रों की भाषा पूर्णत: प्राकृत है। टीका में जगह जगह उद्धृत पूर्वाचार्यों के पद्य २१६ हैं जिनमें केवल १७ संस्कृत में और शेष प्राकृत में हैं, टीका का कोई तृतीयांश प्राकृत में और शेष संस्कृत में हैं। यह सब प्राकृत प्राय: वही शौरसेनी है जिसमें कुन्दकुन्दादि आचार्यों के ग्रंथ रचे पाये जाते हैं। प्राकृत और संस्कृत दोनों की शैली अत्यंत सुन्दर, परिमार्जित और प्रौढ़ है।

ताड़पत्रीय प्रति के लेखनकाल का निर्णय

सत्प्ररूपणा के अन्त की प्रशस्ति

धवल सिद्धान्त की प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में सत्प्ररूपणा विवरण के अन्त में निम्न कनाड़ी पाठ पाया जाता है [१] -

संततशांतभावनद: पावनभोगनियोग वाकांतेय चित्तवृत्तियलविं नललंदनं गरुपं त्तडिदं गजं 'ष्परिपोगेज सोन्नतपद्यणंदिसिद्धांतमुनींद्रचन्द्रनुदयं बुधकैरवषंडमंडनं मंतणमेणोसुद्गुणगणक भेदवृद्धि अनन्तनोन्त [२] वाक्कांतेय चित्तवल्लीय पदर्प्पिण [३] दर्पबुधालि [४] हृत्सरोजांतररागरंजितदिनं कुलभूषण [५] दिग्यसैद्धांन्त मुनींद्रनुज्वलयशोजंगमतीर्थमल्लरु [६] संततकालकायमतिसच्चरितं दिनर्दि दिनके वीर्य तउतिर्ह्दुश्य वियमईमैमेयो लांतवविद्गमोहदाहं तवे कंतु मुन्तुगिदे सच्चरितर्कुलचन्द्रदेवसैद्धान्तमुनीन्द्ररुर्जितयशोज्वलजंगमतीर्थमल्लरु [७]

मैने यह कनाड़ी पाठ अपने सहयोगी मित्र डाक्टर ए.एन. उपाध्याय प्रोफेसर राजाराम कालेज कोल्हापुर, जिनकी मातृभाषा भी कनाड़ी है, के पास संशोधनार्थ भेजा था। उन्होंने यह कार्य अपने कालेज के कनाड़ी भाषा के प्रोफेसर श्री के.जी. कुंदनगार महोदय के द्वारा कराकर मेरे पास भेजने की कृपा की। इसप्रकार जो संशोधित कनाड़ी पाठ और उसका अनुवाद मुझे प्राप्त हुआ। वह निम्न प्रकार है। पाठक देखेंगे कि उक्त पाठ पर से निम्न कनाड़ी पद्य सुसंशोधित कर निकालने में संशोधनों ने कितना अधिक परिश्रम किया है -

---

१ प्राप्त प्रतियों में इस प्रशस्ति में अनेक पाठभेद पाये जाते हैं। यहाँ पर सहारनपुर की प्रति के अनुसार पाठ रखा गया है जिसका मिलान हमें वीरसेवा मंदिर के अधिष्ठाता पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार के द्वारा प्राप्त हो सका। केवल हमारी अ. प्रति में जो अधिक पाठ पाये जाते हैं वे टिप्पण में दिये गये हैं। २ अनन्तज्वनोन्त। ३ पदप्पिणनर्द्प्प। ४ प्रहत्। ५ दिव्यसेव्य। ६ तीर्थदमल्लयस्स्थें। ७ मल्लरूज़रू।

संततशांतभावनेय पावनभोगनियोग (वाणि) वा -
क्रांतेय चित्तवृत्तियोलविं नल (विं गड मोहनां) गरू -
पं तळेदं गडं प्रचुरपंकजशोभितपद्मणंदिसि -
द्धान्तमुनीन्द्रचंद्रनुदयं बुधकैरवषंडमंडनम् ।। १ ।।
मंत्रणमोक्षसद्गुणगणाब्धिय वृद्धिगे चंद्रनंते वा -
क्रांतेय चित्तवल्लिपदपंकजदप्तबुधालिहृत्सरो -
जांतररागरंजितमनं कुलभूषणदिव्यसेव्यसै -
द्धांतमुनीन्द्ररुर्जितयशोज्वलजंगमतीर्थकल्परू ।। २ ।।
संततकालकायमतिसच्चरितं दिनदिं दिनक्के वी-
यं तळेदंदु मिक्क नियमंगळनांतुविवेकबोध दो-
हं तवे कंतु मन्युगिदे सच्चरितं कुलचन्द्रदेव सै-
द्धांतमुनीन्द्ररुर्जितयशोज्वलजंगमतीर्थरुद्भवम् ।। ३ ।।

इसका हिन्दी में सारानुवाद हम इस प्रकार करते हैं -

श्रीपद्मनन्दि सिद्धान्तमुनीन्द्ररुपी चन्द्रमाका उदय विद्वद्गणरुपी कुमुदिनी समूह का मंडन था। वे प्रफुल्ल कमल के समान सुशोभित थे, तथा उनके मन में निरंतर शान्त भावना और पावन सुख-भोग में निमग्न सरस्वती देवी का निवास होने से वे सहज ही सुंदर शरीर के अधिकारी हो गये थे।

वे दिव्य और सेव्य कुलभूषण सिद्धान्तमुनीन्द्र अपने ऊर्जित यश से उज्जवल होने के कारण जंगम तीर्थ के समान थे। मंत्रण, मोक्ष और सद्गुणों के समुद्र को बढ़ाने में वे चन्द्र के समान थे, तथा सरस्वती देवी के चित्तरुपी वल्ली के पदपंकज (के निवास) से गर्वयुक्त विद्वन्समुदाय के हृदय कमल के अंतर राग से उनका मन रंजायमान था।

ऊर्जित यश से उज्जवल कुलचन्द्र सैद्धान्तमुनीन्द्र का उद्भव जंगमतीर्थ के समान था। निरन्तर काल में काय और मन से सच्चारित्रवान्, दिनोंदिन शक्तिमान् और नियमवान् होते हुए उन्होंने विवेक बुद्धि द्वारा ज्ञान-दोहन करके कामदेव को दूर रखा। यह सच्चारित्र ही कामदेव के क्रोध से बचने का एकमात्र मार्ग है।

इस प्रकार इन तीन कनाड़ी पद्यों की प्रशस्ति में क्रमशः पद्मनन्दि सिद्धान्तमुनीन्द्र, कुलभूषण सिद्धान्तमुनीन्द्र और कुलचन्द्र सिद्धान्तमुनीन्द्र की विद्वत्ता, बुद्धि और चरित्र की

प्रशंसा की गई है। पर उनसे उनके परस्पर सम्बन्ध, समय व धवलग्रंथ या उसकी प्रति से किसी प्रकार का कोई ज्ञान नहीं होता। अतएव इन बातों की जानकारी के लिए अन्यत्र खोज करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

श्रवणवेल्गुल के अनेक शिलालेखों में पद्मनन्दि मुनि के उल्लेख आये हैं। पर सब जगह एक ही पद्मनन्दि से तात्पर्य नहीं है। उन लेखों से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न काल में पद्मनन्दि नाम व उपाधिधारी अनेक मुनि आचार्य हुए हैं। किन्तु लेख नं. ४० (६४) में हमारे प्रस्तुत पद्मनन्दिसे अभिप्राय रखने वाला उल्लेख ज्ञात होता है, क्योंकि, उसमें पद्मनन्दि सैद्धान्तिकके शिष्य कुलभूषण और उनके शिष्य कुलचन्द्रका भी उल्लेख पाया जाता है। वह उल्लेख इस प्रकार है -

अविद्धकर्णादिक पद्मनन्दी सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिः सधीरः॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधि-
स्सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नवविनेयस्तत्सधर्मो महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रंथकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराजपंडितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः॥
तस्य श्रीकुलभूषणाख्यसुमुनेश्शिष्यो विनेयस्तुत-
स्सद्वृत्तः कुलचन्द्र देवमुनिपस्सिद्धान्तविद्यानिधिः।

यहां पद्मनन्दि, कुलभूषण और कुलचन्द्र के बीच गुरु शिष्य-परम्परा का स्पष्ट उल्लेख है। पद्मनन्दिको सैद्धान्तिक ज्ञाननिधि और सधीर कहा है। कुलभूषण को चारित्रवारांनिधि: और सिद्धान्ताम्बुधिपारग, तथा कुलचन्द्र को विनेय, सद्वृत्त और सिद्धान्तविद्यानिधि कहा है। इस परम्परा और इन विशेषणों से उनके धवला-प्रति के अन्तर्गत प्रशस्ति में उल्लिखित मुनियों से अभिन्न होने में कोई सन्देह नहीं रहता। शिलालेखद्वारा पद्मनन्दिक गुणों में इतना और विशेष जाना जाता है कि वे अविद्धकर्ण थे अर्थात् कर्णच्छेदन संस्कार होने से पूर्व ही बहुत बालपन में वे दीक्षित हो गये थे और इसलिए कौमारदेवव्रती भी कहलाते थे। तथा यह भी जाना जाता है कि उनके एक और शिष्य प्रभाचन्द्र थे, जो शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथित तर्कग्रन्थकार थे।

इसी शिलालेख से इन मुनियों के संघ व गण तथा आगे पीछे की कुछ और गुरु-परम्परा का भी ज्ञान हो जाता है। लेखमें गौतमादि, भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त के

पश्चात् उसी अन्वय में हुए पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, उमास्वाति गृद्धपिच्छ, उनके शिष्य बलाकपिच्छ, उसी आचार्य परम्परा में समन्तभद्र, फिर देवनन्दि जितेन्द्रबुद्धि पूज्यपाद और फिर अकलंकके उल्लेख के पश्चात् कहा गया है कि उक्त मुनीन्द्र सन्तति के उत्पन्न करने वापले मूलसंघ में फिर नन्दिगण और उसमें देशीगण नामका प्रभेद हो गया। इस गण में गोल्लाचार्य नामके प्रसिद्ध मुनि हुए। ये गोल्लदेश के अधिपति थे। किन्तु, किसी कारण वश संसार से भयभीत होकर उन्होंने दीक्षा धारण कर ली थी। उनके शिष्य श्रीमत् त्रैकाल्ययोगी हुए और उनके शिष्य हुए उपर्युक्त अविद्धकर्ण पद्मनन्दि सैद्धान्तिक कौमारदेव, जो इस प्रकार मूलसंघ नन्दिगणान्तर्गत देशीगण के सिद्ध होते हैं।

लेखमें पद्मनन्दि, कुलभूषण और कुलचन्द्र से आगे की परम्परा का वर्णन इस प्रकार दिया गया है :-

कुलचन्द्रदेव के शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होंने कोल्लापुर (कोल्हापुर) में तीर्थ स्थापित किया। वे भी राद्धान्तार्णवपारगामी और चारित्रचक्रेश्वर थे, तथा उनके श्रावक शिष्य थे सामन्त केदार नाकरस, सामन्त निम्बदेव और सामन्त कामदेव। माघनन्दि के शिष्य हुए - गंडविमुक्त जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति। गंडविमुक्तदेव के सधर्म भूतकीर्ति त्रैविद्यमुनि थे, जिन्होंने विद्वानों को भी चमत्कृत करने वाले अनुलोम-प्रतिलोम काव्य राघव-पांडवीय की रचना करके निर्मल कीर्ति प्राप्त की थी और देवेन्द्र जैसे विपक्ष वादियों को परास्त किया था। श्रुतकीर्तिकी प्रशंसा के ये दोनों पद्य कनाड़ी काव्य पम्परामायण में भी पाये जाते हैं। विपक्ष सैद्धान्तिक से संभव है उन्हीं देवेन्द्र से तात्पर्य हो, जिनके विषय में श्वेताम्बर ग्रन्थ पभावकचरित में कहा गयाहै कि इन्होंने वि.सं. ११८१ में दि. आचार्य कुमुदचन्द्र को बाद में परास्त किया था। इन्हीं के अग्रज (सधर्म) थे कनकनन्दि और देवचन्द्र। कनकनन्दिने बौद्धख, चार्वाक और मीमांसकों को परास्त किया था, और देवचन्द्र भट्टारकों के अग्रणी तथा वेताल झोट्गि आदि भूत पिशाचों को वशीभूत करने वाले बड़े मंत्रवादीथे। उनके अन्य सधर्म थे माघनन्दि त्रैविद्यदेव, देवकीर्ति पंडितदेवके शिष्य शुभचन्द्र त्रैविद्यदेव, गंडविमुक्त वादिचतुर्मुख रामचन्द्र त्रैविद्यदेव और वादिवज्रांकुश अकलंक, त्रैविद्यदेव। गंडविमुक्त देव के अन्य श्रावक शिष्य थे माणिक्य भंडारी मरिया ने दंडनायक, महाप्रधान सर्वाधिकारी ज्येष्ठ दंडनायक भरतिमय्य हेगड़े बूचिमय्यंगलु और जगदेकदानी हेगडे कोरय्य।

इन उल्लेखों से हमें पाद्मनन्दि कुलभूषणके संघ व गण के अतिरिक्त उनकी पूर्वापर

सुविख्यात, विचक्षण और प्रभावशाली गुरुपरम्परा का अच्छा ज्ञान हो जाता है। तथा, जो और भी विशेष बात ज्ञात होतीहै, वह यह कि, हमारे पद्मनन्दि के एक और शिष्य तथा कुलभूषण सिद्धान्तमुनि के सधर्म जो प्रभाचन्द्र 'शब्दाम्भोरुहभास्कर' और प्रथित-तर्कग्रन्थकार' पदों से विभूषित किये गए हैं;वे संभवत: अन्य नहीं, हमारे सुप्रसिद्ध तर्कग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्राचार्य ही हों।

यह गुरु परम्परा इस प्रकार पाई जाती है :-

गौतमादि

(उनकी सन्तान में)

भद्रबाहु

चन्द्रगुप्त

(उनके अन्वय में)

पद्मनन्दि कुन्दकुन्द

(उनकेअन्वयमें)

सत्प्ररूपणा के अन्त की प्रशस्ति

उमास्वाति गृद्धपिच्छ

बलाकपिच्छ

(उनकी परम्परा में)

समन्तभद्र

(उनके पश्चात्)

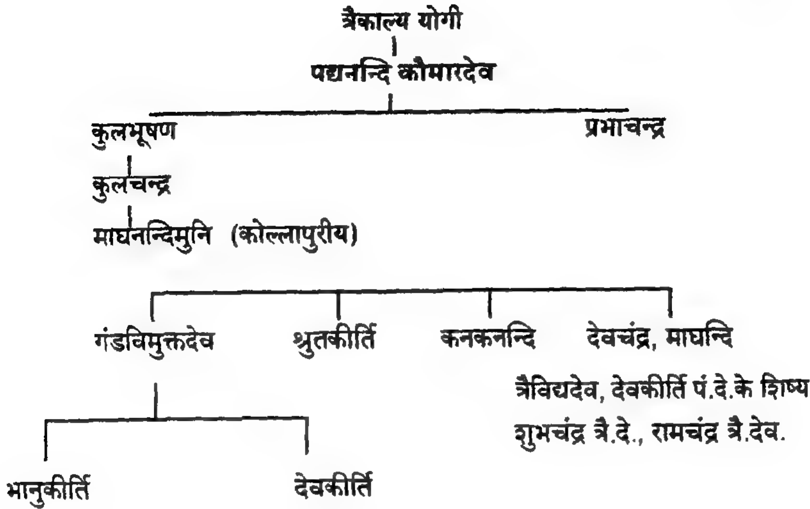
देवनन्दि, जितेन्द्रबुद्धि पूज्यपाद

(उनके पश्चात्)

अकलंक

(उनके पश्चात् मूलसंघ, नन्दिगण के देशीगण में)

गोल्लाचार्य



अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त पद्मनन्दि आदि आचार्य किस काल में उत्पन्न हुए ? जिस उपर्युक्त शिलालेख में उनका उल्लेख आया है, उसमें भी समय का उल्लेख कुछ नहीं पाया जाता। किन्तु वहां उस लेख का यह प्रयोजन अवश्य बतलाया गया है कि महामंडलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेव ने कोल्लापुर की रूपनारायण वसदि के अधीन केल्लेगेरेय प्रतापपुर का पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुर में एक दानशाला स्थापित की थी। उन्हीं अपने गुरु की परोक्ष विनय के लिए महाप्रधान सर्वाधिकारी हिरिय भंडारी अभिनव-गंग-दंडनायक श्री हुल्लराज ने उनकी निषद्या निर्माण कराई। तथा गुरु के अन्य शिष्य लक्खनंदि, माधव और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभिषेक करके प्रतिष्ठाकी। हुल्लराज अपरनाम हुल्लप वाजिवंशके यक्षराज और लोकाम्बिका के पुत्र तथा यदुवंशी राजा नारसिंह के मंत्री कहे गये हैं। इन यादव व होय्यसलवंशीय राजा नारसिंह तथा उनके मंत्री हुल्लराज या हुल्लप का उल्लेख अन्य शिलालेखों में भी पायाजाता है, जिनसे उनकी जैनधर्म में श्रद्धा का अच्छा परिचय मिलता है। (देखो जैन शिलालेख संग्रहभू.पृ९४ आदि)। पर उक्त विषय पर प्रकाश डालनेवाला शिलालेख नं. ३९ है जिसमें देवकीर्ति की प्रशस्ति के अतिरिक्त उनके स्वर्गवास का समय शक १०८५ सुभानु संवत्सर आषाढ शुक्ल ९ बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है, और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्खनंदि, माधवचन्द्र और त्रिभुवनमल्ल ने गुरुभक्ति से उनकी निषद्या की प्रतिष्ठा कराई।

देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पांच पीढ़ी, कुलभूषण से चार और कुलचन्द्र से तीन पीढ़ी पश्चात् हुए हैं। अत: इन आचार्यों को उक्त समय से १००-१२५ वर्ष अर्थात् शक ९५० के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना के विद्वान् लेखक ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उस ग्रन्थ के कर्ता प्रभाचन्द्र की समय की सीमा ईस्वी सन् ९५० और १०२३ अर्थात् शक ८७२ और ९४५ के बीच निर्धारित की है। और, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ये प्रभाचन्द्र वे ही प्रतीत होते हैं जो लेख नं. ४० में पद्मनन्दि के शिष्य और कुलभूषण के सधर्म कहे गए हैं। इससे भी उपर्युक्त काल निर्णय की पुष्टि होती है। उक्त आचार्यों के कालनिर्णय में सहायक एक और प्रमाण मिलता है। कुलचन्द्रमुनि के उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गये हैं। उनके एक गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्त [१] का उल्लेख मिलता है जो शिलाहार नरेश गंडरादित्यदेव के एक सामन्त थे [२]। शिलाहार गंडरादित्यदेव के उल्लेख शक सं. १०३० से १०५८ तक के लेखों में पाये जाते हैं। इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णय की पुष्टि होती है।

पद्मनन्दि आदि आचार्यों की प्रशस्ति के सम्बन्धों में अब केवल एक ही प्रश्न रह जाता है, और वह यह कि उसका धवला की प्रति में दिये जाने का अभिप्राय क्या है ? इसमें तो संदेह नहीं कि वे पद्य मूडबिद्रीकी ताडपत्रीय प्रति में हैं और उन्हीं पर से प्रचलित प्रतिलिपियों में आये हैं। पर वे धवल के मूल अंश या धवलाकार के लिखे हुए तो हो ही नहीं सकते। अत: यही अनुमान होता है कि वे उस ताड़पत्रवाली प्रति के लिखे जाने के समय या उससे भी पूर्व की जिस प्रति पर से लिखी गई होगी उसके लिखने के समय प्रक्षिप्त किये गये होंगे। संभवत: कुलभूषण या कुलचन्द्र सिद्धान्त मुनि की देख-रेख में ही वह प्रतिलिपि की गई होगी। यदि विद्यमान ताड़पात्र की प्रति लिखने के समय ही वे पद्य डाले गये हों, तो कहना पड़ेगा कि वह प्रति शक की दशवीं शताब्दि के मध्य भाग के लगभग लिखी गई है। इन्हीं प्रतियों में से कहीं एक और कहीं दो के प्रशस्त्यात्मक पद्य धवला की प्रति में और बीच बीच में पाये जाते हैं जिनका परिचय व संग्रह आगे यथावसर देने का प्रयत्न किया जायेगा।

---

१. जैन शिलालेखसंग्रह, लेख नं. ४०

२. Sukrabara Basti Inscription of Kolhapur, in Graham's Statistical Report on Kolhapur.

न्यायकुमुदचन्द्र, भूमिका पृ.११४ आदि.

धवला के अन्त की प्रशस्ति

मुड़बिद्री की ताड़पत्रीय प्रति के प्रसंग में हमारी दृष्टि स्वभावतः धवला की प्राप्त प्रतियों के अन्त में पायी जाने वाली प्रशस्ति पर जाती है। धवला के अन्त में धवलाकार वीरसेनाचार्य से सम्बंध रखने वाली वे नौ गाथाएं पाई जाती है जिनको हम प्रथम भाग में प्रकाशित कर चुके हैं। उन गाथाओं के पश्चात् निम्न लम्बी प्रशस्ति पाई जाती है, जिसके कनाड़ी अंश पूर्वोक्त प्रो.कुंदनगार व प्रो. उपाध्याय द्वारा बड़े परिश्रम से संशोधित किये गये हैं।

१

शब्दब्रह्मेति शाब्दैर्गणधरमुनिरित्येव राद्धान्तविद्भिः,
साक्षाःसर्वज्ञ एवेत्यभिहितमतिभिः सूक्ष्मवस्तुप्रणीतः।
यो दृष्टो विश्वविद्यानिधिरिति जगति प्राप्तभट्टारकाख्यः,
स श्रीमान् वीरसेनो जयति परमतध्वान्त भित्तन्त्रकारः॥१॥

२

श्रीचरित्रसमृद्धिमिक्कविजयश्रीकर्मविच्छित्तिपूर्वकं ज्ञानावरणीयमूलनिर्नाशनं भूचक्रे शं बेसकेय्ये संदर्भमुनिवृन्दाधीश्वरकुन्दकुन्दाचार्यधृतधैर्य क्षगर्यतेयिने (१)च नाचार्यरोळवर्यरु जितमदविनिर्गतमलर्चतुरंगुलचारणार्द्धिनिरतर्गणधर क्षरैरेकैर्त्तिगे (१)च गुणगणधरर् यतिपतिगणधररेनिसिद कुंदकुन्दाचार्य् । अवरन्वयदोळ् सिद्धान्तविदर्व्याकरणबेदिगळ् षट्तर्कप्रवणर्द्धिसंजुत्तपरिस्तुतरप्प गृहधृपिच्छाचार्यधैर्यपरनैगर्दर्गाभीर्यगुणोदधिगळुचितशमदमयमतात्पर्यरेने गृद्धपिंच्छाचार्यर शिष्यर्बलाकपिंच्छाचार्यगुणनन्दिपंडितनिजगुणनन्दिपंडितज्ञनंगळं मेच्चिसिमैगुणद पेसरेसेये विद्वद्वणतिलकर्सकलमुनीन्द्रशिष्यर्पदार्थदोळर्थशास्त्रदोळु जिनागमदोळु तंत्रदोळु महाचरितपुराणसंततिगळोळ् परमागमदोळ् पेरर्समं दोरे सरि पाटिपासटि समानमेनळ् कृतविद्यरारेनुत्तिरे बुधकोटिसंदर्भवीतळ्दोळु। गुणनन्दिपण्डितशिष्यर्विहितविदर्गे सूनुर्वराशिष्यरोळ् तपश्चरणसिद्धान्तपारायणरेणिकेगोळक्कर्पदिर्वर्तपोविच्छिन्नानंगरेंबी महिमेयिनेसदेर्वाधियेंतंतुदारर्स्वच्छर्दिनकर किरणमे बेळगे देवेन्द्रसिद्धान्तरु॥ अन्तुनेगर्तेवेत्तवर शिष्यकदम्बकदोळ् समस्तसिद्धान्तमहापयोनिधियेनिसि तडंबरेगं तपोबलाक्रान्तमनोजरागि मदवर्जितरागि पोगर्तेवेत्तराशांतं नेगर्द कीर्त्ति वसुनन्दिमुनीन्द्ररुदात्तवृत्तिपिनुदधिगे कलाधरं

पुट्टिदनेन्तवर्गे शिष्यरादर् गुणदोळेदडे रविचंद्रसिद्धांतदेवरेंबर् जगद्विशेषकचरितर् ।अंतु दयावनीधरकृतोदयनादशशांकनिंदे शार्वरि [१] गितु धरातलमं मत्ते दुर्णयध्वान्तविद्यतमागिरे तदुद्भवरिं सले पूर्णचन्द्रसिद्धान्तमुनीन्द्र निगदितान्तप्रतिशासनम् जैनशासनम् ॥

इन्दु शरदद बेळ् दिंगळ् पुदिदुदु देसेदेसेयोळेनिप जसदोळपं ताळिद दामनन्दिसिद्धान्तदेवर बरग्रशिष्यरधिगततत्वर् ।

शान्ततेवेत्तचित्त जनोळाद विरोधमिदेत्त ? निस्पृहर् ।

स्वांतवेतेत्तकांक्षे परमार्थदोळिंतु नेग ळते वेत्तिदा ॥

नींतन [रिन्मरा (?)] रेने [जन्य ?] जितेन्द्रवीरनन्दिसि-

द्धान्तमुनीन्द्ररें सुचरितक्रमदोळ्विपरीत वृत्तरो ॥

बोधितभव्यरचित-वर्धमान श्रीधरदेवरेंबर वर्गग्रतन्भवरादरा .... ।

श्रीधरर्गादशिष्यरवरोळनेगळदर् मलधारिदेवरुं श्रीधरदेवरुं ॥

नतनरेन्द्र किरीटतदार्चितक्रमर् अनुवशनागि वर्षनेनगंबुरुहोदरनोदे पूविनं ।

बिनोळे बसक्के बंदने भवं जलजासननेत्रमीनके ॥

तन मनकं .... [२] करीन्द्रमदोद्धत नप्प चित्तज - ।

न्मनेनल (दोरलन्मने ?) नेमिचन्द्रर्मलधारिदेव (रंतेरेयेन ?) ॥

श्रुतधर (वलित्तिने ?) मेय्यनोर्मेयुं तुरिसुवुदिल्ल निद्देवरेमर्गुलनिक्कुवुदिल्लवागिलं किरुतेरे युवुदिल्ल गुर्वदिल्ल (महेन्द्रनु) नेरे (ओण ?) वण्णिसल् गुणगणावलियं मलधारिदेवंर॥

आमलधारिदेवमुनिमुख्पर शिष्यरोळग्रगण्यरुर्विमहित (र्क पायगुर्व ?) जितकषायक्रोध [३] लोभमान मायामदवर्जितर्नेगर्दरिन्दुमरीचिगळंद्र (दिं ?) यशःश्री नेमिचन्द्रकीर्तिमुनिनाथरुदात्तचरित्रवृत्तिथिं ॥ मलधारिदेवरिंदं ।बेळगिदुदु जितेन्द्रशासनं मुन्नं निर्मलमागि मत्तमीगळ् बेळगिदपुदु चन्द्रकीर्तिभट्टारकरिं॥

बेळगुव कीर्तिचंद्रिके मृदूतिक्तसुधारस पूर्णमूर्तयो

ळ् बेळेदमलंपोदर्द सितलांछनमागिरे चन्द्रनंदम् ॥

---

१ अ. प्रति में 'शार्वरिकपराधिमित्तु' ऐसा पाठ है।

२ अ. प्रति में यहाँ 'तत्तदेवप्रकार' ऐसा पाठ है।

३ स. प्रति में 'गुर्वजितकषायक्रोधे' इतना पाठ नहीं है।

तळेदु जनं मनंगोळे दिगंतर .... विकसितो -

ज्वलशुभचन्द्रकीर्त्तिमुनिनाथरिदें विबुधाभिवंद्यरो ॥

(पयितुं ?) प्रसरकिरणारातीयचन्द्रकीर्त्तिमुनींद्रराशांतवर्त्तितकीर्त्तिगळ् मुनिवृन्दवंदितरादराशांतचित्तर शिष्यरादर्दिवाकरणंदिसिद्धान्तदेवरिदें जिनागमवार्धिपारगरादरो। इदावुदरिदों दिळिकेय्दु सिद्धान्तवारिधिय तळदेवंदरें दोडानेन्तुलिसुवेनेनळ् दिवाकरणंदिसिद्धांतदेवराखिलागममक्तरमार्गमंतिमसुधांबुप्रचुरपूरनिकरं व्याख्यानघोषं मरुच्चलितोत्तुंगतरंगघोषमेने मिक्कौदार्यदिं दोपनिर्मलधर्मामृतदिनलंकरिसि गंभीरत्वमं ताळि भूवलयक्के पवित्रागि नेगळ्दरासिद्धान्तरत्नाकरर् ॥ अवरग्रशिष्यर्

मरेदुमदोभ्भे लौकिकदवार्तेयनाडद केत्तबागिलं ।

तेरेयद भानुवस्तमितभागिरेपोगद मेय्यनोम्मेयुं ॥

तुरिसदकुक्कुटासन के सोलदगंडविमुक्तवृत्तियं ।

मरेयदघोरदुश्चरतपश्चरितं मळधारिदेवर ॥ अवरग्रशिष्यर्

१

श्रीद' श्रीगणवार्धिवर्धनकरश्चन्द्रावदातोल्वण: स्थेयान् श्रीमलधारिदेवयमिन: पुत्र: पवित्रो भुवि ।

सद्धर्मैकशिखामणिर्जिनमपतेर्भव्यैकचिन्तामणि: स श्रीमान् शुभचन्द्रदेवमुनिप: सिद्धान्तविद्यानिधि: ॥ १ ॥

२

शब्दाधिष्ठितभूतले परिलसत्सार्क्षोल्लसस्तंभ के (?)

साहित्यस्यधिकाङमभित्तिरुचिते (?) ज्योतिर्मये मंडले ।

सद्रत्नत्रयमूलरत्नकलशो स्याद्वादहर्म्यमुदा,

यो (?) देवेन्द्रसुरार्चितैर्दिविषदैस्सद्धिर्विरजुस्तु (?) तत् ॥ २ ॥

३

देवेन्द्रसिद्धान्तमुनीन्द्रपादपंकेजभृंग:शुभचन्द्रदेव: ।

यदीमनामा पिविनेयचेतोजातं तमो हर्तुमलं समर्थ: ॥ ३ ॥

४

परमजिनेश्वरविरचितवरसिद्धान्ताम्बुराशिपारगरेंदी ।

धरे बण्णिसुगुं गुणगणधररं शुभचन्द्रदेवसिद्धान्तिकरं ॥ ४ ॥

५

श्रीमज्जिनेन्द्रपदपद्मपरागतुङ्गः श्री जैनशासनसमुद्रतवार्धिचन्द्रः ।

सिद्धान्तशास्त्रविहिताङ्कितदिव्यवाणी धर्मप्रबोधमुकुरः शुभचन्द्रसूरिः ॥ ५ ॥

६

चित्तोद्‌भूतमदेभकन्ददलनप्रोत्कण्ठकण्ठीरवो भव्याम्भोजकुलप्रबोधनकृते विद्वज्जनानन्दकृत् ।

स्थेयात्कुन्दहिमेन्दु निर्मलयशोवल्लीसमालम्बनः स्तम्भः श्रीशुभचन्द्रदेवमुनिपः सिद्धान्तरत्नाकरः॥ ६ ॥

७

कुवलयकुलबन्धुध्वस्तमीहातमिस्ते विकसितमुनितत्वे सज्जनानन्दवृत्ते ।

विदित विमलनानासत्कलान्विद्धमूर्तिः शुभमतिशुभचन्द्रो राजवद्राजतेऽयम् ॥ ७ ॥

८

दिग्दंतिदन्तान्तरवर्त्तिकीर्त्तिः रत्नत्रयालंकृतचारुमूर्तिः ।

जीयाच्चिरं श्री शुभचन्द्रदेवो भव्याब्जिनीराजितराजहंसः ॥ ८ ॥

९

श्रीमान् भूपालमौलिस्फुतरितमणिगणज्योतिरुद्योतितांघ्रि :,

भव्याम्भोजातजातप्रमदकरनिधिस्त्यक्तमायामयादिः ।

दृश्यत्कन्दर्पदर्पप्रवलितगिलितस्तूर्णितश्चार्यशस्य,

जीयाज्जेनाब्जभास्वाननुपमविनयो नोत्तसिद्धान्तदेवः (१) ॥ ९ ॥

१०

जीयादसावनुपमं शुभचन्द्रदेवो भावोद्भवविनाशनमूलमंत्र ।

निस्तन्द्रसान्द्रविबुधस्तुतिभूरिपात्रं त्रैलोक्यगेहमणिदीपसमानकीर्तिः ॥ १० ॥

११

मूर्त्तिश्शमस्य नियमस्य विनूतपात्रंक्षेत्रं श्रुतस्य यशसोऽनघजन्मभूमि: ।

भूविश्रुतश्रितवतासुनभोजकल्यानल्पायुधान्निवसताच्छुभचन्द्रदेव: ॥११॥

स्वस्ति श्रीसमस्तगुणगणालंकृत सत्यशौचाचारचारुचरित्रनयविनयशीलसंपन्नेयुं विबुधप्रसन्नेयुं आहाराभयभैषज्यशास्त्रदानविनोदेयुं गुणगणाल्हादेयुं जिनस्तवनसमयसमुच्छलितदिव्यगन्धबन्धुरगंधोदक्तपवित्रेयुं गोत्रपवित्रेयुं सम्यक्त्वचूडामणियुं मण्डलिनादश्रीभुजबलगंगपेर्माडिदेवरत्तेयरुमप्प रविदेवि (?) यक्क श्रुतपंचमियं नोंतुज्जवणेयानाडवन्नियकेरेयुत्तुंगचैत्यालयदाचार्यरुं भुवनविख्यातरुमेनिसिदतम्मगुरगुळु श्रीशुभचन्द्रसिद्धान्तदेवर्गेश्रुतपूजयं माडि बरेयिसि कोट्ट धवलेयं पुस्तकं मंगलमहा ॥

श्रीकुपणं (कोपणं) प्रसिद्धपुरमापुरदोळगे वंशवार्धिशो भाकरमूर्जितं निखिलसाक्षरिकास्यविलासदर्पणं ।

नाकजनाथवंद्य जिनपादपयोरुहभृङ्ग नेन्दु भूलोकमेंदं वर्णिपुदुजिन्नमनं मनुनीतिमार्गनसतीजनदूरं लौकिकार्थदानिगजिन्नम्।

जिनपदपद्माराधकमनुपमविनयांबुरशिदानविनोदं मनुनीतिमार्गनसतीजनदूरं लौकिकार्थदानिगजिन्नम् ।

वारिनिधियोळगेमुत्तम् नेरिदुवं कोट्टकोरेदु वरुणं मुददिंभारतियकोरळोळिक्किद-हारमननुकरिसलेसवरेवों जिन्नम् ॥

यह प्रशस्ति बहुत अशुद्ध और संभवत: स्खलन-प्रचुर है । इसमें गद्य और पद्य तथा संस्कृत कनाड़ी दोनों पाये जाते हैं । बिना मूड़बिद्री की प्रति केमिलान किये सर्वथा शुद्ध पाठ तैयार करना असंभव सा प्रतीत होता है । लिपिकारों ने कहीं कहीं कनाड़ी को बिना समझे संस्कृत रूप देने का प्रयत्न किया जान पड़ता है जिससे बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न हो गई है । उदाहरणार्थ - कर्त्ता एक वचन का रूप कुन्दकुन्दाचार्यर् तृतीया में परिवर्तित कुन्दकुन्दाचार्यर् पाया जाता है । ऐसे स्थलों को विद्वान् संशोधकों ने खूब संभाला है । पर कई स्खलनों की पूर्ति फिर भी नहीं की जा सकी, कनाड़ी पद्य भी बहुत भ्रष्ट और गद्य के रूप में परिवर्तित हो गये हैं जिनका अर्थ भी समझना कठिन हो गया है । तथापि उससे निम्न बातें स्पष्टत: समझ में आती हैं :-

१. धवला की पति बन्नियकेरे चैत्यालय के सुप्रसिद्ध आचार्य शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव को समर्पित की गई थी ।

२. शुभचन्द्रदेव देशीगण के थे और उनकी गुरुपरंपरा में उनसे पूर्व कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ, बलाकपिच्छ, गुणनन्दि, देवेन्द्र वसुनन्दि, रविचन्द्र, दामनन्दि, वीरनन्दि, श्रीधरदेव, मलधारिदेव, (नेमि) चन्द्रकीर्ति और दिवाकरनन्दि आचार्य हुए।

३. पुस्तक-समर्पण कार्य मंडलिनाडु के भुजबलगंगपेर्माडिदेवकी काकी देमियक्कने श्रुतपंचमी व्रत के उद्यापन के समय किया था।

शुभचन्द्रदेव उक्त गुरुपरंपरा पर से उनका पता लगाना सुलभ हो गया। उक्त परम्परा, एक दो नामों के कुछ भेद के साथ प्राय: वहीं है, जो श्रवणबल्गुल के शिलालेख नं. ४३ (११७) में पाई जाती है। यही नहीं, किन्तु धवला की प्रशस्ति के तीन पद्य ज्यों के त्यों उक्त शिलालेख में भी पाये जाते हैं। (पद्य नं. १२, १३ और २१)। लेख में शुभचन्द्रदेव के स्वर्गवास का समय निम्न प्रकार दिया गया है -

वाणाम्भोधिनभश्शशांकतुलिते जाते शकाब्दे ततो
वर्षे शोभकृताह्वये व्युपनते मासे पुनः श्रावणे।
पक्षे कृष्णविपक्षवर्त्तिनि सिते वारे दशम्यां तिथौ
स्वर्यातः शुंभचन्द्रदेवगणभृत् सिद्धांतवारांनिधिः ।।

अर्थात् शुभचन्द्रदेव का स्वर्गवास शक संवत् १०४५ श्रावण शुक्ल १० दिन सिंतवार (शुक्रवार) को हुआ। उनकी निषद्या पोय्सल-नरेश विष्णुवर्धन के मंत्री गंगराज ने निर्माण कराई थी।

शिमोग से मिले हुए एक दूसरे शिलालेख में बन्नियकेरे चैत्यालय के निर्माण का समय शक सं. १०३५ दिया हुआ है और उसमें मन्दिर के लिये भुजबलगंगपेर्माडिदेवद्धारा दिये गये दान का भी उल्लेख है। अन्त में देशीगण के शुभचंद्रदेव की प्रशंसा भी की गई है। (एपीग्राफिआ कर्नाटिका, जिल्द ८, लेख नं. ९७)

खोज करने से धवला प्रति का दान करने वालीश्राविका देमियक्कका पता भी श्रवणबेल्गुल के शिलालेखों से चल जाता है। लेख नं. ४६ में शुभचन्द्र मुनि की जयकार के पश्चात् नागले माता की सन्तति दंडनायकित्ति लक्कले, देमति और बूचिराज का उल्लेख है और बूचिराज की प्रशंसा के पश्चात् कहा गया है कि वे शक १०३७ बैशाख सुदि १० आदित्यवार को सर्व परिग्रह त्याग पूर्वक स्वर्गवासी हुए और उन्हीं की स्मृति में सेनापति गंगने पाषाण स्तम्भ आरोपित कराया। लेख के अन्त में 'मूलसंघ देशीगण पुस्तक गच्छ के

शुभचंद्र सिद्धान्तदेव के शिष्य बूचण की निषद्या' ऐसा कहा गया है। इस लेख में जो बूचणकी ज्येष्ठ भगिनी देमतिका उल्लेख आया है, उसका सविस्तर वर्णन लेख नं. ४९ (१२९) में पाया जाता है जो उनके संन्यासमरण की प्रशस्ति है। यहां उनके नाम-देमति, देमवती, देवमती तथा दोबार देमियक्क दिये गये हैं और उन्हें मूलसंघ देशीगण पुस्तक गच्छ के शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्य तथा श्रेष्ठिराज चामुण्ड की पत्नि कहा है। उनकी धर्मबुद्धि की प्रशंसा तो लेख में खूब की गई है। उन्हें शासन देवता का आकार कहा है, तथा उनके आहार, अभय, औषध और शास्त्रदान की स्तुति की गई है। उस लेख के कुछ पद्य इस प्रकार हैं :-

१

आहारं त्रिजगज्जनाय विभयं भीताय दिव्यौषधं,
व्याधिव्पापदुपेतदीनमुखिने श्रोत्रि च शास्त्रागमम्।
एवं देवमतिस्सदैव ददती प्रप्रक्षये स्वायुषा -
मर्हद्देवमतिं विधाय विधिना दिव्यौ वधू: प्रोदभूत् ॥ ४ ॥

२

आसीत्परक्षोभकरप्रतापाशेषावनीपालकृतादरस्य।
चामुण्डनाम्नो वणिज: प्रिया स्त्री मुख्या सती या भुति देमतीति ॥ ५ ॥

३

भूलोकचैत्यालय चैत्यपूजाव्यापारकृत्यादरतोऽवतीर्णा ।
स्वर्गात्सुरस्त्रीति विलोक्यमाना पुण्येन लावण्यगुणेन यात्र ॥ ६ ॥

४

आहारशास्त्राभयभेषजानां दायिन्यलं वर्णचतुष्टयाय।
पश्चात्समाधिक्रियया मृदन्ते स्वस्थानवत्स्व: प्रविवेश योद्धै: ॥ ७ ॥

५

सद्धर्मशत्रुं कलिकालराजं जित्वा व्यवस्थापितधर्मवृत्या।
तस्या जयस्तम्भनिभंशिलाया स्तम्भं व्यवस्थापयति स्म लक्ष्मी: ॥ ८ ॥

लेख के अन्त में उनके संन्यास विधि से देहत्याग का उल्लेख इस प्रकार है :-

श्री मूलसंघद् देशिगगणद पुस्तकगच्छद शुभचन्द्रसिद्धान्तदेवर् गुड्डि सक वर्ष १०४२ नेय विकारि संवत्सरद फाल्गुण ब.११ बृहबार दन्दु संन्यासन विधियि देमियक्कमुडिपिदलु ।

अर्थात् मूलसंघ, देशीगण, पुस्तकगच्छ के शुभचन्द्रदेव की शिष्या देमियक्कने शक १०४२ विकारिसंवत्सर फाल्गुन ब.११ बृहस्पतिबार को संन्यासविधि से शरीरत्याग किया।

उक्त परिचय पर से संभव तो यही जान पड़ता है कि धवला की प्रति का दान करने वाली धर्मिष्ठा साध्वी देमियक्क ये ही होंगीं, जिन्होंने शक १०४२ में समाधिमरण किया। तथा उनके भतीजे भुजबलि [१] गंगपेर्माडिदेव जिनका धवला की प्रशस्ति में उल्लेख है उनके भ्राता बूचिराज के ही सुपुत्र हों तो आश्चर्य नहीं। उस व्रतोद्यापन के समय बूचिराज का स्वर्गवास हो चुका होगा, इससे उनके पुत्र का उल्लेख किया गया है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो धवला की प्रति जो संभवत: मूड़बिद्री की वर्तमान ताड़पत्रीय प्रति ही हो और जो शक ९५० के लगभग लिखाई गई थी, बूचिराज के स्वर्गवास के पश्चात् और देमियक्क के स्वर्गवास के पूर्व अर्थात् शक १०३७ और १०४२ के बीच शुभचन्द्रदेव के सुपुर्द की गई, ऐसा निष्कर्ष निकलता है। पर यह भी संभव है कि श्रीमति देमियक्क ने पुरानी प्रति की नवीन लिपि कराकर शुभचंद्र को प्रदान की और उसमें पूर्व प्रति के बीच-बीच के पद्य भी लेखक ने कापी कर लिये हों।

प्रशस्ति के अन्तिम भाग में तीन कनाड़ी के पद्य हैं जिनमें से प्रथमपद्य 'श्री कुपणं' आदि में कोपण नाम के प्रसिद्ध पुरकी कीर्ति और शेष दो पद्यों में जिन्न नाम के किसी श्रावक के यश का वर्णन किया गया है। कोपण प्राचीन काल में जैनियों का एक बड़ा तीर्थस्थान रहा है। चामुंडराय पुराण के 'असिधारा व्रतदिदे' आदि एक पद्य से अवगत होता है कि तत्कालीन जैनी कोपण में सल्लेखना पूर्वक देहत्याग करना विशेष पुण्यप्रद मानते थे। श्रवणबेल्गोल के अनेक लेखों में इस पुण्य भूमिका उल्लेख पाया जाता है। लेख नं. ४७ (१२७) शक संवत् १०३७ का है। इसमें एक पद्य में कहा गया है कि सेनापति गंग ने असंख्य जीर्ण जैनमंदिरों का उद्धार कराकर तथा उत्तम पात्रों को उदार दान देकर गंगवाडिदेश को 'कोपण' तीर्थ बना दिया। यथा -

---

१ भुजबलवीर होय्सल नरेशों की उपाधि पाई जाती है। देखो शिलालेख नं. १३८, १४३, ४९१, ४९४, ४९७.

मत्तिन मातवन्तिरलि जीर्ण जिनाश्रयकोध्यि क्रमं
बेत्तिरे मुन्निनन्तिरनितूर्गलोलं नेरे माडिसुत्तम-
त्युत्तमपात्रदानदोत्वं मेरेवुत्तिरे गङ्गवाडितो -
म्बत्तरु सासिरं कोपणमादुदु गङ्गणदण्डनाथनि ।।३९।।

इससे कोपण तीर्थ की भारी महिमा का परिचय मिलता है।

लगभग शक सं. १०८७ के लेख नं. १३७ (३४५) में हुल्ल सेनापति द्वारा कोपण महातीर्थ में जैन मुनिसंघ के निश्चिन्त अक्षय दान के लिये बहुत सुवर्ण व्यय से खरीदकर एक क्षेत्र की वृत्ति लगाई जाने का उल्लेख है। यथा -

प्रियदिन्दं हुल्लसेनापति कोपणमहातीर्थदोळधात्रियुंवा -
द्वियुमुल्लन्नं चतुर्विंशति-जिन-मुनि-संघके निश्चिन्तमाग
क्षय दानं सल्व पाङ्गि बहु-कनम-मना-क्षेत्र-जिर्गतु सद्वृ-
त्तियनिन्तीलोक मेल्लम्पोगळे विडिसिदं पुण्यपुंजैकधामं ।। २७ ।।

इससे ज्ञात होता है कि यहां मुनि आचार्यों का अच्छा जुटाव रहा करता था और संभवतः कोई जैन शिक्षालय भी रहा होगा।

लगभग १०५७ के लेख नं. १४४ (३८४) के एकपद्यम सेनापति एच द्वारा कोपण व अन्य तीर्थस्थानों में जिन मंदिर बनवाये जाने का उल्लेख है। यथा -

माडिसिदंजितेन्द्रभवनङ्गलना कोपणादि तीर्थदळु
रूढियिनेल्दो-वेत्तेसेव बेल्गोलदळु बहुचित्रभित्तियं।
नोडिदरं मनङ्गोळि पुवेम्बिनमेच-चमूपनत्थि कै -
गूड़े धारित्रिकोण्डु कोनेदाडे जसम्नलिदाडे लीलेयिं ।। १३ ।।

निज़ाम हैद्राबाद स्टेट के रायचूर जिले में एक कोप्पल नाम का ग्राम है, यही प्राचीन कोपण सिद्ध होता है। वर्तमान में वहां एक दुर्ग तथा चहार दीवाली है जो चालुक्य कालीन कला के द्योतक समझे जाते हैं। इनके निर्माण में प्राचीन जैन मंदिरों के चित्रित पाषाण आदि का उपयोग दिखाई दे रहा है। एक जगह दीवाल में कोई बीस शिलालेखों के टुकड़े चुने हुए पाये जाते हैं। इस स्थान पर व उसके आसपास कोई दस बीस कोस की इर्दगिर्द में अशोक के काल से लगाकर इस तरफ के अनेक लेख व अन्य प्राचीन स्मारक पाये जाते हैं।

कोपण के समीप ही पाल्कीगुण्डु नामक पहाड़ी पर, अशोक के शिलालेख के पास बरांगचरित के कर्ता जटासिंहनन्दि के चरणचिन्ह भी, पुरानी कन्नड में लेखसहित, अंकित है। (वरांगचरित, भूमिका पृ.१७ आदि)

इस प्रकार यह स्थान बड़ा प्राचीन, इतिहास प्रसिद्ध और जैनधर्म के लिये बहुत महत्वपूर्ण रहा है [१]।

सत्प्ररूपणा विभाग (पु.२)

षट्खंडागम की पूर्व प्रकाशित प्रथम पुस्तक तथा अब प्रकाशित होने वाली द्वितीय पुस्तक को हमने 'सत्प्ररूपणा' के नाम से प्रकट किया है। प्रथम जिल्द के प्रकाशित होने पर शंका उठाई गई है कि उस ग्रंथ को सत्प्ररूपणा न कहकर 'जीवस्थान-प्रथम अंश' ऐसा लिखना चाहिये था। इसके उन्होंने दो कारण बतलाये हैं। एक तो यह कि इस विभाग के भीतर जो मंगचाचरण है वह केवल सत्प्ररूपणा का नहीं है बल्कि समस्त जीवस्थान खंडका है और दूसरे यह कि इसके आदि में जो विषय-विवरण पाया जाता है वह सत्प्ररूपणा के बाहर का है, सत्प्ररूपणा का अंग नहीं [२]। इन दोनों आपत्तियों पर विचार करके भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि हमने जो इस विभाग को 'जीवस्थान का प्रथम अंश' न कहकर 'सत्प्ररूपणा' कहा है वही ठीक है। इसके कारण निम्न प्रकार है -

१. यह बात ठीक है कि आदि का मंगलाचरण केवल सत्प्ररूपणाका ही नहीं, किन्तु समस्त जीवस्थान का है। पर, अवान्तर विभागों की दृष्टि से सत्प्ररूपणा के भीतर उसे लेने से भी वह समस्त जीवस्थान का बना रहता है। सब ग्रंथों में मंगलाचरण की यही व्यवस्था पायी जाती है कि वह ग्रंथ के आदि में किया जाता है और जो भी खंड, स्कंध, सर्ग, अध्याय व विषय विभाग आदि में हो उसी के अन्तर्गत किये जाने पर भी वह समस्त ग्रंथ का समझा जाता है। समस्त ग्रंथ पर उसका अधिकार प्रकट करने के लिये उसका एक स्वतंत्र विभाग नहीं बनाया जाता। अतएव जीवस्थान ही क्यों, जहां तक ग्रन्थ में सूत्रकारकृत दूसरा मंगलाचरण न पाया जावे वहां तक उसी मंगलाचरण का अधिकार समझना चाहिये, चाहे विषय की दृष्टि से ग्रंथ में कितने ही विभाग क्यों न पड़ गये हों। स्वयं धवलाकार ने आगे वेदना खंड व कृति अनुयोग द्वार के आदि में आये हुए मंगलाचरण को शेष दोनों खंडों

१ देखो जैनसि. भा. ५, २ पृ. ११०

२ अनेकान्त, वर्ष २, किरण ३, पृ. २०१

व तेवीस अधिकारों का भीमंगलाचरण कहा है। यथा -

उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खंडाणं ? ..... कधं वेयणाए आदीए उत्तं मंगलं सेस-दो-खंडाणं होदि ? ण, कदीए आदिम्हि उत्तस्स एदस्स मंगलस्स सेस-तेबीस-अणि योगद्दारेसु पउत्ति-दंसणादो।

ऐसी अवस्था में णमोकार मंत्ररूप मंगलाचरण के सत्प्ररूपणा के आदि मेंहोते हुए भी उसके समस्त जीवस्थान के मंगलाचरण समझे जाने में कोई आपत्ति तो नहीं होना चाहिये।

२ यथार्थत. तो वह मंगलाचरण सत्प्ररूपणा का ही है। आचार्य पुष्पदन्त ने उस मंगलाचरण को आदि लेकर सत्प्ररूपणा मात्र के ही सूत्रों की रचनाकी है। यदि हम इसे भूतबलि आचार्य की आगे की रचना से पृथक कर लें तो पुष्पदन्त की रचना उस मंगलसूत्र सहित सत्प्ररूपणा ही तो कहलायगी। जीवस्थान का प्रथम अंश यही सत्प्ररूपणा ही तो है।

३ यदि इस अंश को सत्प्ररूपणा न कह कर जीवस्थान का एक अंश कहते तो पाठक उससे क्या समझते ? इस नाम से उसके विषय पर क्या प्रकाश पड़ता ? वह एक अज्ञात कुलशील और निरुपयोगी शीर्षक सिद्ध होता।

४ हमने जो ग्रंथ का विषय-विभाग किया है वह मूलग्रंन्थ पुष्पदन्त और भूतबलिकृत षट्खंडागम की अपेक्षा से है, और उसमें सत्प्ररूपणा से पूर्व किसी और विषय विभाग के लिये स्थान नहीं है। मंगलाचरण के पश्चात् छह सात सूत्रों में सत्प्ररूपणा का यथोचित स्थान और कार्य बतलाने के लिये चौदह जीवसमासों और आठ अनुयोग द्वारों का उल्लेखमात्र करके सत्प्ररूपणा का विवेचन प्रारम्भ कर दिया गया है। धवलाटीका के कर्ता ने उन सूत्रों की व्याख्या के प्रसंग से जीव स्थान की उत्थानिका का कुछ विस्तार से वर्णन कर डाला तो इससे क्या उस विभाग को सत्प्ररूपणा से अलग निर्दिष्ट करने के लिये एक नये शीर्षक की आवश्यकता उत्पन्न हो गई ? ऐसा हमें जान नहीं पड़ता। षट्खंडागम के भीतर जो सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट विषय विभाग हैं उन्हीं के अनुसार विभाग रखना हमनें उचित समझा है। धवलाकार ने भी आदि से लगाकर १७७ सूत्रों की क्रमसंख्या लगातार रखी है और उनकी एक ही सिलसिले से टीका की है जिसे उन्होंने 'संतसुत्तविवरण' कहा है जैसा कि प्रस्तुत भाग के प्रारंभिक वाक्य से स्पष्ट है। यथा -

'संपहि संत-सुत्त-विवरण-समत्ताणंतरं तेसिं परूवणं भणिस्सामो '।

वर्गणाखंड - विचार

षट्खंडागम के छह खंडों का परिचय मुखबन्ध में कराया जा चुका है। वहां वह बतलाया गया है कि उन छह खंडों में से प्रथम पांच अर्थात् जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्तविचय, वेदणा और बग्गणा उपलब्ध धवला की प्रतियों में निबद्ध हैं तथा शेष छठवां अर्थात् महाबंध स्वतंत्र पुस्तकारूढ है, जिसकी प्रतिलिपि अभी तक मूडविद्री मठ के बाहर उपलब्ध नहीं है। इनमें से चार खंडों के सम्बन्ध में तो कोई मतभेद नहीं है, किन्तु वेदना और वर्गणा खंड की सीमाओं के सम्बंध में एक शंका उत्पन्न की गई है जो यह है कि ''धवलग्रंथ वेदना खंड के साथ ही समाप्त हो जाता है - वर्गणाखंड उसके साथ में लगा हुआ नहीं है''। इस मत की पुष्टि में जो युक्तियां दी गई हैं वे संक्षेपतः निम्न प्रकार हैं -

१ जिस कम्मपयडिपाहुड के चौबीस अधिकारों का पुष्पदन्त-भूतबलिने उद्धार किया है उसका दूसरा नाम 'वेयणकसिणपाहुड' भी है जिससे उन २४ अधिकारों का 'वेदनाखंड' के ही अंतर्गत होना सिद्ध होता है।

२. चौबीस अनुयोग द्वारों में वर्गणा नाम का कोई अनुयोगद्वार भी नहीं है। एक अवान्तर अनुयोगद्वार के भी अवान्तर भेदान्तर्गत संक्षिप्त वर्गणा प्ररूपणा को 'वर्गणाखंड' कैसे कहा जा सकता है ?

३. वेदनाखंड के आदि के मंगलसूत्रों की टीका में वीरसेनाचार्य ने उन सूत्रों को उपर कहे हुए वेदना, बंधसामित्तविचय और खुद्दाबंध का मंगलाचरण बतलाया है और यह स्पष्ट सूचना की है कि वर्गणाखंड के आदि में तथा महाबंधखंड के आदि में पृथक् मंगलाचरण किया गयाहै उपलब्ध धवला के शेष भाग में सूत्रकारकृत कोई दूसरा मंगलाचरण नही देखा जाता, इससे वहवर्गणाखंड की कल्पना गलत है।

४. धवला में जो 'वेयणाखंड समत्ता' पद पाया जाता है वह अशुद्ध है। उसमें पड़ा हुआ 'खंड' शब्द असंगत है जिसके प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह मालूम नहीं होता।

५. इन्द्रनन्दि व विबुधश्रीधर जैसे ग्रंथकारों ने जो कुछ लिखा है वह प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है। उनमे सामने मूल ग्रंथ नहीं थे, अतएव उनकी साक्षी को कोई महत्व नहीं दिया जा सकता।

६. यदि वर्गणाखंड धवला के अन्तर्गत था तो यह भी हो सकता है कि लिपिकार ने

शीघ्रता वश उसकी कापी न की हो और अधूरी प्रति पर पुरस्कार न मिल सकने की आशंका से उसने ग्रंथ की अन्तिम प्रशस्ति को जोड़कर ग्रंथ को पूरा प्रकट कर दिया हो।[१]

अब हम इन युक्तियों पर क्रमशः विचार कर ठीक निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयत्न करेंगें।

१. वेयणकसिणपाहुड और वेदनाखंड एक नहीं हैं।

यह बात सत्य है कि कम्मपयडिपाहुड का दूसरा नाम वेयणकसिणपाहुड भी है और यह गुण नाम भी है, क्योंकि वेदना कर्मों के उदय को कहते हैं और उसका निरवशेषरूप से जो वर्णन करता है उसका नाम वेयणकसिणपाहुड (वेदनकृत्स्नप्राभृत) है। किन्तु इससे यह आवश्यक नहीं हो जाता कि समस्त वेयणकसिणपाहुड वेदनाखंड के ही अन्तर्गत होना चाहिये, क्योंकि यदि ऐसा माना जावे तब तो छह खंडों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और समस्त षट्खंड वेदनाखंड के ही अन्तर्गतमानना पड़ेंगे चूंकि जीवट्ठाणआदि सभी खंडों में इसी वेयणकसिणपाहुड के अंशों का ही तो संग्रह किया गया है जैसा कि प्रथम जिल्द की भूमिका में दिये गये मानचित्रों तथा संतपरूवणापृ. ७४ आदि के उल्लेखों से स्पष्ट है। यह खंड-कल्पना कम्मपयडिपाहुड या वेयणकसिणपाहुड के अवान्तर भेदों की अपेक्षा से की गई है कि किसी एक खंड को समूचेपाहुड का अधिकारी नहीं बनाया गया। स्वयं धवलाकार ने वेदनाखंड को महाकम्मपयडिपाहुड समझ लेने के विरुद्ध पाठकोंको सतर्क कर दिया है। वेदनाखंड के आदि में मंगल के निबद्ध अनिबद्ध का विवेक करते समय वे कहते हैं -

'ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडिपाहुडं, अवयवस्स अवयविक्तविरोहादो'

अर्थात् वेदनाखंड महाकर्मप्रकृतिप्राभृत नहीं है, क्योंकि अवयव को अवयवी मान लेने में विरोध उत्पन्न होता है। यदि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के चौबीसों अनुयोगद्वार वेदनाखंड के अन्तर्गत होते तो धवलाकार उन सबके संग्रह को उसका एक अवयव क्यों मानते ? इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि वेदनाखंड के अन्तर्गत उक्त चौबीसों अनुयोगद्वार नहीं हैं।

२. क्या वर्गणा नाम का कोई पृथक् अनुयोगद्वार न होने से उसके नाम पर खंड संज्ञा नहीं हो सकती ?

कम्मपयडिपाहुड के चौबीस अनुयोग द्वारों में वर्गणा नाम का कोई अनुयोगद्वार नहीं है, यह बिल्कुल सत्य है, किन्तु किसी उपभेद के नाम से वर्गणाखंड नाम पड़ना कोई

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर ६, १ पृ. ४२, अनेकान्त ३, १ पृ. ३.

असाधारण घटना तो नहीं कही जा सकती। यथार्थत: अन्य खडों में एक वेदनाखंड को छोड़कर अन्य शेष सब खडों के नाम या तो विषयानुसार कल्पित हैं, जैसे जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, व महाबंध। या किसी अनुयोगद्वार के, उपभेद के नामानुसार है, जैसे बंधसामित्तविचय। उसी प्रकार यदि वर्गणा नामक उपविभाग पद से उसके महत्व के कारण एक विभाग का नाम वर्गणाखंड रखा गया हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। चौबीस अधिकारों में से जिस अधिकार या उपभेद का प्रधानत्व पाया गया उसी के नाम से तो खंड संज्ञा की गई है, जैसा कि धवलाकारने स्वयं प्रश्न उठाकर कहा है कि कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृतिका भी यहां प्ररूपण होने पर भी उनकी खंडग्रंथ संज्ञा न करके केवल तीन ही खंड कहे जाते हैं क्योंकि शेष में कोई प्रधानता नहीं है और यह उनके संक्षेप प्ररूपण से जाना जाता है [१]। इसी संक्षेप प्ररूपण का प्रमाण देकर वर्गणा को भी खंड संज्ञा से ध्युत करने का प्रयत्न किया जाता है। पर संक्षेप और विस्तार आपेक्षित शब्द है, अतएव वर्गणा का प्ररूपण धवला में संक्षेप से किया गया है या विस्तार से यह उसके विसतार का अन्य अधिकारों के विस्तार से मिलान द्वारा ही जाना जा सकता है। अतएव उक्त अधिकारों के प्ररूपण - विस्तार को देखिये। बंधसामित्तविचय खंड अमरावती प्रति के पत्र ६६७ पर समाप्त हुआ है। उसके पश्चात् मंगलाचरण व श्रुतावतार आदि विवरण ७१३ पत्र तक चलकर कृतिका प्रारंभ होता है जिसका ७५६ तक ४३ पत्रों में, वेदनाका ७५६ से ११०६ तक ३५० पत्रों में, स्पर्श का ११०६ से १११४ तक ८ पत्रों में, कर्म का १११४ से ११५९ तक ४५ पत्रों में, प्रकृति का ११५९ से १२०९ तक ५० पत्रों में और बंधन के बंध और बंधनीय का १२०९ से १३३२ तक १२३ पत्रों में प्रारूपण पाया जाता है। इन १२३ पत्रों में से बंध का प्ररूपण प्रथम १० पत्रों में ही समाप्त कर दिया गया है, यह कहकर कि-

'एत्थ उद्देसेखुद्दाबंधस्स एक्कारस-अणियोगद्दाराणं परूवणा कायव्वा'।

इसके आगे कहा गया है कि -

'तेण बंधणिज्ज-परूवणे कीरमाणे वग्गण-परूवणा णिच्छएण कायव्वा, अण्णहा तेबीस-वग्गाणासु इमाचेव वग्गणा बंधपाओग्गा अण्णाओ बंधपाओग्गाओ ण होंति त्ति अवगमाणुववत्तीदो। वग्गणाणमणुमग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भंवति'इत्यादि।

अर्थात् बंधनीय के प्ररूपण करने में वर्गणा की परूपण निष्चयत: करना चाहिये,

---

१ देखो संतपरूपणा, जिल्द ?, टिप्पणी.

अन्यथा तेईस वर्गणाओं में ये ही वर्गणाएं बंध के योग्य हैं अन्य वर्गणाएं बंध के योग्य नहीं हैं, ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। उन वर्गणाओं की मार्गणा के लिये ये आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं। इत्यादि

इस प्रकार पत्र १२१९ से वर्गणा का प्ररूपण प्रारंभ होकर पत्र १३३२ पर समाप्त होता है, जहां कहा गया है कि -

'एवं विस्ससोवचयपरूवणाए समत्ताए बाहिरियवग्गणा समत्ता होदि'।

इस प्रकार वर्गणा का विस्तार ११३ पत्रों में पाया जाता है, जो उपर्युक्त पांच अधिकारों में से वेदना को छोड़कर शेष सबसे कोई दुगुना व उससे भी अधिक पाया जाता है। पूरा खुद्दाबंधखंड ४७५ से ५७६ तक १०१ पत्रों में तथा बंधसामित्तविचयखंड ५७६ से ६६७ तक ९१ पत्रों में पाया जाता है। किन्तु एक अनुयोगद्वार के अवसन्तर के भी अवान्तर भेद वर्गणा का विस्तार इन दोनों खंडों से अधिक है। ऐसी अवस्था में उसका प्ररूपण संक्षिप्त कहना चाहिये या विस्तृत और उससे उसे खंड संज्ञा प्राप्त करने योग्य प्रधानत्व प्राप्त हो सका या नहीं, यह पाठक विचार करें।

३. वेदनाखंड के आदि का मंगलाचरण और कौन-कौन खंडों का है ?

वेदनाखंड के आदि में मंगलसूत्र पाये जाते हैं। उनकी टीका में धवलाकार ने खंडविभाग व उनमें मंगलाचरण की व्यवस्था संबंधी जो सूचना दी है उसको निम्न प्रकार उद्धृत किया जाता है-

'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदंमंगलं ? तिण्णं खंडाणं। कुदो ? वग्गण-महाबंधाणमादीए मंगलकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदवलिभडारओगंथस्स पारभदि, तस्सअणाइरियत्तपसंगादो... कदि-पास-कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खंडगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णब्बदे ? संखेवेण परूवणादो'।

वर्गणाखंड को धवलान्तर्गत स्वीकार न करने वाले विद्वान् इस अवतरण को देकर उसका यह अभिप्राय निकालते हैं कि - "वीरसेनाचार्य ने उक्त मंगलसूत्रों को ऊपर कहे हुए तीनों खंडों वेदना, बंधसामित्तविचओ और खुद्दाबंधों-का मंगलाचरण बतलाते हुए यह स्पष्ट सूचना की है कि वर्गणाखंड के आदि में तथा महाबंधखंड के आदि में पृथक् मंगलाचरण किया गया है, मंगलाचरण के बिना भूतबलि आचार्य ग्रंथ का प्रारंभ ही नहीं करते हैं। साथ ही यह भी बतलाया है कि जिन कदि, फास, कम्म, पयडि (बंधण) अणुयोगद्वारों का भी यहां

(एत्थ)- इस वेदनाखंड में प्ररूपण किया गया है उन्हें खंडग्रंथ संज्ञा न देने का कारण उनके प्रधानता का अभाव है, जो कि उनके संक्षेप कथन से जाना जाता है। उक्त फास आदि अनुयोग द्वारों में से किसी के भी शुरू में मंगलाचरण नहीं है और इन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा वेदना खंड में की गई है, तथा इनमें से किसी को खंडग्रंथ की संज्ञा नहीं दी गई यह बात ऊपर के शंका समाधान से स्पष्ट है।''

अब इस कथन पर विचार कीजिये। 'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु' का अर्थ किया गया है 'ऊपर कहे हुए तीन खंड, अर्थात् वेदना, बंधसामित्त और खुद्दाबंध'। हमें यहां पर यह याद रखना चाहिये कि खुद्दाबंध और बंधसमिति खंड दूसरे और तीसरे हैं जिनका प्ररूपण हो चुका है, और अभी वेदनाखंड के केवल मंगलाचरण का ही विषय चल रहा है, खंड का विषय आगे कहा जायगा। 'उवरि उच्चमाण' की संस्कृत छाया, जहां तक मैं समझता हूँ 'उपरि उच्यमान' ही हो सकती है, जिसका अर्थ 'ऊपर कहे हुए' कदापि नहीं हो सकता। 'उच्चमान' का तात्पर्य केवल प्रस्तुत या आगे कहे जाने वाले से ही हो सकता है। फिर भी यदि 'ऊपर कहे हुए' ही मान लें तो उससे ऊपर के दो और आगे के एक का समुच्चय कैसे हो सकता है ? ऊपर कहे हुए तीन खंड तो जीवट्ठाण आदि तीन हैं, बाकी तीन आगे कहे जाने वाले हैं। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य का जो अर्थ लगाया गया है वह बिल्कुल ही असंगत है।

अब आगे का शंका-समाधान देखिये। प्रश्न है यह कैसे जाना कि यह मंगल 'उवरि उच्चमाण' तीनों खंडों का है ? इसका उत्तर दिया जाता है 'क्योंकि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल किया गया है'। यदि यहां जिन खंडों में मंगल किया गया है उनको अलग निर्दिष्ट कर देना आचार्य का अभिप्राय था तो उनमें जीवट्ठाण का भी नाम क्यों नहीं लिया, क्योंकि तभी तो तीन खंड शेष रहते, केवल वर्गणा और महाबंध को अलग कर देने से तो चार खंड शेष रह गये। फिर आगे कहा गया है कि मंगल किये बिना भूतबलि भट्टारक ग्रंथ प्रारंभ ही नहीं करते, क्योंकि उससे अनाचार्यत्व का प्रसंग आ जाता है। पर उक्त व्यवस्था के अनुसार तो यहां एक नहीं, दो-दो खंड मंगल के बिना, केवल प्रारंभ ही नहीं, समाप्त भी किये जा चुके; जिनके मंगलाचरण का प्रबंध अब किया जा रहा है, जहां स्वयं टीकाकार कह रहे हैं कि मंगलाचरण आदि में ही किया जाता है, नहीं तो अनाचार्यत्व का दोष आ जाता है। इससे तो धवलाकारका मत स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रंथरचना में आदि मंगल का अनिवार्य रूप से पालन किया गया है। हमने आदिमंगल के अतिरिक्त मध्यमंगल और अन्तमंगल का भी विधान पढ़ा है। किन्तु इन प्रकारों में से किसी भी प्रकार द्वारा वेदनाखंड के आदि का मंगल

खुद्दाबंध का भी मंगल सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह शंका समाधान विषय को समझाने की अपेक्षा अधिक उलझन में ही डालने वाला है।

आगे के शंका समाधान की और भी दुर्दशा की गई है। प्रश्न है कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोगद्वार भी यहां प्ररूपित हैं, उनकी खंडसंज्ञा न करके केवल तीन ही खंड क्यों कहे जाते हैं ? यहां स्वभावत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहां कौन से तीन खंडों का अभिप्राय है ? यदि यहां भी उन्हीं खुद्दाबंध, बंधसामित्त और वेदना का अभिप्राय है तो यह बतलाने की आवश्यकता है कि प्रस्तुत में उनकी क्या अपेक्षा है। यदि चौबीस अनुयोग द्वारों में से उत्पत्ति की यहां अपेक्षा है तो जीवस्थान, वर्गणा और महाबंध भी तो वहीं से उत्पन्न हुए हैं, फिर उन्हें किस विचार से अलग किया गया ? और यदि वेदना, वर्गणा और महाबंध से ही यहां अभिप्राय है तो एक तो उक्त क्रम में भंग पड़ता है और दूसरे वर्गणाखंड के भी इन्हीं अनुयोग द्वारों में अन्तर्भाव का प्रसंग आता है। जिन अनुयोग द्वारों की ओर से खंड संज्ञा प्राप्त न होने की शिकायत उठायी गई है उनमें वेदना का नाम नहीं है। इससे जाना जाता है कि इसी वेदना अनुयोगद्वार पर से वेदनाखंड संज्ञा प्राप्त हुई है। पर यदि 'एत्थ' का तात्पर्य ''इस वेदनाखंड में'' ऐसा लिखा जाता है तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि वे तीनों खंड जिनका उल्लेख किया गया है, वेदनाखंड के अन्तर्गत है। पयडि के आगे बन्धन और क्यों अपनी तरफ से जोड़ा गया जबकि वह मूल में नहीं है, यह भी कुछ समय में नहीं आता। इस प्रकार यह प्रश्न भी बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न करने वाला सिद्ध होता है।

अत: वेदनाखंड के आदि में आये हुए मंगलचरण को खुद्दाबंध और बंधसामित्त का भी सिद्ध करना तथा कृति आदि चौबीसों अनुयोग द्वारों को वेदनाखंडान्तर्गत बतलाना बड़ा बेतुका, वे आधार और सारे प्रसंग को गड़बड़ी में डालने वाला है। यह सब कल्पना किन भूलों का परिणाम है और उक्त अवतरणों का सच्चा रहस्य क्या है यह आगे चलकर बतलाया जायगा। उससे पूर्व शेष तीन युक्तियों पर और विचार कर लेना ठीक होगा।

४. वेदनाखंड समाप्ति की पुष्पिका

धवला में जहां वेदना का प्ररूपण समाप्त हुआ है यहां वह वाक्य पाया जाता है -

एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता।

इसके आगे कुछ नमस्कार वाक्यों के पश्चात् पुन: लिखा मिलता है 'वेदनाखंड समाप्तम्'। ये नमस्कार वाक्य और उनकी पुष्पिका तो स्पष्टत: मूलग्रंथ के अंग नहीं है, वे लिपिकार द्वारा जोड़े गये जान पड़ते हैं। प्रश्न है प्रथम पुष्पिकाका जो मूल ग्रंथ का आवश्यक

अंग है। पर उसमें भी 'वेयणाखंड समत्ता' वाक्य होना चाहिये था। समालोचक का यह भी अनुमान गलत नहीं कहा जा सकता कि इस वाक्य में खंड शब्द संभवत: प्रक्षिप्त हैं, उस शब्द को निकाल देने से 'वेयणा समत्ता ' वाक्य भी ठीक बैठ जाता है। हो सकता है कि वह लिपिकार द्वारा प्रक्षिप्त हुआ हो। पर विचारणीय बात यह है कि वह कब और किसलिये प्रक्षिप्त किया गया हो। इस प्रक्षेप को आधुनिक लिपिकारकृत तो समालोचक भी नहीं कहते। यदि वह प्रक्षिप्त है तो उसी लिपिकारकृत हो सकता है जिसने मूडविद्रीकी ताड़पत्रीय प्रति लिखी। हम अन्यत्र बतला चुके हैं कि वह प्रति संभवत: शक की ९ वीं १० वीं शताब्दि की, अर्थात् आज से कोई हजार आठ सौ वर्ष पुरानी है। उस प्रक्षिप्त वाक्य से उस समय के कम से कम एक व्यक्ति का यह मत तो मिलता ही है कि वह वहां वेदनाखंड की समाप्ति समझता था। उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि उस लेखक की जानकारी में वहीं से दूसरा खंड अर्थात् वर्गणाखंड प्रारंभ हो जाता था, नहीं तो वह वहां वेदनाखंड के समाप्त होने की विश्वासपूर्वक दो दो बार सूचना देने की धृष्टता न करता। यदि वहां खंडसमाप्ति होने का इसके पास कोई आधार न होता तो उसे जबर्दस्ती वहां खंड शब्द डालने की प्रवृत्ति ही क्यों होती ? समालोचक लिपिकार की प्रक्षेपक प्रवृत्ति को दिखलाते हुए कहते हैं कि अनेक अन्य स्थलों पर भी नाना प्रकार के वाक्य प्रक्षिप्त पाये जाते हैं। यह बात सच है, पर जो उदाहरण उन्होंने बतलाया है वहां, और जहां तक मैं अन्य स्थल ऐसे देख पाया हूं वहां सर्वत्र यही पाया जाता है कि लेखक ने अधिकारों की संधि आदि पाकर अपने गुरु या देवता का नमस्कार या उनकी प्रशस्ति संबंधी वाक्य या पद्य इधर-उधर डाले हैं। यह पुराने लेखकों की शैली सी रही है। पर ऐसा स्थल एक भी देखने में नहीं आता जहां पर लेखक ने अधिकार संबंधी सूचना गलत गलत अपनी ओर से जोड़ या घटा दी हो। अतएव चाहे वह खंड शब्द मौलिक हो और चाहे किसी लिपिकार द्वारा प्रक्षिप्त, उससे वेदना खंड के वहां समाप्त होने की एक पुरानी मान्यता तो प्रमाणित होती ही है।

५. इन्द्रनन्दि की प्रामाणिकता

इन्द्रनन्दि और विबुध श्रीधर ने अपने अपने श्रुतावतार कथानकों में षटखंडागम की रचना व धवलादि टीकाओं के निर्माण का विवरण दिया है। विबुध श्रीधर का कथानक तो बहुत कुछ काल्पनिक है, पर उसमें भी धवलान्तर्गत पांच या छह खंडोंवाली वार्ता में कुछ अविश्वनीयता नहीं दिखती इन्द्रनन्दि ने प्रकृत विषय से संबंध रखने वाली जो वार्ता दी है उसको हम प्रथम जिल्द की भूमिका में पृ. ३० पर लिख चुके हैं। उसका संक्षेप यह है कि वीरसेन ने उपरितन निबन्धनादि उठारह अधिकार लिखे और उन्हें ही सत्कर्मनाम छठवां

खंड संक्षेपरूप बनाकर छह खंडों की बहत्तर हजार ग्रंथप्रमाण, प्राकृत संस्कृत भाषा मिश्रित धवलाटीका बनाई। उनके शब्दों का धवलाकार के उन शब्दों सेमिलान कीजिये जो इसी संबंध के उनके द्वारा कहे गये हैं। निबन्धनादि विभाग को यहां भी 'उवरिम ग्रंथ' कहा है और अठारह अनुयोग द्वारों को संक्षेप में प्ररूपण करने की प्रतिज्ञा की गई है। धरसेन गुरुद्वारा श्रुतोद्धार का जो विवरण इंद्रनन्दिने दिया है वह प्राय: ज्यों का त्यों धवलाकार के वृतान्त से मिलता है। यह बात सच है कि इन्द्रनन्दि द्वारा कही गयी कुछ बातें धवलान्तर्गत वार्ता से किंचित् भेद रखती हैं। किन्तु उन पर से इन्द्रनन्दिको सर्वथा अप्रामाणिक नहीं ठहराया जा सकता, विशेषत खंडविभाग जैसे स्थूल विषय पर। यद्यपि इन्द्रनन्दि का समय निर्णीत नहीं है, पर उनके संबंध में पं नाथूरामजी प्रेमी का मत है कि ये वे ही इन्द्रनन्दि हैं जिनका उल्लेख आचार्यनेमिचन्द्र ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ३९६ वीं गाथा में गुरु रूप से किया है जिससे वे विक्रम की ११ हवीं शताब्दि के आचार्य ठहरते हैं[१]। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है। वीरसेन व धवला की रचना का इतिहास उन्होंने ऐसा दिया है जैसे मानो वे उससे अच्छी तरह निकटता से सुपरिचित हों। उनके गुरु एलाचार्य कहां रहते थे, वीरसेन ने उनके पास सिद्धान्त पढ़कर कहां कहां जाकर, किस मंदिर में बैठकर, कौनसा ग्रंथ साम्हने रखकर अपनी टीका लिखी यह सब इन्द्रनन्दिने अच्छी तरह बतलाया है जिसमें कोई बनावट व कृत्रिमता दृष्टिगोचर नहीं होती, बल्कि बहुत ही प्रामाणिक इतिहास जंचता है। उन्होंने कदाचित् धवला, जयधवला का सूक्ष्मावलोकन भले ही न किया हो और शायद नोट्स ले रखने का भी उस समय रिवाज न हो, पर उनकी सूचनाओं पर से यहबात सिद्ध नहीं होती कि धवल जयधवल ग्रंथ उनके साम्हने मौजूद ही नहीं थे। उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं लिखी जिसकी इन ग्रंथों की वार्ता से इतनी विषमता हो जो पढ़कर पीछे स्मृति के सहारे लिखनेवाले द्वारा न की जा सकती हो। इसके अतिरिक्त उनका ग्रंथ अभी तक प्राचीन प्रतियों से सुसंपादित भी नहीं हुआ है। किसी एकाध प्रति पर से कभी छाप दिया गया था, उसी की कापी हमारे साम्हने प्रस्तुत है। उन्होंने जो वार्ता किवदन्तियों व सुने-सुनाये आधार पर से लिखी हो वह भी उन्होंने बहुत सुव्यवस्थित करके, भरसक जांच पड़ताल के पश्चात्, लिखी है और इसी तरह वे बहुत सी ऐसी बातों पर प्रकाश डाल सके जो धवलादि में भी व्यवस्थित नहीं पायी जाती, जैसे धवला से पूर्व कीटीकायें व टीकाकार आदि। वे कैसे प्रामाणिक और निर्भीक तथा अपनी कमजोरियों को स्वीकार कर लेने वाले निष्पक्ष ऐतिहासिक थे वह उनके उस वाक्य पर से सहज ही जाना जा सकता है जहां उन्होंने साफ- साफ कह दिया है कि

---

१ मा. दि. जै. ग्रंथमाला नं १३, भूमिका पृ २

गुणधर और धरसेन गुरुओं की पूर्वा पर आचार्य परम्परा हम नहीं जानते क्योंकि न तो हमें वह बात बतलानेवाला कोई आगम मिला और न कोई मुनिजन [१]। कितनी स्पष्टवादिता, साहित्यिक सचाई और नैतिकबल इस अज्ञान की स्वीकारता में भरी हुई है ? क्या इन वाक्यों को लिखने वाले की प्रामाणिकता में सहज ही अविश्वास किया जा सकता है ?

६. मूडविद्री से प्रतिलिपि करने वाले लेखक की प्रामाणिकता

जिस परिस्थिति में और जिस प्रकार से धवला और जयधवला की प्रतियां मूडबिद्री से बाहर निकली हैं उसका हम प्रथम जिल्द की भूमिका में विवरण दे आये हैं। उस पर से उपलब्ध प्रतियों की प्रामाणिकता में नाना प्रकार के सन्देह करना स्वाभाविक है। अतएव जो धवला के भीतर वर्गणाखंड का होना नहीं मानते उन्हें यह भी कहने को मिल जाता है कि यदि मल धवला में वर्गणाखंड रहा भी हो तो उक्त लिपिकार ने उसे अपना परिश्रम बचाने के लिये जानबूझकर छोड़ दिया होगा और अन्तिम प्रशस्ति आदि जोड़कर अपने ग्रंथकों को पूरा प्रकट कर दिया होगा ताकि उसके पुरस्कारादि में फरक न पडे। इस कल्पना की सचाई झुठाई का पूरा निर्णय तो तभी हो सकता है जब यह ग्रंथ ताड़पत्रीय प्रति से मिलाया जा सके। पर उसके अभाव में भी हम इसकी संभावना की जांच दो प्रकार से कर सकते हैं। एक तो उस लेखक की कार्य की परीक्षा द्वारा और दूसरे विद्यमान धवला की रचना की परीक्षा द्वारा। धवला के संशोधन संपादन संबंधी कार्य में हमें इस बात का बहुत कुछ परिचय मिला है कि उक्त लेखक ने अपना कार्य कहां तक ईमानदारी से किया है। हमें जो प्रतियां उपलब्ध हुई हैं वे मूडविद्री से आई हुडी कनाडी प्रतिलिपि की नागरी प्रति की कापी की भी कापियां हैं। वे बहुत कुछ स्खलन-प्रचुर और अनेक प्रकार से दोष पूर्ण हैं। पर तो भी तीन प्रतियों के मिलान से ही पूरा और ठीक पाठ बैठा लेना संभव हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि जो स्खलन इन आगे की प्रतियों में पाये जाते हैं वे उस कनाड़ी प्रतिलिपि में नहीं हैं। यद्यपि कुछ स्थल इन सब प्रतियों के मिलान से भी पूर्ण या निस्सन्देह निर्णीत नहीं हो पाते और इसलिये संभव है वे स्खलन उसी प्रथम प्रतिलिपिकार द्वारा हुए हों, पर इस ग्रंथ की लिपि, भाषा और विषय संबंधी कठिनाइयों को देखते हुए हमें आश्चर्य इस बात का नहीं है कि वे स्खलन हैं, किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि वे बहुत ही थोड़े और मामूली हैं, जो किसी भी लेखक के द्वारा अपनी शक्तिभर सावधानी रखने पर भी, हो सकते हैं। जो लेखक एक खंड के खंड को छोड़कर प्रशस्ति आदि मिलाकर ग्रंथ को पूरा प्रकट करने का दु:साहस कर सकता है, उसके

१. संतपरूपणा, जिल्द १, भूमिका पृ. १५

द्वारा शेष लिखाई भी ईमानदारी के साथ किये जाने की आशा नहीं की जा सकती। पर उक्त लेखक का अभी तक हम जो परिचय धवलापर परिश्रम करके प्राप्त कर सके हैं, उस पर से हम दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि उसने अपना कार्य भरसक ईमानदारी और परिश्रम से किया है। उस पर से उसके द्वारा एक खंड को छोड़कर ग्रंथ को पूरा प्रकट कर देने जैसे छल-कपट किये जाने की शंका करने को हमारा जी बिल्कुल नही चाहता।

पर यदि ऐसा छल कपट हुआ है तो धवला की जांच द्वारा उसका पता लगाना भी कठिन नहीं होना चाहिये। धवला की कुल टीका का प्रमाण इन्द्रनन्दिने बहत्त हजार और ब्रह्महेमने सत्तर हजार बतलाया है। हमारे सन्मुख धवला की तीन प्रतियां मौजूद हैं, जिनकी श्लोक संख्या की हमने पूरी कठोरता से जांच की। अमरावती की प्रति में १४६५ पत्र अर्थात् २९३० पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ पर १२ पंक्तियां लिखी गई हैं। प्रत्येक पंक्ति में ६२ से ६८ तक अक्षर पाये जाते हैं जिससे औसत ६५ अक्षरों की ली जा सकती है। तदनुसार कुल ग्रंथ में २९३० इ १२ इ ६५ = २२८५४०० अक्षर पाये जाते हैं जिनकी श्लोकसंख्या ३२ का भाग देकर ६१,४१५ आई। इसे सामान्य लेखे में चाहे आप सत्तर हजार कहिये, चाहे बहत्तर हजार। कारंजा व आराकी प्रतियों की भी उक्त प्रकार से जांच द्वारा प्राय: यही निष्कर्ष निकलता है। इससे तो अनुमान होता है कि प्रतियों में से एक खंड का खंड गायब होना असंभव सा है, क्योंकि उस खंड का प्रमाण और सब खंडों को देखते हुए कम से कम पांच सात हजार तो अवश्य रहा होगा। यह कमी प्रस्तुत प्रतियों में दिखाई दिये बिना नहीं रह सकती थी।

विषय के तारतम्य की दृष्टि से भी धवला अपने प्रस्तुत रूप से अपूर्ण कहीं नजर नहीं आती। प्रथम तीन खंड तो पूरे हैं ही। चौथे वेदना खंड के आदि से कृति आदि अनुयोगद्वार प्रारम्भ हो जाते हैं। इनमें प्रथम छह कृति, वेदना, फास, कम्म, पयडि और बंधन स्वयं भगवान् भूतबलि-द्वारा प्ररूपित हैं। इनके अन्त में धवलाकारने कहा है -

'भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सूचिद-सेस-अट्ठारस- अणि - योगद्दाराणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो (धवला अ.पत्र १३३२)

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आचार्य भूतबलिकी रचना यहीं तक है। किन्तु उक्त प्रतिज्ञा वाक्य के अनुसार शेष निबन्धनादि अठारह अधिकारों का वर्णन धवलाकार ने स्वयं किया है और अपनी इस रचना को उन्होने चूलिका कहा है -

एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम।

इन्हीं अठारह अनुयोगद्वारों की वीरसेन द्वारा रचना का विशद इतिहास इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में दिया है [१]। इसी चूलिका विभाग को उन्होंने छटवां खंड भी कहा है। इस प्रकार चौबीसों अनुयोग द्वारों के कथन के साथ ग्रंथ अपने स्वाभाविक रूप से समाप्त होता है। अब यदि इन्हीं अनुयोगद्वारों के भीतर वर्गणाखंड नहीं माना जाता तो उसके लिये कौन सा विषय व अधिकार शेष रहा और वह कहां से छूट गया होगा ? लेखक द्वारा उसके छोड़ दिये जाने की आशंका को तो इस रचना में बिल्कुल ही गुंजाइश नहीं रही।

वेदनाखंड के आदि अवतरणों का ठीक अर्थ

वेदनाखंड के आदि मंगलाचरण की व्यवस्था संबंधी सूचना का जो अर्थ लगाया जाता है और उससे जो गडबड़ी उत्पन्न होती है उसका हम ऊपर परिचय करा चुके हैं। अब हमें यह देखना आवश्यक है कि उक्त भूलों का क्या कारण है और उन अवतरणों का ठीक अर्थ क्या है। 'उविर उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु' का अर्थ 'ऊपर कहे हुए तीन खंड' तो हो ही नहीं सकता। पर ऐसा अर्थ किये जाने के दो कारण मालूम होते हैं। प्रथम तो 'उवरि' से सामान्य ऊपर अर्थात् पूर्वोक्त का अर्थ ले लिया गया है और दूसरे उसकी आवश्यकता भी यों प्रतीत हुई क्योंकि आगे वर्गणा और महाबंध में अलग मंगल करने का उल्लेख पाया जाता है। पर खोज और विचार से देखा जाता है कि 'उवरि' शब्द का धवलाकार ने पूर्वोक्त के अर्थ में कहीं उपयोग नहीं किया। उन्होंने उस शब्द का प्रयोग सर्वत्र 'आग' के अर्थ में किया है और पूर्वोक्त के लिये 'पुव्व' या पुव्वुत्त का। उदाहरणार्थ, संतपरूवणा, पृष्ठ १३० पर उन्होंने कहा है -

संपहि पुव्वं उत्त-पयडिसमुक्कित्तणा .... एदण्हं पंचण्हमुवरि संपहि पुव्वुत्त-जहण्णट्ठिदि .... च पक्खित्ते चूलियाए णव अहियारा भवंति।

अर्थात् पूर्वोक्त प्रकृति समुत्कीर्तनादि पांचों के ऊपर अभी कहे गये जघन्य स्थिति आदि जोड़ देने पर चूलिका के नौ अधिकार हो जाते हैं। यहां ऊपर कहे जा चुके के लिये 'पुव्वं उत्त' व 'पुव्वुत्त' शब्द प्रयुक्त हुए हैं और 'उवरि' से आगे का तात्पर्य है।

पृ.७३ पर 'उवरि' से बने हुए उवरीदो (उपरितः) अव्यय का प्रयोग देखिये। आचार्य कहते हैं -

---

१ सं. पं. भू. पृ. ३८, ६७

पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि तिविहा आणुपुव्वी। जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं 'उसहमजियं च वंदे'। इच्चेवमादि। जं उवरीदो हेट्ठा परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं-एस करेमि य पणमं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स। सेसाणं च जिणाणं सिवसुहकंखा विलोमेण ॥

यहां यह बतलाया है कि जहां पूर्व से तत्पश्चात् की ओर क्रम से गणना की जाती है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं, जैसे 'ऋषभ और अजितनाथ को नमस्कार'। पर जहां नीचे या पश्चात् से ऊपर या पूर्व की ओर अर्थात् विलोमक्रम से गणना की जाती है वह पश्चादानुपूर्वी कहलाती है जैसे मैं वर्द्धमान जिनेश को प्रणाम करता हूँ और शेष (पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि) तीर्थंकरों को भी। यहां 'उवरीदो' से तात्पर्य 'आगे' से है और पीछे की ओर के लिये हेट्ठा (अधः) शब्द का प्रयोग किया गया है।

धवला में आगे बंधन अनुयोग द्वार की समाप्ति के पश्चात् कहा गया है 'एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम'। अर्थात् यहां से ऊपर के ग्रंथ का नाम चूलिका है। यहां भी 'उवरिम' से तात्पर्य आगे आने वाले ग्रंथ विभाग से है न कि पूर्वोक्त विभाग से।

और भी धवला में सैकड़ों जगह 'उवरि भण्णमाणचुण्णिसुत्तादो,'' 'उवरिमसुत्तं भणदि' आदि। इनमें प्रत्येक स्थल पर निर्दिष्ट सूत्र आगे दिया गया पाया जाता है। उवरिका पूर्वोक्त के अर्थ में प्रयोग हमारी दृष्टि में नहीं आया।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उवरिका अर्थ आगे आने वाले खंडों से ही हो सकता है, पूर्वोक्त से नहीं। और फिर प्रकृत में तो 'उच्चमाण ' पद इस अर्थ को अच्छी तरह स्पष्ट कर देता है क्योंकि उसका अभिप्राय केवल प्रस्तुत और आगे आने वाले खंडों से ही हो सकता है। पर यदि आगे कहे जाने वाले तीन खंडों का यह मंगल है तो इस बात का वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगलाचरण की सूचना से कैसे सामञ्जस्य बैठ सकता है? यही एक विकट स्थल है जिसने उपर्युक्त सारी गड़बड़ी विशेष रूप से उत्पन्न की है। समस्त प्रकरण पर सब दृष्टियों से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि धवला की उपलब्ध प्रतियों में वहां पाठ की अशुद्धि है। मेरे विचार से 'वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगल-करणादो' की जगह 'वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो ' पाठ होना चाहिये। दीर्घ 'आ' के स्थान पर ह्रस्व 'अ' की मात्रा की अशुद्धियां तथा अन्य स्वरों में भी ह्रस्व दीर्घ के व्यत्यय इन प्रतियों में भरे पड़े हैं। हमें अपने संशोधन में इस प्रकार के सुधार सैकड़ों जगह करना

पड़े हैं। यथार्थतः प्राचीन कन्नड़ लिपि में ह्रस्व और शीर्घ स्वरों में बहुधा विवेक नहीं किया जाता था [१]। हमारे अनुमान किये हुए सुधार के साथ पढ़ने से पूर्वोक्त समस्त प्रकरण व शंका-समाधानक्रम ठीक बैठ जाता है। उससे उक्त दो अवतरणों के बीच में आये हुए उन शंका समाधानों का अर्थ भी सुलझ जाता है जिनका पूर्वकथित अर्थ से बिल्कुल ही सामन्जस्य नहीं बैठता बल्कि विरोध उत्पन्न होता है। वह पूरा प्रकरण इस प्रकार है -

उवरि उच्चमाणेसु सिु खंडेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खंडाणं। कुदो ? बग्गणा-महाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूतबलिभडारओ गंथस्स पारभदि, तस्स अणाइरियत्तपसंगादो। कधं वेयणाए आदीए उत्तं मंगलं सेस-दो-खंढाणं होदि ? ण, कदीए आदिम्हि उत्तस्स एदस्सेव मंगलस्स सेसतेवीस अणियोगद्दारेसु पउत्तिदंसणादो। महाकम्मपयडिपाहुडत्तेण चउवीसण्हमणियोगद्दाराणं भेदाभावादो एगत्तं, तदो एगस्स एयं मंगलं तत्थ ण विरुज्झदे। ण च एदेसिं तिण्हं खंडाणमेयत्तमेगखंडत्तपसंगादो त्ति, ण एस दोसो, महाकम्मपयडिपाहुडत्तणेण एदेसिं पि एगत्तदंसणादो। कदि-पास-कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खंडग्गंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेब खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? संखेवेण परूवणादे।

इसका अनुवाद इस प्रकार होगा -

शंका - आगे कहे जाने वाले तीन खंडों (वेदना वर्गणा और महाबंध) में से किस खंड का यह मंगलाचरण है ?

समाधान - तीनों खंडों का !

शंका - कैसे जाना ?

समाधान - वर्गणाखंड और महाबंध खंड के आदि में मंगल न किये जाने से। मंगल किये बिना तो भूतबलि भट्टारक ग्रंथ का प्रारंभ ही नहीं करते क्योंकि इससे अनाचार्यत्व का प्रसंग आ जाता है।

शंका- वेदना के आदि में कहा गया मंगल शेष दो खंडों का भी कैसे हो जाता है?

समाधान - क्योंकि कृति के आदि में किये गये इस मंगल की शेष तेबीस अनुयोग द्वारों में भी प्रवृत्ति देखी जाती है।

शंका - महाकर्मप्रकृति पाहुडत्व कीअपेक्षा से चौबीसों अनुयोग द्वारों में भेद न

१. डा. उपाध्ये, परमात्मप्रकाश, भूमिका, पृ. ८३.

होने से उनमें एकत्व है, इसलिये एक का यह मंगल शेष तेबीसों में विरोध को प्राप्त नहीं होता। परंतु इन तीनों खंडों में तो एकत्व है नहीं, क्योंकि तीनों में एकत्व मान लेने पर तीनों के एक खंडत्व का प्रसंग आ जाता है ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं, क्योंकि - महाकर्म प्रकृति पाहुडत्व की अपेक्षा से इनमें भी एकत्व देखा जाता है।

शंका - कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोग द्वार भी यहां (ग्रंथ के इस भाग में) प्ररूपित किये गये हैं, उनकी भी खंड ग्रंथ संज्ञा न करके तीन ही खंड क्यों कहे जाते हैं?

समाधान - क्योंकि इनमें प्रधानता का अभाव है।

शंका - यह कैसे जाना ?

समाधान - उनका संक्षेप में प्ररूपण किया गया है इससे जाना।

इस परसे यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि उक्त मंगलाचरण का सम्बन्ध बंध-सामित्त और खुद्दाबंध खंडों से बैठाना बिल्कुल निर्मूल, अस्वाभाविक, अनावश्यक और धवलाकार के मत से सर्वथा विरुद्ध है। हम यह भी जान जाते हैं कि वर्गणाखंड और महाबंध के आदि में कोई मंगलाचरण नहीं है, इसी मंगलाचरण का अधिकार उन पर चालू रहेगा। और हमें यह भी सूचना मिल जाती है कि उक्त मंगल के अधिकारान्तर्गत तीनों खंड अर्थात् वेदना, वर्गणा और महाबंध प्रस्तुत अनुयोगद्वारों से बाहर नहीं है। वे किन अनुयागद्वारों के भीतर गर्भित हैं यह भी संकेत धवलाकार यहां स्पष्ट दे रहे हैं। खंड संज्ञा प्राप्त न होने की शिकायत किन अनुयोग द्वारों की ओर से उठाई गई ? कदि, पास, कम्प और पयडि अनुयोग द्वारों की ओर से। वेदणा- अनुयोग द्वारका यहां उल्लेख नहीं है क्योंकि उसे खंड संज्ञा प्राप्त हैं। धवलाकार ने बंधन अनुयोगद्वार का उल्लेख यहां जानबूझकर छोडा है क्योंकि बंधन के ही एक अवान्तर भेद वर्गणा से वर्गणाखंड संज्ञा प्राप्त हुई है और उसके एक दूसरे उपभेद बंधविधान पर महाबंध की एक भव्य इमारत खड़ी है। जीवट्ठाण, खुद्दाबंध और बंधसामित्तविचय भी इसी के ही भेद प्रभेदों के सुफल हैं। इसलिये उन सबसे भाग्यवान पांच-पांच यशस्वी संतान के जनयिता बंधन को खंड संज्ञा प्राप्त न होने की कोई शिकायत नहीं थी। शेष अठारह अनुयोग द्वारों का उल्लेख न करने का कारण यह है कि भूतबलि भट्टारक ने उनका प्ररूपण ही नहीं किया। भूतबलिकी रचना तो बंधन अनुयोग द्वार के साथ ही, महाबंध पूर्ण होने पर, समाप्त हो जाती है। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं।

इसी अवतरण से ऊपर धवलाकारने जो कुछ कहा है उससे प्रकृत विषय पर और भी बहुत विशद प्रकाश पड़ता हैं। वह प्रकरण इस प्रकार है -

तत्थेदं किं णिबद्धमाहो अणिबद्धमिदि ? ण ताव णिबद्धमंगलमिदं महाकम्मपयडीपाहुडस्स कदि- यादि - चउवीसअणियोगावयवस्य आदीए गोदमसामिणा परुविदस्स भूतवलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेवूण ठविदस्स णिबद्धत्तविरोहादो। ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडीपाहुडं अवयवस्स अवयवित्तविरोहादो। ण च भूदवली गोदमो विगलसुदधारयस्स धरसेणाइरियसीसस्स भूदवलिस्स सयल - सुदधारयवड्ढमाणंतेवासिगोदमत्तविरोहादो । ण चाण्णो पयारो णिबद्धमंगलत्तस्स हेदुभूदो अत्थि। तम्हा अणिबद्धमंगलमिदं। अथवा होदु णिबद्धमंगलं। कधं वेयणाखंडादिखंडगयस्स महाकम्मपयडिपाहुडत्तं ? ण, कदिया (दि) चउवीस-अणियोगद्दारेहिंतो एयंतेण पुधभूदमहाकम्मपयडिपाहुडाभावादो। एदेसिमणियोगद्दाराणं कम्मपयडिपाहुडत्ते संते पाहुड - बहुत्तं पसज्जदे ? ण एस दोसो, कथंचि इच्छिज्जमाणत्तादो। कधं वेयणाए महापरिमाणाए उवसंहारस्स इमस्स वेयणाखंडस्स वेयणा-भावो ? ण, अवयवेहिंतो एयंतेण पुधभूदस्स अवयविस्स अणुवलंभादो। ण च वेयणाए बहुत्तमणिट्ठमिच्छिज्जमाणत्तादो। कधं भूदवलिस्स गोदमतं ? किं तस्स गोदमत्तेण ? कधमण्णहा मंगलस्स णिबद्धतं ? ण, भूदबलिस्स खंड-गंथं पडि कत्तारत्ताभावादो । ण च अण्णेण कय-गंथा-हियाराणं एगदेसस पुव्विहा (पुव्विल्ल) सद्दत्थ - संदब्भस्स परूवओ कत्तारो होदि, अइप्पसंगादो। अधवा भूदबली गोदमो चेव एगाहिप्पायत्तादो। तदो सिद्धंणिबद्धमंगलत्तंपि। उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु ....इत्यादि।

१. शंका - इनमें से, अर्थात् निबद्ध और अनिबद्ध मंगलों में से, यह मंगल निबद्ध है या अनिबद्ध ?

समाधान - यह निबद्ध मंगल नहीं है, क्योंकि कृति आदि चौबीस अवयवों वाले महाकर्मप्रकृतिपाहुड के आदि में गौतमस्वामी द्वारा इसका प्ररूपण किया गया है। भूतबलि स्वामी ने उसे वहां से लाकर वेदनाखंड के आदि में मंगल के निमित्त रख दिया है। इसलिये उसमें निबद्धत्व का विरोध है। वेदनाखंड कुछ महाकर्मप्रकृतिपाहुड तो है नहीं, क्योंकि अवयव को ही अवयवी मानने में विरोध आता है। और भूतबलि गौतमस्वामी हो नहीं सकते, क्योंकि विकल श्रुत के धारक और धरसेनाचार्य के शिष्य ऐसे भूतबलि में सकलश्रुत के धारक और वर्धमान स्वामी के शिष्य ऐसे गौतमपने का विरोध है। और कोई प्रकार

निबद्ध मंगलपने का हेतु होता नहीं है, इसलिये यह मंगल अनिबद्ध मंगल है। अथवा, यह निबद्ध मंगल भी हो सकता है।

२. शंका - वेदनाखंड आदि खंडों में समाविष्ट (ग्रंथों) को महाकर्मप्रकृतिपाहुडपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान - क्योंकि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों से सर्वथा पृथक्‌भूत महाकर्मप्रकृतिपाहुड की कोई सत्ता नहीं है।

३. शंका - इन अनुयोग द्वारों में कर्मप्रकृति पाहुडत्व मानलेने से तो बहुत से पाहुड मानने का प्रसंग आ जाता है ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह बात कथंचित् अर्थात् एक दृष्टि से अभीष्ट है।

४. शंका - महापरिमाणवाली वेदना के उपसंहाररूप इस वेदनाखंड को वेदना अनुयोग द्वार कैसे माना जाय ?

समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि अवयवों से एकान्ततः पृथक्‌भूत अवयवी तो पाया नहीं जाता। और इससे यदि एक से अधिक वेदना मानने का प्रसंग आता है तो वेदना के बहुत्व से कोई अनिष्ट भी नहीं, क्योंकि वह बात इष्ट ही है।

५. शंका - भूतबलि को गौतम कैसे मान लिया जाय ?

समाधान - भूतबलि को गौतम मानने का प्रयोजन ही क्या है ?

६. शंका - यदि भूतबलि को गौतम न माना जाय तो मंगल को निबद्धपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान - क्योंकि भूतबलिके खंडग्रंथ के प्रति कर्तापने का अभाव है। कुछ दूसरे के द्वारा रचे गये ग्रंथधिकारों में से एक देश का पूर्व प्रकार से ही शब्दार्थ और संदर्भ का प्ररूपण करने वाला ग्रंथकर्ता नहीं हो सकता क्योंकि इससे तो अतिप्रसंग दोष अर्थात् एक ग्रंथ के अनेक कर्ता होने का प्रसंग आ जायगा। अथवा, दोनों का एक ही अभिप्राय होने से भूतबलि गौतम ही हैं। इस प्रकार यहां निबद्ध मंगलत्व भी सिद्ध हो जाता है।

वेदना और वर्गणा खंडों की सीमाओं का निर्णय -

यहां पर प्रथम शंका समाधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वेदनाखंड के अन्तर्गत पूरा महाकम्मपयडिपाहुड का विषय नहीं है - वह उस पाहुड का एक अवयव मात्र

है, अर्थात् उसमें उक्त पाहुड के चौबीसों अनुयोगद्वारों का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। महाकर्म प्रकृति पाहुड अवयवी है और वेदनाखंड उसका एक अवयव।

दूसरे शंका समाधान से यह सूचना मिलती है कि कृति आदि चौबीस अनुयोग द्वारों में अकेला वेदनाखंड नहीं फैला है, वेदना आदि खंड है अर्थात् वर्गणा और महाबंध का भी अन्तर्भाव वहीं है। तीसरे शंका समाधान में कर्मप्रकृति पाहुड के कृति आदि अवयवों में भी एक दृष्टि से पाहुडपना स्थापित करके चौथे में स्पष्ट निर्देश किया गया है कि वेदनाखंड में गौतमस्वामीकृत बड़े विस्तारवाले वेदना अधिकार का ही उपसंहार अर्थात् संक्षेप है। यह वेदना धवलाकी अ. प्रति में पृ.७५६ पर प्रारम्भ होती है जहां कहा गया है -

कम्मद्दजणियवेयण-उवहि-समुत्तिणणाए जिणे णमिउं।
वेयणमहाहियारं विविहहियारं परूवेमो ॥

और वह उक्त प्रति के ११०६ वें पत्र पर समाप्त होती है जहां लिखा मिलता है -

'एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता।

इस प्रकार इस पुष्पिकावाक्य में अशुद्धि होते हुए भी वहां वेदनाखंड की समाप्ति में कोई शंका नहीं रह जाती।

पांचवे और छठवें शंका समाधान में भूतबलि और गौतम में ग्रंथकर्ता व अभिप्राय की अपेक्षा एकत्व स्थापित किया गया है जो सहज ही समझ में आ जाता है। इस प्रकार उक्त मंगल निबद्ध भी सिद्ध करके बता दिया गया है।

इस प्रकार उक्त शंका समाधान से वेदनाखंड की दोनों सीमायें निश्चित हो जाती हैं। कृति तो वेदनाखंड के अंतर्गत है ही क्योंकि उक्त शंका समाधान की सूचना के अतिरिक्त मंगलाचरण के साथ ही वेदनाखंड का प्रारंभ माना ही गया है।

वेदनाखंड के विस्तार का एक और प्रमाण उपलब्ध है। टीकाकार ने उसका परिमाण सोलह हजार पद बतलाया है। यथा, 'खंडगंथं पडुच्च वेयणाए सोलसपदसहस्साणि'। यह पद संख्या भूतबलिकृत सूत्र-ग्रंथ की अपेक्षा से ही होना चाहिये। अतएव जब तक यह ज्ञात हो जावे कि पद से यहां धवलाकार का क्या तात्पर्य है तथा वेदनादि खंडों के सूत्र अलग करके उन पर वह माप न लगाया जावे तब तक इस सूचना का हम अपनी जांच में विशेष उपयोग नहीं कर सकते। तो भी चूंकि टीकाकारने एक अन्य खंड की भी इस प्रकार पद संख्या दी है और उस खंड की सीमादि के विषय में कोई विवाद नहीं है इसलिये हमें

उनकी तुलना से कुछ आपेक्षिक ज्ञान अवश्य हो जायेगा। धवलाकार ने जीवट्ठाण खंड की पद संख्या अठारह हजार बतलाई है - 'पदं पडुच्च अट्ठारहपदसहस्सं' (संत प.पृ.६०) इससे यह ज्ञात हुआ कि वेदनाखंड का परिमाण जीवट्ठाण से नवमांश कम है। जीवट्ठाण के ४७५ पत्रों का नवमांश लगभग ५३ होता है, अत: साधारणतया वेदनाखंड की पत्र संख्या ४७५-५३ = ४२२ के लगभग होना चाहिये। ऊपर निर्धारित सीमा के अनुसार वेदना की पत्र संख्या प्रत्यक्ष में ६६७ से ११०६ तक अर्थात् ४३८ है जो आपेक्षित अनुमान के बहुत नजदीक पड़ती है। समस्त चौबीस अनुयोग द्वारों को वेदना के भीतर मान लेने से तो जीवट्ठाण की अपेक्षा वेदनाखंड धवला के तिगुने से भी अधिक बड़ा हो जाता है।

वर्गणा निर्णय

जब वेदनाखंड का उपसंहार वेदनानुयोगद्वार के साथ हो गया तब प्रश्न उठता है कि उसके आगे के फास आदि अनुयोगद्वार किस खंड के अंग रहे ? ऊपर वेदनादि तीन खंडों के उल्लेखों के विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि वेदना के पश्चात् वर्गणा और उसके पश्चात् महाबंध की रचना है। महाबंध की सीमा निश्चित रूप से निर्दिष्ट है क्योंकि धवला में स्पष्ट कर दिया गया है कि बन्धन अनुयोगद्वार के चौथे प्रभेद बन्धविधान के चार प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध का विधान भूतबलि भट्टारक ने महाबंध में विस्तार से लिखा है, इसलिये वह धवला के भीतर नहीं लिखा गया। अत: यहींतक वर्गणाखंड की सीमा समझना चाहिये। वहां से आगे के निबन्धनादि अठारह अधिकार टीका की सूचनानुसार चूलिका रूप है। वे टीकाकार कृत है भूतबलिकी रचना नहीं है।

उक्त खंड विभाग को सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये अब केवल उस प्रकार के किसी प्राचीन विश्वनीय स्पष्ट उल्लेख मात्र की अपेक्षा और रह जाती है। सौभाग्य से ऐसा एक उल्लेख भी हमें प्राप्त हो गया है। मूडविद्री के पं. लोकनाथजी शास्त्री ने वीरवाणी विलास जैन सिद्धांतभवन की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (१९३५) में मूडविद्री की ताड़पत्रीय प्रति पर से महाधवल (महाबंध) का कुछ परिचय अवतरणों सहित दिया है। इससे प्रथम बात तो यह जानी जाती है कि पंडितजी को उस प्रति में कोई मंगलाचरण देखने को नहीं मिला। वे रिपोर्ट में लिखते हैं "इसमें मंगलाचरण श्लोक, ग्रंथ की प्रशस्ति बगैरह कुछ भी नहीं है।" पं. लोकनाथजी की यह रिपोर्ट महत्वपूर्ण है क्योंकि पंडितजी ने ग्रंथ को केवल ऊपर नीचे ही नहीं देखा- उन्होंने कोई चार वर्ष तक परिश्रम करके पूरे महाधवल ग्रंथ की नागरी प्रतिलिपि तैयार की है जैसा कि हम प्रथम जिल्द की भूमिका में बतला आये हैं। अतएव उस

ग्रंथ का एक एक शब्द उनकी दृष्टि और कलम से गुजर चुका है। उनके मत से पूर्वोक्त 'मंगलकरणादो' पद में हमारे मंगलाकरणादो रूप सुधार की पुष्टि होती है-

दूसरी बात जो महाधवल के अवतरणों में हमें मिलती है वह खंडविभाग से संबंध रखती है। महाबंध पर कोई पंचिका भी उस प्रति में ग्रथित है जैसा कि अवतरण की प्रथम पंक्ति से ज्ञात होता है -

'वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं '

इसी पंचिकाकार ने आगे चलकर कहा है -

'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि-वेदणाओ (दि) चौव्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदि-वेदणा त्तिजाणि अणियोगद्दाराणि वेदणाखंडम्हि, पुणो पास (-कम्म-पयडि-बंधणाणि) चत्तारि अणियोगद्वारेसु तत्थ बंध बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि, पुणो बंधविधाणमणियोगो खुद्दाबंधम्मि सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभीरत्तादो अत्थविसम-पदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो' [१]।

इस अवतरण में शब्दों में अशुद्धियां हैं। कोष्टक के भीतर के सुधार या जोड़े हुए पाठ मेरे हैं। पर उस पर से तथा इससे आगे जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट जान पड़ा कि यहां निबंधनादि अठारह अधिकारों की पंजिका दी गई है। उन अठारह अधिकारों का नाम 'सत्तकम्म' था, जिससे इन्द्रनन्दि के सत्कर्म संबंधी उल्लेख की पूरी पुष्टि होती है। प्राप्त अवतरण पर से महाधवल की प्रति व उसके विषय आदि के संबंध में अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, और प्रति की परीक्षा की बड़ी अभिलाषा उत्पन्न होती है, किन्तु उस सबका नियंत्रण करके प्राकृत विषय पर आने से उक्त अवतरण में प्रस्तुतोपयोगी यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती है, कि कृति और वेदना अनुयोगद्वार वेदनाखंड के साथ फास, कम्म, पयडि और बंधन के बंध और बंधनीय भेद वर्गणाखंड के भीतर हैं। इससे हमारे विषय का निर्विवाद रूप से निर्णय हो जाता है।

प्रथम जिल्द की भूमिका में ठीक इसी प्रकार खंड विभाग का परिचय कराया जा चुका है उस परिचय की ओर पाठकों का ध्यान पुन: आकर्षित किया जाता है।

---

१. यह अवतरण सं. पं. जिल्द १ की भूमिका पृ. ६८ पर दिया जा चुका है। 'पर वहाँ भूल से 'पुणो ते-हिंतो' आदि वाक्य छूट गया है। अत: प्रकृततोपयोगी उस अवतरण को यहाँ फिर पूरा दे दिया है।

णमोकार मंत्र के आदिकर्ता.

१

जो ख्याति और प्रचार हिन्दुओं में गायत्री मन्त्रका है तथा बौद्धों में त्रिसरण मंत्र का था, वही जैनियों में णमोकार मंत्र का है। धार्मिक तथा सामाजिक सभी कृत्यों व विधानों के आरम्भ में जैनी इस मंत्र का उच्चारण करते हैं। यही उनका दैनिकजपमंत्र है। इसकी प्रख्याति का एक पद्य निम्न प्रकार है, जो नित्य पूजनविधान में उच्चारण किया जाता है -

एसो पंच-णमोयारो सव्वपापप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ॥

अर्थात् यह पंच नमस्कार मंत्र सब पापों का नाश करने वाला है और सब मंगलों में प्रथम (श्रेष्ठ) मंगल है।

इस मन्त्र का प्रचार जैनियों के तीनों सम्प्रदायों-दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानक वासियों में समान रूप से पाया जाता है। तीनों सम्प्रदायों के प्राचीनतम साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है। किंतु अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ कि इस मंत्र के आदिकर्ता कौन हैं। यथार्थत: यह प्रश्न ही अभी तक किसी ने नहीं उठाया और इस कारण इस मंत्र को अनादिनिधन जैसा पद प्राप्त हो गया है।

किन्तु षट्खंडागम और उसकी टीका धवला के अवलोकन से इस णमोकार मंत्र के कर्तृत्व के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पड़ता है, और इसी का यहां परिचय कराया जाता है।

षट्खंडागम का प्रथम खण्ड जीवट्ठाण है और इस खंड के प्रारम्भ में यही सुप्रसिद्ध मंत्र पाया जाता है। टीकाकार वीरसेनाचार्य के अनुसार यही उक्त ग्रन्थ का सूत्रकारकृत मंगलाचरण है। वे लिखते हैं कि -

मंगल-णिमित्त-हेऊ-परिमाणं णाम तह य कत्तारं। वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउसत्थमाइरियो ॥

इदि णायमाइरिय-परंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणुसरणं तिरयणहेउ त्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्णं सकारणाणं परूवणट्ठं सुत्तमाह -

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ (सं.पं.१, पृ.७)

अर्थात् 'मंगल, निमित्त, हेतु परिमाण, नाम और कर्ता । इन छहों का प्ररूपण करके पश्चात् आचार्य को शास्त्र का व्याख्यान करना चाहिये ।' इस आचार्य परम्परागत न्याय को मन में धारण करके पुष्पदन्ताचार्य मंगलादि छहों के सकारण प्ररूपण के लिये सूत्र कहते हैं, णमो अरिहंताणं आदि ।

इसके आगे धवलाकार ने इसी मंगलसूत्र को 'तालपलंब' सूत्र के समान देशामर्षक बतलाकर पूर्वोक्त मंगल, निमित्त आदि छहों का प्ररूपक सिद्ध किया है । तत्पश्चात् मंगल शब्द की व्युत्पत्ति व अनेक दृष्टियों से भेद प्रभेद बतलाते हुए मंगल के दो भेद इस प्रकार किये हैं -

तच्च मंगलं दुविहं णिबद्धमणिबद्धमिदि । तत्थ णिबद्धं णाम जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्ध-मंगलं । जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्ध-मंगलं । इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्ध-मंगलं, यत्तो 'इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमाणं ' इदि एदस्स सुत्तस्सादीएणिबद्ध - 'णमो अरिहंताणं ' इच्चादिदेवदा - णमोक्कारदंसणादो । (सं० पं०१, प.४१)

अर्थात् मंगल दो प्रकार का है, निबद्ध और अनिबद्ध । सूत्र के आदि में सूत्रकर्त्ता द्वारा जो देवता-नमस्कार निबद्ध किया जाय वह निबद्ध मंगल है और जो सूत्र के आदि में सूत्रकर्त्ता द्वारा देवता को नमस्कार किया जाता है (किन्तु वह नमस्कार लिपिबद्ध नहीं किया जाता) वह अनिबद्ध-मंगल है । यह जीवट्ठाणं निबद्ध मंगल है, क्योंकि इसके 'इमेसिं चोद्दसण्हं' आदि सूत्र के पूर्ण 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि देवतानमस्कार पाया जाता है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवट्ठाण के आदि में जो यह णमोकार मंत्र पाया जाता है वह सूत्रकार पुष्पदन्त आचार्य द्वारा ही वहां रखा गया है और इससे उस शास्त्र को निबद्ध-मंगल संज्ञा प्राप्त हो जाती है । किन्तु इससे यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता है कि यह मंगलसूत्र स्वयं पुष्प दन्ताचार्य ने रचकर यहां निबद्ध किया है, या कहीं अन्यत्र से लेकर यहां रख दिया है । पर अन्यत्र धवलाकार ने इसका भी निर्णय किया है ।

वेदनाखंड के आदि में 'णमो जिणाणं' आदि मंगलसूत्र पाये जाते हैं, जिनकी टीका करते हुए धवलाकार ने उनके निबद्ध अनिबद्ध स्वरूप का विवेचन किया है । वे लिखते हैं-

तत्थेदं किं णिबद्धमाहो अणिबद्धमिदि ? ण ताव णिबद्ध-मंगलमिदं, महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादि-चउवीस-अणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा

परूविदस्स भूदबलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तोआणेवूण ठविदस्स णिबद्धत्त- विरोहादी। ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडिपाहुडं अवयवस्स अवयवित्तविरोहादो। ण च भूदबली गोदमो, विगलसुदधारस्य धरसेणाइरियसीसस्स भूदबलिस्स सयलसुदधारयवड्ढमाणंतेवासि-गोदमत्तविरोहादो। ण चाण्णो पयारो णिबद्धमंगलत्तस्स हेदुभूदो अत्थि।

अर्थात् यह मंगल (णमो जिणाणं, आदि) निबद्ध है या अनिबद्ध ? यह निबद्ध-मंगल तो नहीं है क्योंकि महाकर्मप्रकृतिपाहुड के कृति आदि चौबीस अनुयोग द्वारों के आदि में गौतमस्वामी ने इस मंगल का प्ररूपण किया है और भूतबलि भट्टारक ने उसे वहां से उठाकर मंगलार्थ यहां वेदनाखंड के आदि में रख दिया है, इससे इसके निबद्ध-मंगल होने में विरोध आता है। न तो वेदनाखंड महाकर्मप्रकृतिपाहुड है, क्योंकि अवयव को अवयवी मानने में विरोध आता है। और न भूतबली ही गौतम है क्योंकि विकलश्रुतके धारक और धरसेनाचार्य के शिष्य भूतबलि को सकलश्रुत के धारक और वर्धमान स्वामी के शिष्य गौतम मानने में विरोध उत्पन्न होता है। और कोई प्रकार निबद्ध मंगलत्व का हेतु हो नहीं सकता।

आगे टीकाकार ने इस मंगल को निबद्धमंगल भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, पर इसके लिये उन्हें प्रस्तुत ग्रंथ का महाकर्मप्रकृतिपाहुड से तथा भूतबलिस्वामी का गौतमस्वामी से बड़ी खींचतानी द्वारा एकत्व स्थापित करना पड़ा है। इससे धवलाकार का यह मत बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे के बनाये हुए मंगल को अपने ग्रंथ में जोड़ देने से वह शास्त्र निबद्ध मंगल नहीं कहला सकता, निबद्ध-मंगलत्व की प्राप्ति के लिये मंगल ग्रंथकार की ही मौलिक रचना होना चाहिये। अतएव जब कि धवलाकार जीवट्ठाण को णमोकार मन्त्ररूप मंगल के होने से निबद्ध-मंगल मानते हैं तब वे स्पष्टत: उस मंगलसूत्र को सूत्रकार पुष्पदन्त की ही मौलिक रचना स्वीकार करते हैं, वे यह नहीं मानते कि उस मंगल को उन्होंने अन्यत्र कहीं से लिया है। इससे धवलाकार आचार्य वीरसेन का यह मत सिद्ध हुआ कि इस सुप्रसिद्ध णमोकार मंत्र के आदिकर्त्ता प्रात: स्मरणीय आचार्य पुष्पदन्त ही हैं।

२

णमोकार मंत्र के सम्बन्ध में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की क्या मान्यता है और उसका पूर्वोक्त मत से कहां तक सामान्जस्य या वैषम्य है, इस पर भी यहां कुछ विचार किया जाता

है। श्वेताम्बर आगम के अन्तर्गत छह छेदसूत्रों में से द्वितीय सूत्र 'महानिशीथ' नाम का है। इस सूत्र में णमोकार मन्त्र के विषय में निम्न वार्ता पायी जाती है -

एयं तु जं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स वक्खाणं तं महया पबंधेणं अणंतगमपज्जवेहिं सुत्तस्स य पियभूयाहिं णिज्जुत्ति-भास-चुन्नीहिं जहेव अणंत-नाण-दंसणधरेहिं तित्थयरेहिं वक्खाणियं तहेव समासओ वक्खाणिज्जं तं आसि। अहऽन्नया कालपरिहाणिदोसेणं ताओ णिज्जुत्ति-भास-चुन्नीओ वुच्छिन्नाओ। इओ य वच्चंतेणं कालेणं समएणं महिड्डिपत्ते पयाणुसारी वइरसामी नाम दुवालसंगसुअहरे समुपन्ने। तेण य पंच- मंगल-महासुयक्खधंस्स उद्धारो मूलसुत्तस्स मज्झे लिहिओ। मूलसुत्तं पुण सुत्तताए गणहरेहिं अत्थत्ताए अरिहंतेहिं भगवंते हिं धम्मतित्थयरेहिं तिलोगमहिएहिं वीरजिणिंदेहिं पन्नवियं त्ति एस बुड्ढसंपयाओ।

(महानिशीथ सूत्र, अध्याय ५)

इसका अर्थ यह है किइस पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का व्याख्यान महान प्रबंधसे, अनन्त गम और पर्यायों सहित, सूत्र की प्रियभूत निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों द्वारा जैसा अनन्त ज्ञान -दर्शन के धारक तीर्थकरों ने किया था उसी प्रकार संक्षेप में व्याख्यान करने योग्य था। किन्तु आगे कालपरिहानि के दोष से वे नियुक्ति, भाष्य और चूर्णियां विच्छिन्न हो गई। फिर कुछ काल जाने पर यथासमय महाऋद्धि को प्राप्त पदानुसारी वइरसामी (वैरस्वामी या बज्रस्वामी) नाम के द्वादशांग श्रुत के धारक उत्पन्न हुए। उन्होंने पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का उद्धार मूलसूत्र के मध्य लिखा। यह मूलसूत्र सूत्रत्व की अपेक्षा गणधरों द्वारा तथा अर्थ की अपेक्षा से अरहंत भगवान, धर्मतीर्थकर त्रिलोकमहित वीरजिनेंद्र के द्वारा प्रज्ञापित है, ऐसा वृद्धसम्प्रदाय है।

यद्यपि महानिशीथसूत्र की रचखना श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बहुत कुछ पीछे की अनुमान की जाती हैं, [१] तथापि उसके रचयिता ने एक प्राचीन मान्यता का उल्लेख किया है जिसका अभिप्राय यह है कि इस पंचमंगलरूप श्रुतस्कंध के अर्थकर्ता भगवान् महावीर हैं और सूत्ररूप ग्रंथकर्ता गौतमादि गणधर हैं। इसका तीर्थकर कथित जो व्याख्यान था वह कालदोप से विच्छिन्न हो गया। तब द्वादशांग श्रुतधारी वइरस्वामी ने इस श्रुतस्कंध का उद्धार करके उसे मूल सूत्र के मध्य में लिख दिया। श्वेताम्बर आगम में चार मूल सूत्र माने गये हैं - आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और पिंडनिर्युक्ति। इनमें से कोई भी सूत्र वज्रसूरि के नाम से सम्बद्ध नहीं हैं। उनकी चूर्णियां भद्रबाहुकृत कही जाती हैं। उन मूल

---

१. Winternity : Hist. Ind. Lit. II. P. 465.

सूत्रों में प्रथम सूत्र आवश्यक के मध्य में णमोकार मंत्र पाया जाता है। अतएव उक्त मान्यता के अनुसार संभवत: यही वह मूलमंत्र है जिसमें वज्रसूरिने उक्त मंत्र को प्रक्षिप्त किया।

कल्पसूत्र स्थविरावली में 'वइर' नामके दो आचार्यों का उल्लेख मिलता है जो एक दूसरे के गुरु-शिष्य थे। यथा -

थेरस्स ण अज्ज-सीहगिरिस्स जाइस्सरस्स कोसियगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जवइरे गोयमसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमसगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जवइरसेणे उक्कोसियगुत्ते [१]।

अर्थात् कौशिक गोत्रीय स्थविर आर्य सिंहगिरि के शिष्य स्थविर आर्य वइर गोतम गोत्रीय हुए, तथा स्थविर आर्य वइर गोतम गोत्रीय के शिष्य स्थविर आर्य वइरसेन उक्कोसिय गोत्रीय हुए।

विक्रमसंवत् १६४६ में संगृहीत तपागच्छ पट्टावली में वइरस्वामी का कुछ विशेष परिचय पाया जाता है। यथा -

तेरसमो वयरसामि गुरू।

व्याख्या - तेरसमो त्ति श्रीसीहगिरिपट्टे त्रयोदश: श्रीवज्रस्वामी यो बाल्यादपि जातिस्मृतिभाग्, नभोगमनविद्यया संघरक्षाकृत्, दक्षिणस्यां बौद्धराज्ये जिनेन्द्रपूजानिमित्तं पुष्पाद्यानयनेन प्रवचनप्रभावनाकृत्, देवाभिवंदितो दशपूर्वविदामपश्चिमो वज्रशाखोत्पत्तिमूलम्। तथा स भगवान् षण्णवत्यधिकचतु:शत ४९६ वर्षान्ते जात: सन् अष्टौ ८ वर्षाणि गृहे, चतुश्चत्वारिंशत् ४४ वर्षाणि व्रते, षट्त्रिंशत् ३६ वर्षाणि युगप्र. सर्वायुरष्टाशीति ८८ वर्षाणि परिपाल्य श्रीवीरात् चतुरशीत्यधिकपंचशत ५८४ वर्षान्ते स्वर्गभाक्। श्री वज्रस्वामिनो दशपूर्व-चतुर्थ-संहननसंस्थानानां व्युच्छेद:।

चतुष्कुल समुत्पत्तिपितामहमंह विभुम्।
दशपूर्वविधिं वन्दे वज्रस्वामिमुनीश्वरम्॥ [२]

इस उल्लेखपर से वइरस्वामी के संबंध में हमें जो बातें ज्ञात होती हैं वे ये हैं कि उनका जन्म वीर निर्वाण से ४९६ वर्ष पश्चात् हुआ था और स्वर्गवास ५८४ वर्ष पश्चात्। उन्होंने दक्षिण दिशा में भी बिहार किया था तथा वे दशपूर्वियों में अपश्चिम थे। वीरवंशावली में भी उनके उत्तर दिशा से दक्षिणा पथ को बिहार करने का उल्लेख किया गया है,[३] और यह

१ पट्टावली समुच्चय, पृ.३   २. पट्टावली समुच्चय, पृ. ४७

३. जैन साहित्य संशोधक १, २, परिशिष्ट, पृ. १४.

भी कहा गया है कि वहां के 'तुंगिया' नामक नगर में उन्होंने चातुर्मास व्यतीत किया था। वहां से उन्होंने अपने एक शिष्य को सोपारक पत्तन (गुजरात) में विहार करने की भी आज्ञा दी थी। इन उल्लेखों पर से उनके पुष्पदन्ताचार्य की विहार भूमि से संबन्ध होने की सूचना मिलती है।

तपागच्छ पट्टावली में वइरस्वामी से पूर्व आर्यमंगु का उल्लेख आया है जिनका समय नि.सं. ४६७ बतलाया गया है। यथा -

सप्तषष्टयधिकचतु: शतवर्षे ४६७ आर्यमंगु:।

आर्यमंगु का कुछ विशेष परिचय नन्दीसूत्र पट्टावली में इस प्रकार आया है [१] -

भणगं करगं सरगं पभावगं णाण-दंसण-गुणाणं।

वंदाभि अज्जमंगु सुयसागरपारगं धीरं॥ २८॥

अर्थात् ज्ञान और दर्शन रूपी गुणों के वाचक, कारक, धारक और प्रभावक, तथा श्रुतसागर के पारगामी धीर आर्यमंगुकी मैं वन्दना करता हूँ। इनके अनन्तर अज्ज धम्म और भद्दगुत्त के उल्लेख के पश्चात् अज्जवयर का उल्लेख है। इन उल्लेखों पर से जान पड़ता है कि ये आर्यमंगु अन्य कोई नहीं, धवला जयधवला में उल्लिखित आर्यमंखु ही है; जिनके विषय में कहा गया है कि उन्होंने और उनके सहपाठी नागहत्थी ने गुणधराचार्य द्वारा पंचमपूर्व ज्ञानप्रवाद से उद्धार किये हुए कसायपाहुड का अध्ययन किया था और उसे वसह (यतिवृषभाचार्य) को सिखाया था। उक्त नन्दीसूत्र पट्टावली में अज्जवर के अनन्तर अज्जरक्खिअ और अज्ज नन्दिलखमण के पश्चात् अज्ज नागहत्थी का भी उल्लेख इस प्रकार आया है -

वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्ज-नागहत्थीणं।

वागरण-करणभंगिय-कम्मपयडी-पहाणाणं॥ ३०॥

अर्थात् व्याकरण, करणभंगी व कर्मप्रकृति में प्रधान आर्य नागहस्ती का यशस्वी वाचक वंश वृद्धिशील होवे।

इसमें सन्देह को स्थान नहीं कि ये ही वे नागहत्थी हैं जो धवलादि ग्रंथों में आर्यमंखु के सहपाठी कहे गये हैं। उनके व्याकरणादि के अतिरिक्त 'कम्मपयडी' में प्रधानता का उल्लेख तो बड़ा ही मार्मिक है। श्वेताम्बर साहित्य में कम्मपयडी नामका एक ग्रंथ

---

१ पट्टावली समुच्चय, पृ. १३.

शिवशर्मसूरि कृत पाया जाता है जिसका रचनाकाल अनिश्चित है। एक अनुमान उसके वि.सं. ५०० के लगभग का लगाया जाता है। अतएव यह ग्रंथ तो नागहस्ती के अध्ययन का विषय हो नहीं सकता। फिर या तो यहां कम्मपयडीसे विषय सामान्य का तात्पर्य समझना चाहिये, अथवा, यदि किसी ग्रंथ-विशेष से ही उसका अभिप्राय हो तो वह उसी कम्मपडी या महाकम्मपयडिपाहुड से हो सकता है जिसका उद्धार पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों ने षट्खंडागम रूप से किया है।

तपागच्छ पट्टावली से कोई सवा तीन सौ वर्ष पूर्व वि.सं. १३२७ के लगभग श्री धर्मघोष सूरि द्वारा संगृहीत 'सिरि-दुसमाकाल-समणसंघ-थयं' नामक पट्टावली में तो 'वइर' के पश्चात् ही नागहस्थिका उल्लेख किया गया है। यथा -

बीए तिवीस वइरं च नागहत्थिं च रेवईमितं।
सीहं नागज्जुणं भूइदिश्नयं कालयं वंदे [1] ॥ १३ ॥

ये वइर, वइर द्वितीय या कल्पसूत्र पट्टावली के उक्कोसिय गोत्रीय वईरसेन हैं जिनका समय इसी पट्टावली की अवचूरी में राजगणना से तुलना करते हुए नि.सं. ६१७ के पश्चात् बतलाया गया है। यथा-

पुष्पमित्र (दुर्बलिका पुष्पमित्र) २० ॥ तथा राजा नाहड: ॥१०॥ (एवं) ६०५ शाकसंवत्सर ॥अत्रान्तरे बोटिका निर्गता। इति ६१७ ॥ प्रथमोदय:। वयरसेण ३ नागहस्ति ६९ रेवतिमित्र ५९ बंभदीवगसिंह ७८ नागार्जुन ७८

पणसयरी सयाइं तिन्नि-सय-समन्निआइं अइकमऊं।
विक्कमकालाओ तओ बहुली (वलभी) भंगो समुप्पन्नो ॥१॥

इसके अनुसार वीरसंवत् के ६१७ वर्ष पश्चात् वयरसेन का काल तीन वर्ष और उनके अनन्तर नागहस्तिका काल ६९ वर्ष पाया जाता है।

पूर्वोक्त उल्लेखों का मथितार्थ इस प्रकार निकलता है - श्वेताम्बर पट्टावलियों में 'वइर' नामके दो आचार्यों का उल्लेख पाया जाता है जिनके नाम में कहीं-कहीं 'अज्ज वइर' और 'अज्ज वइरसेन' इस प्रकार भेद किया गया है। कल्पसूत्र स्थविरावली में एकको गौतम गोत्रीय और दूसरे को उक्कासिय गोत्रीय कहा है और उन्हें गुरु-शिष्य बतलाया है। किन्तु अन्य पीछे पट्टावलियों में उनके बीच कहीं-कहीं एक दो नाम और जुड़े हुए पाये जाते हैं।

---

१ पट्टावली समुच्चय, पृ १६.

प्रथम अज्जवइर के समय का उल्लेख उनके वीर निर्वाण के ५८४ वर्ष तक जीवित रहने का मिलता है व अज्ज वइरसेन का उल्लेख वीर-निर्वाण से ६१७ वर्ष पश्चात् का पाया जाता है। इन दोनों आचार्यों से पूर्व अज्जमंगु का उल्लेख है, तथा उनके अनन्तर नागहत्थिका। अत: इन चारों आचार्यों का समय निम्न प्रकार पड़ता है -

वीर निर्वाण संवत्

अज्ज मंगु	४६७
अज्ज वइर	४९६ - ५८४
अज्ज वइरसेन	६१७ - ६२०
अज्ज नागहत्थी	६२० - ६८९

अज्ज वइर दक्षिणापथ को गये, वे दशपूर्वो के पाठी हुए और पदानुसारी थे तथा उन्होंने पंच णमोकार मंत्र का उद्धार किया। नागहत्थी कम्मपयडि में प्रधान हुए।

दिगम्बर साहित्योल्लेखों के अनुसार आचार्य पुष्पदन्तने पहले पहले 'कम्मपयडी' का उद्धार कर सूत्र रचना प्रारंभ की और उसी के प्रारंभ में णमोकार मंत्र रूपी मंगल निबद्ध किया, जो धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचार्य के मतानुसार उनकी मौलिक रचना प्रतीत होती है। अज्जमंखु और नागहत्थि-दोनों ने गुणधराचार्य रचित कसायपाहुड को आचार्य परंपरा से प्राप्तकर यति वृषभाचार्य को पढ़ाया, और यतिवृषभाचार्य ने उस पर चूर्णिसूत्र रचे, ऐसा उल्लेख धवलादि ग्रंथों में मिलता है। यतिवृषभकृत 'तिलोयपण्णत्ति' में 'वइरजस' नाम के आचार्य का उल्लेख मिलता है जो प्रज्ञाश्रमणों में अन्तिम कहे गये हैं। यथा -

पण्हसमणेसु चरिमो वइरजसो णाम।[१]

आश्चर्य नहीं जो ये अन्तिम प्रज्ञाश्रमण वइरजस (वज्रयश) श्वेताम्बर पट्टावलियों के पदानुसारी वइर (वज्रस्वामी) ही हों। पदानुसारित्व और प्रज्ञाश्रमणत्व दोनों ऋद्धियों के नाम हैं और ये दोनों ऋद्धियां एक ही बुद्धि ऋद्धि के उपभेद हैं[१]। धवलान्तर्गत वेदनाखंड में निबद्ध गौतम स्वामीकृत मंगलाचरण में इन दोनों ऋद्धियों के धारक आचार्यों को नमस्कार किया गया है, यथा -

णमो पदानुसारीणं ॥ ८ ॥ णमो पण्हसमणाणं ॥१८ ॥

---

१ संतपरूवणा १, भूमिका पृ. ३०, फुटनोट

इस प्रकार इन आचार्यों की दिगम्बर मान्यता का क्रम निम्न प्रकार सूचित होता है-



वइरजसका नाम यतिवृषभ से पूर्व ठीक कहां आता है इसका निश्चय नहीं। आर्यमंखु और नागहत्थी के समकालीन होने की स्पष्ट सूचना पाई जाती है क्योंकि उन दोनों ने क्रम से यतिवृषम को कसायपाहुड पढ़ाया था। क्रम से पढ़ाने से तथा आर्यमंखु का नाम सदैव पहले लिये जाने से इतना ही अनुमान होता है कि दोनों में आर्यमंखु संभवत. जेठे थे। ये दोनों नाम श्वेताम्बर पट्टावलियों में कोई १३० वर्ष के अन्तर से दूर पड़ जाते हैं जिससे उनका समकालीनत्व नहीं बनता। किन्तु यह बात विचारणीय है कि श्वेताम्बर पट्टावलियों में ये दोनों नाम कहीं पाये जाते हैं और कहीं छोड़ दिये जाते हैं, तथा कहीं उनमें से एक का नाम मिलता है दूसरे का नहीं। उदाहरणार्थ, सबसे प्राचीन 'कल्पसूत्र स्थविरावली' तथा 'पट्टावली सारोद्धार' में ये दोनों नाम नहीं हैं, और 'गुरु पट्टावली' में आर्यभंगुका नाम है पर नागहत्थी का नहीं है [२]। फिर आर्यमंखु और नागहत्थी ने जिनका रचा हुआ कसायपाहुड आचार्य-परम्परा से प्राप्त किया था वे गुणधराचार्य दिगम्बर उल्लेखों के अनुसार महावीर स्वामी से आचार्य -परम्परा की अट्ठाईस पीढ़ी पश्चात् निर्वाण संवत् की सातवीं शताब्दि में हुए सूचित होते हैं जब कि श्वेताम्बर पट्टावलियों में उन दोनों में से एक पांचवी और दूसरे सातवीं शताब्दि में पड़ते हैं। इस प्रकार इन सब उल्लेखों पर से निम्न प्रश्न उपस्थित होते हैं :-

१. क्या 'तिलोय-पण्णत्ति' में उल्लिखित 'वइरजस' और महानिशीथसूत्र के पदानुसारी 'वइरसामी' तथा श्वेतांबर पट्टावलियों के 'अज्ज वइर' एक ही हैं ?

२. 'बइरस्वामी ने मूलसूत्र के मध्य पंचमंगलश्रुतस्कंध का उद्धार लिख दिया' इस महानिशीथसूत्र की सूचना का तात्पर्य क्या है ? क्या उनकी दक्षिण यात्रा का और उनके पंचमंगल सूत्र की प्राप्ति का कोई सम्बन्ध है ? क्या धवलाकार द्वारा सूचित णमोकार मंत्र के कर्तृत्व का इससे सामञ्जस्य बैठ सकता है ?

---

१ राजवार्तिक पृ. १४३
२ देखो पट्टावली समुच्चय।

३. क्या धवलादिश्रुत में उल्लिखित आर्यमंखु और नागहत्थी तथा श्वेताम्बर पट्टावलियों के अज्जमंगु और नागहत्थी एक ही हैं ? यदि एक ही हैं, तो एक जगह दोनों की समसामयिकता प्रकट होने और दूसरी जगह उनके बीच एक सौ तीस वर्ष का अन्तर पड़ने का क्या कारण हो सकता है ? पट्टावलियों में भी कहीं उनके नाम देने और कहीं छोड़ दिये जाने का भी कारण क्या है ?

४. जिस कम्मपयडी में नागहत्थी ने प्रधानता प्राप्त की थी क्या वह पुष्पदन्त भूतबलि द्वारा उद्धारित कम्मपयडिपाहुड हो सकता है ?

५. दिगम्बर और श्वेताम्बर पट्टावलियों आदि में उक्त आचार्यों के काल निर्देश में वैषम्य पड़ने का कारण क्या है ?

इस प्रश्नों में से अनेक के उत्तर पूर्वोक्त विवेचन में सूचित या ध्वनित पाये जावेंगें, फिर भी उन सबका प्रामाणिकता से उत्तर देना विना और भी विशेष खोज और विचार के संभव नहीं है। इस कार्य के लिये जितने समय की आवश्यकता है उसकी भी अभी गुंजाइश नहीं है। अत: यहां इतना ही कहकर यह प्रसंग छोड़ा जाता है कि उक्त आचार्यों संबंधी दोनों परम्पराओं के उल्लेखों का भारी रहस्य अवश्य है, जिसके उद्घाटन से दोनों सम्प्रदायों के प्राचीन इतिहास और उनके बीच साहित्यिक आदान प्रदान के विषय पर विशेष प्रकाश पड़ने की आशा की जा सकती है।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व यहां यह भी प्रकट कर देना उचित प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर आगम के अन्तर्गत भगवती सूत्र में जो पंच-नमोकार-मंगलपाया जाता है उसमें पंचम पद अर्थात् 'णमो लोए सव्वसाहूणं' के स्थान पर 'णमो बंभीए लिबीए' (ब्राह्मी लिपि को नमस्कार) ऐसा पद दिया गया है। उड़ीसा की हाथी गुफा में जो कलिंग नरेश खारवेल का शिलालेख पाया जाता है और जिसका समय ईस्वी पूर्व अनुमान किया जाता है, उसमें आदि मंगल इस प्रकार पाया जाता है -

णमो अरहंताणं। णमो सब सिधाणं।

ये पाठभेद प्रासंगिक है या किसी परिपाटी को लिये हुए हैं, यह विषय विचारणीय है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में किसी किसी के मत से णमोकार सूत्र अनार्ष है [१]।

---

१ 'ये तु वदन्ति नमस्कार पाठ एवं नार्ष .....' इत्यादि दखो अभिधानराजेन्द्र-णमोकार, पृ. १८३५.

बारहवें श्रुताङ्ग दृष्टिवाद का परिचय

हम सत्प्ररूपणा की भूमिका में कह आये हैं कि बारहवां श्रुतांग दृष्टिवाद श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार भी विच्छिन्न हो गया, तथा दिगम्बर मान्यतानुसार उसके कुछ अंशों का उद्धार षट्खंडागम और कषायप्राभृत में पाया जाता है। किन्तु शेष भागों के प्रकरणों व विषय आदि का संक्षिप्त परिचय दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में बिखरा हुआ पाया जाता है। अत: लुप्त हुए श्रुतांग के इस परिचय को हम दोनों सम्प्रदायों के प्राचीन प्रमाणभूत ग्रंथों के आधार पर यहां तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिससे पाठक इस महत्वपूर्ण विषय में रुचि दिखला सकें और दोनों सम्प्रदायों की मान्यताओं में समानता और विषमता तथा दोनों की परस्पर प्रतिपूरकता की ओर ध्यान दे सकें। इस परिचय का मूलाधार श्वेताम्बर सम्प्रदाय के नन्दीसूत्र और समवायांगसूत्र हैं तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के धवल और जयधवल ग्रंथ।

धवला में दृष्टिवाद का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है -

तस्य दृष्टिवादस्य स्वरूपं निरूप्यते। कौत्कल-काणेविद्धि-कौशिक-हरिश्मश्रु-मांद्वपिक-रोमश-हारीत-मुण्ड-अश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचि-कपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्वलि-माठर-मौद्गलायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः, शाकल्प-वल्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कण्व-माध्यंदिन-मोद-पैप्पलाद-बादरायण-स्वेष्टकृदैतिकायन-वसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ठ-पराशर-जतु-कर्ण-वाल्मीकि-रोमहर्षणी-सत्यदत्त-व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्। एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्टयुत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।

(सं.प., पृ.१०७)

इसका अभिप्राय यह है कि दृष्टिवाद अंग में १८० क्रियावाद, ८४ अक्रियावाद, ६७ अज्ञानिकवाद और ३२ वैनयिकवाद, इस प्रकार कुल ३६३ दृष्टियों का प्ररूपण और उनका निग्रह अर्थात् खंडन दिया गया है। इन वादों और दृष्टियों के कर्ताओं के जो नाम दिये गये हैं, उनमें से अनेक नाम वैदिक धर्म के भिन्न भिन्न साहित्यांगों से सम्बद्ध पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, हारीत, वशिष्ठ, पाराशर सुप्रसिद्ध स्मृतिकारों के नाम हैं। व्यासकृत स्मृति भी प्रसिद्ध हैं और वे महाभारत के कर्ता कहे जाते हैं। बाल्मीकि कृत रामायण सुविख्यात है, पर धर्मशास्त्र संबंधी उनका बनाया ग्रंथ नहीं पाया जाता। आश्वलायन श्रौतसूत्र भी प्रसिद्ध है।

गर्ग का नाम एक ज्योतिषसंहिता से सम्बद्ध है। कण्व ऋषि का नाम भी वैदिक साहित्य से सम्बंध रखता है। माध्यंदिन एक वैदिक शाखा का नाम है। बादरायण वेदान्तशास्त्र के और जैमिनि पूर्वमीमांसा के सुप्रसिद्ध संस्थापक हैं। किन्तु शेष अधिकांश नाम बहुत कुछ अपरिचित से हैं। इन नामों के साथ उन उन दृष्टियों का संबंध किन्हीं ग्रंथों पर से चला है या उनकी चलाई कोई अलिखित विचारपरम्पराओं पर से कहा गया है यह जानना कठिन है। पर तात्पर्य यह स्पष्ट है कि दृष्टिवाद में अनेक दार्शनिक मत-मतान्तरों का परिचय और विवेक कराया गया था। दृष्टिवाद के जो भेद आगे बतलाये गये हैं उनमें सूत्र और पूर्वो के भीतर ही इन वादों के परिशीलन की गुंजाइश दिखाई देती है।

श्वेताम्बर मान्यता	दिगम्बर मान्यता
दिट्ठिवाद [१] के ५ भेद	दिट्ठिवाद[१] के ५ भेद
१. परिकम्म [२]	१. परिकम्म[२]
२. सुत्त	२. सुत्त
३. पुव्वगय	३. पढमाणिओग
४. अणुओग	४. पुव्वगय
५ चूलिया	५. चूलिया

दोनों संप्रदायों में दृष्टिवाद के इन पांच भेदों के नामों में कोई भेद नहीं है, केवल अणियोग की जगह दिगम्बर नाम पढमाणियोग पाया जाता है। इसका रहस्य आगे बताये हुए प्रभेदों से जाना जायगा। दूसरा कुछ अन्तर पुव्वगय और अणियोग के क्रम में है। श्वेताम्बर पुव्वगय को पहले और अणियोग को उसके पश्चात् गिनाते हैं; जबकि दिगम्बर पढमाणियोग

श्वेताम्बर मान्यता -

१ अथ कोऽयं दृष्टिवाद: ? दृष्टयो दर्शनानि, वदनं वाद:। दृष्टीनां वादो दृष्टिवाद:। अथवा पतनं पात:, दृष्टीनां पातो यत्र स दृष्टिपात:। (नंदीसूत्र टीका)

२ तत्र परिकर्म नाम योग्यतापादनम्। तद्धेतु: शास्त्र-मपि परिकर्म। तथा चोक्तं चूर्णौ-परिकम्मे त्ति योग्यताकरणं। जह गणिस्स सोलस परिकम्मा तग्गहिय-सुत्तत्थो सेस गणियस्स जोग्गो भवइ, एवं गहियपरिकम्मसुत्तत्थो सेस-सुत्ताइ-दिट्ठिवायस्स जोग्गो भवइ त्ति। (नंदीसूत्र टीका)

दिगम्बर मान्यता-

१ दृष्टीनां त्रिषष्टयुत्तरत्रिशतसंख्यानां मिथ्यादर्शनानां वादोऽनुवाद:, तन्निराकरणं च यस्मिन्क्रियते तद दृष्टिवादं नाम। (गोम्मटसार टीका)

२ परित: सर्वत: कर्माणि गणितकरणसूत्राणि यस्मिन् तत् परिकर्म। (गोम्मटसार टीका)

को पहले और पुव्वगय को उसके अन्तर रखते हैं। यह भेद या तो आकस्मिक हो, या दोनों सम्प्रदायों के प्राचीन पठनक्रम के भेद का द्योतक हो। दिगम्बरीय क्रम की सार्थकता आगे पूर्वो के विवेचन में दिखायी जावेगी।

परिकर्म के ७ भेद	परिकर्म के ५ भेद
१ सिद्धसेणिआ	१. चंदपण्णती
२. मणुस्ससेणिआ	२. सूरपण्णत्ती
३. पुट्ठसेणिआ	३. जंबूदीवपण्णत्ती
४ ओगाढसेणिआ	४ दीवसायरपण्णत्ती
५ उवसंपज्जणसेणिआ	५ वियाहपण्णत्ती
६ विप्पजहणसेणिआ	
७ चुआचुअसेणिआ	

ये परिकर्म के भेद दोनों सम्प्रदायों में संख्या और नाम दोनों बातों में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। सिद्धश्रेणिकादि भेदों का क्या रहस्य था, यह ज्ञात नहीं रहा। समवायांग के टीकाकार कहते हैं -

'एतच्च सर्वं समूलोत्तरभेदं सूत्रार्थतो व्यवच्छिन्नं।'

अर्थात् यह सब परिकर्मशास्त्र अपने मूल और (आगे बतलाये जाने वाले) उत्तर भेदों सहित सूत्र और अर्थ दोनों प्रकार से नष्ट हो गया। किन्तु सूत्रकार व टीकाकारने इन सात भेदों के सम्बन्ध में कुछ बातें ऐसी बतलायी हैं जो बड़ी महत्वपूर्ण हैं। परिकर्म के सात भेदों के सम्बन्ध में वे लिखते हैं -

इच्चेयाइं छ परिकम्माइं ससमइयाइं, सत्त आजीवियाई; छ चउक्क-णइयाइं, सत्त तेरासियाइं। (समवायांगसूत्र)

एतेषां च परिकर्मणां षट् आदिमानि परिकर्माणि स्वसामयिकान्येव। गोशलक-प्रवर्तिताजीविक-पाखण्डिक-सिद्धान्तमतेन पुन: च्युताच्युतश्रेणिकापरिकर्मसहितानि सप्त प्रज्ञाप्यन्ते। इदानीं परिकर्मसु नय-चिन्ता। तत्र नैगमो द्विविध: सांग्राहिकोऽसांग्राहिकश्च। तत्र सांग्राहिक. संग्रहं प्रविष्टोऽसांग्राहिबश्च व्यवहारम्। तस्मात्संग्रहो व्यवहार ऋजुसूत्र: शब्दादयश्चैक एवेत्येवं चत्वारो नया.। एतैश्चतुभिर्नय: षट् स्वसामयिकानि परिकर्माणि चिन्त्यन्ते, अतो भणितं 'छ चउक्क-नयाइं' ति भवन्ति। त एव चाजीविकास्त्रैराशिका भणित:।

कस्माद् ? उच्यते, यस्मात्ते सर्वं त्र्यात्मकमिच्छन्ति, यथा जीवोऽजीवो जीवाजीव:, लोकोऽलोको लोकालोक:, सत् असत् सदसत् इत्येवमादि । नयचिन्तायामपि ते त्रिविधं नयमिच्छान्ति । तद्यथा द्रव्यर्थिक: पर्यायार्थिक: उभयार्थिक: । अतो भणितं 'सत्त तेरासिय ' त्ति । सप्त परिकर्माणि त्रैराशिकपाखण्डिका:स्त्रिविधया नयचिन्तया चिन्तयन्तीत्यर्थ: । (समवायांग टीका)

इसका अभिप्राय यह है कि परिकर्म के जो सात भेद ऊपर गिनाये गये हैं उनमें से प्रथम छ भेद तो स्वसमय अर्थात् अपने सिद्धान्त के अनुसार हैं, और सातवां भेद आजीविक सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार है। जैनियों के सात नयों में से प्रथम अर्थात् नैगम नयका तो संग्रह और व्यवहार में अन्तर्भाव हो जाता है, तथा अन्तिम दो अर्थात् समभिरूढ और एवं भूत शब्दनयमें प्रविष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार मुख्यता से उनके चार ही नय रहते हैं, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द । इस अपेक्षा से जैनी चउक्कणइक अर्थात् चतुष्कनयिक कहलाते हैं । आजीविक सम्प्रदाय वाले सब वस्तुओंको त्रि-आत्मक मानते हैं, जैसे जीव, अजीव और जीवाजीव; लोक, अलोक और लोकालोक, सत्, असत् और सदसत्, इत्यादि। नय का चिन्तन भी वे तीन प्रकार से करते हैं - द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक और उभयार्थिक । अत: आजीविक तेरसिय अर्थात् त्रैराशिक भी कहलाते हैं । उन्हीं की मान्यतानुसार परिकर्म का सातवां भेद 'चुआचुअसेणिआ' जोड़ा गया है ।

इस सूचना से जैन और आजीवक सम्प्रदायों के परस्पर सम्पर्क पर बहुत प्रकाश पड़ता है मंखलिगोशाल महावीरस्वामी व बुद्धदेव के समसामयिक धर्मोपदेशक थे। उनके द्वारा स्थापित आजीविक सम्प्रदाय के बहुत उल्लेख प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथों में पाये जाते हैं । प्रस्तुत सूचना पर से जाना जाता है कि उनका शास्त्र और सिद्धान्त जैनियों के शास्त्र और सिद्धान्त के बहुत ही निकटवर्ती था, केवल कुछ-कुछ भेद-प्रभेदों और दृष्टिकोणों में अन्तर था । भूमिका जैनियों और आजीविकों की प्राय: एक ही थी । आगे चलकर, जान पड़ता है, जैनियों ने आजीविकों की मान्यताओं को अपने शास्त्र में भी संग्रह कर लिया और इस प्रकार धीरे-धीरे समस्त आजीविक पंथ का अपने ही समाज में अन्तर्भाव कर लिया । ऊपर की सूचना में यद्यपि टीकाकार ने आजीविकों को पाखंडी कहा है, पर उनकी मान्यता को वे अपने शास्त्र में स्वीकार कर रहे हैं ।

परिकर्म के पूर्वोक्त सात भेद दिगम्बर मान्यता में नहीं पाये जाते । पर इस मान्यता के जो पांच भेद चंदपण्णत्ति आदि हैं, उनमें से प्रथम तीन तो श्वेताम्बर आगम के उपांगों में गिनाये हुए मिलते हैं, तथा चौथा दीवसायरपण्णत्ती व जंबूदीवपण्णत्ती और चंदपण्णत्ती के

नाम नंदीसूत्र में अंगबाह्य श्रुत के आवश्यकव्यतिरिक्त भेद के अन्तर्गत पाये जाते हैं। किन्तु पांचवा भेद वियाहपण्णत्तिका नाम पांचवें श्रुतांग के अतिरिक्त और नहीं पाया जाता।

सिद्धसेणिअ परिकम्प के १४ उपभेद

१ माउगापायाई	२. एगट्ठिअपयाइं
३. अट्ठ या पादोट्ठ [१] पयाई	४. पाढोआमास या आगस [१] पयाइं
५. केउभूअं	६. रासिबद्धं
७. एगगुणं	८. दुगुणं
९ तिगुणं	१०. केउभूअं
११. पडिग्गहो	१२. संसारपडिग्गहो
१३. नंदावत्तं	१४. सिद्धावत्तं

१. **चंदपण्णत्ती** - छत्तीसलक्खपंचपदसहस्सेहि (३६०५०००) चंदायु-परिवारिद्धि-गइ-बिंबुस्सेह-वण्णणं कुणइ।

२. **सूरपण्णत्ती** - पंचलक्खतिण्णिसहस्सेहि पदेहि (५०३०००) सूरस्यायु - भोगोव- भोग-परिवारिद्धि-गइ-बिंबुस्सेह-दिणकिर- णुज्जोव-वण्णणं कुणइ।

३. **जंबूदीवपण्णत्ती**- तिण्णिलक्खपंचवीस - पदसहस्सेहि (३२५०००) जंबूदीवे णाणाविहमणुयाणं भोग-कम्मभूमियाणं अण्णेसिं च पव्वद-दह-णइ-वेइयाणं वस्सावासाकट्टिमजिणहरादीणं वण्णणं कुणइ।

४. **दीवसायरपणणत्ती**- वावण्णलक्खछत्तीस पदसहस्सेहि (५२३६०००) उद्धार-पल्लपमाणेण दीवसायरपमाणं अण्णं पि दीवसायरंतब्भूदत्थं बहुभेयं वण्णेदि।

५. **वियाहपण्णत्ती**- चउरासीदिलक्खछत्तीस पदसहस्सेहित (८४३६०००) रूवि-अजीवदव्वं अरूवि-अजीवदव्वं भवसिद्धियअभवसिद्धियरासिं च वण्णेदि।

मणुस्ससेणिआ परिकम्म भी १४ भेद हैं जिनमें प्रथम १३ भेद उपर्युक्त ही हैं। १४ वां भेद 'मणुस्सावत्तं' नाम का है।

पुट्ठसेणिंआदि शेष पांच परिकर्मों में प्रत्येक के ११ उपभेद हैं जो प्रथम तीन को छोड़कर शेष पूर्वोक्त ही हैं। अन्तिम भेद के स्थान में स्वनामसूचक भेद हैं, जैसे पुट्ठावत्तं,

१ ये पाठभेद नंदीसूत्र और समवायांग के हैं।

ओगाढावत्तं, उपसंपज्जाणावत्तं, विप्पजहणावत्तं और चुआचुआवत्तं। इस प्रकार ये सब मिलकर ८३ प्रभेद होते हैं[1]।

परिकर्म के इन माउगापयांइ आदि उपभेदों का कोई विवरण हमें उपलभ्य नहीं है। किन्तु मातृकापद से जान पड़ता है उसमें लिपि विज्ञान का विवरण था। इसी प्रकार अन्य भेदों में शिक्षा के मूल विषय गणित, न्याय आदि का विवरण रहा जान पड़ता है।

सूत्त के ८८ भेद -

१. उज्जुसुयं या उजुगं	२. परिणयापरिणयं
३. बहुभंगिअं	४. विजयचरियं, विप्पचइयं या विनयचरियं
५. अणंतरं	६. परंपरं
७. मासाणं (समाणं-स.अ.)	८. संजूहं (मासाणं - सं.अं.)
९. संभिण्णं	१०. आहव्वायं (अहाच्चायं- सं.अं.)
११. सोवत्थिअवत्तं	१२. नंदावत्तं
१३. बहुलं	१४. पुट्ठापुट्ठं
१५. विआवत्तं	१६. एवंभूअं
१७. दुयावत्तं	१८. वत्तमाणप्पयं
१९. समभिरूढं	२०. सव्वओभद्दं
२१. पस्सासं (पणामं-सं.अं.)	२२. दुप्पडिग्गहं

सूत्त के अन्तर्गत विषय - सुत्तं अट्ठासीदिलक्खपदेहि (८८०००००) अबंधओ, अवलेवओ, अकत्ता, अभोत्ता, णिग्गुणो, सव्वगओ, अणुमेत्तो, णात्थि जीवो, जीवो चेव अतित्थ, पुढवियादीणं समुदएण जीवो उप्पज्जइ, णिच्चेयणो, णाणेण विणा, सचेयणो, णिच्चो, अणिच्चो अप्पेत्ति वण्णेदि। तेरासियं, णियदिवादं, विण्णाणवादं, सद्दवादं, पहाणवादं, दव्व-वादं, पुरिसवादं च वण्णेदि। उत्तं च - अट्ठासी अहियारेसु चउण्हमहियाराणमत्थि णिद्देसो। पढमो अबंधयाणं, बिदियो तेरासियाण बोद्धव्वो ॥ तदियो य णियइपक्खे हवइ चउत्थो ससमयम्मि। (धवला सं.प., पृ. ११०)

सुत्ते अट्ठासीदि अत्थाहियारा, ण तेसिं णामाणि जाणिज्जंति, संपहि विसिट्ठुवएसा - भावादो (जयधवला)

---

१ सिद्धसेणिकादिपरिकर्म मूलभेदत: सप्तविधं, उत्तरभेदतस्तु त्र्यशीतिविधं मातृकापदादि। (समवायांग टीका)

ये ही २२ सूत्र चार प्रकार से प्ररूपित हैं -

१. छिण्णछेअ-णइयाणि

२. अछिण्णछेअ-णइयाणि

३. तिक-णइयाणि

४ चउक्क-णइयाणि

इस प्रकार सूत्रों की संख्या २२ x ४ = ८८ हो जाती है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सूत्र के मुख्य भेद बावीस हैं। उनके अठासी भेदों की सूचना समवायांग में इस प्रकार दी गई है -

इच्चेयाइं वावीसं सुत्ताइं छिण्णछेअणइआइं ससमय-सुत्तपरिवाडीए, इच्चेआइं वावीसं सुत्ताइं अछिन्नछेयनइयाई आजीवियसुत्तपरिवाढीए। इच्चेआइं वावीसं सुत्ताइं तिक-णइयाइं तेरासियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेआइं वावीसं सुत्ताइं चउक्कणइयाइं ससंमयसुत्तपरिवाढीए। एवमेव सुपव्वावरेणं अट्ठासीदि सुत्ताइं भवंतीति मक्खयाइं।

यहां जिन चार नयों की अपेक्षा से बाबीस सूत्रों के अठासी भेद हो जाते हैं, उनका स्पष्टीकरण टीका में इस प्रकार पाया जाता है -

एतानि किल ऋजुकादीनि द्वाविंशति' सूत्राणि, तान्येव विभागतोऽष्टाशीतिर्भवन्ति। कथम्? उच्यते - 'इच्चेइयाइं वावीसं सुत्ताइं छिन्नछेयनइयाइं ससमयसुत्तपरिवाडीए' त्ति। इह यो नयः सूत्रं छिन्नं छेदेनेच्छति स छिन्नच्छेदनयो, यथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, इत्यादि श्लोकः सूत्रार्थतः प्रत्येकछेदेन स्थितो न द्वितीयादिश्लोकमपेक्षते, प्रत्येककल्पितपर्यन्त इत्यर्थः। एतान्येव द्वाविंशति स्वसमयसूत्रपरिपाठ्य। सूत्राणि स्थितानि। तथा इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि अच्छिन्नच्छेदनयिकान्याजीविकसूत्रपरिपाठ्येति, अयमर्थः - इह यो नयः सूत्रमच्छिन्नं छेदेनेच्छति सोऽछिन्नछेदनयो यथा, 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं,' इत्यादि श्लोक एवार्थतो द्वितीयादिश्लोकमपेक्षमाणो द्वितीयादयश्च प्रथममिति अन्योऽन्यसापेक्षा इत्यर्थ.। एतानि द्वाविंशतिराजीविकगोशालकप्रवर्तितपाखंडसूत्रपरिपाठ्या। अक्षररचनाविभागस्थितान्यप्यर्थतोऽयोन्यमपेक्ष माणानि भवन्ति। 'इच्चेयाइं' इत्यादिसूत्रम्। तत्र तिकणइयाइं ति नयत्रिकाभिप्रायतश्चिन्त्यन्त इत्यर्थ - त्रैराशिकाश्चाजीविका एवोच्यन्ते इति। तथा 'इच्चेयाइं' इत्यादि सूत्रं। तत्र 'चउक्कणइयाइं' ति नयचतुष्काभिप्रायतश्चिन्त्यन्त इति भावना, एवमेवेत्यादिसूत्रम्। एवं चतस्रो द्वाविंशतयोऽष्टाशीतिः सूत्राणि भवन्ति।

इस विवरण से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त बाबीस सूत्रों का चार प्रकार से अध्ययन या व्याख्यान किया जाता था। प्रथम परिपाटी छिन्नछेदनय कहलाती थी जिसमें सूत्रगत एक एक वाक्य, पद या श्लोक का स्वतंत्रता से पूर्वापर अपेक्षारहित अर्थ लगाया जाता था। यह परिपार्टी स्वसमय अर्थात् जैनियों में प्रचलित थी। दूसरी परिपाटी अछिन्नछेदनय थी जिसके अनुसार प्रत्येक वाक्य, पद या श्लोक का अर्थ आगे पीछे के वाक्यों से संबंध लगाकर बैठाया जाता था। यह परिपाटी आजीविक सम्प्रदाय में चलती थी तीसरा प्रकार त्रिकनय कहलाता था जिसमें द्रव्यार्थिक, पर्यायाथिक और उभयार्थिक व जीव, अजीव और जीवाजीव आदि उपर्युक्त त्रि- आत्मक व त्रिनयँ रूप से वस्तुस्वरूप का चिन्तन किया जाता था। पूर्वोक्तानुसार यह परिपाटी आजीवकों की थी। तथा जो वस्तुचिन्तन पूर्वकथित चार नयों की अपेक्षा से चलता था वह चतुर्नय परिपाटी कहलाती थी और वह जैनियों की चीज थी। इस प्रकार निरपेक्ष शब्दार्थ और चतुर्नय चिन्तन, ये दो परिपाटियां जैनियों की और सापेक्ष शब्दार्थ तथा त्रिकन्य चिनतन, ये दो परिपाटियां आजीविकों की मिलकर बाबीस सूत्रों के अठासी भेद कर देती थीं। आजीविक ज्ञानशैली को जैनियों ने किस प्रकार अपने ज्ञानभंडार में अन्तर्भूत कर लिया यह यहां भी प्रकट हो रहा है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में सूत्रों के भीतर प्रथम जीव का नाना दृष्टियों से अध्ययन और फिर दूसरे अनेक वादों का अध्ययन किया जाता था, ऐसा कहा गया है। इन वादों में तेरासिय मतका उल्लेख सर्व प्रथम है जिससे तात्पर्य त्रैराशिक-आजीविक सिद्धान्त से ही हैं, जो जैन सिद्धान्त के सबसे अधिक निकट होने के कारण अपने सिद्धान्त के पश्चात् ही पढा जाता था। धवला में सूत्र के ८८ अधिकारों का उल्लेख है जिनमें से केवल चार के नाम दिये हैं। जयधवला में स्पष्ट कह दिया है कि उन ८८ अधिकारों के अव नामों का भी उपदेश नहीं पाया जाता। किन्तु जो कुछ वर्णन दिगम्बर सम्प्रदाय में शेष रहा है उसमें विशेषता यह है कि वह उन लुप्त ग्रंथों के विषय पर बहुत कुछ प्रकाश डालता है; श्वेताम्बर श्रुत में केवल अधिकारों के नाममात्र शेष हैं जिनसे प्राय. अब उनके विषय का अंदाज लगाना भी कठिन है।

पुव्वगय के १४ भेद तथा उनके अन्तर्गत वत्थू और चूलिका	पुव्वगय के १४ भेद तथा उनके अन्तर्गत वत्थू
१. उप्पायं (१० वत्थू +४ चूलिआ)	१. उप्पाद (१० वत्थू)
२. अग्गाणीयं (१४ वत्थू + १२ चूलिआ)	२. अग्गोणियं (१४ वत्थू)
३. वीरिअं (८ वत्थू + ८ चूलिया)	३. वीरियाणुपवादं (८ वत्थू)

४ अत्थिणात्थिप्पवायं	(१८ वत्थू+ १० चूलिया)	४. अत्थिणत्थिपवादं	(१८ वत्थू)
५. नाणप्पवायं	(१२ वत्थू)	५. णाणपवादं	(१२ वत्थू)
६. सच्चप्पवायं	(२ ")	६ सच्चपवादं	(१२ ")
७ आयप्पवायं	(१६ ")	७. आदपवादं	(१६ ")
८. कम्मप्पवायं	(२० ")	८ कम्मपवादं	(२० ")
९ पच्चक्खाणप्पवायं	(२० ")	९. पच्चक्खाणं	(३० ")
१०. विज्जाणुप्पवायं	(१५ ")	१०. विज्जाणुवादं	(१५")
११. अवंझं	(१३ ")	११. कल्लाणवादं	(१० ")
१२. पाणाऊ	(१३ ")	१२. पाणावायं	(१० ")
१३. किरिआविसालं	(३० ")	१३. किरियाविसालं	(१० ")
१४. लोकविंदुसारं	(२५ ")	१४. लोकविंदुसारं	(१० ")

दृष्टिवाद के इस विभाग का नाम पूर्व क्यों पड़ा, इसका समाधान समवायांग व नन्दीसूत्र की टीकाओं में इस प्रकार किया गया है -

अथ किं तत् पूर्वगतं ? उच्यते । यस्मात्तर्थिकरः तीर्थप्रवर्त्तनाकाले गणधराणां सर्वसूत्राधारत्वेन पूर्व पूर्वगतं सूत्रार्थं भाषते तस्मात् पूर्वाणीति भणितानि । गणधराः पुनः श्रुतरचनां विदधाना आचारादिक्रमेण रचयन्ति स्थापयन्ति च । मतान्तरेण तु पूर्वगतसूत्रार्थः पूर्वमर्हता भाषितो गणधरैरपि पूर्वगतश्रुतमेव पूर्वं रचितं, पश्चादाचारादि । नन्वेवं यदाचारनिर्युक्तयामभिहितं 'सव्वेसिं आयारो पढमो' इत्यादि, तत्कथम् ? उच्यते । तत्र स्थापनामाश्रित्य तथोक्तमिह त्वक्षररचनां प्रतीत्य भणितं पूर्वं पूर्वाणि कुतानीति ।

(समवायांग टीका)

इसका तात्पर्य यह है कि तीर्थप्रवर्तन के समय तीर्थकर अपने गणधरों को सबसे प्रथम पूर्वगत सूत्रार्थ का ही व्याख्यान करते हैं, इससे इन्हें पूर्वगत कहा जाता है । किन्तु गणधर जब श्रुत की ग्रंथरचना करते हैं तब वे आचारादिक्रम से ही उनकी रचना व व्यवस्था करते हैं, और इसी स्थापना की दृष्टि से आचारांग की निर्युक्ति में यह बात कही गई है कि सब श्रुतांगों में आचारांग प्रथम है । यथार्थतः अक्षर रचना की दृष्टि से पूर्व ही पहले बनाये गये ।

एक आधुनिक मत [1] यह भी है कि पूर्वों में महावीर स्वामी से पूर्व और उनके समय में प्रचलित मत-मतान्तरों का वर्णन किया गया था, इस कारण वे पूर्व कहलाये।

चौदह पूर्वों के नामों में दोनों सम्प्रदायों में कोई विशेष भेद नहीं है, केवल ग्यारहवें पूर्व को श्वेताम्बर 'अवंझ' कहते हैं और दिगम्बर 'कल्लाणवाद'। अवंझंगा जो अर्थ टीकाकार ने अवंध्य अर्थात् 'सफल' बतलाया है वह 'कल्याण' के शब्दार्थ के निकट पहुंच जाता है, इससे संभवत: वह उनके विषयभेद का द्योतक नहीं है। छठवें, आठवें, नवमें और ग्यारह से चौदहवें तक इस प्रकार सात पूर्वों के अन्तर्गत वस्तुओं की संख्या में दोनों सम्प्रदायों में मतभेद हैं। शेष सात पूर्वों की वस्तु-संख्या में कोई भेद नहीं है। श्वेताम्बर मान्यता में प्रथम चार पूर्वों के अन्तर्गत वस्तुओं के अतिरिक्त चूलिकाओं की संख्या भी दी गई हैं, और दृष्टिवाद के पंचमभेद चूलिका के वर्णन में कहा है कि वहां उन्हीं चार पूर्वों की चूलिकाओं से अभिप्राय है। यदि ये चूलिकाएं पूर्वों के अन्तर्गत थीं, तो यह समझ में नहीं आता कि उनका फिर एक स्वतंत्र विभाग क्यों रखा गया। दिगम्बरीय मान्यता में पूर्वों के भीतर कोई चूलिकाएं नहीं गिनायी गई और चूलिका विभाग के भीतर जो पांच चूलिकाएं बतलायी हैं उनका प्रथम चार पूर्वों से कोई संबंध भी ज्ञात नहीं होता।

समवायांग और नन्दीसूत्र में पूर्वों के अन्तर्गत वस्तुओं और चूलिकाओं की संख्या-सूचक निम्न तीन गाथाएं पाई जाती हैं -

दस चोद्दस अट्ठट्ठारसेव बारस दुवे या वत्थूणि।
सोलह तीसा वीसा पण्णरस अणुप्पवायंमि ।। १।।
बारस एक्कारसमे तेरसेव वत्थूणि।
तीसा पुण तेरसमे चउदसमे पन्नवीसाओ ।। २।।
चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि।
आइल्लाण चउण्हं सेसाणं चूलिया णत्थि ।। ३।।

धवला में (वेदनाखंड के आदि में) पूर्वो के अन्तर्गत वस्तुओं और वस्तुओं के अन्तर्गत पाहुडों की संख्या की द्योतक निम्न तीन गाथाएं पाई जाती हैं -

दस चोद्दस अट्ठारस (अट्ठट्ठारस) वारस य दोसु पुव्वेसु।
सोलस वीसं तीसं दसमंमि य पण्णरस वत्थू ।।१।।

---

१ डॉ. जैकोबी कल्पसूत्रभूमिका.

एदेसिं पुव्वाणं एवदिओ वत्थुसंगहो भणिदो।
सेसाणं पुव्वाणं दस दस वत्थू पणिवयामि ॥ २॥
एक्केक्कम्हि य वत्थू वीसं वीसं च पाहुडा भणिदा।
विसम-समा हि य वत्थू सव्वे पुण पाहुडेहि समा ॥ ३ ॥

इनके अंक भी धवला में दिये हुये हैं जिन्हें हम निम्न तालिका द्वारा अच्छी तरह प्रकट कर सकते हैं।

पूर्व	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	कुल
वत्थू	१०	१४	८	१८	१२	१२	१६	२०	३०	१५	१०	१०	१०	१०	१९५
पाहुड	२००	२८०	१६०	३६०	२४०	२४०	३२०	४००	६००	३००	२००	२००	२००	२००	३९००

सव्व-वत्थु-समासो पंचाणउदिसदमेत्तो १९५।
सव्व-पाहुड-समासो ति-सहस्स-णव-सद-मेत्तो ३९००।

जयधवला में यह भी बतलाया गया है कि एक-एक पाहुड के अन्तर्गत पुनः चौबीस चौबीस अनुयोगद्वार थे। यथा -

सदेसु अत्थाहियारेसु एक्केक्कस्य अत्थाहियारस्स वा पाहुडसण्णिदा वीस वीस अत्थाहियारा। तेसिं पि अत्थाहियाराणं एक्केक्कस्स अत्थाहियारस्स चउवीसं चउवीसं अणिओगद्दाराणि सण्णिदा अत्थाहियारा।

इससे स्पष्ट है कि पूर्वों के अन्तर्गत वस्तु अधिकार थे, जिनकी संख्या किसी विशेष नियम से नहीं निश्चित थी। किन्तु प्रत्येक वस्तु के अवान्तर अधिकार पाहुड कहलाते थे और उनकी संख्या प्रत्येक वस्तु के भीतर नियमतः बीस-बीस रहती थी और फिर एक-एक पाहुड के भीतर चौबीस-चौबीस अनुयोगद्वार थे। यह विभाग अब हमारे लिये केवल पूर्वो की विशालता मात्र का द्योतक है क्योंकि उन वत्थुओं और उनके अन्तर्गत पाहुडों के अब नाम तक भी उपलब्ध नहीं हैं। पर इन्हीं ३९०० पाहुडों में से केवल दो पाहुडों का उद्धार षट्खंडागम और कसायपाहुड (धवला और जयधवला) के रूप में पाया जाता है जैसाकि आगे चलकर बतलाया जायेगा। उनसे और उनकी उपलब्ध टीकाओं से इस साहित्य की रचनाशैली व कथनोपकथन पद्धति का बहुत कुछ परिचय मिलता है।

चौदह पूर्वो का विषय व परिमाण	चौदह पूर्वोका विषय व पदसंख्या
१. उप्पादपुव्वं - तत्र च सर्वद्रव्याणां पर्यवाणां चोत्पादभावमंगीकृत्य प्रज्ञापना कृता। (१००००००)	१. उप्पादपुव्वं जीव-काल-पोग्गलाणमुप्पाद वय-धुवत्तं वण्णेइ। (१०००००००)
२. अग्गेणीयं - तत्रापि सर्वेषां द्रव्याणां पर्यवाणां जीवविशेषाणां चाग्रं परिमाणं वर्ण्यते। (९६०००००)	२. अग्गेणियं अंगाणमग्गं वण्णेइ। अंगणमग्गं पदं वण्णेदि त्ति अग्गेणियं गुणणामं। (९६०००००)
३. वीरियं - तत्राप्यजीवानां जीवानां च सकर्म तराणां वीर्य प्रोच्यते। (७००००००)	३. वीरियाणुपवादं अप्पविरयं परविरियं उभयविरियं खेत्तविरियं भवविरियं तवविरियं वण्णेइ। (७००००००)
४. अत्थिणत्थिपवादं - यद्यल्लोके यथास्ति यथा वा नास्ति, अथवा स्याद्वादाभिप्रायत: तदेवास्ति तदेव नास्तीत्येवं प्रवदति। (६००००००)	४. अत्थिणत्थिपवादं जीवाजीवाणं अत्थि-णत्थित्तं वण्णेदि। (६००००००)
५. णाणपवादं-तस्मिन् मतिज्ञानादि-पंचकस्य भेदप्ररूपणा यस्मात्कृता तस्मात् ज्ञानप्रवादं। (९९९९९९९)	५. णाणपवादं पंच णाणाणि तिण्णि अण्णा-णाणि वण्णेदि (९९९९९९९)
६. सच्चपवादं - सत्य संयमं सत्यवचनं वा तद्यत्र सभेदं सप्रतिपक्षं च वर्ण्यते तत्सत्य-प्रवादम् (१००००००६)	६. सच्चपवादं - वाग्गुप्ति : वाक्य-संस्कारकारणप्रयोगो द्वादशधा भाषावक्तारश्च अनेक - प्रकारं मृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्य - सद्भावो यत्र निरूपितस्तत्सत्यप्रवादम्। (१००००००६)
७. आदपवादं - आत्मा अनेकधा यत्र नयदर्शनै-र्वर्ण्यते तदात्मप्रवादं। (२६००००००)	७. आदपवादं आदं वण्णेदि वेदेत्ति वा विण्हु त्ति वा भोत्तेत्ति वा बुद्धेत्ति वा इच्चादिसरूवेण। (२६०००००००)
८. कम्मपवादं - ज्ञानावरणादिकमष्टविधं कर्मप्रकृतिस्थित्यनुभाग-प्रदेशादिभि-र्भेदैरन्यैश्चोत्तरो-त्तरभेदैर्यत्र वर्ण्यते तत्कर्मप्रवादम्। (१८००००००)	८. कम्मपवादं अट्ठविहं कम्मं वण्णेदि। (१८०००००)

९. पच्चक्खाणं - तत्र सर्व प्रत्याख्यानस्वरूपं वर्ण्यते (८४०००००)	९. पच्चक्खाणं दव्व-भाव-परिमियापरिमिय पच्चक्खाणं उववासविहिं पंच समिदीओ तिण्णि गुत्तीओ च परूवेदि। (८४०००००)
१०. विज्जाणुवादं - तत्रानेके विद्यातिशया वर्णिता। (११००००००)	१०. विज्जाणुवादं अंगुष्ठप्रसेनादीनां अल्प विद्यानां सप्तशतानि रोहिण्यादीनां महाविद्यानां पञ्चशतानि अन्तरिक्ष - भौमाङ्गस्वर-स्वप्न-लक्षण- व्यंजनछिन्नान्यष्टौ महानिमित्तानि च कथयति। (११००००००)
११. अवंज्झं - वन्धयंनाम निष्फलम्, न वन्ध्यम बन्ध्यं सफलमित्यर्थः। तत्र हि सर्वेज्ञानतप- संयमयोगाः शुभफलेन सफला वर्ण्यन्ते, अप्रशस्ताश्च प्रमादादिकाः सर्वे अशुभफलावर्ण्यन्ते, अतोऽवन्ध्यम्। (२६०००००००)	११ कल्याणं रवि-शशि-नक्षण-तारागणनां चारोपपाद-गति-विषर्ययफलानि शकुन-व्याहृतमर्हद्बलदेव-वासुदेव-चक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च कथयति। (२६०००००००)
१२. पाणावां - तत्राप्यायुःप्राणविधानं सर्व सभेदमन्ये च प्राणा वर्णिताः। (१५६०००००)	१२. पाणावायं कायचिकित्साद्यष्टांगमायुर्वेदं भूतिकर्म जांगुलिप्रक्रमं प्राणापानविभागं च विस्तरेण कथयति। (१३००००००)
१३. किरियाविसालं - तत्रकायिक्यादयः क्रिया विशाल त्ति सभेदाः संयमक्रिया छन्दक्रिया-विधानानि च वर्ण्यन्ते। (९००००००)	१३. किरियाविसालं लेखादिकाः द्वासप्ततिकलाः स्त्रैणांश्चतुः षष्टिगुणान्शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियां छन्दोविचितिक्रियां च कथयति। (९००००००)
१४. लोकबिंदुसारं - तच्चास्मिन् लोके श्रुतलोके वा बिन्दुरिवाक्षरस्य सर्वोत्तममिति, सर्वाक्षर- सन्निपातप्रतिष्ठितत्वेन च लोकबिन्दुसारं (१२५००००००)	१४. लोकबिंदुसारं अष्टौ व्यवहारान् चत्वारि बीजानिमोक्षगमनक्रियाः मोक्षसुखं च कथयति। (१२५००००००)

पूर्वो के अन्तर्गत विषयों की सूचना समवायांग व नन्दी सूत्रों में नहीं पायी जाती, वहां केवल नाम ही दिये गये हैं। विषय की सूचना उनकी टीकाओं में पायी जाती हैं।

उपर्युक्त श्वेताम्बर मान्यता का विषय समवायांग टीका से दिया गया है। उस पर से ऐसा ज्ञात होता है कि वहां विषय का अंदाज बहुत कुछ नाम की व्युत्पत्ति द्वारा लगाया गया है। धवलान्तर्गत विषय सूचना कुछ विशेष है। पर विषय निर्देश में शब्द भेद को छोड़ कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। अवन्ध्य और कल्याणवाद में जो नामभेद है, उसी प्रकार विषय सूचना में भी कुछ विशेष है। धवला मेंउसके अन्तर्गत फलित ज्योतिष और शकुनशास्त्र का स्पष्ट उल्लेख है जो अवन्धय के विषय में नहीं पाया जाता। उसी प्रकार बारहवें प्राणावाय पूर्व के भीतर धवला में कायचिकित्सादि अष्टांगायुर्वेद की सूचना स्पष्ट दी गई है, वैसी समवायांग टीका में नहीं पायी जाती। वहां केवल 'आयुपाणविधान' कहकर छोड़ दिया गया है। तेरहवें क्रियाविशाल में भी धवला में स्पष्ट कहा है कि उसके अन्तर्गत लेखादि बहत्तर कलाओं, चौसठ स्त्री कलाओं और शिल्पों का भी वर्णन है। यह समवायांग टीका में नहीं पाया जाता।

परप्रमाण दोनों मान्यताओं में तेरह पूर्वों का तो ठीक एकसा ही पाया जाता है, केवल बारहवें पूर्व पाणावाय की पदसंख्या दोनों में भिन्न पाई जाती है। धवला के अनुसार उसका पदप्रमाण तेरह कोटि है जब कि समवायांग और नन्दीसूत्र की टीकाओं में एक कोटि छप्पन लाख (एकाकोटी षट्पञ्चाशच्च पदलक्षाणि) पाया जाता है।

प्रथम नौ पूर्वो का विषय तो अध्यात्मविद्या और नीति-सदाचार से संबंध रखता है किन्तु आगे के विद्यानुवादादि पांच पूर्वो में मंत्र तंत्र व कला कौशल शिल्प आदि लौकिक विद्याओं का वर्णन था, ऐसा प्रतीत होता है। इसी विशेष भेद को लेकर दशपूर्वी और चौदहपूर्वी का अलग-अलग उल्लेख पाया जाता है। धवला के वेदनाखंड के आदि में जो मंगलाचरण है वह स्वयं इन्द्रभूति गौतम गणधरकृत और महाकम्मपयडिपाहुड के आदि में उनके द्वारा निबद्ध कहा गया है। वहीं से उठाकर उसे भूतबलि आचार्य ने जैसा का तैसा वेदनाखंड के आदि में रख दिया है, ऐसी धवलाकार की सूचना है। इस मंगलाचरण में ४४ नमस्कारात्मक सूत्र या पद हैं। इनमें बारहवें और तेरहवें सूत्रों में क्रम से दशपूर्वियों और चौदह पूर्वियों को अलग-अलग नमस्कार किया गया है, जिसके रहस्य का उद्घाटन धवलाकार ने इस प्रकार किया है -

णमो दसपुव्वियाणं ॥ १२ ॥

एत्थ दसपुव्विणो भिण्णाभिण्णभेएण दुविहा होंति। तत्थ एक्कारसंगाणि पढिऊण पुणो परियम्मसुत्तपढमाणियोगपुव्वगयचूलिया त्ति पंचहियाराणिबद्धदिट्ठिवादे पढिज्जमाणे उप्पायपुव्वमादिं कादूण पढंताणे दसपुव्वीविज्जापवादे समत्ते रोहिणी-आदिपंचसयमहाविज्जाई

अंगुट्ठपसेणादिसत्तसयदहरविज्जाहि अणुगयाओ किं भयवं आणवेवत्ति ढुक्कंति। एवं ढुक्काणं सव्वविज्जाणं जो लोभो गच्छदि सो भिण्णदसपुव्वी। जो पुण ण तासु लोभं करेदि कम्मक्खयत्थी होंतो सो अभिण्णदसपुव्वी णाम। तत्थ अभिण्णदसपुव्वीजिणाणं णमो - क्कारं करेमि त्ति ऊत्तं होदि। भिण्णदसपुव्वीणं कथं पडिणिवित्ती ? जिणसद्दाणुववत्तीदो, ण च तेसिं जिणत्तमत्थि, भग्गमहव्वएसु जिणत्ताणुववत्तीदो।

णमो चोद्दसपुव्वियाणं ॥ १३ ॥

जिणाणमिदि एत्थाणुवट्टदे। सयलसुदणाणधारिणो चोद्दसपुव्विणो, तेसिं चोद्दसपुव्वीणं जिणाणं णमो इदि उत्तं होदि। सेसहेट्ठिमपुव्वीणं णमोक्कारो किण्ण कदो ? ण, तेसिं पि कदो चेव तेहिं विणा चोद्दसपुव्वा णुववत्तीदो। चोद्दसपुव्वस्सेव णामणिद्देसं कादूण किमट्ठं णमोक्कारो कीरदे ? विज्जाणुपवादस्स समत्तीए इव चोद्दस्सपुव्वसमत्तीए वि जिणवयणपच्चयदंसणादो। चोद्सपुपुव्यसमत्तीए को पच्चओ ? चोद्दसपुव्वाणि समाणिय रत्तिं काउस्सग्गेण ट्ठिदस्स पहादसमए भवणवासियवाणवेंतरजोदिसियकप्पवासियदेवेहि कयमहापूजा संखकाहलातूररवसंकुला। होदु एदेसु दोसु ट्ठाणेसु जिणवयणपच्चओवलंभो, जिणवयणत्तं पडि सव्वंगपुव्वाणि समाणाणि त्ति तेसिं सव्वेसिं णामणिद्देसं काऊण णमोक्कारो किण्ण कदो ? ण, जिणवयणत्तणेण सव्वंगपुव्वंम्हि सरिसत्ते संते वि विज्जाणुप्पवादलोगबिंदुसाराणं महल्लत्तमत्थि, एत्थेव देवपूजोवलंभादो। चोद्दसपुव्वहरो मिच्छत्तं ण गच्छदि तम्हि भवे असंजमं च ण पडिवज्जदि, एसो एदस्स विसेसो।

यहां धवलाकार ने दशपूर्वियों और चौदहपूर्वियों को अलग अलग नाम निर्देशपूर्वक नमस्कार किये जाने कारण यह बतलाया है, कि जब श्रुतपाठी आचारांगादि ग्यारह श्रुतों को पढ चुकता है और दृष्टिवाद के पांच अधिकारों का पाठ करते समय क्रम से उत्पादादि पूर्व पढता हुआ दशम पूर्व विद्यानुवाद को समाप्त कर चुकता है, तब उससे रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याएं और अनुष्ठप्रसेणादि सात सौ अल्प विद्याएं आकर पूछती हैं 'हे भगवन्, क्या आज्ञा है' ? इस प्रकार सब विद्याओं के प्राप्त हो जाने पर जो लोभ में पड़ जाता है वह भिन्नदशपूर्वी कहलाता है, और जो उनके लोभ में न पड़कर कर्मक्षयार्थी बना रहता है वह अभिन्नदशपूर्वी होता है। ये अभिन्नदशपूर्वी ही 'जिन' संज्ञा को प्राप्त करते हैं और उन्हीं को यहां नमस्कार किया गया है। किन्तु जो महाव्रतों का भंग कर देने से जिन संज्ञा को प्राप्त नहीं कर पाते उन्हें यहां नमस्कार नहीं किया गया।

आगे यह प्रश्न उठाया गया है कि जब दश और चौदह पूर्वियों को अलग-अलग नमस्कार किया तब बीच के ग्यारहपूर्वी, बारहपूर्वी और तेरहपूर्वियों को भी क्यों नहीं पृथक्

नमस्कार किया। इसका उत्तर दिया गया है कि उनको नमस्कार तो चौदहपूर्वियों के नमस्कार में आ ही जाता है, पर जैसा जिनवचनप्रत्यय विद्यानुवाद की समाप्ति समय देखा जाता है वैसा ही चौदह पूर्वो की समाप्ति पर पाया जाता है। जब चौदहपूर्वो को समाप्त करके रात्रि में श्रुत-केवली कायोत्सर्ग से विराजमान रहते हैं तब प्रभात समय भवनवासी, बाणव्यंतर, ज्योतिषी, और कल्पवासी देव आकर उनकी शंखतूर्य के साथ महापूजा करते हैं। इस प्रकार यद्यपि जिनवचनत्व की अपेक्षा से सभी पूर्व समान हैं, तथापि विद्यानुप्रवाद और लोकबिन्दुसार का महत्व विशेष है, क्योंकि यहीं देवों द्वारा पूजा प्राप्त होती है। दोनों अवस्थाओं में विशेषता केवल इतनी है कि चतुर्दशपूर्वधारी फिर मिथ्यात्व में नहीं जा सकता और उस भव में असंयम को भी प्राप्त नहीं होता।

इससे जाना जाता है कि श्रुतपाठियों की विद्या एक प्रकार से दशम पूर्व पर ही समाप्त हो जाती थी, वहीं वह देवपूजा को भी प्राप्त कर लेता था और यदि लोभ में आकर पथभ्रष्ट न हुआ तो 'जिन' संज्ञा का भी अधिकारी रहता था। इससे दिगम्बर सम्प्रदाय में दृष्टिवाद के प्रथमानुयोग नामक विभाग को पूर्वगतसे पहले रखने की सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है। यदि पूर्वगत के पश्चात् प्रथमानुयोग रहा तो उसका तात्पर्य यह होगा कि दशपूर्वियों को उसका ज्ञान ही नहीं हो पायगा। अतएव इस दशपूर्वी की मान्यता के अनुसार प्रथमानुयोग को पूर्वोसे पहले रखना बहुत सार्थक है। आगे के शेष पूर्व और चूलिकाएं लौकिक और चमत्कारिक विद्याओं से ही संबंध रखती हैं, वे आत्मशुद्धि बढ़ाने में उतनी कार्यकारी नहीं हैं, जितनी उसकी दृढ़ता की परीक्षा कराने में हैं।

भिन्न और अभिन्न दशपूर्वी की मान्यता का निर्देश नंदीसूत्र में भी है, यथा -

'इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुअं अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुअं, तेण परं भिण्णेसु भयणा से तं सम्मसुअं' (सू.४१)

टीकाकार ने भिन्न और अभिन्न दशपूर्वी का स्पष्टीकरण इस प्रकार कियाहै -

'इत्येतद् द्वादशांगं गणिपिटकं यश्चतुर्दशपूर्वी तस्य सकलमपि सामायिकादि बिन्दुसार- पर्यवसानं नियमात् सम्यक् श्रुतं। ततो अधोमुखपरिहान्या नियमतः सर्व सम्यक् श्रुतं तावद् वक्तव्यं यावदभिन्नदश-पूर्विणः - सम्पूर्णदशपूर्वधरस्य। सम्पूर्णदशपूर्वधरत्वादिकं हि नियमतः सम्यग्दृष्टेरेव, न मिथ्यादृष्टेः, तथा स्वाभाव्यात्। तथाहि, यथा अभव्यो ग्रंथिदेशमुपागतोऽपि तावदवगाहते यावत्किञ्चिन्न्यूनानि दशपूर्वाणि भवन्ति, परिपूर्णानि तु तानि नावगाढुं शक्नोति तथा स्वभावत्वादिति। इत्यादि

इसका तात्पर्य यह है कि जो सम्मग्दृष्टि होता है वह तो दश पूर्वो का अध्ययन कर लेता है और आगे भी बढता जाताहै, किन्तु जो मिथ्यादृष्टि होता है वह कुछ कम दश पूर्वो तक तो पढ़ता जाता है, किन्तु वह दशमे को भी पूरा नहीं कर पाता। इसका उदाहरण उन्होंने एक अभव्य का दिया है जो किसी ग्रंथि-देश पर आजाने से उस ग्रंथिका भेदन नहीं कर पाता। पर टीकाकार ने यह नहीं बतलाया कि कुछ कम दशवें पूर्व में श्रुतपाठी कौन सी ग्रंथि पाकर रुक जाता है और उसका भेदन क्यों नहीं कर पाता।

अनुयोग के दो भेद -

१. मूलपढमाणुओग

२. गंणिआणुओग

मूलप्रथमानुयोग का विषय

अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा देवगमणाइं आउंचवणाइं जम्मणाइं अभिसेआ रायवरसिरीओ पव्वज्जाओ तवा य उग्गा केवलनाणुप्पयाओ तित्थ पवत्तणाणि सीसा गणा गणहरा अज्जपवत्तिणीओ संघस्स चउव्विहस्स जं च परिमाणं जिण मण पज्जव आहिनाणी सम्मत्त सुअनाणिणो वाई अणुत्तरगई उत्तरवेउव्विण्णो मुणिणो जत्तिआ सिद्धा सिद्धीवहो जहदेसिओ जच्चिरं च कालं पाओवगया जे जेहिं जात्तियाइं भत्ताइं छेइत्ता अंतगडे मुणिवरुत्तमे तमरओघविप्पमुक्के मुक्खसुहमणुत्तंर च पत्ते एवमन्ने अ एवमाइभावा मूलपढमाणुओगे कहिआ।

गंडिआणुओग

गंडिआणुओगे कुलगर-तित्थथर-चक्कवट्टि-दसार-वलदेव-वासुदेव-गणधन - भद्दवाहु-तवोक्कम-हरिवंस-उस्सप्पिणी-चित्तंतर-अमर-नर-तिरिय-निरय-गइइमण-विविहपरियट्टणेसु एवमाइआओ गंडिआओ आघविज्जंति पण्णविज्जंति।

प्रथमानुयोग का विषय

पढमाणिओए चउवीस अत्थाहियारा तित्थयर-पुराणेसु सव्वपुराणाणमंतब्भावादो (जयधवला) पढमाणियोगो पंच-सहस्सपदेहि (५०००) पुराणं वण्णेदि। उत्तं च -

बारसविहं पुराणं जं दिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहिं। तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य ॥१॥ पढमो अरहंताणं विदियोपुण चक्कवट्टिवंसो दु। विज्जाहाराण तदियो चउत्थओ वासुदेवाणं ॥२॥ चारणवंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्णसमणाणं। सत्तमओ कुरुवंसो अट्ठमओ तह य हरिवंसो ॥३॥ णवमो य इक्खयाणं दसमो वि य कासियाणं बोद्धव्वो। बाईणेक्कारसमो बारसमो णाहवंसो दु ॥४॥

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में दृष्टिवाद के चौथे भेद का नाम अणुयोग है जिसके पुन: दो प्रभेद होते हैं, मूलप्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग। दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रथमानुयोग ही दृष्टिवाद का तीसरा भेद है। अनुयोग का अर्थ समवायांग टीका में इस प्रकार दिया है -

अनुरूपोऽनुकूलो वा योगोऽनुयोग: सूत्रस्य निजेनाभिधेयेन सार्द्धमनुरूप: सम्बन्ध इत्यर्थ:।

अर्थात् - सूत्र द्वारा प्रतिपादित अर्थ के अनुकूल संबंध का नाम ही अनुयोग है। तात्पर्य यह कि जिसमें सूत्र कथित सिद्धांत या नियमों के अनुकूल दृष्टान्त और उदाहरण पाये जावें यह अनुयोग है। उसके दो भेद करने का अभिप्राय नंदी सूत्र की टीका में यह बतलाया गया है कि -

इह मूलं धर्मप्रणयनात् तीर्थकरास्तेषां प्रथम: सम्यक्त्वामिलक्षण पूर्वभवादिगोचरोऽनुयोग मूल प्रथमानुयोग:। इक्ष्वादीनां पूर्वापरपर्वपरिच्छिन्नो मध्यभागो गण्डिका, गण्डिकेव गण्डिका, एकार्थाधिकारा ग्रंथपद्धतिरित्यर्थ:। तस्या अनुयोगो गण्डिकानुयोग:।

इसका अभिप्राय यह है कि धर्म के प्रवर्तक होने से तीर्थकर ही मूल पुरुष हैं, अतएव उनका प्रथम अर्थात् सम्यक्त्वप्रामिलक्षण पूर्वभव आदि का वर्णन करने वाला अनुयोग मूलप्रथमानुयोग है। और जैसे गन्ने आदि की गंडेरी आजू बाजू की गांठों से सीमित रहती है ऐसे ही जिसमें एक एक अधिकार अलग अलग हो उसे गंडिकानुयोग कहते हैं, जैसे कुलकरगंडिका आदि। किन्तु यह विभाग कोई विशेष महत्व नहीं रखता क्योंकि दोनों में विषय की पुनरावृत्ति पायी जाती है। जैसे तीर्थकर और उनके गणधरों का वर्णन दोनों विभागों में आता है। दिगम्बरों में ऐसा कोई विभाग नहीं किया गया और साफ तौर से बतलाया गया है कि दृष्टिवाद के प्रथमानुयोग में चौबीस अधिकारों द्वारा बारह जिनवंशो और राजवंशों का वर्णन किया गया है

दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रथमानुयोग का अर्थ इस प्रकार किया गया है -

प्रथमं मिथ्यादृष्टिमव्रतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकार: प्रथमानुयोग: (गोम्मटसार टीका)

इसका अभिप्राय यह है कि 'प्रथमं' का तात्पर्य अव्रती और अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि शिष्य से है और उसके लिये जिस अनुयोग की प्रवृत्ति होती है वह प्रथमानुयोग कहलाता है। इसी के भीतर सब पुराणों का अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु इसका पद-प्रमाण केवल पांच

हजार बतलाया गया है। इससे जान पड़ता है कि दृष्टिवाद के अन्तर्गत प्रथमानुयोग में सर्व कथावर्णन बहुत संक्षेप में किया गया था। पुराणवाद का विस्तार पीछे पीछे किया गया होगा।

नन्दिसूत्र की टीका में गंडिकानुयोग के अन्तर्गत चित्रान्तरगण्डिका का बड़ा ही विचित्र और विस्तृत परिचय दिया है। पहले उन्होंने बतलाया है कि -

'कुलकराणां गण्डिका: कुलकरगण्डिका:, तत्र कुलकराणां विमलवाहनादीनां पूर्वभवजन्मादीनि सप्रपञ्चमुपवर्ण्यन्ते। एवं तीर्थकरगण्डिकादिष्वभिधानवशतो भावनीयं 'जाव चित्तंतरगंडिआउ' त्ति।

अर्थात् कुलकरगण्डिका में विमलवाहनादि कुलकरों के पूर्वभव जन्मादि का सविस्तर वर्णन किया गया है। इसी प्रकार तीर्थंकरादि गंडिकाओं में उनके नामानुसार विषय वर्णन समझ लेना चाहिये जहां तक कि चित्रान्तरगंडिका नहीं आती। फिर चित्रान्तरगण्डिका का परिचय इस प्रकार प्रारम्भ किया गया है -

'चित्रा अनेकार्था', अन्तरे ऋषभाजिततीर्थकरापान्तराले गण्डिका: चित्रान्तरगण्डिका'। एतदुक्तं भवति - ऋषभाजिततीर्थकरान्तराले ऋषभवंशसमुद्भूतभूपतीनां शेषगतिगमनव्युदासेन शिवगतिगमनानुत्त - रोपपातप्राप्तिप्रतिपादिका गण्डिकाश्चित्रान्तर गण्डिका:। तासां च प्ररूपणा पूर्वाचार्यैरेवमकारि - इह सुबुद्धिनामा सगरचक्रवर्तिनी महामात्योऽष्टापदपर्वते सगरचक्रवर्तिसुतेभ्य आदित्ययश:प्रभृतीनां भगवदृषभवंशजानां भूपतीनामेवं संख्यामाख्यातुमपक्रमते स्म। आह च -

"आइच्चजसाईणं उसभस्स परंपरानरवईणं।
सयरसुयाण सुबुद्धी इणमो संखं परिकहेइ ॥१॥

आदित्ययश: प्रभृतयो भगवन्नाभेयवंशजास्त्रिखण्डभरतार्द्धमनुपाल्य पर्यन्ते परमेश्वरीं दीक्षामाभिगृह्य तत्प्रभावत: सकलकर्मक्षयं कृत्वा चतुर्दश लक्षा निरन्तरं सिद्धिमगमन्। तत एक: सर्वार्थसिद्धौ, ततो भूयोऽपि चतुर्दश लक्षा निरन्तरं निर्वाणे, ततोऽप्येक: सर्वार्थसिद्धे महाविमाने। एवं चतुर्दशलक्षान्तरित: सर्वार्थसिद्धावेकैकस्तातद्वक्तव्यो यावत्तेऽप्येकृका असंख्येया भवन्ति। ततो भूयश्चतुर्दश लक्षा नरपतीनां निरन्तरं निर्वाणे, ततो द्वौ सर्वार्थसिद्धे। तत: पुनरपि चतुर्दश लक्षा निरन्तरं निर्वाणे। ततो भूयोऽपि द्वौ सर्वार्थसिद्धे। एवं चतुर्दश लक्षा २ लक्षान्तरितौ द्वौ २ सर्वार्थसिद्धे तावद्वक्तव्यौ यावत्तेऽपि द्विक २ संख्यया असंख्येया भवन्ति। एवं त्रिक २ संख्यादयोऽपि प्रत्येक कम संख्येयास्तावद्वक्तव्या: यावन्निरन्तरं चतुर्दश

लक्षा निर्वाणे। ततः पञ्चाशत्सर्वार्थ - सिद्धे । ततो भूयोऽपि चतुर्दश लक्षा निर्वाणे। ततः पुनरपि पंञ्चाशत्सर्वार्थसिद्धे। एवं पञ्चाशत्संख्या का अपि चतुर्दश २ लक्षान्तरितास्तावद्वक्तव्या यावत्तेऽप्यसंख्येया भवन्ति। उक्तंच -

"चोद्दस लक्खा सिद्धा णिवईणेक्को य होइ सव्वट्ठे।
एवेक्केक्के ठाणे पुरिसजुगा होंतिऽसंखेज्जा ।। १।।
पुणरपि चोद्दस लक्खा सिद्धा निव्वईण दो वि सव्वट्ठे।
दुगठाणऽवि असंखा पुरिसजुगा होंति नायव्वा ।।२।।
जाव य लक्खा चोद्दस सिद्धा पण्णास होंति सव्वट्ठे।
पन्नासट्ठाणे वि उ पुरिसजुगा होंतिऽसंखेज्जा ।।३।।
एगुत्तरा उ ठाणा सव्वट्ठे चेव जाव पन्नासा।
एक्केक्कंतरठाणे पुरिसजुगा होंति असंखेज्जा ।।४।।

इत्यादि

इसका तात्पर्य यह है कि ऋषभ और अजित तीर्थकरों के अन्तराल काल में ऋषभ वंश के जो राजा हुए उनकी और गतियों को छोड़कर केवल शिवगति और अनुत्तरोपपात की प्राप्ति का प्रतिपादन करने वाली गंडिका चित्रान्तरगंडिका कहलाती है। इसका पूर्वाचार्यो ने ऐसा प्ररूपण किया है कि सगरचक्रवर्ती के सुबुद्धिनामक महामात्य ने अष्टापद पर्वत पर सगरचक्री के पुत्रोंको भगवान् ऋषभ के वंशज आदित्ययश आदि राजाओं की संख्या इस प्रकार बताई - उक्त आदित्ययश आदि नाभेयवंश के राजा त्रिखंड भरतार्ध का पालन करके अन्त समय पारमेश्वरी दीक्षा धारण कर उसके प्रभाव से सब कर्मों का क्षय करके चौदह लाख निरन्तर क्रम से सिद्धि को प्राप्त हुए और अनन्तर एक सर्वार्थसिद्धि को गया। फिर चौदह लाख निरन्तर मोक्ष को गये और पश्चात् एक फिर सर्वार्थ सिद्धि को गया। इसी प्रकार क्रम से वे मोक्ष और सर्वार्थसिद्धि को तब तक जाते रहे जब तक कि सर्वार्थसिद्धि में एक एक करके असंख्य हो गये। इसके पश्चात् पुनः निरंतर चौदह-चौदह लाख मोक्ष को और दो दो सर्वार्थसिद्धि को तब तक गये जब तक कि ये दो दो भी सर्वार्थसिद्धि में असंख्य हो गये। इसी प्रकार क्रम से फिर चौदह लाख मोक्षगामियों के अनन्तर तीन तीन, फिर चार-चार करके पचास पचास तक सर्वार्थसिद्धि को गये और सभी असंख्य होते गये। इसके पश्चात् क्रम बदल गया और चौदह लाख सर्वार्थसिद्धि को जाने के पश्चात् एक एक मोक्ष कोजाने लगा और पूर्वोक्त प्रकार से दो-दो फिर तीन तीन करके पचास तक गये और सब

असंख्य होते गये। फिर दो लाख निर्वाण को, फिर दो लाख सर्वार्थसिद्धि को, फिर तीन तीन लाख। इस प्रकार से दोनों ओर यह संख्या भी असंख्य तक पहुंच गई। यह सब चित्रान्तरगंडिका में दिखाया गया था। उसके आगे चार प्रकार की और चित्रान्तरगंडिकायें थीं - एकादिका एकोत्तरा, एकादिका द्वयुत्तरा, एकादिका त्र्युत्तरा और त्र्यादिका द्वयादिविषयोत्तरा, जिनमें भी और और प्रकार से मोक्ष और सर्वार्थसिद्धि को जाने वालों की संख्याएं बतायीं गई थीं।

ज्ञान पड़ता है, इन सब संख्याओं का उपयोग अनुयोग के विषय की अपेक्षा गणित की भिन्न-भिन्न धाराओं के समझाने में ही अधिक होता होगा।

चूलिका	पांच चूलिकाओं के अन्तर्गत विषय
प्रथम चार पूर्वो की चूलिकाएं ही इसके अन्तर्गत हैं। उन चूलिकाओं की संख्या ४+ १२+ ८ +१० = ३४ है।	१. जलगया - जलगमण - जलत्थंभण-कारण-मंत-तंत-तपच्छरणाणि वण्णेदि। २. थलगया - भूमिगमणकारण-मंत-तंत-तव-च्छरणाणि वत्थुविज्जं भूमिसंबंधमण्णं पि सुहा-सुहकारणं वण्णेदि। ३. मायागया - इंदजालं वण्णेदि ४. रूवगया - सीह - हय - हरिणादि - रूवायारेण परिणमणहेदु - मंत-तंत - तवच्छरणाणि चित्त - कट्ठ - लेप्प - लेणकम्मादि - लक्खणं च वण्णेदि। ५. आयासगया - आगासगमणणिमित्त-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि।

श्वेताम्बर ग्रंथों में यद्यपि चूलिका नाम का दृष्टिवाद का पांचवा भेद गिना गया है, किन्तु उसके भीतर न तो कोई ग्रंथ बताये गये और न कोई विषय, केवल इतना कह दिया गया है कि -

से किं तं चूलिआओ ? चूलिआओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिआ, सेसाइं पुव्वाइं अचूलिआइं, से तं चूलिआओ।

अर्थात् प्रथम चार पूर्वो की जो चूलिकाएं बता आये हैं वे ही चूलिकाएं यहां गिन लेना चाहिये। किन्तु, यदि ऐसा है तो चूलिका को पूर्वो का ही भेद रखना था, दृष्टिवाद का

एक अलग भेद बताकर उसका एक दूसरे भेद के अन्तर्गत निर्देश करने से क्या विशेषता आई? फिर भी टीकाकार यह तो स्पष्ट बतलाते हैं कि दृष्टिवाद का जो विषय परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग में अनुक्त रहा वह चूलिकाओं में संग्रह किया गया -

'इह चूला शिखरमुच्यते, यथा मेरौ चूला। तत्र चूला इव चूला। दृष्टिवादे परिकर्म-सूत्र- पूर्वानुयोगेऽनुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रंथपद्धतय:। .... एताश्च सर्वस्यापि दृष्टिवादस्योपरि किल स्थापितास्तथैव च पठ्यन्ते।' (नन्दीसूत्र टीका)

इससे तो जान पडता है कि उन्हें पूर्वो के भीतर बतलाने में कुछ गड़बड़ी हुई है।

दिगम्बर मान्यता में पूर्वो के भीतर कोई चूलिकाएं नहीं दिखाई गई। उसके जो पांच प्रभेद बतलाये गये हैं उनका प्रथम चार पूर्वो से विषयका भी कोई सम्बंध नहीं है। वे जल, थल, माया, रूप और आकाश सम्बंधी इन्द्रजाल और मंत्र-तंत्रात्मक चमत्कार प्ररूपण करती हैं, तथा अन्तिम पांच पूर्वो के मंत्रतंत्रात्मक विषय की धारा को लिये हुए हैं। प्रत्येक चूलिका की पदसंख्या २०९८९२०० बतलाई है, जिससे उनके भारी विस्तार का पता चलता है।

अब यहां पूर्वों के उन अंशों का विशेष परिचय कराया जाता है जो धवला जयधवला के भीतर ग्रथित हैं और जिनकी तुलना की कोई सामग्री श्वेताम्बरीय उपर्युक्त आगमों में नहीं पायी जाती। इनकी रचना आदि का इतिहास सत्प्ररूपणा की भूमिका में दिया जा चुका है जिसका सारांश यह है कि भगवान् महावीर के पश्चात् क्रमश: अट्ठाईस आचार्य हुए जिनका श्रुतज्ञान धीरे धीरे कम होता गया। ऐसे समय में दो भिन्न भिन्न आचार्यों ने दो भिन्न भिन्न पूर्वो के अन्तर्गत एक एक पाहुड का उद्धार किया। धरसेनाचार्य ने पुष्पदंत और भूतबलिको जो श्रुत पढ़ाया उस पर से उन्होंने द्वितीय पूर्व आग्रयणी के एक पाहुड का उद्धार सूत्र रूप से किया। आग्रयणीपूर्व के अन्तर्गत निम्न चौदह 'वस्तु ' नामक अधिकार थे - पुव्वंतं, अवरंत, धुव, अधुव, चयणलद्धी,अद्धुवम, पणिधिकप्प,अट्ठ, भौम्म, वयदिय, सव्वट्ठ, कप्पणिज्जाण, अतीद-सिद्ध-बद्ध और अणागय-सिद्ध-बद्ध।

हम ऊपर ही बतला ही आये हैं कि पूर्वों के प्रत्येक वस्तु में नियम से बीस बीस पाहुड रहते थे। अग्रायणी पूर्व की पंचम वस्तु चयनलब्धि के बीस पाहुडों में चौथे पाहुड का नाम कम्मपयडी था महाकम्मपयडी अथवा वेयणकसिणपाहुड [1] था। इसी का उद्धार

१ कम्माणं पयडिसरूवं वण्णेदि, तेण कम्मपयडिपाहुडे त्ति गुणणामं। वेयणकसिणपाहुडे त्ति वि तस्स विदियं णाममत्थि। वेयणा कम्माणमुदयो तं कसिणं णिरवसेसं अदो वेयणकसिणपाहुडमिदि एदमवि गुणणाममेव (सं.प. पृ. १२४, १२५)

पुष्पदंत और भूतबलिने सूत्र रूप से षट्खंडागम के भीतर किया। इस पाहुड के जो चौबीस अवान्तर अधिकार थे, उनके विषय का संक्षेप परिचय धवलाकार ने वेदनाखंड के आदि में कराया है जो इस प्रकार है -

१. कदि - कदीए ओरालिय-वेउव्विय-तेजाहार-कम्मइयसरीराणंसंघादण-परिसादणकदी- ओ भव-पढमादम-चरिमम्मि ट्ठिदजीवाणं कवि-णोकदि-अवत्तव्वसंखाओ च परूवि-ज्जंति।

१. कृति - कृति अर्थाधिकार में औदारिक, वैक्रियक, तैजस, आहारक और कार्मण, इन पांचों शरीरों की संघातन और परिशातनरूप कृतिका तथा भवके प्रथम, अप्रथम और चरम समय में स्थित जीवों के कृति, नोकृति और अवक्तव्यरूप संख्याओं का वर्णन है।

२. वेदणा - वेदणाए कम्म-पोग्गलाणं वेदणा-सण्णिदाणं वेदण-णिक्खेवादि-सोलसेहि अणिओगद्दारेहि परूवणा कीरदे।

२. वेदना - वेदना अर्थाधिकार में वेदनासंज्ञिक कर्मपुद्गलों का वेदनानिक्षेप आदि सोलह अधिकारों के द्वारा वर्णन किया गया है।

३. फास - फासणिओगद्दारम्मि कम्म-पोग्गलाणं णाणावरणादिभेएण अट्ठभेदमुवगयाणं फास गुणसंबंधेण पत्त - फासणीमाण - फासणिक्खे - वादिसोलसेहि अणियोगद्दारेहित परूवणा कीरदे।

३. स्पर्श - स्पर्श अर्थाधिकार में स्पर्श गुण के संबन्ध से प्राप्त हुए स्पर्शनिर्माण, स्पर्श निक्षेप आदि सोलह अधिकारों के द्वारा ज्ञानावरणदि के भेद से आठ भेद को प्राप्त हुए कर्मपुद्गलों का वर्णन किया गया है।

४. कम्म - कम्मेत्ति अणिओगद्दारे पोग्गलाणं णाणावरणादिकम्मकरणक्खमत्तणेण पत्त कम्मसण्णाणं कम्मणिक्खेवादिसोलसेहि अणियोगद्दारेहि परूवणा कीरदे।

४. कर्म - कर्म अर्थाधिकार में कर्मनिक्षेप आदि सोलह अधिकारों के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मकरण में समर्थ होने से जिन्हें कर्मसंज्ञा प्राप्त हो गई है, ऐसे पुद्गलों का वर्णन किया गया है।

५. पयडि - पयडि त्ति अणियोगद्दारम्हि पोग्गलाणं कदिम्हि परूविद-संघादाणं वेदणाए पण्णविदावत्थाविसेस-

५. प्रकृति - प्रकृति अर्थाधिकार में कृति अधिकार में कहे गये संघातनरूप, अधिकार में कहे गये अवस्थाविशेष

पच्चयादीणं फासम्मि णिरूविद-वावाराणं पयडिणिक्खेवादि- सोलस - अणियोगद्दारेहि सहाव-परूवणा कीरदे।

प्रत्ययादि रूप, स्पर्श में कहे गये जीव से संबद्ध और जीव के साथ संबद्ध होने से उत्पन्न हुए गुण के द्वारा कर्म अधिकार में कथित रूप से व्यापार करने वाले पुद्गलों के स्वभाव का निरूपण प्रकृति निक्षेप आदि सोलह अधिकारों के द्वारा किया गया है।

६. बंधण - जं तं बंधणं तं चउव्विहं-बंधो बंधगा बंधणिज्जं बंधविधाणमिदि। तत्थ बंधो जीवकम्मपदेसाणं सादियमणादियं च बंधं वण्णेदि । बंधगाहियारो अट्ठविहकम्म बंधगे परूवेदि, सो च खुद्दाबंधे परूविदो । बंधणिज्जं बंधपाओग्ग -तदपाओग्ग-पोग्गल- दव्वं परूवेदि। बंधविहाणं पयडिबंधं ठिदिबंण अणुभागबंधं पदेसबंधं च परूवेदि।

६. बन्धन - बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध विधान, इस प्रकार बन्धन अर्थाधिकार के चार भेद हैं। उनमें से बन्ध अधिकार जीव और कर्मप्रदेशों का सादि और अनादि रूप बन्ध का वर्णन करता है। बन्धक अधिकार आठ प्रकार के कर्मों का बन्धक का प्रतिपादन करता है जिसका कथन क्षुल्लकबन्ध में किया जा चुका है। बन्ध के योग्य पुद्गलद्रव्य का कथन बन्धनीय अधिकार करता है। बन्ध विधान अधिकार प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्ध, इन चार बन्ध के भेदों का कथन करता है।

७. णिबंधण - णिबंधणं मूलुत्तरपयडीणं णिबंधणं वण्णेदि । जहा चक्खिंदियं रूवम्मिणिबद्ध, सोदिंदियं सद्दम्मि णिबद्धं, घाणिंदियं गंधम्मि णिबद्धं, जिब्भिंदियं रसम्मि णिबद्धं, फासिंदियं कक्खदादिफासेसु णिबद्धं, तहा इमाओ पयडीओ एदेसु अत्थेसु णिबद्धाओ त्ति णिबंधणं परूवेदि, एसो भावत्थो।

७. निबन्धन - निबन्धन अधिकार मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतियों के निबन्धन का कथन करता है। जैसे , चक्षुरिन्द्रिय रूप में निबद्ध है । श्रोत्रेन्द्रिय शब्द में निबद्ध है । घ्राणेन्द्रिय गन्ध में निबद्ध है। जिह्वा इन्द्रिय रस में निबद्ध है और स्पर्शनेन्द्रिय कर्कश आदि स्पर्श में निबद्ध है। उसी प्रकार ये मूलप्रकृतियां और उत्तरप्रकृतियां इन विषयों में निबद्ध हैं, इस प्रकार निबन्धन

अर्थाधिकार प्ररूपण करता है यह भावार्थ जानना चाहिये।

८. पक्कम - पक्कमेत्ति अणियोगद्दारं अकम्मसरूवेण ट्ठिदाणं कम्मइयवग्गणाखंधाणं मूलुत्तर पयडिसरूवेणपरिणममाणाणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभागविसेसेण विसिट्ठाणं पदेसपरूवणं कुणदि।

८. प्रक्रम- प्रक्रम अर्थाधिकार जो वर्गणा-स्कन्ध अभी कर्मरूप से स्थित नहीं हैं, किंतु जो मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति रूप से परिणमन करने वाले हैं और जो प्रकृति, स्थिति और अनुभाग की विशेषता से वैशिष्टय को प्राप्त हैं ऐसे कर्मवर्गणास्कन्धों के प्रदेशों का प्ररूपण करता है।

९. उवक्कम- उवक्कमेत्ति अणियोगद्दारसस्स चत्तारि अहियारा - बंधणोवक्कमो उदीरणोवक्कमो उवसामणोवक्कमो विपरिणामोवक्कमो चेदि । तत्थ बंधोवक्कमो बंधविदियसमयप्पहुडि अट्ठण्णं कम्माणं पयडि-ट्ठिदि - अणुभाग-पदेसाणं बंधवण्णणं कुणदि । उदीरणोवक्कमो पयडि ट्ठिदि - अणुभागपदेसाणमुदीरंण परूवेदि । उवसामणोवक्कमो पसत्थोवसा-मणमप्पसत्थोवसामणाणं च पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसभेदभिण्णं परूवेदि। विपरिणाममुवक्कमो पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणं- देस- णिज्जरं सयलणिज्जरं च परूवेदि।

९. उपक्रम - उपक्रम अर्थाधिकार के चार अधिकार हैं बन्धनोपक्रम, उदीरणोपक्रम, उपशामनोपक्रम और विपरिणामोपक्रम। उनमें से बन्धनोपक्रम अधिकार बन्ध होने के दूसरे समय से लेकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के बन्ध का वर्णन करता है। उदीरणोपक्रमअधिकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की उदीरणा का कथन करता है। उपशामनोपक्रम अधिकार, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से भेद को प्राप्त हुए प्रशस्तोपशामना और अप्रशस्तोपशामना का कथन करता है। विपरिणा-मोपक्रम अधिकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की देशनिर्जरा और सकलनिर्जरा का कथन करता है।

१०. उदय - उदणाणियोगद्दारं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसुदयं परूवेदि।

१०. उदय - उदय अर्थाधिकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के उदय का कथन करता है।

११. मोक्ख - मोक्खो पुण देस सयलणिज्जराहि परपयडिसंक-मोकड्डुणुक्कड्डण- अद्धट्ठिदिगलणेहि पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसभिण्णं मोक्खं वण्णेदि त्ति अत्थभेदो।

११. मोक्ष- मोक्ष अर्थाधिकार देशनिर्जरा और सकलनिर्जरा के द्वारा परपकृतिसंक्रमण, उत्कर्षण अपकर्षण और स्थितिगलन से प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध का आत्मा से भिन्न होना मोक्ष है, इसका वर्णन करता है।

१२. संकम - संकमेत्ति अणियोगद्दारं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेससंकमे परूवेदि।

१२. संक्रम - संक्रम अर्थाधिकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के संक्रमण का प्ररूपण करता है।

१३. लेस्सा - लेस्सेत्ति अणिओगद्दारं छदव्वलेस्साओ परूवेदि।

१३. लेश्या - लेश्या अनुयोगद्वार छह द्रव्य लेश्याओं का प्रतिपादन करता है।

१४. लेस्सायम्म - लेस्सापरिणामेत्ति अणियोग द्दारमंतरंग-छलेस्सा - परिणयजीवाणं बज्झकज्जपरूपणं कुणदि।

१४. लेश्याकर्म - लेश्याकर्म अर्थाधिकार अन्तरंग छह लेश्याओं से परिणत जीवों के बाह्य कार्यो का प्रतिपादन करता है।

१५. लेससापरिणाम - लेस्सापरिणमेत्ति अणियोगद्दारं जीव-पोग्गलाणं दव्व-भावलेस्साहि परिणमणविहाणं वण्णेदि।

१५. लेश्यापरिणाम - लेश्यापरिणाम अर्थाधिकार जीव और पुद्गलों के द्रव्य और भावरूप से परिणमन करने के विधान का कथन करता है।

१६ सादमसाद - सादमसादेत्ति अणियोगद्दारमे यंतसाव-अणेयंततोदाणं (?) गदियादिमग्गणाओ अस्सिदूण परूवणं कुणइ।

१६. सातासात - सातासात अर्थाधिकार एकान्त सात, अनेकान्त सात, एकान्त असात, अनेकान्त असात का गति आदि मार्गणाओं के आश्रय से वर्णन करता है।

१७. दीहरेहस्स - वीहेरस्स्सेत्ति अणिओगद्दारं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसे अस्सिदूण दीहरहस्सत्तं परूवेदि।

१७. दीर्घन्हस्व - दीर्घन्हस्व अर्थाधिकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों का आश्रय लेकर दीर्घता और ह्रस्वता का कथन करता है।

१८. भवधारणीय - भवधारणए त्ति अणियोगद्दारं केण कम्मेण णेरइय-तिरिक्ख-मणुस-देवभवा धरिज्जंति त्ति परूवेदि।

१८. भवधारणीय - भवधारणीय अर्थाधिकार, किस कर्म से नरकभव प्राप्त होता है, किससे तिर्यचभव, किससे मनुष्यभव और किससे देवभव प्राप्त होता है, इसका कथन करता है।

१९. पोग्गलत्त - पोग्गलअत्थे ति अणियोगद्दारं गहणादो अत्ता पोग्गला परिणामदो अत्ता पोग्गला उवभोगदो अत्ता पोग्गला आहारदो अत्ता पोग्गला ममत्तीदो अत्ता पोग्गला परिग्गहादो अत्ता पोग्गला त्ति अप्पणिज्जाणप्पणिज्ज पोग्गलाणं पोग्गलाणं संबंधेण पोग्गलत्तं पत्तजीवाणं च परूवणं कुणदि।

१९. पुद्गलात्त - पुद्गलार्थ अनुयोगद्वार दण्डादि के ग्रहण करने से आत्त पुद्गलों का, मिथ्यात्वादि परिणामों से आत्त पुद्गलोंका, उपभोग से आत्त पुद्गलों का, आहार से आत्त पुद्गलों का, ममता से आत्त पुद्गलों का और परिग्रह से आत्त पुद्गलों का, इस प्रकार आत्मसात् किये हुए और नहीं किये हुए पुद्गलों का तथा पुद्गल के संबन्ध से पुद्गलत्व को प्राप्त हुए जीवों का वर्णन करता है।

२०. णिधत्तमणिधत्त - णिधत्तमणिधत्तमिदि अणियोगद्दारं पयडि-ट्ठिदि-अणुभागाणं णिधत्तमणिधत्तं च परूवेदि। णिधत्तमिदि किं ? जं पदेसग्गं ण सक्कमुदए दादुं अण्णपयडिं वा संकामेदुं तं णिधत्तं णाम। तव्विवरीयमणिधत्तं।

२०. निधत्तानिधत्त - निधत्तानिधत्त अर्थाधिकार प्रकृति, स्थिति और अनुभाग के निधत्त और अनिधत्त का प्रतिपादन करता है। जिसमें प्रदेशाग्र उदय अर्थात् उदीरणा में नहीं दिया जा सकता है और अन्य प्रकृतिरूप संक्रमणों को भी प्राप्त नहीं कराया जा सकता है, उसे निधत्त कहते हैं। अनिधत्त इससे विपरीत होता है।

२१. णिकाचिदमणिकाचिद - णिकाचिदमणिकाचिदमिदि अणियोगद्दारं पयडि - ट्ठिदि - अणुभागाणं णिकाचणं परूवेदि। णिकाच-णमिदि किं? जं पदेसग्गं ण सक्कमोक - ड्डिदुमण्णपयडिं संकामेंदुमुदए दादुं वा तण्णिकाचिंद णाम।

२१. निकाचितानिकाचित - निकाचितानिकाचित अर्थाधिकार प्रकृति, स्थिति और अनुभाग के निकाचित और अनिकाचितका वर्णन करता है। जिसमें प्रदेशाग्रका उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण नहीं हो सकता और न

तव्विवरीदमणिका चिदं।

वह उदय अथवा उदीरणा में ही दिया जा सकता है उसे निकाचित कहते हैं। अनिकाचित इससे विपरीत होता है।

२२. कम्मट्ठिदि - कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारं सव्वकम्माणं सत्तिकम्मट्ठिदि-मुक्कड्डणोकड्डणजणिट्ठिदिंच परूवेदि।

२२. कर्मस्थिति - कर्मस्थिति अनुयोगद्वार संपूर्ण कर्मों की शक्तिरूप कर्मस्थिति का और उत्कर्षण तथा अपकर्षण से उत्पन्न हुई कर्मस्थिति का वर्णन करता है।

२३. पच्छिमक्खंध - पच्छिमक्खंधेति अणिओगद्दारं दंड-कपाट-पदर-लोकपूरणाणि तत्थ ट्ठिदि-अणुभागखंडयघादणविहाणं जोग किट्टीओ काऊण जोगणिरोहसरूवं कम्म-क्खवणविहाणं च परूवेदि।

२३. पश्चिमस्कन्ध - पश्चिमस्कन्ध अर्थाधिकार दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणरूप समुद्धातका, इस समुद्घात में होने वाले स्थितिकांडकघात और अनुभागकाण्डक घात के विधानका, योगों की कृष्टि करके होने वाले योगनिरोध के स्वरूप का और कर्मक्षपण के विधान का वर्णन करता है।

२४. अप्पाबहुग - अप्पाबहुगणिओगद्दारं अदीदसव्वाणिओगद्दारेसु अपपाबहुगं परूवेदि।

२४. अल्पबहुत्व - अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार अतीत संपूर्ण अनुयोगद्वारों में अल्पबहुत्वका प्रतिपादन करता है।

इन चौबीस अधिकारों के विषय का प्रतिपादन पुष्पदन्त और भूतबलिने कुछ अपने स्वतंत्र विभाग से किया है जिसके कारण उनकी कृति षट्खंडागम कहलाती है। उक्त चौबीस अधिकारों में पांचवा बंधन विषय की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। इसी के कुछ अवान्तर अधिकारों को लेकर प्रथम तीन खंडों अर्थात् जीवट्ठाण, खुद्दाबंध और बंधसामित्तविचय की रचना हुई है। इन तीन खंडों में समानता यह है कि उनमें जीव का बंधक की प्रधानता से प्रतिपादन किया गया है। उनका मंगलाचरण भी एक है। इन्हीं तीन खंडों पर कुन्दकुन्द द्वारा परिकर्म नामक टीका लिखी कही गयी है। इन्हीं तीन खंडों के

पारंगत होने से अनुमानत: त्रैविद्यदेव की उपाधि प्राप्त होती थी। इन्हीं तीन खंडों का संक्षेप सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्रकृत गोम्मटसार के प्रथम विभाग जीवकांड में पाया जाता है।

इन तीन खंडों के पश्चात् उक्त चौबीस अधिकारों का प्ररूपण कृति वेदनादि क्रम से किया गया है और प्रथम छह अर्थात् बंधन तक के प्ररूपण को अधिकार व अवान्तर अधिकार की प्रधानतानुसार अगले तीन खंडों वेदणा, वग्गणा और महाबंध में विभाजित कर दिया गया है। इन तीन खंडों के विषय - विवेचन की समानता यह है कि यहां बंधनीय कर्म की प्रधानता से विवेचन किया गया है। इनमें अन्तिम महाबंध सबसे बड़ा है और स्वतंत्र पुस्तकारूढ है। जो उपर्युक्त तीन खंडों के अतिरिक्त इन तीनों में भी पारंगत हो जाते थे, वे सिद्धान्तचक्रवर्ती पद के अधिकारी होते थे। सि.च. नेमिचन्द्र ने इनका संक्षेप गोम्मटसार कर्मकांड में किया है।

भूतबलि रचित सूत्रग्रंथ छठवें बंधन अधिकार के साथ ही समाप्त हो जाता है। शेष निबन्धनादि अठारह अधिकारों का प्ररूपण धवला टीका के रचयिता वीरसेनाचार्यकृत है, जिसे उन्होंने चूलिका कहकर पृथक् निर्देश कर दिया है।

उपर्युक्त खंडविभागादि का परिचय पूर्व में दिये हुए मानचित्रों से स्पष्ट तथा समझ में आ जाता है। उन चित्रों में बतलायी हुई जीवट्ठाण की नवमीं चूलिका गति- आगति की उत्पत्ति के विषय में एक सूचना कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह चूलिका धवला में वियाहपण्णत्ति से उत्पन्न हुई कही गयी है। मानचित्र में व्याख्याप्रज्ञप्ति के आगे (पांचवा अंग) ऐसा लिख दिया गया है, क्योंकि यह नाम पांचवें अंग का पाया जाता है। किन्तु दृष्टिवाद के प्रथम विभाग परिकर्म के पांच भेदों में भी पांचवां भेद वियाहपण्णत्ति नाम का पाया जाता है। अतएव संभव है कि गति-आगति चूलिका की उत्पादक वियाहपण्णत्ति से इसी का अभिप्राय हो ?

पांचवे पूर्व णाणपवाद (ज्ञानप्रवाद) के एक पाहुड का उद्धार गुणधराचार्य द्वारा गाथारूप में किया गया। णाणपवाद की बारह वस्तुओं में से दशम वस्तु के तीसरे पाहुड का नाम 'पेज्ज' या 'पेज्जदोस' या 'कसाय' पाहुड था। इसी का गुणधराचार्य ने १८० गाथाओं (और ५३ विवरण - गाथाओं में) उद्धार किया, जिसका नाम कसायपाहुड है। इसका परिचय स्वयं सूत्रकार व टीकाकार के शब्दों में संक्षेपत: इस प्रकार है -

पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिये।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडंणाम ।। १।।

गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि।
वोच्छामि सुत्तगाहा जइ गाहा जम्मि अत्थम्मि ।।

टीका - सोलसपदसहस्सेहि वे कोडाकोडिएकसट्ठिलक्ख-सत्तावण्णसहस्स-वेसद- बाणउदिकौटि - वासट्ठिलक्ख-अट्ठसहस्सक्खररुप्पण्णोहि जं भणिदं गणहरदेवेण इंदभूदिणा कसायपाहुडं तमसीदि-सदगाहाहि चेव जाणावेमि त्ति गाहासदे असीदे त्ति पढमपइज्जा कदा। तत्थ अणेगेहि अत्थाहियारेहि परूविदं कसाय-पाहुडमेत्थ पण्णारसेहि चेव अत्थाहियारेहि परूवेमि त्ति जाणावणट्ठं अत्थे पण्णारसधा विहत्तम्मि त्ति विदियपइज्जा कदा।

संपहि कसायपाहुडस्स पण्णारस-अत्थाहियार-परूवणट्ठं गुणहरभडारओ दो सुत्तगाहाओ पठदि -

पेज्जदोस-विहत्तीट्ठिदि-अणुभागे च बंधगे चेय।
वेदगएवजोगे वि य चउट्ठाण-वियंजणे चे य।।

सम्मत्त-देसविरयी संजम-उवसामणा च खवणा च।
दंसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ।।

इसका तात्पर्य यह है कि यह कसापाहुड पंचम पूर्व की दसम वस्तु के पेज्जनामक तृतीय पाहुड से उत्पन्न हुआ है। इन्द्रभूति गौतमकृत उस मूलग्रंथ का परिमाण बहुत भारी था और अधिकार भी अनेक थे। प्रस्तुत कसायपाहुड में १८० गाथाएं १५ अधिकारों में विभक्तहैं। गाथाओं मेंसूचित पन्द्रह अधिकार जयधवलाकार ने तीन प्रकार से बतलाये हैं। इनमें से जो विभाग उन्होंने चूर्णिकार यतिवृषक के आधार से दिये हैं, वेनिम्नप्रकार हैं -

१. पेज्जदोस	२. विहत्ती-ट्ठिदि-अणुभाग
३. बंधग (अकर्मबंध) बंधग	४. संकम (कर्मबंध) बंधग
५. उदय (कर्मोदय) वेदग	६. उदीरणा (अकर्मोदय) वेदग
७. उवजोग	८. चउट्ठाण

९. वंजण	१० दंसणमोहणीयस्स उवसामणा (समत्त)
११. दंसणमोहणीयस्स खवणा (समत्त)	१२. देसविरिदी
१३. चरित्तमोहणीयस्स उवसामणा (संजम)	१४. चरित्तमोहणीयस्स खबणा (संजम)
१५ अद्धापरिमाणणिद्देस	

इस प्राभृत के आगे पीछे का इतिहास संक्षेप में धवलाकार ने इस प्रकार दिया है -

'एसो अत्थो विउलगिरिमत्थयत्थेण पच्चक्खीकय-तिकालगोयरछद्दव्वेण बड्ढमाण-भडारएण गोदमथेरस्स कहिदो। पुणो सो अत्थो आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहरभडारथं संपत्तो। पुणो तत्तो आइरियपरंपराए आगंतूण अज्जमंखु-नागहत्थीणं भडारयाणं मूलं पत्तो। पुणो तेहि दोहि वि कमेण जदिवसहभडारयस्स वक्खाणिदो। तेण वि ... सिस्साणुग्गहट्ठं चुण्णिसुत्ते लिहिदो'।

अर्थात् इस कसायपाहुड का मूल विषय वर्धमान स्वामी ने विपुलाचलपर गौतम गणधर को कहा। वही आचार्य-परंपरा से गुणधर भट्टारक को प्राप्त हुआ। उनसे आचार्य-परंपरा द्वारा वही आर्यमंखु और नागहस्ती आचार्यों के पास आया, जिन्होंने क्रम से यतिवृषम भट्टारक को उसका व्याख्यान किया। यतिवृषभ ने फिर उस पर चूर्णिसूत्र रचे।

गुणधराचार्यकृत गाथारूप कसायपाहुड और यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्र वीरसेन और जिनसेनाचार्यकृत जयधवला में ग्रथित हैं जिसका परिमाण ६० हजार श्लोक है। इस टीका में आर्यमंखु और नागहस्थि के अलग-अलग व्याख्यान के तथा उच्चारणाचार्यकृत वृत्तिसूत्र के भी अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। यतिवृषभ के चूर्णिसूत्रों की संख्या छह हजार और वृत्तिसूत्रों की बारह हजार बताई जाती है।

नंदी सूत्र में पूर्वो के प्रभेदों में पाहुडों और पाहुडिकाओं का भी निम्नप्रकार उल्लेख है, किन्तु उनका विशेष परिचय कुछ नहीं पाया जाता -

'से णं अंगट्ठयाए बारसमे अंगे एगे सुअक्खंधे चोद्दस पुव्वाइं, संखेज्जा वत्थू, संखेज्जा चूलवत्थू, संखेज्जा पाहुडा, संखेज्जा पाहुडपाहुडा, संखेज्जाओ पाहुडिआओ, संखेज्जाओ पाहुडपाहुडिआओ संखेज्जाइं एवसहस्साइं पयग्गेणं संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा अणंता पज्जवा' आदि।

ग्रंथ का विषय

आचार्य पूर्व में सत्प्ररूपणा के गुणस्थानों और मार्गणास्थानों का विवरण कर चुके हैं। अब यहाँ पूर्वोक्त विवरण के आश्रय से धवलाकार वीरसेन स्वामी उन्हीं का विशेष प्ररूपण करते हैं -

संपहि संतसुत्तविवरणसमत्ताणंतरं तेसिं परूवणं भणिस्सामो। (पृ.४११)

किन्तु इस विशेष प्ररूपण में उन्होंने गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति आदि बीस प्ररूपणाओं द्वारा जीवों की परीक्षा की है। यह बीस प्ररूपणाओं का विभाग पूर्वोक्त सत्प्ररूपणा के सूत्रों में नहीं पाया जाता, और इसीलिये टीकाकार ने एक शंका उठाकर यह बतला दिया है कि सूत्रों में स्पष्टत: उल्लिखित न होने पर भी इन बीस प्ररूपणाओं का सूत्रकारकृत गुणस्थान और मार्गणास्थानों के भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है, अत: ये प्ररूपणाएं सूत्रोक्त नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता (पृ.४१४)।

'सूत्रेण सूचितार्थानां स्पष्टीकरणार्थं विंशतिविधानेन प्ररूपणोच्यते' 'न पौनरुक्त्यमपि कथंचित्तेभ्यो भेदात्'। (पृ. ४१५)

इससे यह तो स्पष्ट है कि यह बीस प्ररूपणारूप विभाग पुष्पदन्ताचार्यकृत नहीं है। वह स्वयं धवलाकारकृत भी नहीहैं, क्योंकि उन्होंने उन प्ररूणाओं का नामनिर्देश करने वाली एक प्राचीन गाथा को 'उक्तं च' रूप से उद्धृत किया है। इस विभाग का प्राचीनतम निरूपण हमें यतिवृषभाचार्य कृत तिलोयपण्णत्ति में मिलता है। यथा -

गुण-जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणा कमसो।
उवजोगा कहिदव्वा णारइयाणं जहाजोग्गं॥ २७३॥

गुण-जीवा-पज्जती पाणा सण्णा य मग्गणा कमसो।
उवजोगा कहिदव्वा एदाण कुमारदेवाणं॥ १८३॥

आदि.

किन्तु यह अभी निश्चयत: नहीं कहा जा सकता कि इस बीस प्ररूपणारूप विभाग का आदिकर्ता कौन है ? यह विषय अन्वेषणीय है।

गुणस्थानों व मार्गणास्थान के अनेक भेद-प्रभेदों का विशिष्ट जीवों की अपेक्षा से सामान्य, पर्याप्त रूप प्ररूपण करने से आलापों की संख्या कई सौ पर पहुंच जाती है। इस आलाप विभाग का परिचय विषय-सूची को देखने से मिल सकता है। अत: उस सम्बंध में यहां विशेष कथन की आवश्यकता नहीं है। प्रथम भाग की भूमिका में गुणस्थानों और मार्गणाओं का सामान्य परिचय देकर यह सूचित किया गया था कि अगले खंड में विषय का विशेष विवेचन किया जायेगा। किन्तु इस भाग का कलेवर अपेक्षा से अधिक बढ़ गया है और प्रस्तावना भी अन्य उपयोगी विषयों की चर्चा से यथेष्ट विस्तृत हो चुकी है। अत: हम उक्त विषय के विशेष विवेचन करने की आकांक्षा का अभी फिर भी नियंत्रण करते हैं ।

रचना और भाषा शैली

प्रस्तुत ग्रंथविभाग में सूत्र नहीं हैं। सत्प्ररूपणा का जो विशय ओघ और आदेश अर्थात् गुणस्थान और मार्गणास्थानों द्वारा प्रथम १७७ सूत्रों मेंप्रतिपादित हो चुकाहै उसी का यहां बीस प्ररूपणाओं द्वारा निर्देश किया गया है।

इस बीस प्रकार की प्ररूपणा के आदि में टीकाकार ने 'ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी सिद्धा चेदि' इस प्रकार से सूत्र दिया है और उसे ओघसूत्र कहा है। हमारी अ. प्रति में इस पर ७४, आ. में १७४, तथा स. में १७५ की संख्या पायी जाती है जो उन प्रतियों की पूर्व सूत्रगणना के क्रम से है। पर स्पष्टत. वह सूत्र पृथक् नहीं हैं, धवलाकार ने पूर्वोक्त ९ से २३ तक के ओघ सूत्रों का प्रकृत विषय की वहां से उत्पत्ति बतलाने के लिये समष्टि रूप से उल्लेख मात्र किया है।

इस भाग में गाथाएं भी बहुत थोड़ी पायी जाती हैं, जिसका कारण यहां प्रतिपादित विषय की विशेषता है। अवतरण गाथाओं की संख्या यहां केवल १३ है जिनमें से एक (नं २२०) कुंदकुंद के बोधपाहुड में और दो (२२३, २२४) प्राकृत पंचसंग्रह [१] में भी पायी जाती है। गाथा नं. (२२८) 'उत्तं च पिंडियाए' ऐसा कहकर उद्धृत की गई है। हमने इस

---

१ यह ग्रंथ अभी अभी 'वीरसेवा मन्दिर सरसावा' द्वारा प्रकाश में लाया जा रहा है। उसमें उक्त गाथाओं के होने की सूचना हमें वहां के पं. परमानन्द जी शास्त्री द्वारा मिली।

गाथा की खोज कराई, पर वीरसेवामंदिर के पं. परमानन्द जी शास्त्री ने हमें सूचित किया कि यह गाथा न तो प्राकृत पंचसंग्रह में है न तिलोयपण्णत्ति में और न श्वेताम्बरीय कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह, जीवसमास विशेषावश्यक आदि ग्रंथों में है। जान पड़ता है कि 'पिंडिका' नाम का कोई प्राचीन ग्रंथ रहा है जो अब तक अज्ञात है। इन तीन गाथाओं को छोड़कर शेष सब कहीं जैसी की तैसी और कहीं किंचित् पाठभेद को लिये हुए गोम्मटसार जीवकांड में भी संगृहीत है।

इस विभाग में संस्कृत केवल प्रारंभ में थोड़ी सी पायी जाती है। शेष समस्त रचना प्राकृत में ही हैं। पर यहां विषय की विशेषता ऐसी है कि उसमें प्रतिपादन और विवेचन की गुंजाइश कम है। अतएव जैसी साहित्यिक वाक्यशैली प्रथम विभाग में पायी जाती है वैसी यहां बहुत कम है। जहां कहीं शंका-समाधान का प्रसंग आ गया है, वहीं साहित्यिक शैली पायी जाती है। ऐसे शंका समाधान इस विभाग में ३३ पाये जाते हैं। शेष भाग में तो गुणस्थान और मार्गणास्थान की अपेक्षा जीवविशेषों में गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओं की संख्या मात्र गिनायी गयी है, जिससे वाक्य रचना की व्याकरणात्मक शुद्धि पर ध्यान नहीं दिया गया। पद कहीं सविभक्तिक हैं और कहीं विभक्ति-रहित अपने प्रातिपदिक रूप में। समास बंधन भी शिथिल सा पाया जाता है, उदाहरणार्थ 'आहारभयमेहुणसण्णा चेदि' (पृ.४१३) चेदि से पूर्व के पद समास युक्त समझे जांय, या अलग-अलग? यदि अलग अलग लें तो वे सब विभक्तिहीन रह जाते हैं, यदि समासरूप लें तो 'च' की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। संशोधन में यह प्रयत्न किया गया है कि यथाशक्ति प्रतियों के पाठकों सुरक्षित रखते हुए जितने कम सुधार से काम चल सके उतना कम सुधार करना। किंतु अविभक्तिक पदों को जानबूझकर बिना यथेष्ट कारण के सविभक्ति बनाने का प्रयन्त नहीं किया गया। इस कारण प्ररूपणाओं में बहुतायत से विभक्तिहीन पद पाये जांयेगे।

इन प्ररूपणाओं में आलापों के नामनिर्देश स्वभावत: पुन: पुन: आये हैं। प्रतियों में इन्हें प्राय: संक्षेपत: आदि के अक्षर देकर बिन्दु रखकर ही सूचित किया है, जैसे 'गुणट्ठाण' के स्थान पर गुण०, 'पज्जत्तीओ' के स्थान पर प. आदि। यदि सब प्रतियों में ये संक्षिप्त रूप एक से होते, तो समझा जाता कि वे मूलादर्श प्रति के अनुसार हैं, अत: मुद्रितरूप में भी उन्हें वैसे ही रखना कदाचित् उपयुक्त होता। किन्तु किसी प्रति में एक अक्षर लिखकर,

किसी में दो अक्षर लिखकर आदि भिन्न रूप से संक्षेप बनाये गये हैं और किसी प्रति में वे पूरे रूप में भी लिखे हैं। इस प्रकार बिन्दु रहित संक्षिप्त कारंजा की प्रति में सबसे अधिक और आरा की प्रति में सबसे कम हैं। इस अव्यवस्था को देखते हुए आदर्श प्रति में बिन्दु हैं या नहीं, इस विषय में शंका हो जाने के कारण हमने इन संक्षिप्त रूपों का उपयोग न करके पूरे शब्द लिखना ही उचित समझा।

प्रत्येक आलाप में बीस बीस प्ररूपणाएं हैं। पर कहीं कहीं प्रतियों में एक शब्द से लगाकर पूरे आलाप तक भी छूटे हुए पाये जाते हैं। इनकी पूर्ति एक दूसरी प्रतियों से हो गई है, किन्तु कहीं-कहीं उपलब्ध सभी प्रतियों में पाठ छूटे हुए हैं जैसा कि पाठ-टिप्पण व प्रति-मिलान और छूटे हुए पाठों की तालिका से ज्ञात हो सकेगा। इन पाठों की पूर्ति विषय को देख समझकर कर्ता की शैली में ही उन्हीं के अन्यत्र आये हुए शब्दों द्वारा कर दी गई है। जहां ऐसे जोड़े हुए पाठ एक दो शब्दों से अधिक बड़े हैं वहां वे कोष्ठक के भीतर रख दिये गये हैं।

मूल में जहां कोई विवाद नहीं है वहां प्ररूपणाओं की प्रत्येक स्थान में संख्या मात्र दी गई है। अनुवाद में सर्वत्र उन प्ररूपणाओं की स्पष्ट सूचना कर देने का प्रयत्न किया गया है और मूल का सावधानी से अनुसरण करते हुए भी वाक्य रचना यथाशक्ति मुहावरे के अनुसार और सरल रखी गई है।

मूल में जो आलाप आये है उनको और भी स्पष्ट करने तथा दृष्टिपात मात्र से ज्ञेय बनाने के लिये प्रत्येक आलाप का नक्शा भी बनाकर उसी पृष्ठ पर नीचे दे दिया गया है। इनमें संख्याएं अंकित करने में सावधानी तो पूरी रखी गई है, फिर भी संभव है दृष्टिदोष से दो चार जगह एकाध अंक अशुद्ध छप गया हो। पर मूल और अनुवाद साम्हने होने से उनके कारण पाठकों को कोई भ्रम न हो सकेगा। नक्शों का मिलान गोम्मटसार के प्रस्तुत प्रकरण से भी कर लिया गया है।

मूडबिद्री का इतिहास

दक्षिण भारत का कर्नाटक देश जैन धर्म के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखता है। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के अधिकांश सुविख्यात और प्राचीनतम ज्ञात आचार्य और ग्रंथकार इसी प्रान्त में हुए हैं। आचार्य पुष्पदन्त, समन्तभद्र, पूज्यपाद, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, नेमिचन्द्र, चामुण्डराय आदि महान् ग्रंथकारों ने इसी भूभाग को अलंकृत किया था।

इसी दक्षिण कर्नाटक प्रान्त में ही मूडबिद्री नामका एक छोटा सा नगर है जो शताब्दियों से जैनियों का तीर्थक्षेत्र बना हुआ है। कहा जाता है कि यहां जैन धर्म का विशेष प्रभाव सन् ११०० ईस्वी के लगभग होय्सल-नरेश बल्लालदेव प्रथम केसमय से बढा। तेरहवीं शताब्दिमें यहां के पार्श्वनाथ बसदि को तुलुव के आलूप नरेशों से राज्यसन्मान मिला। पन्द्रहवीं शताब्दि में विजय नगर के हिंदू नरेशों के समय इस स्थान की कीर्ति विशेष बढ़ी। शक १३५१ (सन् १५२९) के देवराय द्वितीय के एक शिलालेख में उल्लेख है कि वेणुपुर (मूड़बिद्री) उसके भव्यजनों के लिये सुप्रसिद्ध है। वे शुद्ध चारित्र पालते हैं, शुभ कार्य करते हैं, और जैनधर्म की कथाओं का श्रवण करते हैं। यहां के स्थानीय राजा भैररस ने अपने गुरु वीरसेन मुनि की प्रेरणा से यहां के चन्द्रनाथ मंदिर को दान दिया था। सन् १४५१-५२ में यहां की होस बसदि (त्रिभुवन-तिलक-चूडामणि व बड़ा मन्दिर) का 'भैरादेवी मण्डप' नाम से प्रसिद्ध मुखमण्डप विजय नगर नरेश मल्लिकार्जुन इम्मडिदेवराय के राज्य में बनाया गया था। विरूपाक्ष नरेश के राज्य में उनके सामन्त विट्टरस ओडेयरने सन् १४७२-७३ में इसी बसदि को भूमिदान दिया था। यहां सब मिलकर अठारह बसदि (जिनमन्दिर) हैं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध 'गुरु बसदि' है जहां सिद्धान्त ग्रंथों की प्रतियां सुरक्षित हैं और जिनके कारण वह 'सिद्धान्त बसदि' भी कहलाती है। यह नगर 'जैन काशी' नाम से भी प्रसिद्ध है। यहां अब जैनियों की जनसंख्या बहुत कम रहगई है, किन्तु जैन संसार में इसका पावित्र्य कम नहीं हुआ। यहां की गुरुपंरपरा और सिद्धान्त-रक्षा के लिये यह स्थान जैन धार्मिक इतिहास में सदैव अमर रहेगा [१]।

मूडबिद्री के पंडित लोकनाथ जी शास्त्री ने मूडबिद्री का निम्न इतिहास लिखकर भेजने की कृपा की है। कनाड़ी भाषा में बांस को 'बिदिर' कहते हैं। बांसों के समूह को छेदकर यहां के सिद्धान्त मंदिर का पता लगाया गया था, जिससे इस ग्राम का 'बिदुरे' नाम

---

१ देखो Salatore's Mediaeval Jainism, P.351 ff., and, Ancient Karnataka P. 410-11.

प्रसिद्ध हुआ। कनाड़ी में 'मूड' का अर्थ पूर्व दिशा होता है, और पश्चिम का वाचक शब्द 'पडु' है। यहां मूल्की नामक प्राचीन ग्राम पडुबिदुरे कहलाता है, और उससे पूर्व में होने के कारण यह ग्राम मूडबिदुरे या मूडबिदिरे कहलाया। वंश और वेणु शब्द बांस के पर्यायवाची होने से इसका वेणुपुर अथवा वंशपुर नाम से भी उल्लेखकिया गया है। अनेक व्रती साधुओं का निवासस्थान होने से इसका नाम व्रतिपुर या व्रतपुर भी पाया जाता है।

यहां की गुरुबसदि अपरनाम सिद्धान्त बसदि के सम्बन्ध में यह दंतकथा प्रचलित है कि लगभग एक हजार वर्ष पूर्व यहां पर बांसों का सघन वन था। उस समय श्रवणबेलगुल (जैनबिद्री) से एक निर्गंथ मुनि यहां आकर पडुबस्ती नामक मंदिर में ठहरे। पडुबस्ती नामक प्राचीन जिनमंदिर अब भी वहां विद्यमान है, और उस मंदिर से सैकड़ों प्राचीन शौच को गये थे तब उन्होंने एक स्थान पर एक गाय और व्याघ्र को परस्पर क्रीड़ा करते देखा, जिससे वे अत्यन्त विस्मित होकर उस स्थान की विशेषजांच पड़ताल करने लगे। उसी खोजबीन के फलस्वरूप उन्हें एक बांस के भिरे में छुपी हुई व पत्थरों आदि से घिरी हुई पार्श्वनाथ स्वामी की काले पाषाण की नौ हाथ प्रमाण खड्गासन मूर्ति के दर्शन हुए। तत्पश्चात् जैनियों के द्वारा उसका जीर्णोद्वार कराया गया, और उसी स्थान पर 'गुरुबसदि का निर्माण हुआ। उक्त मूर्ति के पादपीठपर उसके शक ६३६ (सन् ७१४) में प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख पाया जाता है। उसके आगे का गद्दीमंडप (लक्ष्मी मंडप) सन् १५३५ में चोलसेठी द्वारा निर्मापित किया गया था। इस बसदि के निर्माण का व्यय छह करोड़ रूपया कहा जाता है जिसमें संभवत: वहां की रत्नमयी प्रतिमाओं का मूल्य भी सम्मिलित होगा। इस मन्दिर के गुप्तगृहों में सुवर्णकलशों में 'सिद्ध रस' स्थापित है, ऐसा भी कहते हैं।

एक किंवदन्ती है कि होय्शल-नरेश विष्णुवर्धनने सन् १११७ में वैष्णव धर्म स्वीकार करके हलेबीडु अर्थात् दोरसमुद्र में अनेक जिन मन्दिरों का ध्वंस कर डाला व जैन धर्म पर अनेक अन्य अत्याचार किये। उसी समय एक भयंकर भूकंप हुआ और भूमि फटकर एक विशाल गर्त वहां उत्पन्न हो गया, जिसका संबंध नरेश के उक्त अत्याचारों से बतलाया जाता है। उनके उत्तराधिकारी नारसिंह और उनके पश्चात् वीर बल्लालदेव ने जैनियों के क्षोभ को शान्त करने के लिये नये मन्दिरों का निर्माण, जीर्णोद्वार, भूमिदान आदि अनेक उपाय किये। वीर बल्लालदेव ने तो अपने राज्य में शान्ति स्थापना के लिये श्रवणबेलगुल से भट्टारकं चारुकीर्तिजी पंडिताचार्य को आमंत्रित किया। वे दोरसमुद्र पहुंचे और उन्होंने अपनी विद्या व बुद्धि के प्रभाव से वहां का सब उपद्रव शान्त किया, जिससे जैन धर्म की

अच्छी प्रभावना हुई। इसका कुछ उल्लेख विळगी के शासन लेख में भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है -

"कर्णाटक-सिद्धसिंहासनाधीश्वर-बल्लालरायं प्रार्थिसे श्री चारुकीर्त्तिपंडिताचार्यर् इंतु कीर्तियं पडेदर् "

तिंवें रायननेंदु ने -

लंबाब्धिडे तन्न मंत्रजपविधियिनदं ॥

कुंबलकायिं सुळदु य -

शं बडेदेसकक्के पंडितार्यने नोंतं ॥

दोरसमुद्र से चारुकीर्ति जी महाराज अपने शिष्यों सहित मूडबिद्री आये और उन्होंने वहां गुरुपीठ (भट्टारक गद्दी) स्थापित की, यहां आते समय उन्होंने पास ही नल्लूर ग्राम में भी भट्टारक गद्दी स्थापित की थी, किन्तु वर्तमान में वहां कोई अलग भट्टारक नहीं हैं, वहां के मठ का सब प्रबन्ध मूडबिद्री मठ से ही होता है। यह मूडबिद्री में भट्टारक गद्दी स्थापित होने का इतिहास है, जिसका समय सन् ११७२ ईस्वी बतलाया जाता है। तब से भट्टारकों का नाम चारुकीर्ति ही रखा जाता है, यद्यपि उसके साथ- साथ कुछ स्वतंत्र नामों, जैसे वर्धमानसागर, अनन्तसागर, नेमिसागर आदि का उल्लेख पाया जाता है। धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों की प्रतियां यहां धारवाड जिले के बंकापुर से लाई गई, ऐसी भी एक जनश्रुति है। इस मठ से दक्षिण कर्नाटक में जैन धर्म का खूब प्रचार व उन्नति हुई। वर्तमान में मठ की संपत्ति से वार्षिक आय लगभग दस हजार की है।[1]

महाबंध की खोज

१. खोज का इतिहास

षट्खंडागम का सामान्य परिचय उसके पूर्व प्रकाशित भूमिका में दिया जा चुका है [2]। वहां हम बतला आये हैं कि धरसेनाचार्य से आगम का उपदेश पाकर पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यो ने उनकी छह खंडों में ग्रन्थरचना की, जिनमें से प्रथम पांच खंड उपलब्ध श्री धवल की प्रतियों के अन्तर्गत पाये जाते हैं और छठ खंड महाबन्ध के सम्बन्ध में धवल

१ देखो लोकनाथशास्त्रीकृत मूडविद्रेय चरित (कनाडी)

२. देखो प्रथम भाग, भूमिका पृ. ६३ आदि, व द्वि भाग भूमिका पृ. १५ आदि.

तथा जयधवल में यह सूचना पाई जाती है कि महाबंध स्वयं भूतबलि आचार्य का रचा हुआ ग्रन्थ है, उसमें बंधविधान के चार प्रकारों प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का खूब विस्तार से वर्णन किया गया है, तथा वह वर्णन इतना विशद और सर्वमान्य हुआ कि यविवृषभ और वीरसेन जैसे आचार्यो ने अपनी-अपनी ग्रन्थरचना में उसकी सूचनामात्र दे देना पर्याप्त समझा; उस विषय पर कुछ विशेष कहने की उन्हें गुंजाइश नहीं दिखी।

इस महाबंध की अभी तक कोई प्रति प्रकाश में नहीं आई। किन्तु हम सब यह आशा करते रहे हैं कि मूडबिद्री के सिद्धान्त भवन में जो महाधवल नाम की कनाडी प्रति ताड़पत्रों पर तृतीय सिद्धान्तग्रन्थ रूप से सुरक्षित है, वही भूतबलिकृत महाबंध ग्रन्थ है। इस आशा का आधार अभी तक केवल हमारा अनुमान ही था, क्योंकि न तो कोई परीक्षक विद्वान् उस प्रति का अच्छी तरह अवलोकन कर पाया था और न किसी ने उसके कोई विस्तृत अवतरण आदि देकर उसका सुपरिचय ही कराया था। उस प्रति का जो कुछ थोड़ासा परिचय उपलब्ध हुआथा, वह मूड़ बिद्रीके पं. लोकनाथजी शास्त्री की कृपा से उनके वीरवाणीविलास जैन सिद्धान्तभवन की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (११३५) के भीतर पाया जाता था। उस परिचय में दिये गये महाधवल प्रति के प्रारंभिक भाग के सूक्ष्म अवलोकन से मुझे ज्ञात हुआ कि वह ग्रन्थ रचना महाबंध खंड की नही है, किन्तु संतकम्म के अन्तर्गत शेष अठारह अनुयोगद्वारों की एक पंचिका है, जिसेउसके कर्ता ने 'पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं' कहा है। उन अवतरणों से महाबंध का कहीं कोई पता नहीं चला। मैंने अपनी इस आशंका को एक लेख के द्वारा प्रकट किया और इस बातकी प्रेरणा की कि महाधवल की प्रतिका शीघ्र ही पर्यालोचन किया जाना चाहिए और महाबंध का पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस लेखके फलस्वरूप मूडबिद्री मठ के भट्टारकस्वामी व पंचों ने उस प्रति की जांच की व्यवस्था की, और शीघ्र ही मुझे तार द्वारा सूचित किया कि महाधवल प्रति के भीतर सत्कर्मपंचिका भी है, और महाबंध भी है। तत्पश्चात् वहां से पं. लोकनाथजी शास्त्री द्वारा संग्रह किये हुये उक्त प्रति में के अनेक अवतरण भी मुझे प्राप्त हुए, जिन पर से महाधवल प्रति के अंन्तर्गत ग्रन्थरचना का यहां कुछ परिचय कराया जाता है।

२. सत्कर्मपंचिका परिचय

महाधवल प्रति के अन्तर्गत ग्रन्थरचना के आदि में 'संतकम्मपंचिका' है, जिसकी उत्थानिका का अवतरण अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह अवतरण पूर्व प्रकाशित

धवला के दोनों भागोंकी भूमिकाओं में यथास्थान उद्धृत किया जा चुका है, तथापि वह उक्त रिपोर्ट पर से लिया गया था, और कुछ त्रुटित था। अब यह अवतरण हमें इस प्रकार प्राप्त हुआ है।

बोच्छामि सत्तकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं

" महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदिवेदणाओ (दि-) चउव्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणिअणियोगद्दाराणि वेदणाखंडम्हि, पुणो पास.कम्म-पयडि-बंधण चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंध-णिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि, पुणो बंधविधाणणामणियोगो महाबंधम्मि, पुणो बंधगणियोगो खुद्दा-बंधम्हि सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्साइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो।"

इस उत्थानिका से सिद्धान्त ग्रन्थों के सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित अत्यन्त उपयोगी और महत्वपूर्ण सूचनाएं बहुत स्पष्टता से मिल जाती हैं -

१ महाकर्मप्रकृति पाहुड के चौबीस अनुयोगद्वारों में से प्रथम दो अर्थात् कृति औरवेदना, वेदनाखंड के अन्तर्गत रचे गये हैं। फिर अगले स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधन के चार भेदों में से बंध और बंधनीय वर्गणाखंड के अन्तर्गत हैं। बंधविधान महाबंध का विषय है, तथा बंधक खुद्दाबंध खंड में सन्निहित है। इस स्पष्ट उल्लेख से हमारी पूर्व बतलाई हुई खंड-व्यवस्था की पूर्णत: पुष्टि हो जाती है, और वेदनाखंड के भीतर चौबीसों अनुयोगद्वारों को मानने तथा वर्गणाखंड को उपलब्ध धवला की प्रतियों के भीतर नहीं मानने वाले मत का अच्छी तरह निरसन हो जाता है।

२ उक्त छह अनुयोगद्वारों से शेष अठारह अनयोगद्वारों की ग्रन्थरचना का नाम सत्तकम्म (सत्कर्म) है, और इसी सत्कर्म के गंभीर विषय को स्पष्ट करने के लिए उसके थोड़े थोड़े अवतरण लेकर उनके विषम पदों का अर्थ प्रस्तुत ग्रंथ में पंचिकारूप से समझाया गया है।

अब प्रश्न यह उपस्थिति होता है कि शेष अठारह अनुयोगद्वारों से वर्णन करने वाला यह सत्कर्म ग्रन्थ कौन सा है ? इसके लिए सत्कर्मपंचिका का आगे का अवतरण देखिए, जो इस प्रकार है -

तं जहा। तत्र ताव जीवदव्वस्स पोग्गलदव्वमवलंबिय पज्जायेसु परिणमणाविहाणं उच्चदे-जीवदव्वं दुविहं, संसारिजीवो मुक्कजीवो चेदि। तत्थमिच्छत्तासंजमकसायजोगेहि

परिणदसंसारिजीवो जीव-भव-खेत्त-पोग्गल-विवाइसरूवकम्मपोग्गले बंधियूण पच्छा तेहिं तो पुव्वुत्त-छव्विहफलसरूवपज्जायमणेयभेयभिण्णं संसरदो जीवो परिणमदि त्ति। एदेसिंपज्जायाणं परिणमणं पोग्गलणिबंधणं होदि। पुणो मुक्कजीवस्स एवं - विध- णिबंधणं णत्थि, किंतु सत्थाणेण पज्जायंतरं गच्छदि। पुणो -

जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो इदि ।

एदस्सत्थो-एत्थ जीवदव्वस्स सहावो णाणदंसणाणि। पुणो दुविहजीवाणं णाणसहावविवक्खिदजीवेहिंतो वदिरित्त - जीवपोग्गलादि- सव्वदव्वाणं परिच्छेदणसहावेण पज्जायंतरगमणणिबंधणं होदि। एवं दंसणं पि वत्तव्वं।

यहां पंजिकाकार कहते हैं कि वहां पर अर्थात् उनके आधारभूत ग्रन्थ के अठारह अधिकारों में से प्रथमानुयोगद्वार निबंधन की प्ररूपणा सुगम है। विशेष केवल इतना है कि उस निबंधन का निक्षेप छह प्रकार से बतलाया गया है। उनमें तृतीय अर्थात् द्रव्यनिक्षेप के स्वरूप की प्ररूपणा में आचार्य इस प्रकार कहते हैं। जिसका खुलासा यह है कि यहां पुद्गलद्रव्य के अवलंबन से जीवद्रव्य के पर्यायोंमें-परिणमन विधान का कथन किया जाता है। जीवद्रव्य दो प्रकार का है, संसारी व मुक्त। इनमें मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से परिणत जीव संसारी है। वह जीवविपा की, भवविपा की, क्षेत्रविपा की और पुद्गलविपा की कर्मपुद्गलों को बांधकर अनन्तर् उनके निमित्त से पूर्वोक्त छह प्रकार के फलरूप अनेक प्रकार की पर्यायों में संसरण करता है, अर्थात् फिरता है। इन पर्यायों का परिणमन पुद्गल के निमित्त से होता है। पुन. मुक्तजीव के इस प्रकार का परिणमन नहीं पाया जाता है। किन्तु वह अपने स्वभाव से ही पर्यायान्तर को प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में 'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वतंरपडिबद्धो इदि' अर्थात् 'जिस द्रव्य का स्वभाव द्रव्यान्तर से प्रतिबद्ध है' इति।

इस प्रकरण के मिलान के लिए हमने वीरसने स्वामी के धवलान्तर्गत निबन्धन अधिकार को निकाला। वहां आदि में ही निबंधन के छह निक्षेपों का कथन विद्यमान है और उनमें तृतीय द्रव्य निक्षेप का कथन शब्दश: ठीक वही है जो पंजिकाकारने अपने अर्थ देने से ऊपर की पंक्ति में उद्धृत किया है और उसी का उन्होंने अर्थ कहा है। यथा -

णिबंधणेत्ति अणियोगद्दारे णिबंधणं ताव अपयदणिबंधणणिराकरणट्ठं णिक्खिवियव्वं। तं जहाणामणिबंधणं, ठवणाणिबंधणं, दव्वणिबंधणं, खेत्तणिबंधणं, कालणिबंधणं, भावणिबंधणं चेदि छव्विहं णिबंधणं होदि।

इसके पश्चात् नाम और स्थापना निबंधन का स्वरूप बतलाया गया है और उसके पश्चात् द्रव्यनिबंधन का वर्णन इस प्रकार है -

जं दव्वं जाणि दव्वाणि अस्सिदूण परिणमदि, जस्स वा सद्दस्स (दव्वस्स) सहाधो दव्वंतरपडिबद्धो तं दव्वणिबंधणं। (धवला क. प्रति, पत्र १२६०)

प्रति में 'सद्दस्स' अशुद्ध है, वहां 'दव्वस्स' पाठ ही होना चाहिए। यहां वाक्य के ये शब्द 'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो' ठीक वे ही हैं, जो पंजिका में भी पाये जाते हैं, और इन्हीं शब्दों का पंजिकाकार ने 'एत्थ जीवदव्वस्स सहावो णाणदंसणाणि' आदि वाक्यों में अर्थ किया है। यथार्थतः जितना वाक्यांश पंजिका में उद्धृत है, उतने परसे उसका अर्थ व्यवस्थित करना कठिन है। किन्तु धवला के उक्त पूरे वाक्य को देखने मात्र से उसका रहस्य एकदम खुल जाता है। इस पर से पंजिकाकार की शैली यह जान पड़ती है कि आधारग्रन्थ के सुगम प्रकरण को तो उसके अस्तित्व की सूचनामात्र देकर छोड़ देना, और केवल कठिन स्थलों का अभिप्राय अपने शब्दों में समझाकर और उसी सिलसिले में मूल के विवक्षितपदों को लेकर उनका अर्थ कर देना। इस पर से पंजिकाकार की उस प्रतिज्ञा का भी स्पष्टीकरण हो जाता है, जहां उन्होंने कहा है कि 'तस्साइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो' अर्थात् उन अठारह अनुयोगद्वारों का विषय बहुत गहन होने से हम उनके अर्थ की दृष्टि से विषमपदों का व्याख्यान करते हैं, और ऐसा करने में मूल के केवल थोड़े से उद्धरण लेंगे। यही पंचिकाका स्वरूप है। मूलग्रन्थ के वाक्यों को अपनी वाक्यरचना में लेकर अर्थ करते जाना अन्य टीकाग्रन्थों में भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, विद्यानन्दिकृत अष्टसहस्री में अकलंकदेवकृत अष्टशती इसी प्रकार गुंथी हुई है। पंजिकाकी यह विशेषता है कि उसमें पूरे ग्रन्थ का समावेश नहीं किया जाता, केवल विषमपदों को ग्रहण कर समझाया जाता है।

सत्कर्मपंचिका के उक्त अवतरण के पश्चात् शास्त्रीजी ने लिखा है-

"इस प्रकार छह द्रव्यों के पर्यायान्तर कापरिणमन विधान-विवरण होने के बाद निम्न प्रकार प्रतिज्ञा वाक्य हैं -

संपहि पक्कामाहियारस्स उक्कस्सपक्कमदव्वस्स उत्तप्पाबहुगविचरणं कस्सामो। तं जहा- अप्पच्चक्खाणमाणस्स उक्कस्सपक्कमदव्वं थोवं। कुदो ?" इत्यादि।

आगे चलकर कहा गया है -

चत्तारि आउगाणं णीचुच्चागोदाणं पुणो एक्कारसव-पयडीणं

सगसेसछप्पण्णबंधपयडिसूचयणमिदि। चउसट्ठिपयडीणमप्पाबहुगं गंथयारेहि परूविदं। अम्हेहि पुणोसूचिदपयडीणमप्पाबहुगं गंथउत्तप्पाबहुगबलेण परूविदं । .... एवं पक्कामाणिओगो गदो।

आगे चलकर पुन: आया है -

एत्थपयडीसु जहण्णपक्कमदव्वाणंअप्पाबहुगं उच्चदे । तं जहा- सव्वत्थोवमपच्चक्खाणमाणे पक्कम - दव्वं। कुदो ? इत्यादि।

यहां उपर्युक्त निबंधन अधिकार के पश्चात् प्रक्रम अधिकार का प्रारम्भ बतलाया है और क्रमश: उसके उत्कृष्ट और जघन्य प्रक्रम द्रव्य के अल्पबहुत्व का कथन किया है, तथा इस बात की सूचना की है कि चौंसठ प्रकृतियों का अल्पबहुत्व ग्रन्थकार ने स्वयं कर दिया है, अत: हम यहां केवल उनके द्वारा सूचित प्रकृतियों का अल्पबहुत्व उक्त ग्रंथोक्त अल्पबहुत्व के बलसे करते हैं। धवला में भी निबंधन अनुयोगद्वार के पश्चात् आठवें अनुयोग प्रक्रम का वर्णन है, और वहां उत्तर प्रकृति प्रक्रम के उत्कृष्टउत्तरप्रकृतिप्रक्रम और जघन्यउत्तरप्रकृतिप्रक्रम ऐसे दो भेद करके वर्णन प्रारम्भ किया गया है। तथा वहां वह सब अल्पबहुत्व पाया जाता है जो पंचिकाकारने स्वीकार किया है और जिसके सम्बन्ध में शंकादि उठाकर उचित समाधान किया है।

उत्तरपयडिपक्कमो दुविहो, उक्कस्सउत्तरपयडिपक्कमो जहण्णउत्तरपयडिपक्कमो चेदि। तत्थ उक्कससए पयदं।सव्वत्थोवं अपच्चक्खाणकसायमाणपदेसग्गं। अपच्चक्खाणकोधे विसेसाहिया। .... जहण्णए पयदं। सव्वत्थोवमपच्चक्खाणमाणे पक्कमदव्वं। कोधे विसेसाहिया।. एवं पक्कमे त्ति समत्तमणिओगद्दारं। (धवला क. प्रति, पत्र १२६६-६७)

प्रक्रम अधिकार के पश्चात् पंचिका में उपक्रम का वर्णन इस प्रकार प्रारंभ होता है-

उवक्कमो चउव्विहो-बंधणोवक्कमो उदीरणोवक्कमोउवसामणोवक्कमो विपरिणामोवक्कमो चेदि । तत्थ बंधणोवक्कमो चउव्विहो पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधणोवक्कमणभेदेण। पुणो एदेसिं चउण्णं पि बंधणो वक्कमाणं अत्थो जहा सत्तकम्मपाहुडम्मि उत्तो तहा वत्तव्वो। सत्तकम्मपाहुडम्मि णाम कदमं ! महकम्मपयडिपाहुडसस चउव्वीसमणियोगद्दारेसु विदियाहियारो वेदणा णाम। तस्स सोलसाणियोगद्दारेसु चउत्थ-छट्ठम-सत्तमणियोगद्दाराणि दव्व-काल-भावविहाणणामधेयाणि। पुणो तहा महाकम्मपयडिपाहुडस्स पंचमो पयडिणामाहियारो। तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि

अट्ठकम्माणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेससत्ताणि परूवि सूचिदुत्तरपयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेससत्तत्तादो। एदाणि सत्तकम्मपाहुडं णाम। मोहणीयं पडुच्च कसायपाहुडं पि होदि। (सत्कर्मपंचिका)

यहां उपक्रम के चार भेदों काउल्लेख करके प्रथम बंधन उपक्रम के, पुन: प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रभेदों के विषय में यह बतलाया गया है कि इनका अर्थ जिस प्रकार संतकम्मपाहुड में किया गया है उस प्रकार करना चाहिए। उस संतकम्मपाहुड से भी प्रकृत में वेदनानुयोगद्वार के तीन और प्रकृति अनुयोगद्वार के चार अधिकारों से अभिप्राय है। यहां भी पंचिकाकार स्पष्टत: धवलाके निम्न उल्लिखित प्रकरण का विवरण कर रहे हैं -

जो सो कम्मोवक्कमो सो चउव्विहो, बंधणउवक्कमो उदीरणउवक्कमो उवसामणउवक्कमो विपरिणामउवक्कमो चेदि।......... जो सो बंधणउवक्कमो सो चउव्विहो, पयडिबंधणउवक्कमो ठिदिबंधणउवक्कमो अणुभागबंधणउवक्कमो पदेसबंधणउवक्कमो चेदि। ..... एत्थ एदेसिं चउण्हमुवक्कमाणं जहा संतकम्मपयडिपाहुडे परूविदं तहा परूवेयव्वं। जहा महाबंधे परूविदं, तहा परूवणा एत्थ किण्ण करीदे ? ण, तस्सपढमसमयबंधम्मि चेव वावारादो। ण च तमेत्थ वोत्तुं जुत्तं, पुणरुत्तदोसपपसंगादो। (धवला क पत्र१२६१)

यहां जो बंधन के चारों उपक्रमों का प्ररूपण महाबंध के अनुसार न करके संतकम्मपाहुड के अनुसार करने का निर्देश किया गया है, उसी का पंचिकाकारने स्पष्टीकरण किया है कि महाकम्मपयडिपाहुड के किन किन विशेष अधिकारों से यहां संतकम्मपाहुड पदद्वारा अभिप्राय है।

पंचिका में उपक्रम अधिकार के पश्चात् उदयअनुयोगद्वार का कथन है जैसा उसके अन्तिम भाग के अवतरण से सूचित होता है। या -

उदयणियोगद्दारं गदं।

यहां के कोई विशेष अवतरण हमें उपलब्ध नहीं हुए। अत. धवला से मिलान नहीं किया जा सका। तथापि उपक्रम के पश्चात् उदय अनुयोग द्वार का प्ररूपण तो है ही। उक्त पंचिका यहीं समाप्त हो जाती है। इससे जान पड़ता है कि इस पंचिका में केवल निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम और उदय, इन्हीं चार अधिकारों का विवरण है। शेष मोक्ष आदि चौदह अनुयोगों का उसमें कोई विवरण यहां नहीं है। इससे जान पड़ता है कि यह पंचिका भी अधूरी ही है, क्योंकि पंचिका की उत्थानिका में दी गई सूचना से ज्ञात होता है कि पंचिकाकार

शेष अठारहों अधिकारों की पंचिका करने वाले थे। शेष ग्रन्थभाग उक्त प्रति में छूटा हुआ है, या पंचिकाकार द्वारा ही किसी कारण से रचा नहीं पाया, इसका निर्णय वर्तमान में उपलब्ध सामग्री पर से नहीं हो सकता।

यह पंचिका किसकी रची हुई है, कब रची गई, इत्यादि खोज की सामग्री का भी अभी अभाव है। पंचिका प्रति की अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है -

श्री जिनपदकमलमधुव्रत -

ननुपम सत्पात्रदाननिरतं सम्य -

क्त्वनिधानं कित्ते वधू -

मनसिजने शांतिनाथ नेसेदं धरेयोल् ॥

धरेयोल् . ... पुरजिदनुपमं चारुचारित्रनादुन्नतधैर्य सादिपर्यत रदिय नेनिसि पेंपिंगुणानीकदिं .. . .. सद्भक्तियादेशदिं सत्कर्मदा पंचियं विस्तरदिं श्रीमाघणंदिव्रतिगे बरेसिदं रागदिं शांतिनाथं ॥

उदविदमुददिं सत्क -

र्मद पंजियननुपमाननिर्वाणसुख -

प्रदमं बरेयिसि शान्तं

मदरहितं माघणंदियतिपतिगित्तं ॥

श्री माघनंदिसिद्धान्तदेवर्गे सत्कर्मपंजियं श्री मदुदयादित्यं प्रतिसमानं बरेदं ॥मंगलं महा॥

पं. लोकनाथजी शास्त्री की सूचनानुसार इस "अन्तिम प्रशस्ति में दो तीन कानड़ी में कंदवृत्त पद्य हैं जो कि शान्तिनाथ राजा के प्रशंसात्मक पद्य हैं। उक्त राजा ने 'सत्कर्मपंचिका' को विस्तार से लिखवाकर भक्ति के साथ श्री माघनंद्याचार्यजी को दे दिया। प्रति लिखने वाला श्री उदयादित्य है।"

इसके ताड़पत्रों की संख्या २७ और ग्रन्थ-प्रमाण लगभग ३७२६ श्लोक के हैं।

३. महाबंध - परिचय

मूड़बिद्रीकी महाधवल नाम से प्रसिद्ध ताड़पत्रीय प्रति के पत्र २७ पर पूर्वोक्त सत्कर्मपंजिका समाप्त हुई है। २८ वां ताड़पत्र प्राप्त नहीं है। आगे जो अधिकार-समाप्ति की व नवीन अधिकार-प्रारंभ की प्रथम सूचना पाई जाती है वह इस प्रकार है-

एवं पगदिसमुक्कित्तणा समत्तं (त्ता)। जो सो सव्वबंधो णो सव्वबंधो.... इत्यादि।

तथा 'एवं कालं समत्तं ' 'एवं अंतरं समत्तं ' इत्यादि।

पं. लोकनाथ जी शास्त्री के शब्दों में 'इस रीति से भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव और अल्पबहुत्वा का वर्णन है '। अल्पबहुत्व की समाप्ति - पुष्पिका इस प्रकार है -

एवं परत्थाणअद्धाअप्पाबहुगं समत्तं। एवं पगदिबंधो समत्तो।

इस थोड़े से विवरण से ही अनुमान हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रंथरचना महाबंध के विषय से सम्बन्ध रखती है। हम प्रथम भाग की भूमिका के पृष्ठ ६७ पर धवला और जयधवला के दो उद्धरण दे चुके हैं, जिनमें कहा गया है कि महाबंध का विषय बंधविधान के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश, इन चारों प्रकारों का विस्तारसे वर्णन करना है। इन प्रकारों का कुछ और विषय- विभाग धवला प्रथम भाग के पृष्ट १२७ आदि पर पाया जाता है जहां जीवट्ठाण की प्ररूपणाओं का उद्गम स्थान बतलाते हुए कहा गया है -

बंधाविहाणं चउव्विहं। तं जहा - पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि। तत्थ जो सो पयडिबंधो सो दुविहो, मूलपयडिबंधो उत्तरपयडिबंधो चेदि। तत्थ जो सो मूलपयडिबंधो सो थप्पो। जो सो उत्तरपयडिबंधो सो दुविहो, एगेगुत्तरपयडिबंधो अव्वोगढउत्तरपय डिबंधो चेदि। तत्थ जो सो एगेगुत्तर - पयडिबंधो तस्स चउवीस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति। तं जहा - समुक्कित्तणा सव्वबंधो णोसव्वबंधो ठक्कस्सबंधो अणुक्कस्सबंधो जहण्णबंधो अजहण्णबंधो सादियबंधो अणादियबंधो धुवबंधो अद्धवबंधो बंध-सामित्तविचयो बंधकालो बंधंतरं बंधसण्णियासो णाणाजीवेहि भंगविचयो भागाभागाणुगमो 'परिमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि।

यहां प्रकृतिबंध विधान के एकैकोत्तरप्रकृतिबंध के अन्तर्गत जो अनुयोगद्वार गिनाये गये हैं, उनमें से आदि के समुत्कीर्तना सर्वबंध और नोसर्वबंध, इन तीन, तथा अन्त के भंगविचयादि नौ अनुयोगद्वारों का उल्लेख महाधवला की उक्त ग्रंथरचना के परिचय में भी पाया जाता है। अत: यह भाग महाबंध के प्रकृतिबंधविधान अधिकार की रचना का अनुमान किया जा सकता है। यह प्रकृतिबंध ताड़पत्र ५० पर अर्थात् २३ पत्रों में समाप्त हुआ है।

प्रकृतिबंध अधिकार की समाप्ति के पश्चात् महाधवल में ग्रंथरचना इस प्रकार है-

'णमो अरहंताणं ' इत्यादि

एत्थो ठिदिबंधो दुविधो, मूलपगदिठिदिबंधो चेव उत्तरपगडिठिदिबंधे चेव। एत्थो मूलपगडिठिदिबंधो पुव्वगमणिज्जो। तत्थ इमाणि चत्तारि अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति। तं जहा-ठिदिबंधठापणपरूवणा, णिसेयपरूवणा अद्धाकंडयपरूवणा अप्पाबहुगेत्ति। .... एवं भूयो ठिदिअप्पाबहुगं समत्तं। वं मूलपगदिठिदिबंधो (धे) चउव्वीसमणियोगद्दारं समत्तं।

भुजगारबंधेत्ति। ... .

'इस प्रकार भुजगारबंध प्रारंभ होकर काल, अन्तर इत्यादि अल्पबहुत्व तक चला गया है।'

एवं जीवसमुदाहतेत्ति समत्तमणियोगद्दाराणि। एवं ठिदिबंधं समत्तं।

बंधविधान के इस स्थितिबंधनामक द्वितीय प्रकार का भी कुछ परिचय धवला प्रथम भाग से मिलता है। पृ.१३० पर कहा गया है -

ट्ठिदिबंधो दुविहो, मूलपयडिट्ठिबंधो उत्तरपयडिट्ठिदिबंधो चेदि। तत्थ जो सो मूलपयडिट्ठिदिबंधो सो थप्पो। जो सो उत्तरपयडिट्ठिदिबंधो तस्स चउवीस अणियोगद्दाराणि। तंजहा-अद्धाछेदो, सव्वबंधो. .... इत्यादि।

यहां स्थितिबंध के मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति, इस प्रकार दो भेद करके उनमें से प्रथम को अप्रकृत होने के कारण छोड़कर प्रस्तुतोपयोगी द्वितीय भेद के चौबीस अनुयोगद्वार बतलाये गये हैं। इनसे पूर्वोक्त महाधवल की रचना के महाबंध से संबंध की सूचना मिलती है।

यह स्थितिबंध ताड़पत्र ५१ से ११३ अर्थात् ६३ पत्रों में समाप्त हुआ है।

इनसे आगे महाधवल में क्रमश: अनुभागबंध और फिर प्रदेशबंध का विवरण पाया जाता है। यथा-

एवं जीवसमुदाहरेत्ति समत्तमणियोगद्दाराणि। एवं उत्तरपगदिअणुभागबंधो समत्तो। एवं अणुभाग-बंधो समत्तो। ......

जो सो पदेसबंधो सो दुविधो, मूलपगदिपदेसबंधो चेव उत्तरपगदिपदेसबंधो चेव। एत्तो मूलपयदिपदेसबंधो पुव्वं गमणीयो भागाभागसमुदाहारो अट्ठविधबंधगस्स आउगभावो।

एवं अप्पाबहुगं समत्तं। एवं जीवसमुदाहारेत्ति समत्तमणियोगद्दारं। एवं पदेसंबंधं समत्तं। एवं बंधविधाणेत्ति समत्तमणियोगद्दारं। एवं चदुबंधो समत्तो भवदि ।

अनुभागबंध ताड़पत्र ११४ से १६९ अर्थात् ५६ पत्रों में, व प्रदेशबंध १७० से २१९ अर्थात् ५० पत्रों में समाप्त हुआ है।

यहीं महाधवल प्रति की ग्रंथरचना समाप्त होती है। इस संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि महाधवल की प्रति के उत्तर भाग में बंधविधान के चारों प्रकारों-प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का विस्तार से वर्णन है, तथा उनके भेद-प्रभेदों व अनुयोगद्वारों का विवरण धवलादि ग्रंथों में संकेतित विषय-विभाग के अनुसार ही पाया जाता है। अतएव यही भूतबलि आचार्यकृत महाबंध हो सकता है। दुर्भाग्यत: इसके प्रारंभ का ताड़पत्र अप्राप्य होने से तथा यथेष्ट अवतरण न मिलने से जितनी जैसी चाहिये उतनी छानबीन ग्रंथ की फिर भी नहीं हो सकी। तथापि अनुभागबंध -विधान की समाप्ति के पश्चात् प्रति में जो पांच छह कनाडी के कंद-वृत्त पाये जाते हैं, उनमें सेएक शास्त्रीजी ने पूरा उद्धृत करके भेजने की कृपा की है, जो इसप्रकार है -

सकलधरित्रीविनुत-
प्रकटितयधीशे मल्लिकब्बे बरेसि सत्पु -
ण्याकर-महाबंधद पु-
स्तकं श्रीमाघनंदिमुनिगळि गित्तळ्

इस पद्य में कहा गया है कि श्रीमती मल्लिकाम्बा देवी ने इस सत्पुण्याकर महाबंध की पुस्तक को लिखाकर श्रीमाघनन्दि मुनि को दान की। यहां हमें इस ग्रन्थ के महाबंध होने का एक महत्वपूर्ण प्राचीन उल्लेख मिल गया। शास्त्रीजी की सूचनानुसार शेष कनाड़ी पद्यों में से दो तीन में माघनन्द्याचार्य के गुणों की प्रशंसा की गई है, तथा दो पद्यों में शान्तिसेन राजा व उनकी पत्नी मल्लिकाम्बा देवी का गुणगान है, जिससे महाबंध प्रति का दान करने वाली मल्लिकाम्बा देवी किसी शांतिसेन नामक राजा की रानी सिद्ध होती है। ये शान्तिसेन व माघनन्दि नि:संदेह वे ही हैं जिनका सत्कर्मपंजिका की प्रशस्ति में भी उल्लेख आया है। प्रति के अन्त में पुन: ५ कनाड़ी के पद्य हैं जिनमें से प्रथम चार में माघनन्दि मुनीन्द्र की प्रशंसा की गई है व उन्हें 'यतिपति' 'व्रतनाथ' व 'व्रतिमति' तथा 'सैद्धान्तिकाग्रेसर' जैसे विशेषण लगाये गये हैं। पांचवें पद्य में कहा गया है कि रूपवती सेनवधू ने श्रीपंचमीव्रत

के उद्यापन के समय (यह शास्त्र) श्रीमाघनन्दि व्रतिपति को प्रदान किया। यथा -

श्रीपंचमियं नोंतुध्यापनेयं माडि बरेसि राघ्यांतमना।

रूपवती सेनवधू जितकोप श्रीमाघनन्दि व्रतिपति गित्तलू ॥

यहां सेनवधू से शान्ति सेन राजा की पत्नी का ही अभिप्राय है। नाम के एक भाग से पूर्ण नाम को सूचित करना सुप्रचलित है।

यह अन्त की प्रशस्ति वीरवाणीविलास जैनसिद्धान्त भवनकी प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (१९३५) में पूर्ण प्रकाशित है।

उक्त परिचय में प्रति के लिखाने व दान किये जाने का कोई समय नहीं पाया जाता। शान्तिसेन राजा का भी इतिहास में जल्दी पता नहीं लगता। माघनन्दि नाम के मुनि अनेक हुए हैं जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोला आदि के शिलालेखों में पाया जाता है। जब शान्तिसेन राजा के उल्लेखादि संबन्धी पूर्ण पद्य प्राप्त होंगे, तब धीरे-धीरे उनके समयादि के निर्णय का प्रयत्न किया जा सकेगा।

हम ऊपर कह आये हैं कि इस प्रतिमें महाबंध रचना के प्रारंभ का पत्र २८ वां नहीं है। शास्त्री जी कीसूचनानुसार प्रति में पत्रनं. १०९, ११४, १७३, १७४, १७६, १७७, १८३, १८४, १८५, १८६, १८८, १९७, २०८, २०९ और २१२ भी नहीं हैं। इसप्रकार कुल १६ पत्र नहीं मिल रहे हैं। किन्तु शास्त्रीजी की सूचना है कि कुछ लिखित ताड़पत्र बिना पत्र संख्या के भी प्राप्त है। संभव है यदि प्रयत्न किया जाय तो इनमें से उक्त त्रुटि की कुछ पूर्ति हो सके।

उत्तरप्रतिपत्ति और दक्षिणप्रतिपत्ति पर कुछ और प्रकाश

प्रथम भाग की प्रस्तावना में [१] हम वर्तमान ग्रंथभाग अर्थात् द्रव्यप्रमाणप्ररूपणा में के[२] तथा अन्यत्र से तीन चार ऐसे अवतरणों का परिचय करा चुके हैं जिनमें 'उत्तरप्रतिपत्ति' और 'दक्षिणप्रतिपत्ति' इस प्रकार की दो भिन्न-भिन्न मान्यताओं का उल्लेख पाया जाता है। वहां हम कह आये हैं कि 'हमने इन उल्लेखों का दूसरे उल्लेखों की अपेक्षा कुछ विस्तार से परिचय इस कारण से दिया है क्योंकि यह उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति का मतभेद अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय है। संभव है इनसे धवलाकार का तात्पर्य जैन समाज के भीतर

---

१ षट्खंडागम भाग, १ भूमिका पृष्ठ ५७.

२ देखो,पृ. ९२, ९४, ९८ आदि, मूल व अनुवाद

की किन्हीं विशेष सांप्रदायिक मान्यताओं से ही हो' यहाँ हमारा यह संकेत यह था कि संभवत: यह श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यता भेद हो और यह बात उक्त प्रस्तावना के अन्तर्गत अंग्रेजी वक्तव्य में मैंने व्यक्त भी कर दी थी कि -

"At present I am examining these views a bit more closely. They may ultimately turn out to be the Svetambara and Digambara Schools".

उक्त अवतरणों में दक्षिणप्रतिप्रत्ति को 'पवाइज्जमाण' और 'आयरियपरंपरागय' भी कहा है। अब श्री जयधवल में एक उल्लेख हमें ऐसा भी दृष्टिगोचर हुआ है जहां 'पवाइज्जंत' तथा 'आइरियपरंपरागय' का स्पष्टार्थ खोलकर समझाया गया है और अज्जमंखु के उपदेश को वहां 'अपवाइज्जमाण' तथा नागहस्ति क्षमाश्रमण के उपदेश को 'पवाइज्जंत' बतलाया है। यथा -

को पुण पवाइज्जंतोवएसो णाम वुत्तमेदं ? सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमव्वोच्छिण्णसंपदाय कमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरंपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जंतोवएसो त्ति भण्णदे। अथवा अज्जमंखु - भयवंताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जंतो त्ति घेत्तव्वो।

(जयधवला अ.पत्र ९०८)

अर्थात् यहां जो 'पवाइज्जंत' उपदेश कहा गया है उसका अर्थ क्या है ? जो सर्व आचार्यों को सम्मत हो, चिरकाल से अव्युच्छिन्नसंप्रदाय-क्रम से आ रहा हो और शिष्यपरंपरा से प्रचलित और प्रज्ञापित किया जा रहा हो वह 'पवाइज्जंत' उपदेश कहा जाता है। अथवा, भगवान् अज्जमंखु का उपदेश यहां (प्रकृत विषय पर) 'अपवाइज्जमाण' है, तथा नागहस्ति-क्षपण का उपदेश 'पवाइज्जंत' है, ऐसा ग्रहण करना चाहिये।

अज्जमंखु और नागहस्ति के भिन्न मतोपदेशों के अनेक उल्लेख इन सिद्धान्त ग्रन्थों में पाये जाते हैं, जिनकी कुछ सूचना हम उक्त प्रस्तावना में दे चुके हैं। जान पड़ता है कि इन दोनों आचार्यों का जैन सिद्धान्त की अनेक सूक्ष्म बातों पर मतभेद था। जहां वीरसेनस्वामी के संमुख ऐसे मतभेद उपस्थित हुए, वहां जो मत उन्हें प्राचीन परंपरागत ज्ञात हुआ, उसे 'पवाइज्जमाण' कहा। तथा जिस मत की उन्हें प्रामाणिक प्राचीन परंपरा नहीं मिली, उसे अपवाइज्जमाण कहा है। प्रस्तुत उल्लेख से अनुमान होता है कि उक्त प्रतिपत्तियों से उनका अभिप्राय किन्हीं विशेष गढ़ी हुई मत धाराओं से नहीं था। अर्थात् ऐसा नहीं था कि किसी एक आचार्य का मत सर्वथा 'अपवाइज्जमाण' और दूसरे का सर्वथा 'पवाइज्जमाण' हो। किंतु इन्हें दक्षिणप्रतिपत्ति और उत्तरप्रतिपत्ति क्यों कहा है यह फिर भी विचारणीय रह जाता है।

णमोकारमंत्र के सादित्व-अनादित्व का निर्णय

द्वितीय भाग की प्रस्तावना (पृ.३३ आदि) में हम प्रगट कर चुके हैं कि धवलाकार ने जीवट्ठाण खंड व वेदनाखंड के आदि में जो शास्त्र के निबद्धमंगल व अनिबद्धमंगल होने का विचार किया है उसका यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवट्ठाण के आदि में णमोकारमंत्र रूप मंगल भगवान् पुष्पदंतकृत होने से यह शास्त्र निबद्धमंगल है, किन्तु वेदनाखंड के आदि में 'णमो जिणाणं' आदि नमस्कारात्मक मंगलवाक्य होने पर भी वह शास्त्र अनिबद्धमंगल है, क्योंकि वे मंगलसूत्र स्वयं भूतबलि की रचना न होकर गौतमगणधरकृत हैं। वेदनाखंड में भी निबद्धमंगल है, क्योंकि वे मंगलसूत्र स्वंय भूतबलि की रचना न होकर गौतमगणधरकृत हैं। वेदनाखंड में भी निबद्धमंगलत्व तभी माना जा सकता है, जब वेदनाखंड को महाकर्मप्रकृतिपाहुड मान लिया जाय और भूतबलि आचार्य को गौतम गणधर। अन्य किसी प्रकार से निबद्धमंगलत्व सिद्ध नहीं हो सकता। इस विवेचन से धवलाकार का यह मत स्पष्ट समझ में आता है कि उपलब्ध णमोकारमंत्र के आदि रचयिता आचार्य पुष्पदंत ही हैं।

प्रथम भाग में उक्त विवेचनसंबन्धी मूलपाठ का संपादन व अनुवाद करते समय हस्तलिखित प्रतियों का जो पाठ हमारे सन्मुख उपस्थित था उसका सामञ्जस्य बैठाना हमारे लिये कुछ कठिन प्रतीत हुआ, और इसी से हमें यह पाठ कुछ परिवर्तित करके मूल में रखना पड़ा। तथापि प्रतियों का उपलब्ध पाठ यथावत् रूप से वहीं पादटिप्पण में दे दिया था। (देखो प्रथम भाग पृ. ४१)। किंतु अब मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रति से जो पाठ प्राप्त हुआ है वह भी हमारे पादटिप्पण में दिये हुए प्रतियों के पाठ के समान ही है। अर्थात् -

"जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवताणमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्धदेवताणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं"

अब वेदनाखंड के आदि में दिये हुए धवलाकार के इसी विषयसम्बन्धी विवेचन के प्रकाश में यह पाठ समुचित जान पड़ता है। इसका अर्थ इस प्रकार होगा -

"जो सूत्रग्रंथ के आदि में सूत्रकार द्वारा देवतानमस्कार किया जाता है, अर्थात् नमस्कार वाक्य स्वयं रचकर निबद्ध किया जाता है उसे निबद्धमंगल कहते हैं। और जो सूत्रग्रंथ के आदि में सूत्रकार द्वारा देवतानमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है, अर्थात् नमस्कारवाक्य स्वयं न रचकर किसी अन्य आचार्य द्वारा पूर्वरचित नमस्कारवाक्य निबद्ध कर दिया जाता है, उसे अनिबद्धमंगल कहते हैं।"

इस प्रकार मूडबिद्री की प्रति से प्रचलित प्रतियों के पाठ की पूर्णतया रक्षा हो जाती है, उसका वेदनाखंड के आदि में किये गये विवेचन से ठीक सामंजस्य बैठ जाता है, तथा उससे धवलाकार के णमोकारमंत्र के कर्तृत्वसंबन्धी उस मत की पूर्णतया पुष्टि हो जाती है जिसका परिचय हम विस्तार से गत द्वितीय भाग की प्रस्तावना में करा आये हैं। णमोकारमंत्र के कर्तृत्वसंबन्धी इस निष्कर्ष द्वारा कुछ लोगों के मत से प्रचलित एक मान्यता को बड़ी भारी ठेस लगती है। यह मान्यता यह है कि णमोकारमंत्र अनादिनिधन है, अतएव यह नहीं माना जा सकता कि उस मंत्र के आदिकर्त्ता पुष्पदन्ताचार्य हैं। तथापि धवलाकार के पूर्वोक्त मत के परिहार करने का कोई साधन व प्रमाण भी अब तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका। गंभीर विचार करने से ज्ञात है कि णमोकारमंत्र संबन्धी उक्त अनादिनिधनत्व की मान्यता व उसके पुष्पदन्ताचार्य द्वारा कर्तृत्व की मान्यता में कोई विरोधी नहीं है। भाव की (अर्थ की) दृष्टि से जब से अरिहंतादि पंच परमेष्ठी की मान्यता है तभी से उनको नमस्कार करने की भावना भी मानी जा सकती है। किंतु 'णमो अरिहंताणं' आदि शब्द रचना के कर्त्ता पुष्पदन्ताचार्य माने जा सकते हैं। इस बात की पुष्टि के लिये मैं पाठकों का ध्यान श्रुतावतार संबन्धी कथानककी ओर आकर्षित करता हूँ। धवला, प्रथम भाग, पृ. ५५ पर कहा गया है कि -

'सुत्तमोइण्णं अत्थदो तित्थयरादो, गंथदो गणहरदेवादो त्ति '

अर्थात् सूत्र अर्थप्ररूपणा की अपेक्षा तीर्थंकर से, और ग्रंथरचना की अपेक्षा गणधरदेव से अवतीर्ण हुआ है।

यहां फिर प्रश्न उत्पन्न होता है -

द्रव्यभावाभ्यामकृत्रिमत्वत: सदा स्थितस्य श्रुतस्य कथमवतार इति ?

अर्थात् द्रव्य-भाव से अकृत्रिम होने के कारण सर्वदा अवस्थित श्रुत का अवतार कैसे हो सकता है ?

इसका समाधान किया जाता है -

एतत्सर्वमभविष्यद्यदि द्रव्यार्थिकनयोऽविवक्षिष्यत्। पर्यायार्थिकनयापेक्षायामवतारस्तु पुनर्घटत एव ।

अर्थात् यह शंका तो तब बनती जब यहां द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा होती। परंतु यहां पर पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा होने से श्रुतका अवतार तो बन ही जाता है।

आगे चलकर पृष्ठ ६० पर कर्त्ता दो प्रकार का बतलाया गया है, एक अर्थकर्ता व दूसरा ग्रंथकर्ता। और फिर विस्तार के साथ तीर्थकर भगवान् महावीर को श्रुत का अर्थकर्ता, गौतम गणधर को द्रव्यश्रुत का ग्रंथकर्ता तथा भूतबलि-पुष्पदन्त को भी खंडसिद्धान्त की अपेक्षा से कर्त्ता या उपतंत्रकर्ता कहा है। यथा -

'तत्थ कत्ता दुविहो, अत्थकत्ता गंथकता चेदि। महावीरोऽर्थकर्त्ता। .... एवंविधो महावीरोऽर्थकर्ता। ... तदो भावसुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुदपज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्वसुदस्स गोदमो कत्ता। तत्तो गंथरयणा जादेत्ति। ... तदो एयं खंडसिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति। तदो मूलतंतकत्ता वड्ढमाणभडारओ, अणुतंतकत्ता गोदमसामी, उवतंतकत्तारा भूदबलि-पुप्फयंतादयो वीयरायदोसमोहा मुणिवरा। किमर्थ कर्त्ता प्ररूप्यते ? शास्त्रस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम्, 'वक्तृ-प्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायात्। (षट्खंडागम भाग १, पृष्ठ ६०-७२)

उसी प्रकार, स्वयं धवल ग्रंथ आगम है, तथापि अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन होने पर भी उपलभ्य शब्द रचना की दृष्टि से उसके कर्ता वीरसेनाचार्य ही माने जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि णमोकारमंत्र को द्रव्यार्थिक नयसे पुष्पदन्ताचार्य से भी प्राचीन मानने व पर्यायार्थिक नयसे उपलब्ध भाषा व शब्द रचना के रूप में पुष्पदन्ताचार्यकृत मानने से कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता। वर्तमान प्राकृत भाषात्मक रूप में तो उसे सादि ही मानना पड़ेगा। आज हम हिन्दी भाषा में उसी मंत्र को 'अरिहंतो को नमस्कार ' या अंग्रेजी में "Bow to the worshipful' आदि रूप में भी उच्चारण करते हैं, किंतु मंत्र का यह रूप अनादि क्या, बहुत पुराना भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, हम जानते हैं कि स्वयं प्रचलित हिन्दी या अंग्रेजी भाषा ही कोई हजार आठ सौ वर्ष पुरानी नहीं है। हाँ, इस बात की खोज अवश्य करना चाहिये कि क्या यह मंत्र उक्त रूप में ही पुष्पदन्ताचार्य के समय से पूर्व की किसी रचना में पाया जाता है ? यदि हां, तो फिर विचारणीय यह होगा कि धवलाकार के तत्संबंधी कथनों का क्याअभिप्राय है। किन्तु जब तक ऐसे कोई प्रमाण उपलब्ध न हों तब तक अब हमें इस परम पावन मंत्र के रचयिता पुष्पदन्ताचार्य को ही मानना चाहिये।

शंका-समाधान

षट्खंडागम प्रथम भाग के प्रकाशित होने पर अनेक विद्वानों ने अपने विशेष पत्र द्वारा अथवा पत्रों में प्रकाशित समालोचनाओं द्वारा कुछ पाठ सम्बंधी व सैद्धान्तिक शंकाएं

उपस्थित की हैं। यहां उन्हीं शंकाओं के संक्षेप में समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है। ये शंका-समाधान यहां प्रथम भाग के पृष्ठक्रम से व्यवस्थित किये जाते हैं।

पृष्ठ ६

१. शंका - 'वियलियमलमूढवंसणुत्तिलया' में 'मलमूढ' की जगह 'मलमूल' पाठ अधिक ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के पच्चीस मल दोषों में तीन मूढ़ता दोष भी सम्मिलित हैं। (विवेकाभयुदय, ता.२०.१०.४०)

समाधान - 'मलमूढ' पाठ सहारनपुर की प्रति के अनुसार रखा गया है और मूडबिद्री से जो प्रतिमिलान होकर संशोधन-पाठ आया है, उसमें भी 'मलमूढ' के स्थान पर कोई पाठ परिवर्तन नहीं प्राप्त हुआ। तथा उसका अर्थ सर्व प्रकार के मल और तीन मूढ़ताएं करना असंगत भी नहीं है।

२. शंका - गाथा ४ में 'महु' पाठ है, जिसका अनुवाद 'मुझपर' किया गया है। समझ में नही आता कि यह अनुवाद कैसे ठीक हो सकता है, जब कि 'महु' का संस्कृत रूपान्तर 'मधु' होता है ? (विवेकाभ्युदय, ता. २०.१०.४०)

समाधान - प्रकृत में 'महु' का संस्कृत रूपान्तर 'मह्यम्' करना चाहिए। देखो हैम व्याकरण 'महु मज्झु ङ.सि ङ.स्भ्याम्' ८, ४, ३७९. इसी के अनुसार 'मुझपर' ऐसा अर्थ किया गया है।

३. शंका - गाथा ४ में 'दाणवरसीहो' पाठ है। पर उसमें नाश करने का सूचक 'हर' शब्द नहीं है। 'वर' की जगह 'हर' रखना चाहिए था। (विवेकाभ्युदय, ता. २०.१०.४०)

समाधान - हमारे सन्मुख उपस्थित समस्त प्रतियों में 'दाणवरसीहो' ही पाठ था और मूडबिद्री से उसमें कोई पाठ-परिवर्तन नहीं मिला। तब उसमें 'वर' के स्थान पर जबरर्दस्ती 'हर' क्यों कर दिया जाय, जबकि उसका अर्थ 'हर' के बिना भी सुगम है ? 'वादीभसिंह' आदि नामों में विनाशबोधक कोई शब्द न होते हुए भी अर्थ में कोई कठिनाई नहीं आती।

पृष्ठ ७

४. शंका - गाथा ५ में 'दुकयंतं' पाठ है जिसका अर्थ किया गया है 'दुष्कृत अर्थात् पापोंका अन्त करने वाले' यह अर्थ किस प्रकार निकाला गया, उक्त शब्द का संस्कृत रूपान्तर क्या है, यह स्पष्ट करना चाहिए। (विवेकाभ्युदय, २०.१०.४०)

समाधान - 'दुकयंतं' का संस्कृत रूपान्तर है 'दुष्कृतान्त' जिसका अर्थ दुष्कृत अर्थात् पापों का अन्त करने वाले सुस्पष्ट है।

५. शंका - गाथा ५ में '-वइं सया दंतं' पाठ है, जिसका रूपान्तर होगा '-पतिं सदा दन्तं'। इसमें हमें समझ नहीं पड़ता कि 'दन्त' शब्द से इंद्रियदमन का अर्थ किस प्रकार लाया जा सकता है ? (विवेकाभ्युदय, २०.१०.४०)

समाधान - प्राकृत में 'दंतं' शब्द 'दान्त' के लिये भी आता है। यथा, 'दंतेण चित्तेण चरंति धीरा' (प्राकृतसूक्तरत्नमाला) पाइअसद्दमहण्णओ कोष में 'दंत' का अर्थ 'जितेन्द्रिय' दिया गया है। इसी के अनुसार 'निरन्तर पंचेन्द्रियोंका दमन करने वाले' ऐसा अनुवाद कियागयाहै।

६. शंका - गाथा ६ में 'विणिहयवम्महसपरं' का अर्थ होना चाहिये 'जिन्होंने ब्रह्माद्वैत की व्यापकता को नष्ट कर दिया है और निर्मलज्ञान के रूप में ब्रह्म की व्यापकता को बढ़ाया है'। (विवेकाभ्युदय, २०.१०.४०)

समाधान - जब काव्य में एक ही शब्द दो बार प्रयुक्त किया जाता है तब प्राय: दोनों जगह उसका अर्थ भिन्न भिन्न होता है। किन्तु उक्त अर्थ में 'वम्मह' का अर्थ दोनों जगह 'ब्रह्म' ले लिया गया है, और उनमें भेद करने के लिए एक में 'अद्वैत' शब्द अपनीओर से डाला गया है, जिसके लिए मूल में सर्वथा कोई आधार नहीं है। प्राकृत में 'वम्मह ' शब्द 'मन्मथ' के लिए आता है। हैम प्राकृतव्याकरण में इसके लिए एक स्वतंत्र सूत्र भी है - 'मन्मथे व:' ८,१,२४२. इसकी वृत्ति है 'मन्मथे मस्य वो भवति, वम्महो'। इसी के अनुसार हमने अनुवाद किया है, जिसमें कोई दोष नहीं।

पृष्ठ १५

७. शंका - आगमे मूले 'सम्मइसुत्ते' इति लिखितमस्य भवद्भिरर्थ: कृत: 'सम्मतितर्के'। सम्मतितर्काख्यं श्वेताम्बरीयग्रन्थमस्ति, तस्य निर्देश आचार्यै: कृत: वा सम्मइसुत्तं नाम किमपि दिगम्बरीयं ग्रंन्थं वर्तते ?

(पं. झम्मनलाल जी तर्कतीर्थ, पत्र ता. ४.१.४१)

अर्थात् मूल के 'सम्मइसुत्ते' से सम्मति तर्क काअर्थ लिया है जो श्वेताम्बरीय ग्रंथ है। आचार्य ने उसी का उल्लेख किया है या इस नाम का कोई दिगम्बरीय ग्रंथ भी है ?

समाधान - 'णामं ठवणा दवियं' इत्यादि गाथा उद्धृत करके जो सन्मति सूत्र का उल्लेख किया है वह सन्मतितर्क नाम का प्राप्त ग्रन्थ ही प्रतीत होता है, क्योंकि यह गाथा तथा उससे पूर्व उद्धृत चार गाथाएं वहां पाई जाती हैं। सन्मति तर्क के कर्ता सिद्धसेन का स्मरण महापुराण आदि अनेक 'दिगम्बर ग्रन्थों में भी पायाजाता है, जिससे अनुमान होता है कि ये आचार्य दोनों सम्प्रदायों में मान्य रहे हैं। इससे अन्य कोई ग्रन्थ इस नाम का जैन साहित्य में उपलब्ध भी नहीं है।

पृष्ठ १९

८. शंका- 'वच्चत्थणिरवेक्खो मंगलसद्दो णाममंगलं' इत्यत्र तस्य मंगलस्याधारविषयेप्न्वइष्ट - विधेध्वजीवाधारकथने भाषायां जिनप्रतिमाया उदाहरणं प्रदत्तं, तत्कथं संगच्छते ? .. .. अजीवोदाहरणे जिनभवनमुदाहियतामिति।

(पं. झम्मनलाल जी तर्कतीर्थ, पत्र ता. ४.१.४१)

अर्थात् नाममंगल के आठ प्रकार के आधार-कथन में भाषानुवाद में अजीव आधार का उदाहरण जिनप्रतिमा दिया गया है, सो कैसे संगत है ? जिन भवन का उदाहरण अधिक ठीक था?

समाधान - धवलाकार ने नाममंगल का जो लक्षण दिया है और उसके जो आधार बतलाये हैं, उनसे तो यही ज्ञात होताहै कि एक या अनेक चेतन या अचेतन मंगल द्रव्य नाममंगल के आधार होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम पार्श्वनाथ तीर्थंकर का नामोच्चारण करें तो यह एक जीवाश्रित नाममंगल होगा। यदि हम चौबीस तीर्थंकरों का नामोच्चारण करें तो यह अनेक जीवाश्रित नाममंगल होगा।यदि हम अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ, या केशरियानाथ आदि प्रतिमाओं का नामोच्चारण करें तो यह अजीवाश्रित नाममंगल होगा, इत्यादि। इस प्रकार जिन प्रतिमा नाममंगल का आधार बन जाती है, जिसका कि उसी पृष्ठ पर दी हुई टिप्पणियों से यथोचित समर्थन हो जाता है। इसी प्रकार पंडित जी द्वारा सुझाया गया जिन मन्दिर भी अजीब नाममंगल का आधार माना जा सकता है।

पृष्ठ २९

९. शंका - पृ.२९ पर क्षेत्रमंगल के कथन में लिखा है 'अर्धाष्टारत्न्यादि पंचविंशत्युत्तर पंचधनुःशतप्रमाणशरीर' जिसका अर्थ अपने 'साढे तीन हाथ से लेकर ५२५ धनुष तक के शरीर' किया है, और नीचे फुटनोट में 'अर्धाष्ट इत्यत्र अर्धचतुर्थ इति पठेन

भाव्यम्' ऐसा लिखा है। सोआपने यह कहां से लिखा है और क्यों लिखा है ?

(नानकचंद जी, प्रत्र १-४-४०)

समाधान - केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाले जीवों की सबसे जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ (अरत्नि) और उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण होती है। सिद्धजीवों की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना इसीलिए पूर्वोक्त बतलाई है। इसके लिए त्रिलोकसार की गाथा १४१-१४२ देखिये। संस्कृत में साढ़े तीन को 'अर्धचतुर्य ' कहते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर 'अर्धाष्ट ' के स्थान में 'अर्धचतुर्थ ' का संशोधन सुझाया गया है, वह आगमानुकूल भी है। 'अर्धाष्ट ' का अर्थ 'साढ़े सात ' होता है जो प्रचलित मान्यता के अनुकूल नहीं है। इसी भाग के पृष्ठ २८ की टिप्पणी की दुसरी पंक्ति में त्रिलोकप्रज्ञप्ति का जो उद्धरण (आहुट्ठहत्थपहुदी) दिया है उससे भी सुझाए गये पाठ की पुष्टि होती है।

पृष्ठ ३९

१०. शंका - धवलराज में क्षयोपशमसम्यक्त्व की स्थिति ६६ सागर से न्यून बतलाई है, जब कि सर्वार्थसिद्धि में पूरे ६६ सागर और राजवार्तिक में ६६ सागर से अधिक बतलाई है ? इसका क्या कारण है ! (नानकचंद जी, पत्र १-४-४१)

समाधान - सर्वार्थसिद्धि में क्षायोपशमिकसम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति पूरे ६६ सागर वा राजवर्तिक में सम्यग्दर्शनसामान्य की उत्कृष्ट स्थिति साधिक ६६ सागर और धवला टीका पृ. ३९ पर सम्यग्दर्शन की अपेक्षा मंगल की उत्कृष्ट स्थिति देशोन छयासठ सागर कही है। इस मतभेद का कारण जानने के पूर्व ६६ सागर किस प्रकार पूरे होते हैं, यह जान लेना आवश्यक है।

धवलाकार ने जीवट्ठाण खंड की अन्तरप्ररूपणा में ६६ सागर की स्थिति के पूरा करने का क्रम इस प्रकार दिया है :-

एक्को तिरिक्खो मणुस्सो वा लंतव-काविट्ठवासियदेवेसु चौद्दससागरोवमाउट्ठिदिएसु उप्पण्णो। एक्कं सागरोवमं गमिय विदियसागरोवमादिसमए सम्मत्तं पडिवण्णो। तेरस सागरोवमाणि तत्थ अच्छिय सम्मत्तेण सह चुदो मणुसो जादो। तत्थ संजमं संजमासंजमं वा अणुपालिय मणुसाउएणूण-चावीससागरोवममाउट्ठिदिएसु आरणच्चुददेवेसु उववण्णो। तत्तो चुदो मणुसो जादो। तत्थ संजममणुसारिय उवरिमगेवज्जे देवेसु मणुसा-उगेणूणएक्कत्तीससागरोवमाउट्ठिदीएस उववण्णो। अंतोमुहुत्तूणछावट्ठिसागरोवमचरिमसमए

परिणामपच्चएण सम्मामिच्छत्तं गदो। .... एसो उप्पत्तिकमो अउप्पण्णउप्पायणंट्ठं उत्तो। परमत्थदो पुण जेण केण वि पयारेण छावट्ठी पूरेदव्वा।

अर्थात् - कोई एक निर्यंच अथवा मनुष्य चौदह सागरोपमकी आयुस्थिति वाले लान्तव कापिष्ठ कल्पवासी देवों में उत्पन्न हुआ। वहां पर एक सागरोपम काल बिताकर दूसरे सागरोपम के आदि समय में सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और तेरह सागरोपम तक वहां रककर सम्यक्त्व के साथ ही च्युत होकर मनुष्य हो गया। उस मनुष्यभव में संयम को अथवा संयमासंयम को परिपालन कर इस मनुष्यभवसम्बन्धी आयु से कम बाईस सागरोपम आयु की स्थिति वाले आरण-अच्युत कल्प के देवों में उत्पन्न हुआ। वहां से च्युत होकर पुन: मनुष्य हुआ। इस मनुष्यभव में संयम को धारणकर उपरिम ग्रैवेयक में मनुष्य आयु से कम इकतीस सागरोपम आयु की स्थिति वाले अहमिन्द्र देवों में उत्पन्न हुआ। वहां पर अन्तर्मुहुर्त कम छयासर सागरोपम के अन्तिम अव्युत्पन्नजनों के व्युत्पादनार्थ कहा है। परमार्थ से तो जिस किसी भी प्रकार से छयासठ सागरोपमकाल को पूरा करना चाहिए।

सर्वार्थसिद्धिकार जो क्षायोपशमिकसम्यक्त्व की स्थिति पूरे ६६ सागर बता रहे हैं, यह षट्खंडागम के दूसरे खंड खुद्दाबंध के आगे बताये जाने वाले सूत्रों के अनुसार ही है, उस में धवला से कोई मतभेद नहीं है। भेद केवल धवला के प्रथम भाग पृ. ३९ पर बताई गई देशोन ६६ सागर की स्थिति से है। सो यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि धवलाकार बेदकसम्यक्त्व या सम्यक्त्वसामान्य की स्थिति नहीं बता रहे हैं, किन्तु मंगल की उत्कृष्ट स्थिति बता रहे हैं, और वह भी सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से, जिसका अभिप्राय यह समझ में आता है कि सम्यक्त्व होने पर जो असंख्यातगुणश्रेणी कर्म-निर्जरा सम्यक्त्वी जीव के हुआ करती है, उसी की अपेक्षा मं+गल अर्थात् पाप को गलानेवाला होने से वह सम्यक्त्व मंगलरूप है, ऐसा कहा गया है। किन्तु जो जीव ६६ सागर पूर्ण होने के अन्तिम मुहूर्त में सम्यक्त्व को छोड़कर नीचे के गुणस्थानों में जा रहा है, उसके सम्यक्त्वकाल में होने वाली निर्जरा बंद हो जाती है, क्योंकि परिणामों में संक्लेश की वृद्धि होने से वह सम्यक्त्व से पतनोन्मुख हो रहा है। अतएव इस अन्तिम अन्तर्मुहूर्त से कम ६६ सागर मंगल की उत्कृष्ट स्थिति बताई गई प्रतीत होती है।

अब रही राजवार्त्तिक में बताये गये साधिक ६६ सागरोपमकाल की बात सो उस विषय में एक बात खास ध्यान देने की है कि राजवार्त्तिकार जो साधिक छयासठ सागर की स्थिति बता रहे हैं वह क्षायोपशमिकसम्यक्त्व की नहीं बता रहे हैं किन्तु सम्यग्दर्शनसामान्य की ही बता रहे हैं, और सम्यग्दर्शन सामान्य की अपेक्षा वह अधिकता बन भी जाती है।

उसका कारण यह है कि एक बार अनुत्तरादिक में जाकर आये हुए जीव के मनुष्यभव म क्षायिकसम्यकत्व की उत्पत्ति की भी संभावना है। पुन: क्षायिकसम्यक्त्व को प्राप्तकर संयमी हो अनुत्तरादिक में उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हुआ। ऐसे जीव के साधिक छयासठ सागर काल बन जाता है, और क्षायोपशमिक से क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न कर लेने पर भी सम्यग्दर्शन सामान्य बराबर बना ही रहता है। इसकी पुष्टि जीवस्थान खंड की अन्तर प्ररूपणा के निम्न अवतरण से भी होती है :-

'उक्कस्सेण छावट्ठि सागरोवमाणि सादिरेयाणि ॥ तं जहा - एक्को अट्ठावीससंतकम्मिओ पुव्वकोडाउअमणुसेसु उववण्णो अट्ठवस्सिओ वेदगसम्मत्तमप्पमत्तगुणं च जुगवं पडिवण्णो १ तदो पमत्तापमत्तपरा वत्तसहस्सं कादूण २ उवसमसेढीपाओग्गविसोहीए विसुद्धो ३ अपुव्वो ४ अणियट्टी ५ सुहुमो ६ उवसंतो ७ पुणो वि सुहुमो ८ अणियट्टि ९ अपुव्वो १० होदूण हेट्ठा पडिय अंतरिदो देसूणपुव्वकोडिं संजममणुपाले दूण मदो तेत्तीससागरोवमाउट्ठिदीएसु देवेसु उववण्णो। तत्तो चुदो पुव्वकोडाउएसु मणुसेसु उववण्णो। खइयं पि ट्ठविय संजमं कादूण कालं गदो। तेत्तीससागरोवमाउट्ठिदीएसु देवसु उववण्णो। ततो चुदो पुव्वकोडाउएसु मणुसेसु उववण्णो संजमं पडिवण्णो। अंतो मुहुत्तावसेसे संसारे अपुव्वो जादो लद्धमंतरं ११ अणियट्टि १२ सुहुमो १३ उवसंतो १४ भुओ सुहुमो १५ अणियट्टि १६ अपुव्वो १७ अप्पमत्तो १८ पमत्तो जादो १९ अप्पमतो २० उवरि छ अंतोमुहुत्ता अट्ठहि वस्सेहि छव्वीसंतोमुहुत्तेहि य ऊणा पुव्वाकोडीहि सादिरेयाणि छावट्ठिसागरोवमाणि उक्कस्संतरं होदि'

यह विवरण उपशामक जीवों का एक जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तरकाल बताते हुए अन्तरप्ररूपणा में आया है। अर्थात् कोई एक जीवउपशमश्रेणी से उतरकर साधिक छयासठ सागर के बाद भी पुन: उपशमश्रेणीपर चढ सकता है। उक्त गद्य का भाव यह है :-

'मोहकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता रखनेवाला कोई एक जीव पूर्वकोटि की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ और आठ वर्ष का होकर वेदकसम्यक्त्व और अप्रमत्त गुणस्थान को युगपत् प्राप्त हुआ। पश्चात् प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानों में कई वार आ जा कर उपशमश्रेणी पर चढ़ा और उतरकर आठ वर्ष और दश अन्तर्मुहूर्त कम पूर्व कोटि वर्ष तक संयम को पाल के मरणकर तेतीस सागर की आयु वाला देव हुआ। वहां से च्युत होकर पूर्वकोटि की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। यहाँ पर क्षायिक सम्यक्त्व को भी धारण कर तथा संयमी होकर मरा और पुन: तेतीस सागरोपम की स्थिति वाले देवों में उत्पन्न

हुआ। वहां से च्युत हो पुन: पूर्व कोटी की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ और यथा संयम को धारक किया। जब उसके संसार में रहने का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रह गया, तब पहले उपशमश्रेणी पर चढ़ा, पीछे क्षपक श्रेणी पर चढ़कर निर्वाण को प्राप्त हुआ। इसप्रकार से उपशमश्रेणी वाले जीवका उत्कृष्ट अन्तर आठ वर्ष और छव्वीस अन्तर्मुहूर्तों से कम तीन पूर्वकोटियों से अधिक छयासठ सागरोपकाल प्रमाण होता है।

इस अन्तरकाल में रहते हुए भी वह बराबर सम्यग्दर्शन से युक्त बना हुआ है, भले ही प्रारम्भ में ३३ सागर तक क्षायोपशमिकसम्यक्त्वी और बाद में क्षायिकसम्यक्त्वी रहा हो। इस प्रकार सम्यकदर्शनसामान्य की दृष्टि से साधिक छयासठ सागर की स्थिति का कथन युक्तिसंगत ही है और उसमें उक्त दोनों मतों से कोई विरोध भी नहीं आता है।

खुद्दाबंध के कालानुयोगद्वार में भी सम्यक्त्वमार्गणा के अन्तर्गत सम्यक्त्वसामान्य की उत्कृष्ट स्थिति ६६ से सागर से कुछ अधिक दी है। यथा-

सम्मत्ताणुवादेण सम्मादिट्ठी केवचिरं कालादो होदि ? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं। उक्कस्सेण छावट्ठिसागरोवमाणि सादिरेयाणि। (धवला.अ.प, ५०७)

इस सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव तीनों करणों को करके प्रथमोपशमसम्यक्त्व को ग्रहण कर अन्तर्मुहूर्तकाल के बाद वेद सम्यक्त्व को प्राप्त होकर उसमें तीन पूर्व कोटियों से अधिक व्यालीस सागरोपम बिताकर बाद में क्षायिकसम्यक्त्व को धारणकर और चौबीस सागरोपम वाले देवों में उत्पन्न होकर पुन: पूर्वकोटि की आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले जीव के साधिक ६६ सागर काल सिद्ध हो जाता है।

किन्तु वेदसम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हुए पूरे ६६ सागर ही दिये हैं -

वेदगसम्माइट्ठी केवचिरं कालादो होंति ? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं। उक्कस्सेण छावट्ठिसागरोवमाणि। (धवला. अ.प. ५०७)

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि मनुष्यभव की आयु से कम देवायुवाले जीवों में उत्पन्न कराना चाहिए और इसी प्रकार से पूरे ६६ सागर काल वेदकसम्यकत्व की स्थिति पूरी करना चाहिए।

उक्त सारे कथन का भाव यह हुआ कि सम्यग्दर्शन सामान्य की अपेक्षा साधिक ६६ सागर, वेदकसम्यक्त्व की अपेक्षा पूरे ६६ सागर, और मंगलपर्याय की अपेक्षा देशोन ६६ सागर की स्थिति कही है, इसलिए उनमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है।

पृष्ठ ४२

११. शंका - णमो अरिहंताणमिस्यत्र अरिमोंहस्तस्य हननात् अरिहंता शेषघातिनामविनाभाविस्वात् अरिहंता इति प्रतिपादितम्। तदभीष्टमाचार्यै:। पुन:अस्वरसात् उच्चते वा 'रजो ज्ञानदृगावरणादय: मोहोऽपि रज:, तेपां हनानत् अरिहंता, इति लिखितम् तदत्र अरहंता इति पदं प्रतीयते। भवद्भिरपि श्रीमूलाचारदिग्रंथानां गाथाटिप्पणौ निम्ने लिखितं तत्र गाथायामपि अरहंत लिखितम्। आचार्याणामुभयममीष्टं प्रतीयते 'णमो अरिहंताणं, णमो अरहंताण ' लिखितम्। इत्यत्र लेखकविस्मृतिस्तु नास्ति वान्यत् प्रयोजनम् ?

(पं.झम्मनलालजी, पत्र ४.१.४१)

अर्थात् धवलाकार ने णमोकारमंत्र के प्रथम चरण के जो विविध अर्थ किये हैं उनसे अनुमान होता है कि आचार्य को अरिहंत और अरहंत दोनो पाठ अभीष्ट हैं। किन्तु आपने केवल 'अरिहंता' पाठ ही क्यों लिखा ?

समाधान - णमोकारमंत्र के पाठ में तो एक ही प्रकार का पाठ रखा जा सकता है। तो भी 'णमो अरिहंताणं पाठ रखने में यह विशेषता है कि उससे अरि+हंता और अर्हत् दोनों प्रकार के अर्थ लिये जा सकते हैं। प्राकृत व्याकरणानुसार अर्हत् शब्द के अरहंत, अरुहंत व अरिहंत तीनों प्रकार के पाठ हो सकते हैं। अतएव अरिहंत पाठ रखने से उक्त दोनों प्रकार के अर्थो की गुंजाइश रहती है। यह बात अरहंत पाठ रखने से नहीं रहती।

(देखो परिशिष्ट पृ.३८)

१२. शंका - 'अपरिवाडीए पुण सयलसुदपारगा संखेज्जसहस्सा'। और यदि परिपाटी क्रम की अपेक्षा न की जाय तो उस समय संख्यात हजार सकल श्रुत के धारी हुए। भगवान् महावीर के समय में तो गिने चुने ही श्रुतकेवली हुए हैं। संख्यात हजार सकल श्रुत के धारियों का पता तो शास्त्रों से नहीं लगता। अत: यह अंश विचारणीय प्रतीत होता है। (पृष्ठ ६५) (जैनसंदेश, १५ फरवरी १९४०)

समाधान - त्रिलोकप्रज्ञप्ति, हरिवंशपुराण आदि में भगवान् महावीर के तीर्थकाल में पूर्व धारी ३००, केवलज्ञानी ७००, विपुलमती मन:पर्ययज्ञानी ५००, शिक्षक ९९००, अवधि ज्ञानी १३००, वैकियिकऋद्धिधारी ९०० और वादी ४०० बतलाये हैं। इनमें यद्यपि पूर्वधारी केवल तीन सौ ही बतलाये हैं, पर केवलज्ञानी केवलज्ञानोत्पत्ति के पूर्व श्रेणी-आरोहणकाल में पूर्वविद् हो चुके हैं और विपुलमती मन:पर्यायज्ञानी जीव तद्भव-मोक्षगामी होने के कारण पूर्वविद् होंगे। अवधिज्ञानी आदि साधुओं में भी कुछ पूर्वविद् हों तो आश्चर्य नहीं।

पर अवधिज्ञान आदि की विशेषता के कारण उनकी गणना पूर्वविदों में न करके अवधिज्ञानी आदि में की गई हो। इस प्रकार परिपाटी क्रम के बिना भगवान् महावीर के तीर्थकाल में हजारों द्वादशांगधारी मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती है।

पृष्ठ ६८

१३. शंका - 'धदगारवपडिबद्धो' का अर्थ 'रसगारव के आधीन होकर' उचित नहीं जंचता। गारल (गारव ?) दोष का अर्थ मैंने किसी स्थान पर देखा है, किन्तु स्मरण नही आता। 'धद' का अर्थ रस भी समझ में नहीं आता। स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

(जैन संदेश, १५ फरवरी १९४०)

समाधान - 'गारव' पद का अर्थ गौरव या अभिमान होता है, जो तीन प्रकार का है -ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारव। यथा -

तओ गारवा पन्नत्ता। तं जहा - इड्ढिगारवे रसगारवे सातागारवे। स्था.३,४

ऋद्धियों के अभिमान को ऋषिगारव, दधि दुग्ध आदि रसों की प्राप्ति से जो अभिमान हो उसे रसगारव, तथा शिष्यों व भक्तों आदि द्वारा प्राप्त परिचर्या के सुख को सातगारव या सुखगारव कहते हैं।

उक्त वाक्य से हमारा अभिप्राय 'रसादि गारव के आधीन होकर' से है। मूलपाठका संस्कृत रूपान्तर हमारी दृष्टि में 'धृतगारवप्रतिबद्ध:' रहा है। प्रतियों में 'धद' के स्थान पर 'दध' पाठ भी पाया जाता है जिससे यदि दधिका अभिप्राय लिया जाय तो उपलक्षणा से रसगारव का अर्थ आ जाता है।

पृष्ठ १४८

१४. शंका - प्रतिभास: प्रमाणश्चाप्रमाणश्च' इत्यादि वाक्य में प्रतिभास का अनध्यवसायरूप अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता। मेरी समझ में उसका अर्थ वहां ज्ञान-सामान्य ही होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य बाह्यार्थ पर अवलम्बित है, अत: वह विसंवादी भी हो सकता है और अविसंवादी भी। अनध्यवसाय विसंवादी ज्ञान का भेद है। उसमें जिस तरह से विसंवादित्व और अविसंवादित्व की चर्चा दी गई है वह स्याद्वाद की दृष्टि के अनुकूल होते हुए भी चित्त को नहीं लगती।

(जैनसंदेश, १५ फरवरी १९४०)

समाधान - यद्यपि प्रतिभास का जो अर्थ किया गया है, वह स्वयं शंकाकार के

मत से भी सदोष नहीं है, तथापि यदि प्रतिभास का अर्थ ज्ञान सामान्य भी ले लिया जाय, तो भी कोई आपत्ति नहीं आती है। ऐसी अवस्था में अनुवाद पंक्ति १२ में 'और अनध्यवसारूप जो प्रतिभास है' के स्थान में 'और जो ज्ञान-सामान्य है' अर्थ करना चाहिए।

पृष्ठ १९६

१५. शंका - 'असर्वज्ञानां व्याख्यातृत्वाभावे आर्पसन्ततेर्विच्छेदस्यार्थशून्याया वचनपद्धतेरार्ष त्वाभावात्'। यहां 'विच्छेदस्य' के स्थान में 'विच्छेद: ' पाठ अच्छा जंचता है। उससे वाक्य रचना भी ठीक हो जाती है। (जैन संदेश, १२ फरवरी १९४०)

समाधान - प्राप्त प्रतियों जो पाठ समुपलब्ध हुआ उसकी यथाशक्ति संगति अनुवाद में बैठा ली गई है। मूडबिद्री से भी उस पाठ के स्थान पर हमें कोई पाठान्तर प्राप्त नहीं हुआ। तथापि 'विच्छेदस्य' के स्थान पर 'विच्छेद: स्यात् ' पाठ स्वीकार कर लेने से अर्थ और अधिक सीधा और सुगम हो जाता है। तदनुसार उक्त शंकाका अनुवाद इस प्रकार होगा -

शंका - असर्वज्ञ को व्याख्याता नहीं मानने पर आर्ष-परम्परा का विच्छेद हो जायगा, क्योंकि, अर्थशून्य वचन-रचना को आर्षपना प्राप्त नहीं हो सकता है।

पृष्ठ २१३

१६. शंका - संस्कृत (मूल) में जो 'णवक' शब्द आया है उसका अर्थ आपने कुछ न करके 'नवक ' ही लिखा है। सो इसका क्या अर्थ है ? (नानकचंदजी, पत्र १-४-४०)

समाधान - 'नवक' का अर्थ नवीन है, इसलिए सर्वत्र नवीन बंधनेवाले समयप्रबद्ध को नवक समयप्रबद्ध कह सकते हैं। पर प्रकृत में विवक्षित प्रकृति के उपशमन और क्षपण के द्विचरमावली और चरमावली अर्थात् अन्त की दो आवलियों के काल में बंधने वाले समयप्रबद्ध को ही नवकसमयप्रबद्ध कहा है। इस नवकसमयप्रबद्ध का उस विवक्षित प्रकृति के उपशमन या क्षपणकाल के भीतर उपशम या क्षय होता है। एक समय कम दो आवलीकाल में उपशम या क्षय कैसे होता है, इसके लिए प्रथमभाग पृष्ठ २१४ का विशेषार्थ देखिये। विशेष के लिए देखिये लब्धिसार, क्षपणासार।

पृष्ठ २५०

१७. शंका - शंका का प्रारंभ प्रथम पंक्ति में आये हुए 'तथापि' से जान पड़ता है, न कि उससे पूर्व के 'शरीरस्य स्थौल्यनिर्वर्तकं' इत्यादि से, क्योंकि उसी शास्त्रीय परिभाषा

के करने पर, जो उससे पहले नहीं की गई है, शंकाकार ने 'तथापि' से शंका का उत्थान किया है।

(जैन संदेश, १५ फरवरी १९४०)

समाधान यहां पर 'तथापि' से शंका मान लेने पर 'शरीरस्थ स्थौल्यनिर्वर्तकं कर्म बादर-मुच्यते' इसे आगमिक परिभाषा मानना पड़ेगी। परन्तु यह आगमिक परिभाषा नहीं है। धवलाकार ने स्वयं इसके पहले 'न बादरशब्दोऽयं स्थूलपर्याय:' इत्यादि रूप से इसका निषेध कर दियाहै। अत. शंकाकार के मुख से ही स्थूल और सूक्ष्म की परिभाषाओं का कहलाना ठीक है, ऐसा समझकर ही उन्हें शंका के साथ जोड़ा गया है।

पृष्ठ २९७

१८. शंका - 'ऋद्धेरुपर्यभावात्' पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है, उसके स्थान में 'ऋद्धेरुत्पस्यभावात्' पाठ ठीक प्रतीत होता है। (जैन संदेश, १५ फरवरी १९४०)

समाधान - उक्त पाठ के ग्रहण करने पर भी 'ऋद्धेरुपरि' इतने पद का अर्थ ऊपर से ही जोड़ना पड़ता है, और उस पाठक के लिए प्रतियों का आधार भी नहीं है। इसलिए हमने उपलब्ध पाठ को ज्यों का त्यों रख दिया था। हाल ही में धवला अ. पत्र २८५ पर एक अन्य प्रकरण सम्बंधी एक वाक्य मिला है, जो उक्त पाठ के संशोधन में अधिक सहायक है। वह इस प्रकार है - 'पमत्तेतेजा-हारं णत्थि, लद्धीए उवरि लद्धीणमभावा।' इसके अनुसार उक्त पाठ को इस प्रकार सुधारना चाहिए 'ऋद्धेरुपरि ऋद्धेरभावात्' अथवा 'ऋद्धेरुपर्यभावात्' तदनुसार अर्थ भी इस प्रकार होगा - 'क्योंकि, एक ऋद्धि के ऊपर दूसरी ऋद्धि का अभाव है'।

पृष्ठ ३००

१९. शंका - ६० वीं गाथा (सूत्र) का अर्थ करते हुए लिखा है कि 'तत्र कार्मणकाय-योग: स्यादिति'। जिसका अर्थ आपने 'इषुगति को छोड़कर शेष तीनों विग्रहगतियों में कार्मणकाययोग होता है, ऐसा किया है। सो यहां प्रश्न होता है कि इषुगति में कौनसा कार्ययोग होता है ?

(नानकचंद जी, पत्र १.४.४०)

समाधान - इषुगति में औदारिकमिश्रकाय और वैक्रियिकमिश्रकाय, ये दो योग होते हैं, क्योंकि उपपातक्षेत्र के प्रति होने वाली ऋजुगति में जीव आहारक ही होता है।

अनाहारक केवल विग्रह वाली गतियों में ही रहता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पाणिकुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिका, इन तीन गतियों के अन्तिम समय में भी जीव आहारक हो जाता है, क्योंकि, अन्तिम समय में उपपात क्षेत्र के प्रति होने वाली गति ऋजु ही रहती है। इस व्यवस्था को ध्यान में रखकर ही सर्वार्थसिद्धि में 'एकं द्वौ त्रीन्वानाहारक:' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि 'उपपादक्षेत्रं प्रति ऋज्व्यां गतौ आहारक:। इतरेषु त्रिषु समयेषु अनाहारक:।'

पृष्ठ ३३२

२०. **शंका** - सूत्र नं. ९३ में 'सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियम। पज्जत्तियाओ' पर आपने फुटनोट लगाकर "अत्र 'संजद' इति पाठशेष: प्रतिभाति" ऐसा लिखा है। सो लिखना कि यह आपने कहां से लिखा है, और क्या मनुष्यनी के छठा गुणस्थान होता है? आगे पृ. ३३३ पर शंका-समाधान में लिखा है कि स्त्रियों के संयतासंयत गुणस्थान होता है, सो पहले से विरोध आता है? (नानकचंद जी, पत्र १.४.४०)

"अत्र 'संजद' इति पाठ शेष: प्रतिभाति" यह सम्पादक महोदयों का संशोधन है। ऐसे संशोधन को मूलसूत्र का अर्थ करते समय नहीं जोड़ना उचित प्रतीत होता है।

(जैन गजट, ३ जुलाई १९४०)

समाधान - उक्त पाद-टिप्पण देने के निम्न कारण है -

(१) आलापाधिकार में मनुष्य स्त्रियों के आलाप बतलाते समय सभी (चौदह) गुणस्थानों में उनके आलाप बतलाये हैं।

(२) द्रव्यप्रमाणानुगम में मनुष्य स्त्रियों का प्रमाण कहते समय चौदहों गुणस्थानों की अपेक्षा से उनका प्रमाण कहा है। यथा -

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठीदव्वपमाणेण केवडिया, कोडाकोडाकोडीए उवरि कोडाकोडाकोडाकोडीए हेट्ठदो, छण्हं वग्गाणमुवरि सत्तण्हं वग्गाणं हेट्ठदो ॥ ४८ ॥ पृ. २६०, मणुसिणीसु सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति दव्वमाणेण केवडिया, संखेज्जा ॥ ४९ ॥ पृ. २६१.

(३) आगम में मनुष्य के सामान्य, पर्याप्त, योनिमती और अपर्याप्त, ये चार भेद किये हैं। वहां योनिमती मनुष्य से भाव स्त्रीवेदी मनुष्यों काही ग्रहण किया है। षट्खंडागम में उसी भेदके लिये मणुसिणी शब्द आया है, और उन्हीं भेदों के क्रम से वर्णन भी है।

(४) इससे ऊपर के सूत्र में मनुष्यनियों को मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में जो पर्याप्त और अपर्याप्त बतलाकर इसी सूत्र में जो शेष गुणस्थानों में केवल पर्याप्त ही बतलाया है, इससे भी भाववेद की ही मुख्यता प्रतीत होती है, क्योंकि गुणस्थानों में पर्याप्तत्व और अपर्याप्तत्व की व्यवस्था भाववेद की अपेक्षा से ही की गई है।

(५) यदि यहां उक्त पादटिप्पण को ग्रहण न किया जावे तो धवलाकार ने इसी सूत्र की व्याख्या में जो यह शंका उठाई है कि 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृति: सिद्धयेत्' अर्थात्, तो इसी आगम से द्रव्यस्त्रियों का मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा, ऐसी शंका के उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं रह जाता है।

इन उपर्युक्त हेतुओं से यही प्रतीत होता है कि यहां मनुष्यनियों का भाववेद की अपेक्षा ही प्रतिपादन किया गया है, द्रव्यवेद की अपेक्षा से नहीं। और इसीलिये उक्त ९३ सूत्र पर 'अत्र 'संजद' इति पाठशेष: प्रतिभाति' यह पादटिप्पण जोड़ा गया है।

२१. शंका - ९३ सूत्र के नीचे जो शंका दी है कि हुण्डावसर्पिणी कालसम्बन्धी स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ? उसका समाधान करते हुए लिखा है कि 'नहीं; क्योंकि, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं'। सो इसका खुलासा क्या है ? क्या सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रियों में उत्पन्न हो सकता है ? (नानकचंदजी, १.४.४०)

स्त्रियों को अपर्याप्तदशा में सम्यकत्व नहीं होता है, ऐसा गोम्मटसार आदि ग्रंथों का कथन है। तदनुसार धवला के द्वितीय खंड में पृ. ४३० पर भी लिखा है 'इत्थिवेदेण विणा ....' अपर्याप्त दशा में स्त्रीवेदी को सम्यक्त्व नहीं। किन्तु धवला के प्रथम खंड में पृ. ३३२ पर इसके विरुद्ध लिखा है - हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीपु सम्यग्दृष्टय: किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, उत्पद्यन्ते। तत्कुतोऽवसीयते ? अस्मा देवाषीत्। ऐसा विरोधी कथन क्यों है ?
(पं. अजितकुमार जी शास्त्री, पत्र २२.१०.४०)

समाधान - अन्य गति से आकर सम्यग्दृष्टि जीवन स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता है, यह तो सुनिश्चित है। इसलिए उक्त शंका-समाधान का अर्थ इस प्रकार लेना चाहिए -

शंका - हुंडावसर्पिणीकाल में स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान - नहीं; क्योंकि, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं।

यहां 'उत्पद्यन्ते' क्रिया का अर्थ 'होना' लेना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हुंडावसर्पिणीकाल के दोष से स्त्रियां सम्यग्दृष्टि न होवें, ऐसा शंकाकार के पूछने का अभिप्राय है। अथवा, इस शंका-समाधान का निम्न प्रकार से दूसरा भी अभिप्राय कदाचित् संभव हो सकता है -

शंका - हुंडावसर्पिणीकाल में जैसे अन्य अनेकों असंभव बातें संभव हो जाती हैं, उसी प्रकार से अन्य गति से आकर सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रियों में क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान - सूत्र नं. ९३ में कहा है कि 'असंयतसम्यग्दृष्टि जीव स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

इस अभिप्राय के लिये मूल पाठ में 'चेन्न' के पश्चात् का विराम हटा लेना चाहिये। तथापि आगे के संदर्भ से इस अभिप्राय का सामंजस्य यथोचित नहीं बैठता।

पृष्ठ ३४२

२२. शंका - धवलसिद्धान्तानुसार जो द्रव्य से पुरुष होवे और भावों में स्त्रीरूप हो उसे योनिमती कहते हैं। किन्तु गोम्मटसार जीवकांड गाथा १५०, १५६, ३८० से ज्ञात होता है कि द्रव्य में स्त्री हो, और परिणति में स्त्रीभाव हो उसको योनिमती कहते हैं। इस प्रकार की योनिमती के १४ गुणस्थान माने हैं। इसका समाधान कीजिए। (ब्र. लक्ष्मीचंद्रजी)

समाधान- योनिमती तिर्यच स्त्रियों के उदय प्रकृतियां बतलाते हुए कर्मकांड गाथा नं. २९६ में कहा है - पुंसंढणित्थिजुदा जोणिणीये' अर्थात् योनिमती के पूर्वोक्त ९७ प्रकृतियों में से पुरुषवेद और नपुंसक वेद को घटाकर स्त्री वेद के मिला देने पर ९६ प्रकृतियों का उदय होता है। मनुष्यनियों के विषय में कहा है - 'मणुसिणिए त्थीसहिदा' ॥ ३०१ ॥ अर्थात् पूर्वोक्त १०० प्रकृतियों में स्त्रीवेद के मिला देने पर और तीर्थंकर आदि ५ प्रकृतियां निकाल देने पर मनुष्यनियों ९६ प्रकृतियों का उदय होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां योनिमती उसे कहा है जिसके स्त्रीवेद का उदय हो। ऐसे जीव के द्रव्य वेद कोई भी रहेगा तो भी वह योनिमती कहा जायगा। अब रही योनिमती के १४ गुणस्थान की बात, सो कर्मभूमिज स्त्रियों के अन्त के तीन संहननों का ही उदय होता है, ऐसा गो. कर्मकांड की गाथा ३२ से प्रगट है। परन्तु शुक्लध्यान, क्षपकश्रेण्यारोहणादि कार्य प्रथम संहननवाले के ही होते हैं। इससे यहतो स्पष्ट है कि द्रव्यस्त्रियों के १४ गुणस्थान नहीं होते हैं। पर गोम्मटसार में स्त्रीवेदी के १४ गुणस्थान बतलाये अवश्य हैं, इसलिए वहां द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्रीवेदी का ही योनिमती पद से ग्रहण करना चाहिए। इस विषय में गोम्मटसार और धवल सिद्धान्त में कोई मतभेद नहीं है। द्रव्यस्त्री के आदि के पांच गुणस्थान ही होते हैं। गोम्मटसार की गाथा नं. १५० में भाव-वेद की मुख्यता से ही योनिमती का ग्रहण है। गाथा नं. १५६ और १५९ में टीकाकारने योनिमती से द्रव्यस्त्री का ग्रहण किया है, किन्तु वहां भी परिणति में स्त्री भाव हो, ऐसा नहीं कहा गया है।

टिप्पणियों के विषय में

२३. शंका - धवला के फुटनोटों में दिये गये भगवती आराधना की गाथाओं को मूलाराधना के नाम से उल्लेखित किया गया है, यह ठीक नहीं। जबकि ग्रन्थकार शिवार्य स्वयं उसे भगवती आराधना लिखते हैं, तब मूलाराधना नाम उचित प्रतीत नहीं होता। मूलाराधनादर्पण तो पं. आशाधरजी की टीका का नाम है, जिसे उन्होंने अन्य टीकाओं से व्यावृत्ति करने के लिए दिया था। यदि आपने किसी प्राचीन प्रति में ग्रन्थ का नाम मूलाराधना देखा हो तो कृपया लिखने का अनुग्रह कीजिए। (पं. परमानन्दजी शास्त्री, पत्र २९.१०.३९)

समाधान - टिप्पणियों के साथ जो ग्रंथ-नाम दिये गये हैं वे उन टिप्पणियों के आधारभूत प्रकाशित ग्रंथों के नाम हैं। शोलापुर से जो ग्रन्थ छपा है, उस पर ग्रन्थ का नाम 'मूलाराधना' दिया गया है। वही प्रति हमारी टिप्पणियों का आधार रही है। अतएव उसी का नामोल्लेख कर दिया गया है। ग्रन्थ के नामादि सम्बन्धी इतिहास में जाने के लिए वह उपयुक्त स्थल नहीं था।

२४. शंका - टिप्पणियों में अधिकांश तुलना श्वेताम्बर ग्रन्थों पर से की गई है। अच्छा होता यदि इस कार्य में दिगम्बर ग्रन्थों का और भी अधिकता के साथ उपयोग किया जाता। इससे तुलना-कार्य और भी अधिक प्रशस्त रूप से सम्पन्न होता।

(अनेकान्त ३, पृ. २०१) (जैनसंदेश, १५ फरवरी १९४०) (जैनगजट, ३ जुलाई १९४०)

समाधान - प्रथम भाग में कुछ टिप्पणियों की संख्या ८५५ है। उनमें से दिगम्बर ग्रन्थों से ६२२ और श्वेताम्बर ग्रन्थों से २२८ तथा अन्य ग्रन्थों से ५ टिप्पणियां ली गई हैं। यदि ग्रन्थ-संख्या की दृष्टि से भी देखा जाय तो टिप्पणी में उपयोग किये गये ग्रन्थों की संख्या ७७ है, जिनमें दिगम्बर ग्रंथ ४०, श्वेताम्बर ग्रन्थ ३०, अजैन ग्रन्थ १, व कोष, व्याकरण, अलंकारादि विषयक ग्रन्थों की संख्या ६ है। इससे स्पष्ट है कि अधिकांश तुलना किन ग्रन्थों पर से की गई है। जहां जिस ग्रन्थ की जो टिप्पणी उपयुक्त प्रतीत हुई वह ली गई है। इसमें ध्येय यही रखा गया है कि इस सिद्धान्त विषय से सम्बन्ध रखने वाले सभी साहित्य की ओर पाठकों की दृष्टि जा सके।

द्रव्यप्रमाणानुगम (पु. ३)

१. द्रव्यप्रमाणानुगम की उत्पत्ति

षट्खंडागम के प्रस्तुत भाग में जीवद्रव्य के प्रमाण का ज्ञान कराया गया है, अर्थात् यहां यह बतलाया गया है कि समस्त जीवराशि कितनी है, तथा उसमें भिन्न-भिन्न गुणस्थानों

व मार्गणा स्थानों में जीवों का प्रमाण क्या है। स्वभावत: प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस अत्यन्त अगाध विषय का वर्णन आचार्यों ने किस आधार पर किया है ? यह तो पूर्वभागों में बता ही आये हैं कि षट्खंडागम का बहुभाग विषय-ज्ञान महावीर भगवान की द्वादशांगवाणी के अंगभूत चौदह पूर्वों में से द्वितीय आग्रायणीय पूर्व के कर्मप्रकृति नामक एक अधिकार-विशेष में से लिया गया है। उसमें से भी द्रव्यप्रमाणानुगम की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है-

कर्म प्रकृतिपाहुड, अपरनाम वेदनाकृत्स्नपाहुड (वेयणकसिणपाहुड) के कृति, वेदना आदि चौबीस अधिकारों में छठवां अधिकार 'बंधन ' है, जिसमें बंध का वर्णन किया गया है। इस बंधन के चार अर्थाधिकार हैं, बंध, बंधक, बंधनीय और बंधविधान। इनमें से बंधक नामक द्वितीय अधिकार के एकजीव की अपेक्षा स्वामित्व, एकजीवकी अपेक्षा काल, आदि ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। इन ग्यारह अनुयोगद्वारों से पांचवां अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाण नामका है और वहीं से प्रकृत द्रव्य प्रमाणानुगम लिया गया है।

(देखा षट्खंडागम, प्रथम भाग, पृ.१२५-१२६)

यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब जीवट्ठाण की सत, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर और अलपबहुत्व, ये छह प्ररूपणायें बंधविधान के प्रकृतिस्थानबंध नामक अवान्तर अधिकार के आठ अनुयोगद्वारों में से ली गई, तब यह द्रव्यप्रमाणानुगम भी वहीं से क्यों नहीं लिया, क्योंकि, वहां भी तो यह अनुयोगद्वार यथास्थान पाया जाता था ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि प्रकृतिस्थानबंध के द्रव्यानुयोगद्वार में 'इस बंधस्थान के बंधक जीव इतने हैं ' ऐसा केवल सामान्य रूप से कथन किया गया है ; किन्तु मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों की अपेक्षा कथन नहीं किया गया। बंधक अधिकार में गुणस्थानों की अपेक्षा कथन किया गया है, वहां बतलाया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव इतने होते हैं, सासादनसम्यग्दृष्टि जीव इतने हैं; इत्यादि। अतएव जीवट्ठाण में द्रव्यप्रमाणानुगम के लिये बंधक अधिकार का यही द्रव्यप्रमाणानुगम उपयोगी सिद्ध हुआ।

(देखो षट्. प्रथम भाग, पृ. १२९)

प्रमाण का स्वरूप

द्रव्यप्रमाणानुगम की उत्पत्ति बतलाने में जो कुछ कहा गया है उसी से स्पष्ट है कि यह भिन्न भिन्न गुणस्थानों और मार्गणास्थानों में जीवों का प्रमाण बतलाया गया है। यह प्रमाण चार अपेक्षाओं से बतलाया गया है, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव।

१. द्रव्यप्रमाण – द्रव्यप्रमाण के तीन भेद हैं, संख्यात, असंख्यात और अनन्त। जो संख्यान पंचेन्द्रियों का विषय है वह संख्यात है। उससे ऊपर जो अवधिज्ञान का विषय है वह असंख्यात है और उससे ऊपर जो केवल ज्ञान का विषय है वह अनन्त है'।[१]

संख्यात के तीन भेद हैं, जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। गणना का आदि एक से माना जाता है। किन्तु एक केवल वस्तु की सत्ता को स्थापित करता है, भेद को सूचित नहीं करता। भेद की सूचना दो से प्रारंभ होती है, और इसीलिये दो को संख्यात का आदि माना है'[२]। इस प्रकार जघन्य संख्यात दो है। उत्कृष्ट संख्यात आगे बतलाये जाने वाले जघन्य परीतासंख्यात से एक कम होता है। तथा इन दोनों छोरों के बीच जितनी भी संख्यायें पाई जाती हैं वे सब मध्यम संख्यात के भेद हैं।

असंख्यात के तीन भेद हैं, परीत, युक्त और असंख्यात, और इन तीनों में से प्रत्येकपुन: जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता है। जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका, ऐसे चार कुंडों को द्वीपसमूद्रों की गणनानुसार सरसों से भर भरकर निकालने का प्रकार बतलाया गया है, जिसके लिये त्रिलोकसागर गाथा १८-३५ देखिये। आगे बतलाये जाने वाले जघन्य युक्तासंख्यात से एक कम करने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात का प्रमाण मिलता है, तथा जघन्य और उत्कृष्ट परीत के बीच की सब गणना मध्यम परीतासंख्यात के भेद रूप है।

जघन्य परीतासंख्यात के वर्गित -संवर्गित करने से अर्थात् उसराशि को उतने ही वार गुणित प्रगुणित करने से जघन्य युक्तासंख्यात का प्रमाण प्राप्त होता है। आगे बतलाये जाने वाले जघन्य असंख्याता संख्यात से एक कम उत्कृष्ट युक्तासंख्यात का प्रमाण है और इन दोनों के बीच की सब गणना मध्यम युक्तासंख्यात के भेद हैं।

जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग (य डु य) जघन्य असंख्यातासंख्यात कहलाता है, तथा आगे बतलाये जाने वाले जघन्य परीतानन्त से एक कम उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है, और इन दोनों के बीच की सब गणना मध्यम असंख्यातासंख्यात के भेद रूप है।

जघन्य असंख्यातासंख्यात को तीन बार बर्गित संवर्गित करने से जो राशि उत्पन्न होती है उसमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, एक जीव और लोकाकाश, इनके प्रदेश तथा अप्रतिष्ठित

---

१ जं संखाणं पंचिंदियविसओ तं संखेज्जं णाम। तवो उवरि जं ओहिणाणविसओ तमसंखेज्जं णाम। तद्दो उवरि जं केवलणाणस्सेव विसओ तमणंतं णाम। (पृ.२६७-२६८)

२ 'एयादीया गणणा, बीयादीया हवेज्ज संखेज्ज'। (त्रि.सा, १६) जघन्यसंख्यातं दिसंख्यं तस्य भेदग्राहकत्वेन एकस्य तदभावात्। (गो. जी. जी. प्र. टीका ११८ गा.)

और प्रतिष्ठित वनस्पति के प्रमाण को मिला कर उत्पन्न हुई राशि को पुन: तीन बार वर्गित संवर्गित करना चाहिये इस प्रकार प्राप्त हुई राशि में कल्पकाल के समय, स्थिति और अनुभागबंधाध्यवसाय स्थानों का प्रमाण तथा योग के उत्कृष्ट अविभागाप्रतिच्छेद मिलाकर उसे पुन: तीन बार वर्गित संवर्गित करने से जो राशि उत्पन्न होगी वह जघन्य परीतानन्त कही जाती है। आगे बतलाये जाने वाले जघन्ययुक्तानन्त से एक कम उत्कृष्ट परीतानन्त का प्रमाण है, तथा बीच के सब भेद मध्यम परीतानन्त हैं।

जघन्य परीतानन्त को वर्गित संवर्गित करने से जघन्य युक्तानन्त होता है। आगे बताये जाने वाले जघन्य अनन्तानन्त से एक कम उत्कृष्ट युक्तानन्त का प्रमाण है, तथा बीच के सब भेद मध्यम युक्तानन्त होते हैं।

जघन्य युक्तानन्तका वर्ग जघन्य अनन्तानन्त होता है। इस जघन्य अनन्तानन्त को तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसमें सिद्ध जीव, निगोदराशि, प्रत्येकवनस्पति, पुद्गलराशि, काल के समय और अलोकाकाश, ये छह राशियां मिलाकर उत्पन्न हुई राशि को पुन: तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य संबंधी अगुरुलघुगुण के अविभागप्रतिच्छेद मिला देना चाहिये। इस प्रकार उत्पन्न हुई राशि को पुन: तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसे केवल ज्ञान में से घटावें और फिर शेष केवल ज्ञान में उसे मिला देवे। इस प्रकार प्राप्त हुई राशि अर्थात् केवल ज्ञान प्रमाण उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तानन्त की मध्यवर्ती सब गणना मध्यम अनन्तानन्त कहलाती है। (देखोपृ. १९.२६ तथा त्रिलोकसार गाथा १८-५१)

२. **कालप्रमाण**- जीवों का परिमाण जानने के लिये दूसरा माप काल का लगाया जाता है, जिसके भेद प्रभेद इस प्रकार हैं - एक परमाणु को मंदगति से एक आकाशप्रदेश से दूसरे आकाशप्रदेश में जाने के लिये जो काल लगता है वह समय कहलाता है। यह काल का सबसे छोटा, अविभागी परिमाण है। असंख्यात् (अर्थात् जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण) समयों की एक आवलि होती है। संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास या प्राण होता है। सात उच्छ्वासों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, और साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली होती है। दो नाली का मुहूर्त और तीर्स मुहूर्त का एक अहोरात्र या दिवस होता है। वर्तमान कालगणना में अहोरात्र चौबीस घंटों का माना जाता है। इसके अनुसार एक मुहूर्त अड़तालीस मिनिट का, एक नाली चौबीस मिनिट की, एक लव ३७/३१/७७ सेकेंड का, एक स्तोत ५/१/५८/३५/९ सेकेंड का पड़ता है। आवलि और समय एक सेकेंड में बहुत सूक्ष्म काल प्रमाण होता है। (देखो पृ. ६५, तथा ति.प.४, २८४-२८८)

यह कालप्रमाण तालिका रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है -

अहोरात्र या दिवस	=	३०	मुहूर्त	=	२४ घंटे
मुहूर्त	=	२	नाली	=	४८ मिनिट
नाली	=	३८ ॥	लव	=	२४ मिनिट
लव	=	७	स्तोक	=	३७ $\frac{३१}{७७}$ सेकेंड
स्तोक	=	७	उच्छ्वास	=	०५ $\frac{१८५}{५३९}$ सेकेंड
उच्छ्वास या प्राण	=	संख्यात आवली		=	$\frac{२८८०}{३७७३}$ सेकेंड
आवलि	=	असंख्यात (ज.यु.असं.) समय			
समय	=	एक परमाणु के एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में मन्द गति से जाने का काल			

एक सामान्य स्वस्थ प्राणी के (मनुष्य के) एक बार श्वास लेने और निकालने में जितना समय लगता है उसे उच्छ्वास कहते हैं। एक मुहूर्त में इन उच्छ्वासों की संख्या ३७७३ कही गई है, जो उपर्युक्त प्रमाणानुसार इस प्रकार आती है - २ X ३८ $\frac{१}{२}$ ७ X ७ = ३७७३। एक अहोरात्र (२४ घंटे में) ३७७३ X ३० = १,१३,१९० उच्छ्वात होते हैं। इसका प्रमाण एक मिनट में $\frac{३७७७३}{४८}$ = ७८.६ आता है, जो आधुनिक मान्यता के अनुसार ही है।

एक मुहूर्त में एक समय कम करने पर भिन्न मुहूर्त होता है, तथा भिन्न मुहूर्त से एक समय कम काल से लगाकर एक आवलि व आवलि से कम काल को भी अन्तर्मुहूर्त कहा है। (पृ.६७) इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त सामान्यत: संख्यात आवलि प्रमाण ही होता है, किन्तु कहीं - कहीं अन्तर् शब्द को सामीप्यार्थक मानकर असंख्यात आवलि प्रमाण भी मान लिया गया है। (पृ.६९)

पंद्रह दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतुओं का अयन, दो अयन का वर्ष, पांच वर्ग का युग, चौरासी लाख वर्ष का पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांग का पूर्व, चौरासी पूर्व का नयुतांग, चौरासी लाख नयुतांग का नयुत, तथा इसी प्रकार चौरासी और चौरासी लाख गुणित क्रम से कुमुदांग और कुमुद, पद्मांग और पद्म, नलिनांग और नलिन, कमलांग और कमल, त्रुटितांग और त्रुटित, अटटांग और अटट, अममांग और

अमम, हाहांग और हाहा[१], हुहांग और हूहू, लतांग और लता, तथा महालतांग और महालता क्रमश: होते हैं। फिर चौरासी लाख गुणित क्रम से श्रीकल्प (या शिर:कंप), हस्तप्रहेलित (हस्तप्रहेलिका) और अचलप्र (चर्चिका) होते हैं। चौरासी को इकतीस बार परस्पर गुणा करने से अचलप्रकी वर्षो का प्रमाण आता है, जो नब्बे शून्यांकों का होता है [२]। यद्यपि इन नयुतांगादि काल-गणनाओं का उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथ भाग में नहीं आया, तथापि संख्यात गणना की मान्यता का कुछ बोध कराने के लिये यह सब यहां दी गई हैं। यब सब संख्यात (मध्यम) का ही प्रमाणहै। इससे कई गुणे ऊपर जाकर उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण होता है जो ऊपर गणना-माप में बता ही आये हैं।

आगे क्षेत्रप्रमाण में बतलाये जाने वाले एक प्रमाण योजन (अर्थात् दो हजार कोश) लम्बा चौड़ा और गहरा कुंड बनाकर उसे उत्तम भोगभूमि के सात दिन के भीतर उत्पन्न हुए मेढ़ेके रोमाग्रों (जिनके और खंड कैची से न हो सकें) से भर दे, और उनमें से एक एक रोमखंडों को सौ सौ वर्ष में निकाले। इस प्रकार उन समस्त रोमों को निकालने में जितना काल व्यतीत होगा, उसे व्यवहारपल्य कहते हैं। उक्त रोमों की कुल संख्या गणित से ४५ अंक प्रमाण आती है, और तदनुसार व्यवहारपल्य का प्रमाण शताब्दियां अथवा ४७ अंक प्रमाण वर्ष हुआ।

इस व्यवहार पल्य को असंख्यात कोटि वर्षो के समयों से गुणित करने पर उद्धारपल्य का प्रमाण आता है, जिससे द्वीप-समुद्रों की गणना की जाती है। इस उद्धारपल्य को असंख्यात कोटि वर्षो के समयों से गुणित करने पर अद्धापल्य का प्रमाण आता है। कर्म, भव, आयु और काय, इनकी स्थिति के प्रमाण में इसी अद्धापल्य का उपयोग होता है। जीवद्रव्य की प्रमाण-प्ररूपणा में भी यथावश्यक इसी पल्योंपम का उपयोग किया गया है। एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर जो लब्ध आता है उसे कोड़ाकोड़ी कहते हैं। दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योपमों का एक अद्धासागरोपम और दस कोड़ाकोड़ी अद्धासागरोपमों की एक उत्सर्पिणी और इतने ही काल की एक अवसर्पिणी होती है। इन दोनों को मिलाकर एक कल्पकाल होता है।

३. क्षेत्रप्रमाण - पुद्गल द्रव्य के उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग को परमाणु कहते हैं जिसका पुन: विभाग न हो सके, जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं और जो अप्रदेशी तथा अंत,

१. हाहांग और हाहा नामक संख्याओं के नाम राजवार्तिक व हरिवंशपुराण के कालविवरण में नहीं पाये जाते।

२. यह तिलोयपण्णत्ति के अनुसार है। किन्तु चौरासी को इकतीस वार परस्पर गुणित करने से (८४)^{३१} णद्धश्रीहरूस्रु के अनुसार केवल साठ (६०) अंकप्रमाण ही संख्या आती है।

आदि व मध्य रहित है। एक अविभागी परमाणु जितने आकाश को रोकता है उतने आकाश को एक क्षेत्र प्रदेश कहते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओं का एक अवसन्नासन्न स्कंध, आठ अवसन्नासन्न स्कंधों का एक सन्नासन्न स्कंध, आठ सन्नासन्न स्कंधों का एक रथरेणु, आठ रथरेणुओं का उत्तम भोगभूमिसंबंधी बालाग्र, आठ उत्तम भोगभूमिसंबंधी बालाग्रों का एक मध्यम भोगभूमिसंबंधी बालाग्र, आठ मध्यम भोगभूमि संबंधी बालाग्रों का एक जघन्य भोगभूमिसंबंधी बालाग्र, आठ जघन्य भोगभूमिसंबंधी बालाग्रों का एक कर्मभूमिसंबंधी बालाग्र, आठ कर्मभूमिसंबंधी बालाग्र, आठ जघन्य भोगभूमिसंबंधी बालाग्रों का एक कर्मभूमिसंबंधी बालाग्र, आठ कर्मभूमि संबंधी बालाग्रों की एक लिक्षा (लीख), आठ लिक्षाओं का एक जूं, आठ जूओं का एक यव (यव-मध्य), और आठ यवों का एक अंगुल होता है। अंगुल तीन प्रकार का है, उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। ऊपर जिस अंगुल का प्रमाण बतलाया है वह उत्सेधांगुल (सूचि) है। पांच सौ उत्सेधांगुलों का एक प्रमाणांगुल होता है, जो अपसर्पिणीकाल के प्रथम चक्रवर्ती के पाया जाता है वह उस उस काल में उस क्षेत्र का आत्मांगुल कहलाता है। मनुष्य, तिर्यच, देव और नारकियों के शरीर की अवगाहना तथा चतुर्निकाय देवों के निवास और नगर के प्रमाण के लिये उत्सेधांगुल ही ग्रहण किया जाता है। द्वीप, समुद्र, पर्वत, वेदी, नदी, कुंड, जगाती (कोट), वर्ष (क्षेत्र) का प्रमाण प्रमाणांगुल से किया जाता है, तथा भृंगार, कलश, दर्पण, वेणु, पटह, युग, शयन, शकट, हल, मूसल, शक्ति, तोमार, सिंहासन, बाण, नाली, अक्ष, चामर, दुंदुभि, पीठ, छत्र तथा मनुष्यों के निवास व नगर, उद्यानादि का प्रमाण आत्मांगुल से किया जाता है। छह अंगुलों का पाद, दो पादोंकी विहस्ति (बलिस्त), दो विहस्तियों का हाथ, दो हाथों का किष्कु, दो किष्कुओं का दंड, युग, धनु, मुसल व नाली, दो हजार दंडों का एक कोश तथा चार कोशों का एक योजन होता है।(ति.प.१, ९८-११६)

द्रव्य का अविभागी अंश	=	परमाणु	८ जूं	=	यव
अनन्तानन्त परमाणु	=	अवसन्नासन्न स्कंध	८ यव	=	उत्सेधांगुल
८ अवसन्नासन्नस्कंध	=	सन्नासन्न स्कंध	(५०० उत्सेधांगुल = प्रमाणांगुल)		
८ सन्नासन्नस्कंध	=	त्रुटरेणु	६ अंगुल	=	पाद
८ त्रुटरेणु	=	त्रुसरेणु	२ पाद	=	विहस्ति
८ त्रसरेणु	=	रथरेणु	२ विहस्ति	=	हाथ
८ रथरेणु	=	उत्तम भो.भू.बालाग्र	२ हाथ	=	किष्कु
८ उ.भो.भू.बा.	=	मध्यम भो.भू.बालाग्र	२ किष्कु	=	दंड, युग, धनु,

८ म.भो.भू.बा	=	जघन्य भो.भू.बालाग्र			मुसल यानाली
८ ज.भो.भू.बा.	=	कर्मभूमि बालाग्र	२००० दंड	=	कोस
८ क.भू.बालाग्र	=	लिक्षा	४ कोश	=	योजन
८ लिक्षा	=	जूं			

अंगुल के आगे के प्रमाण भी आत्म, उत्सेध व प्रमाण अंगुल के अनुसार तीन-तीन प्रकार के होते हैं। एक प्रमाण योजन अर्थात् दो हजार कोश लम्बे, चौड़े और गहरे कुंड के आश्रय से अद्धापल्य नामक प्रमाण निकालने का प्रकार ऊपर कालप्रमाण में बता आये हैं। उसी अद्धापल्य के अर्धच्छेद [1] प्रमाण अद्धापल्यों का परस्पर गुण करने पर सूच्यंगुल का प्रमाण आता है। सूच्यंगुल के वर्ग को प्रतरांगुल और घनको घनांगुल कहते हैं। अद्धापल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण, अथवा मतान्तर से अद्धापल्य के जितने अर्धच्छेद हों उसके असंख्यातवें भागप्रमाण, घनांगुलों के परस्पर गुणा करने पर जगश्रेणी का प्रमाण आता है। जगश्रेणी के सात में भाग प्रमाण रज्जु होताहै, जो तिर्यक् लोक के मध्य विस्तार प्रमाण है। जगश्रेणी के वर्ग को जगप्रतर तथा जगश्रेणी के घन को लोक कहते हैं।

ये सब अर्थात् पल्य, सागर, सूच्यंगुल प्रतरांगुल, घनांगुल, जगश्रेणी, जगप्रतर और लोक उपमा मान हैं, जिनका उपयोग यथावसर द्रव्य, क्षेत्र और काल, इन तीनों अपेक्षाओं से बतलाये गये प्रमाणों में किया गया है। उनका तात्पर्य द्रव्यप्रमाण में उतनी संख्या से, कालप्रमाण में उतने समयों से तथा क्षेत्रप्रमाण में उतने ही आकाशप्रदेशों से समझना चाहिये।

४. **भावप्रमाण** – पूर्वोक्त तीनों प्रकार के प्रमाणों के ज्ञान को ही भावप्रमाण कहा है। (देखो सूत्र ५)। इसका अभिप्राय यह है कि जहां जिस गुणस्थान व मार्गणास्थानका द्रव्य, काल व क्षेत्र की अपेक्षा से प्रमाण बतलाया गया है वहां उस प्रमाण के ज्ञान को ही भावप्रमाण समझ लेना चाहिये।

जीवराशि का गुणस्थानों की अपेक्षा प्रमाण-प्ररूपण

सर्व जीवराशि अनन्तानन्त है। उसका बहुभाग मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती है, तथा शेष एक भाग अन्य तेरह गुणस्थानों और सिद्धों में विभाजित है। इनमें भी मिथ्यादृष्टि और सिद्ध क्रम हानि रूप से अनन्तानन्त हैं। सासादनादि चार गुणस्थानों के जीव प्रत्येक राशि

१ एक राशि जितनी बार उत्तरोत्तर आधी आधी की जा सके, उतने उस राशि के अर्धच्छेद कहे जाते हैं।

में असंख्यात हैं, [1] तथा शेष प्रमत्तादि नौ गुणस्थानों के जीव संख्या हैं जिनकी कुल संख्या तीन कम नौ करोड़ निश्चित है। यद्यपि अनन्त को संख्या में उतारना भ्रामक हो सकता है, तथापि धवलाकार ने उक्त राशियों के क्रमिक प्रमाण का बोध कराने के लिये सर्व जीवराशि को१६ और इनमें से मिथ्यादृष्टिराशि को १३, तथा सासादनादि तेरह गुणस्थानों के जीवों और सिद्धों का संयुक्त प्रमाण ३ अंकों के द्वारा सूचित किया है। अब हम यदि इसी अंकसंदृष्टि के आधार से सभी गुणस्थानों व सिद्धों का अलग-अलग प्रमाण कल्पित करना चाहें, तो स्थूलत: इस प्रकार किया जा सकता है -

चौदह गुणस्थानों में जीवराशियों के प्रमाण की संदृष्टि

गुणस्थान	प्रमाण		अंकसंदृष्टि	
१. मिथ्यादृष्टि	अनन्त		१३	
२. सासादन	असंख्य		$\frac{७}{६४}$	
३. मिश्र	असंख्य		$\frac{१६}{६४}$	$\frac{१५}{१६}$
४. अविरतसम्यग्दृष्टि	असंख्य		$\frac{३२}{६४}$	
५. संयतासंयत	असंख्य		$\frac{५}{६४}$	
६. प्रमत्तविरत	५९३९८२०६			
७. अप्रमत्तविरत	२९६९९१०३			
८. अपूर्वकरण	८९७			
९. अनिवृत्तिकरण	८९७		$\frac{१}{१६}$	
१०. सूक्ष्मसाम्पराय	८९७			
११. उपशान्तमोह	२९९			
१२. क्षीणमोह	५९८	८९९९९९९७		
१३. सयोगिकेवली	८९८५०२			
१४. अयोगिकेवली	५९८			
सिद्ध	अनन्त			
सर्वजीवराशि	अनन्त		$\frac{२}{१६}$	

१ सासादन से संयतासंयत तक चारों गुणस्थानों के जीव समुच्चय व पृथक् पृथक रूप से भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं। इनमें भी असंयतसम्यग्दृष्टि सबसे अधिक, इनके असंख्यातवें भाग मिश्रगुणस्थानीय, इनके संख्यातवें भाग सासादनगुणस्थानीय तथा इनके असंख्यातवें भाग संयतासंयत जीव हैं।

चौदह गुणस्थानों की जीवराशियों केप्रमाण-प्ररूपण के पश्चात् उनका भागाभाग और फि र उनका अल्पबहुत्व बतलाया गया है। भागाभाग में सामान्य राशि को लेकर विभाग करते हुए सबसे अल्प राशि तक आये हैं। अल्पबहुत्व में सबसे छोटी राशि से प्रारंभ करके गुणा और योग (सातिरेक) करते हुए सबसे बड़ी राशि तक पहुंचे हैं। इस अल्पबहुत्वका तीन प्रकार से प्ररूपण किया गया है, स्वस्थान, परस्थान और सर्वपरस्थान। इस अल्पबहुत्वा का तीन प्रकार से प्ररूपण किया गया है, स्वस्थान, परस्थान और सर्वपरस्थान। स्वस्थान में केवल अवहारकाल और विवक्षित राशि का अल्प बहुत्व बतलाया गया है। परस्थान में अवहारकार, भाज्य तथा अन्य जो राशियां उनके प्रमाण के बीच में आ पड़ती हैं उनका और विवक्षित राशि का अल्पबहुत्व दिखाया गया है। तथा सर्वपरस्थान में उक्त राशियों के अतिरिक्त अन्य राशियों से भी अल्पबहुत्व दिखाया गया है।

(पृ.१०१-१२१)

जीवराशि का मार्गणास्थानों की अपेक्षा प्रमाण-प्ररूपण

गुणस्थानों में जीवप्रमाण-प्ररूपण के पश्चात् गति आदि चौदह मार्गणाओं व उनके भेद-प्रभेदों में जीवराशि का प्रमाण दिखलाया गया है और यहां प्रत्येक राशि का प्रमाण, भागाभाग और अल्प बहुत्व यथाक्रम से समझाया गया है। जिस प्रकार गुणस्थानों में प्रथम मिथ्यादृष्टि के प्रमाण समझाने में आचार्य ने गणित की अनेक प्रक्रियाओं का उपयोग करके दिखाया है, उसी प्रकार मार्गणास्थानों में प्रथम नरकगति के प्रमाणप्ररूपण में भी गणितविस्तार पाया जाता है। (देखो पृ.१२१-२०५)

उक्त प्रमाण-विवेचन बड़ी सूक्ष्मता और गहराई के साथ किया गया है, किन्तु आचार्य ने अंक-संदृष्टि कायम नहीं रखी, जिससे सामान्य पाठकों को विषय का बोध होना सुगम नहीं है। अतएव हम यहां पर उन सब मार्गणाओं की पृथक्-पृथक् प्रमाण-प्ररूपण अंकसंदृष्टियां आचार्य द्वारा कल्पित अंकों के आधार से बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिसका मुख्य उद्देश्य अनन्त, असंख्यात व संख्यात के भीतर राशियों के अल्पबहुत्व का कुछ स्थूल बोध कराना मात्र है। प्रत्येक मार्गणा के भीतर संपूर्ण जीवराशि का समुच्चय प्रमाण १६ ही रखा गया है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण करने पर एक दूसरी मार्गणाओं की अंकसंदृष्टियों में परस्पर वैषम्य दृष्टिगोचर हो सकता है। यह सर्वजीवराशि के लिये केवल १६ जैसी अल्प संख्या लेकर समस्त मार्गणाओं के प्रभेदों को उदाहृत करने में प्राय: अनिवार्य ही है। एक राशि दूसरी राशि से जितनी विशेष व जितनी गुणित अधिक है उसका अनुमान इन अंकों से

कदापि नहीं करना चाहिये यहां तो सिर्फ एक मार्गणा के भीतर राशियों की परस्पर अधिकता या अल्पता का ही क्रम जाना जा सकता है । यद्यपि गणित के सूक्ष्म विचार से यह वैषम्य भी संभवत: दूर किया जा सकता था, किन्तु उससे फिर संदृष्टियां सुगम होने की अपेक्षा दुर्गम सी हो जातीं, जिससे हमारा अभिप्राय पूर्ण नहीं होता। चूंकि यहां प्रत्येक मार्गणा के भीतर जीवराशियों का प्रमाण क्रम निर्दिष्ट करना अभीष्ट है, अतएव राशियां बहुत्व से अल्पत्व की ओर क्रम से रखी गई हैं, उनके रूढक्रम से नहीं। हां, सिद्ध सर्वत्र अन्त की ओर ही रखे हैं। कहीं-कहीं राशि के जो अंक दिये गये हैं उनसे कुछ अधिक प्रमाण विवक्षित है, क्योंकि, उसमें कोई अन्य अल्प राशि भी प्रविष्ट होती है। ऐसे स्थानों पर अंक के आगे धनका चिन्ह + बना दिया गया है, और अंक देकर टिप्पणी में उस विवक्षित राशि का उल्लेख कर दिया गया है। इस दिशा में यह प्रयत्न, जहां तक हमें ज्ञात है, प्रथम ही है, अत: सावधानी रखने पर भी कुछ त्रुटियां हो सकती हैं । यदि पाठकों के ध्यान में आवें, तो हमें अवश्य सूचित करें।

चौदह मार्गणास्थानों में जीवराशियों के प्रमाण की संदृष्टियां

(मार्गणा शीर्षक के आगे दी गई पृष्ठसंख्या उस मार्गणा के भागाभाग की सूचक है.।)

१ गति मार्गणा (पृ.२०७)

तिर्यंच	देव	नारक	मनुष्य	सिद्ध	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
$\frac{२००}{१६}$	$\frac{१२}{१६}$	$\frac{८}{१६}$	$\frac{४}{१६}$	$\frac{३२}{१६}$	१६

२ इन्द्रिय मार्गणा (पृ. ३११)

१ इंद्रिय	२ इंद्रिय	३ इंद्रिय	४ इंद्रिय	५ इंद्रिय	अतींद्रिय	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
$\frac{१८२}{१६}$	$\frac{१४}{१६}$	$\frac{१२}{१६}$	$\frac{१०}{१६}$	$\frac{६}{१६}$	$\frac{३२}{१६}$	१६

३ काय मार्गणा (पृ. ३४१)

वनस्पति	वायु	जल	पृथिवी	तेज	त्रस	अकाय	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
१७६/१६	१६/१६	१२/१६	१०/१६	६/१६	४/१६	३२/१६	१६

४ योग मार्गणा (पृ. ४१२)

काय.	वचन.	मन.	अयोगी	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असख्य	अनन्त	अनन्त
१८४/१६	२४/१६	१६/१६	३२/१६ + [१]	१६

५ वेद मार्गणा (पृ. ४२१)

नपुंसक	स्त्री	पुरुष	अवेद	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
२००/१६	२०/१६	४/१६	३२/१६ + [२]	१६

६ कषाय मार्गणा (पृ.४३१)

लोभ.	माया.	क्रोध.	मान.	अकषायी.	सर्वजीव
अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त
८२/१६	५०/१६	४८/१६	४४/१६	३२/१६ + [३]	१६

१ यहां यह सिद्धों का प्रमाण अयोगिकेवलियों से सातिरेक समझना चाहिये।

२ यहां सिद्धों का प्रमाण ९ वें गुणस्थान के अवेद भाग से ऊपर के समस्त गुणस्थानों की राशियों से सातिरेक है।

३ यहां सिद्धों का प्रमाण ११ वें और ऊपर के समस्त गुणस्थानों की राशियों से सातिरेक है।

७ ज्ञान मार्गणा (पृ. ४४२)

कुमति. कुश्रुत	विभंग.	मति. श्रुत.	अवधि.	मनःपर्यय.	केवल.	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	संख्यात	अनन्त	अनन्त
८३२/६४	३९/६४	२०/६४	४/६४	१/६४	१२८/६४ + [४]	१६

८ संयम मार्गणा (पृ.४५१)

असंयमी	देशसं.	सामा. छेदा.	यथाख्या.	परि.वि.	सू.सां.	सिद्ध	सर्वजीव
अनन्त	असंख्य	संख्यात	संख्यात	संख्यात	संख्यात	अनन्त	अनन्त
८३२/६४ + [५]	३०/६४	२०/६४	१०/६४	३/६४	१/६४	१२८/६४	१६

९ दर्शन मार्गणा (पृ. ४५७)

अचक्षु.	चक्षु.	अवधि.	केवल	सर्वजीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
८३२/६४	६०/६४	४/६४	१२८/६४ + [६]	१६

१० लेश्या मार्गणा (पृ. ४६६)

कृष्ण.	नील.	कापोत.	पति.	पद्म.	शुक्ल.	अलेश्य	सर्वजीव
अनन्त	अनन्त	अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
७६/१६	६७/१६	६५/१६	८/१६	६/१६	३/१६	३२/१६ + [७]	१६

४ यहां सिद्धों का प्रमाण १३ वें और १४ वें गुणस्थानों की राशियों से सातिरेक है।

५ यहां मिथ्यादृष्टियों का प्रमाण २ सरे, ३ सरे और ४ थे गुणस्थानों की राशियों से साधिक है।

६ यहां सिद्धों का प्रमाण १३ वें और १४ वें गुणस्थानों की राशियों से सातिरेक है।

७ यहां सिद्धों का प्रमाण १४ वें गुणस्थान राशि से सातिरेक है।

११ भव्य मार्गणा (पृ.४७३)

भव्य	अभव्य	सिद्ध	सर्वजीव
अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त
१९६/१६	२८/१६	३२/१६	१६

१२ सम्यक्त्व मार्गणा (पृ. ४७८)

मिथ्यादृ	क्षायोप.	क्षायिक.	औपश.	मिश्र	सासा.	सिद्ध	सर्वजीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
२०८/१६	६/१६	४/१६	३/१६	२/१६	१/१६	३२/१६	१६

१३ संज्ञा मार्गणा (पृ.४८३)

असंज्ञी	संज्ञी	अनुभय	सर्वजीव
अनन्त	असंख्य	अनन्त	अनन्त
१९९/१६	२५/१६	३२/१६ + [८]	१६

१४ आहार मार्गणा (पृ. ४८५)

आहारक	अनाहारक		सर्वजीव
	बंधक	अबंधक	
अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त
११	३	२	१६

८ यहां सिद्धों का प्रमाण १३ वें और १४ वें गुणस्थानों की राशियों से सातिरेक समझना चाहिये।

मार्गणास्थानों के भीतर बतलाई गई राशियों का बहुत्व से अल्पत्व की ओर क्रम जहां तक हमारे विचार में आया है, निम्न प्रकार है -

अनन्त	असंख्यात	संख्यात
१ असंयमी	२४ वायुकायिक	५६ सामयिकसंयत }
२ अचक्षुदर्शनी	२५ जल कायिक	५७ छेदोपस्थापना संयत }
३ कुमति }	२६ पृथिवी कायिक	५८ यथाख्यात संयत
४ कुश्रुत }	२७ तेज कायिक	५९ केवलज्ञानी }
५ मिथ्यादृष्टि	२८ त्रस कायिक	६० केवलदर्शनी }
६ नपुंसकवेदी	२९ वचन योगी	६१ परिहारसंयत
७ तिर्यंच	३० द्वीन्द्रिय	६२ मन:पर्ययज्ञानी
८ असंज्ञी	३१ त्रीन्द्रिय	६३ सूक्ष्मसांपरायसंयत
९ काययोगी	३२ त्रीन्द्रिय	
१० एकेन्द्रिय	३३ चक्षुदर्शनी	
११ वनस्पतिकायिक	३४ पंचेन्द्रिय	
१२ भव्य	३५ संज्ञी	
१३ आहारक	३६ मनोयोगी	
१४ अनाहारक	३७ विभंगज्ञानी	
१५ कृष्ण लेश्या	३८ देवगति	
१६ नील लेश्या	३९ स्त्रीवेदी	
१७ कापोत लेश्या	४० नारक	
१८ लोभ कषायी	४१ पुरुषवेदी	
१९ माया कषायी	४२ मनुष्य	
२० क्रोध कषायी	४३ पीतलेश्या	
२१ मान कषायी	४४ पद्मलेश्या	

अनन्त	असंख्यात	संख्यात
२२ सिद्ध	४५ मतिज्ञानी }	
२३ अभव्य	४६ श्रुतज्ञानी }	
	४७ अवधिज्ञानी }	
	४८ अवधिदर्शनी }	
	४९ शुल्कलेश्या	
	५० क्षायोपशमिकसम्यक्त्वी	
	५१ क्षायिक सम्यक्त्वी	
	५२ औपशमिक सम्यक्त्वी	
	५३ मिश्र	
	५४ सासादन	
	५५ देशसंयत	

अनन्त राशिया २३, असंख्यात राशिया २४ से ५५ =३२, संख्या ५६ से ६३ =८; कुल ६३

इस प्रमाण-प्ररूपण में स्वाभावत. पाठकों को मनुष्यों के प्रमाण के सम्बन्ध मे विशेष कौतुक हो सकता है। इस आगमानुसार सर्व मनुष्यों की संख्या असंख्यात है। उनमें गुणस्थानों की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाण से असंख्यात, कालप्रमाण से असंख्यातासंख्यात कल्पकाल (अवसर्पिणियों-उत्सर्पिणियों) के समय प्रमाण, तथा क्षेत्रप्रमाण से जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग अर्थात् असंख्यात करोड़ योजन क्षेत्रप्रदेश प्रमाण हैं। द्वितीयादि गुणस्थानवर्ती जीव संख्यात हैं, जो इस प्रकार हैं -

२ सासादन गुणस्थानवर्ती मनुष्य	५२ करोड़ (व मतान्तर से ५० करोड़)
३ मिश्र गुणस्थानवर्ती मनुष्य	१०४ करोड़ (पूर्वोक्त से दुगुने)
४ असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती मनुष्य	७०० करोड़
५ संयतासंयत गुणस्थानवर्ती मनुष्य	१३ करोड़

छठवें से चौदहवें गुणस्थानतक के मनुष्यों की संख्या वही है जो ऊपर गुणस्थान प्रमाण-प्ररूपण में दिखा आये हैं, क्योंकि, ये गुणस्थान केवल मनुष्यों के ही होते हैं, देवबादिकों के नहीं। अत: जिनका प्रमाण संख्यात है, ऐसे द्वितीय गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के कुल मनुष्यों का प्रमाण ५२ +१०४+ ७००+ १३ + तीन कम ९ करोड़, अर्थात् कुल तीन कम आठ सौ अठहत्तर करोड़ होता है। आज की संसार भर की मनुष्यगणना से यही प्रमाण चौगुने से भी अधिक हो जाता है। मिथ्यादृष्टियों को मिलाकर तो उसकी अधिकता बहुत ही बढ़ जाती है।जैन सिद्धान्तानुसार यह गणना ढाई द्वीपवर्ती विदेह आदि समस्त क्षेत्रों की है जिसमें पर्याप्तकों के अतिरिक्त निवृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य भी सम्मिलित हैं।

नाना क्षेत्रों में मनुष्य गणना का अल्पबहुत्व इस प्रकार बतलाया गया है - अन्तद्वीपों के मनुष्य सबसे थोड़े हैं। उनसे संख्यातगुणे उत्तरकुरु और देवकुरु के मनुष्य हैं। इसी प्रकार हरि और रम्यक, हैमवत और हैरण्यवत, भरत और ऐरावत, तथा विदेह इन क्षेत्रों का मनुष्यप्रमाण पूर्व पूर्व से क्रमश: संख्यातगुणा है।

एक बात और उल्लेखनीय है कि वर्तमान हुंडावसर्पिणी में पद्मप्रभ तीर्थंकरका ही शिष्य-परिवार सबसे अधिक हुआ, जिसकी संख्या तीन लाख तीस हजार ३,३०,००० थी।

उपर्युक्त चौदह गुणस्थानों और मार्गणा-स्थानों में जीवद्रव्य के प्रमाण का ज्ञान भगवान् भूतबलि आचार्य ने १९२ सूत्रों में कराया है, जिनका विषयक्रम इस प्रकार है -

प्रथम सूत्र में द्रव्यप्रमाणानुगम के ओघ और आदेश द्वारा निर्देश करने की सूचना देकर दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवे सूत्रों में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के जीवों का प्रमाण क्रमश: द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव की अपेक्षा बतलाया है। छठवें सूत्र में द्वितीय से पांचवें गुणस्थान तक के जीवों का तथा आगे के सातवें और आठवें सूत्र में क्रमश: छठे और सातवें गुणस्थानों का द्रव्य-प्रमाण बतलाया है। उसी प्रकार ९ वें और १० वें सूत्र में उपशामक तथा ११ वें व १२ वें में क्षपकों और अयोग-केवली जीवों का तथा १३ वें व १४ वें सूत्र में सयोगकेवलियों का प्रवेश और संचय-काल की अपेक्षा से प्रमाण कहा गया है। सूत्र नं. १५ से मार्गणास्थानों में प्रमाण का निर्देश प्रारंभ होता है, जिसके प्ररूपण की सूत्र-संख्या निम्न प्रकार है -

	सूत्र से	सूत्र तक	कुल सूत्र
नरकगति	१५	- २३	= ९
तिर्यचगति	२४	- ३९	= १६
मनुष्य गति	४०	- ५२	= १३
देवगति	५३	- ७३	= २१
इंद्रिय मार्गणा	७४	- ८६	= १३
काय कार्गणा	८७	- १०२	= १६
योग मार्गणा	१०३	- १२३	= २१
वेद मार्गणा	१२४	- १३४	= ११
कषाय मार्गणा	१३५	- १४०	= ६

	सूत्र से	सूत्र तक	कुल सूत्र
ज्ञान मार्गणा	१४१	- १४७	= ७
संयम मार्गणा	१४८	- १५४	= ७
दर्शन मार्गणा	१५५	- १६१	= ७
लेश्या मार्गणा	१६२	- १७१	= १०
भव्य मार्गणा	१७१	- १७३	= २
सम्यक्त्व मार्गणा	१७४	- १८४	= ११
संज्ञी मार्गणा	१८५	- १८९	= ५
आहार मार्गणा	१९०	- १९२	= ३

मतान्तर और उनका खंडन

धवलाकार ने अपने समय की उपलब्ध सैद्धान्तिक सम्पत्ति का जितना भरपूर उपयोग किया है वह ग्रंथ के अवलोकन से ही पूर्णत: ज्ञात हो सकता है। सूत्रों, व्याख्यानों और उपदेशों का जो साहित्य उनके सन्मुख उपस्थित था, उसका सिंहावलोकन के पूर्वभाग में की भूमिका में कराया जा चुका है। प्रस्तुत ग्रंथभाग में भी जहां प्रकृत विषय के विशेष प्रतिपादन के लिये धवलाकार को सूत्र, सूत्रयुक्ति व व्याख्यान का आधार नहीं मिला, वहां उन्होंने 'आचार्य परंपरागत जिनोपदेश' 'परम गुरूपदेश,' 'गुरूपदेश', व 'आचार्य-वचन' के आश्रय से प्रमाणप्ररूपण किया है [१]। किन्तु विशेष ध्यान देने योग्य कुछ ऐसे स्थल हैं, जहां आचार्य ने भिन्न-भिन्न मतों का स्पष्ट उल्लेख करके एकका खंडन और दूसरे का मंडन किया है। यहां हम इसी प्रकार के मत-मतान्तरों का कुछ परिचय कराते हैं -

(१) सूत्रकार ने प्रमाणप्ररूपणा में प्रथम द्रव्यप्रमाण, फिर कालप्रमाण और तत्पश्चात् क्षेत्रप्रमाण का निर्देश किया है। सामान्य क्रमानुसार क्षेत्र पहले और काल पश्चात् उल्लिखित किया जाता है, फिर यहां काल का क्षेत्र से पूर्व निर्देश क्यों किया गया ? इसका

---

१ परमगुरूवदेसादो जाणिज्जदे। ...... इदमेत्तियं होदि त्ति कधं णव्वदे ? आइरियपरंपरागदजिणोवदेसादो। ... अप्पमत्तसंजदाणं पमाणं गुरूवदेसादो वुच्चदे। (पृ.८९) और भी देखिये पृ. १११, ३५१, ४०६, ४७१.

समाधान धवलाकार करते हैं कि काल की अपेक्षा क्षेत्रप्रमाण सूक्ष्म होता है, अतएव 'जो स्थूल और अल्प वर्णनीय हो, उसका पहले व्याख्यान करना चाहिये।' इस नियम के अनुसार काल प्रमाण पूर्व और क्षेत्रप्रमाण उसके अनन्तर कहा गया है। इस स्थल पर उन्होंने सूक्ष्मत्व के संबंध में कुछ आचार्यो की एक भिन्न मान्यता का उल्लेख किया है कि जो बहुप्रदेशों से उपचित हो वही सूक्ष्म होता है, और इस मत की पुष्टि में, एक गाथा भी उद्धृत की है जिसका अर्थ है कि काल सूक्ष्म है, किन्तु क्षेत्र उससे भी सूक्ष्मतर है, क्योंकि, अंगुलके असंख्यातवें भाग में असंख्यात कल्प होते हैं। धवलाकार ने इस मत का निरसन इस प्रकार किया है कि यदि सूक्ष्मत्व की यही परिभाषा मान ली जाय तब तो द्रव्यप्रमाण का भी क्षेत्रप्रमाण के पश्चात् प्ररूपण करना चाहिये, क्योंकि, एक गाथानुसार, एक द्रव्यांगुल में अनन्त क्षेत्रांगुल होने से क्षेत्र सूक्ष्म और द्रव्य उससे सूक्ष्मतर होता है। (पृष्ठ २७-२८)

(२) तिर्यक् लोक के विस्तार और उसी संबध से रज्जू के प्रमाण के संबंध में भी दो मतों का उल्लेख और विवेचन किया गया है। ये दो भिन्न-भिन्न मत त्रिलोकप्रज्ञप्ति और परिकर्म के भिन्न भिन्न सूत्रों के आधार से उत्पन्न हुए ज्ञात होते हैं। रज्जू का प्रमाण लाने की प्रक्रिया में लम्बूद्वीप के अर्धच्छेदों को रूपाधिक करने का विधान परिकर्मसूत्र में किया गयाहै जिसका 'एक रूप' अर्थ करने से कुछ व्याख्यानकारों ने यह अर्थ निकाला है कि तिर्यक्लोकका विस्तार स्वयंभूरमण समुद्र की बाहिरी वेदिकापर समाप्त हो जाता है। किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्ति के आधार से धवलाकार का यह मत है कि स्वयंभूरमण समुद्र से बाहर असंख्यात द्वीपसागरों के विस्तार परिमाण योजन जाकर तिर्यक्लोक समाप्त होता है, अत: जम्बूद्वीप के अर्धच्छेदों में एक नहीं, किन्तु संख्यातरूप अधिक बढ़ाना चाहिये। इस मत का परिकर्मसूत्र से विरोध भी उन्होंने इस प्रकार दूर कर दिया है कि उस सूत्र में 'रूपाधिक' अर्थ 'एकरूप अधिक' नहीं, किन्तु 'अनेक रूप अधिक' करना चाहिये। एक रूपवाले व्याख्यान को उन्होंने सच्चा व्याख्यान नहीं, किन्तु व्याख्यानाभास कहा है। अपने मत की पुष्टि में धवलाकार ने यहां अनेक युक्तियां और सूत्रप्रमाण दिये हैं उनसे उनकी संग्राहक और समालोचनात्मक योग्यता का अच्छा परिचय मिलता है। इस विवेचन के अन्त में उन्होंने कहा है -

'एसो अत्थो जइवि पुव्वाइरियसंपदायविरुद्धो, तो वि संतजुत्तिबलेण अम्हेहि परूविदो। तदो इदमित्थं वेत्ति णेहासग्गहो कायव्वो, अइंदियत्थविसए छदुवेत्थविथप्पिवजुत्तीणं णिण्णायहेउत्ताणुववत्तीदो। तम्हा उवएसं लद्धूण विसेसणिण्णयो एत्थ कायव्वो'।

अर्थात् हमारा किया हुआ अर्थ यद्यपि पूर्वाचार्य-संप्रदाय के विरुद्ध पड़ता है, तो भी तंत्र युक्ति के बल से हमने उसका प्ररूपण किया। अत: 'यह इसी प्रकार है' ऐसा दुराग्रह नहीं करना चाहिये, क्योंकि, अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में अल्पज्ञों द्वारा विकल्पित युक्तियों के एक निश्चयरूप निर्णय के लिये हेतु नहीं पाया जाता। अत: उपदेश को प्राप्त कर विशेष निर्णय करने का प्रयत्न करना चाहिये। यहां ग्रंथकार की कैसी निष्पक्ष, निर्मल, शोधक बुद्धि और जिज्ञासा प्रकट हुई है ?

(३) एक मुहूर्त में कितने उच्छ्वास होते हैं, यह भी एक मतभेद का विषय हुआ है। एक मत है कि एक मुहूर्त में केवल ७२० प्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास होते हैं। किन्तु धवलाकार कहते हैं कि यह मत न तो एक स्वस्थ पुरुष के श्वासोच्छ्वासों की गणना करने से सिद्ध होता है, और न केवली द्वारा भाषित प्रमाणभूत अन्य सूत्र से इसका सामञ्जस्य बैठता है। उन्होनें एक प्राचीन गाथा उद्धृत करके बतलाया है कि एक मुहूर्त के उच्छ्वासों का ठीक प्रमाण ३७७३ है, और इसी प्रमाण द्वारा सूत्रोक्त एक दिवस में १,१३,१९० प्राणों का प्रमाण सिद्ध होता है। पूर्वोक्त मत से तो एक दिन में केवल २१,६०० प्राण होंगे, जो किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं।

(४) उपशामक जीवों की संख्या के विषय में उत्तरप्रतिपत्ति और दक्षिणप्रतिपत्ति, ऐसी दो भिन्न मान्यताएं दी हैं। प्रथम मतानुसार उक्त जीवों की संख्या ३०४, तथा द्वितीय मतानुसार उनसे ५ कम अर्थात् २९९ हैं। इस मतभेद की प्ररूपक दो गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं। उनमें से एक में एक तीसरा मत और स्फुटित होता है, जिसके अनुसार उपशामकों की संख्या पूरे ३०० है। इन मतभेदों पर धवलाकार ने कोई ऊहापोह नहीं किया, उन्होंने केवल मात्र उनका उल्लेख ही किया है।

(४) उपशामकजीवों की संख्या के विषय में उत्तरप्रतिपत्ति और दक्षिणप्रतिपत्ति, ऐसी दो भिन्न मान्यताएं दी हैं। प्रथम मतानुसार उक्त जीवों की संख्या ३०४, तथा द्वितीय मतानुसार उनसे ५ कम अर्थात् २९९ है। इस मतभेद की प्ररूपक दो गाथाएं भी उद्धृत की गई है। उनमें से एक में एक तीसरा मत और स्फुटित होता है, जिसके अनुसार उपशामकों की संख्या पूरे ३०० है। इन मतभेदों पर धवलाकार ने कोई ऊहापोह नहीं किया, उन्होंने केवल मात्र उनका उल्लेख ही किया है।

(५) इन्हीं उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तियों का मतभेद प्रमत्तसंयत राशि के प्रमाण-प्ररूपण में भी पाया जाता है। उत्तरप्रतिपत्ति के अनुसार प्रमत्तों का प्रमाण ४,६६,६६,६६४

है, किन्तु दक्षिणप्रतिपत्यनुसार यह प्रमाण ५,९३, ९८,२०६ आता है। इन मतभेदों के बीच निर्णय करने का भी धवलाकार ने यहां कोई प्रयत्न नहीं किया। किन्तु दक्षिणप्रतिपत्ति के प्रमाण में जो कुछ आचार्यो ने यह शंका उठाई है कि सब तीर्थकरों में सबसे बड़ा शिष्यपरिवार पद्मप्रभस्वामी का ही था, किन्तु वह परिवार भी मात्र ३,३०,००० ही था। तब फिर जो सर्व संयतों की पूरी संख्या ८९९९९९९७ एक प्राचीन गाथा में बतलाई है, वह कैसे सिद्ध हो सकती है ? इसका परिहार धवलाकार ने यह किया है कि इस हुंडावसर्पिणी कालवर्ती तीर्थकरों के साथ भले ही संयतों का उक्त प्रमाण पूर्ण न होता हो, किन्तु अन्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों में तो तीर्थकरों का शिष्य-परिवार बड़ा पाया जाता है, अत: वहां उक्त प्रमाण पूरा हो सकता है। इसलिये उक्त प्रमाण में कोई दूषण नहीं है। (पृ. ९८-९९)

(६) पंचेन्द्रिय तिर्यच योनिमती मिथ्यादृष्टियों का अवहारकाल देवों के अवहारकाल के आश्रय से बतलाया गया है। किन्तु धवलाकार का मत है कि कितने ही आचार्यो का उक्त व्याख्यान घटित नहीं होता है, क्योंकि, वानव्यन्तर देवों का अवहारकाल तीन सौ योजनों के अंगुलों का वर्गमात्र बतलाया गया है। यहां कोई यह शंका कर सकता है कि पंचेन्द्रिय तिर्यच योनिमती मिथ्यादृष्टि संबंधी अवहारकाल ही गलत है और वानव्यन्तर देवों का अवहारकाल ठीक है, यह कैसे जाना जाता है ? यहां धवलाकार कहते हैं कि हमारा कोई एकान्त आग्रह नहीं है, किन्तु जब दो बातों में विरोध है तो उनमें से कोई एक तो असत्य होना ही चाहिये। किन्तु इतना समाधानपूर्वक कह चुकने पर धवलाकार को अपनी निर्णायक बुद्धि की प्रेरणा हुई और वे कह उठे - 'अहवा दोण्णि वि वक्खाणाणि असच्चाणि, एसा अम्हाणं पइज्जा।' अर्थात् उक्त दोनों ही व्याख्यान असत्यहैं, यह हम प्रतिज्ञापूर्वक कह सकते हैं। इसके आगे धवलाकार ने खुद्दाबंध सूत्र के आधार से उक्त दोनों अवहारकालों को असिद्ध करके उनमें यथोचित प्रमाण-प्रवेश करने का उपदेश दिया है। (पृ. २३१-२३२)

(७) सासादनसम्यग्दृष्टियों का प्रमाण एक प्राचीन गाथा में ५२ करोड़ और दूसरी गाथा में ५० करोड़ पाया जाता है। धवलाकार ने प्रथम मत ही ग्रहण करने का आदेश किया है, क्योंकि, वह प्रमाण आचार्य-परंपरागत है। (पृ.२५२)

(८) सूत्र ४५ में मनुष्य पर्याप्त मिथ्यादृष्टि राशि का प्रमाण बतलाया है 'कोड़ाकोड़ाकोड़ी से ऊपर और 'कोड़ाकोड़ाकोड़ी से नीचे' अर्थात् छठवें वर्ग के ऊपर और सातवें वर्ग के नीचे। किन्तु एक दूसरा मत है कि मनुष्य-पर्याप्तराशि बादाल वर्ग के (४२९४९६७२९६) अर्थात् द्विरूप वर्गधारा के पांचवे वर्गस्थान के घनप्रमाण है। धवलाकार

ने इस दूसरे मत का परिहार किया है और उसके दो कारण दिये हैं। एक तो बादाल का घन २९ अंक प्रमाण होकर भी कोड़ाकोड़ा-कोड़ाकोड़ी के ऊपर निकल जाता है, जिससे सूत्रोक्त अंक-सीमाओं का सर्वथा उल्लंघन हो जाता है। दूसरे यदि ढाई द्वीप के उस भाग का क्षेत्रफल निकाला जाय जहाँ मनुष्य विशेषता से पाये जाते हैं, तो उसका क्षेत्रफल केवल २५ अंक प्रमाण प्रतरांगुलों में आता है, जिससे उस २९ अंक प्रमाण मनुष्य राशि वहां निवास असंभव सिद्ध होता है। यही नहीं, सर्वार्थसिद्धि के देवों का प्रमाण मनुष्य पर्याप्तराशि से संख्यातगुणा कहा गया है जबकि सर्वार्थसिद्धि विमान का प्रमाण केवल जम्बूद्वीप के बराबर है। अतएव उक्त प्रमाण से इन देवों की अवगाहना भी उनकी निश्चित निवास-भूमि में असंभव हो जायगी। अत: उक्त राशि का प्रमाण सूत्रोक्त अर्थात् कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ी नीचे ही मानना उचित है। (पृ.२५३-२५८)

(९) आहारमिश्रकाययोगियों का प्रमाण आचार्य-परम्परागत उपदेश से २७ माना गया है, किन्तु सूत्र नं. १२० में उनका प्रमाण 'संख्यात' शब्द के द्वारा सूचित किया गया है। इस पर से धवलाकार का मत है कि उक्त राशि का प्रमाण निश्चित २७ नहीं मानना चाहिये, किन्तु मध्यम संख्यात की अन्य कोई संख्या होना चाहिये, जिसे जिनेन्द्र भगवान् ही जानते हैं। यद्यपि २७ भी मध्यम संख्यात का ही एक भेद है और इसलिये उसके भी उक्त प्रमाण प्ररूपण में ग्रहण करने की संभावना हो सकती है, किन्तु इसके विरुद्ध धवलाकारने दो हेतु दिये हैं। एक तो सूत्र में केवल 'संख्यात' शब्द द्वारा ही वह प्रमाण प्रकट किया गया है, किसी निश्चित संख्या द्वारा नहीं। दूसरे मिश्रकाययोगियों से आहारकाययोगी संख्यातगुणे कहे गये हैं। दोनों विकल्पों में यहां सामंजस्य बन नहीं सकता, क्योंकि, सर्व अपर्याप्तकाल से जघन्य पर्याप्तकाल भी संख्यातगुणा माना गया है। (पृ ४०२)

गणित की विशेषता

धवलाकार ने अपने इस ग्रंथभाग के आदि में ही मंगलाचरण गाथा में कहा है कि- 'णमिऊण जिणं भणिमो दव्वणिओगं गणिसारं ' अर्थात् जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके हम द्रव्यप्रमाणानुयोग का कथन करते हैं, जिसका सार भाग गणितशास्त्र से सम्बंध रखता है, या जो गणित-शास्त्र-प्रधान है। यह प्रतिज्ञा इस ग्रंथ में पूर्णरूप से निवाही गई है। धवलाकार ने इस ग्रंथभाग में गणितज्ञान का खूब उपयोग किया है, जिससे तत्कालीन गणितशास्त्र की अवस्था का हमें बहुत अच्छा परिचय मिल जाता है। धवलाकार से

शताब्दियों पूर्व रचे गये भूतबलि आचार्य के सूत्रों में जो गणितशास्त्रसंबंधी उल्लेख हैं, वे भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनमें एक से लगाकर शत, सहस्र, शतसहस्र (लक्ष), कोटि, कोटाकोटाकोटी व कोटाकोटाकोटाकोटी तक की गणना, व उससे भी ऊपर संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त का कथन, गणित की मूल प्रक्रियाओं जैसे सातिरेक, हीन, गुण और अवहार या प्रतिभाग अर्थात् जोड़, बाकी, गुणा, भाग, वर्ग और वर्गमूल, तथा प्रथम, द्वितीय आदि सातवें तक वर्ग व वर्गमूल, घन, अन्योन्याभ्यास आदि का खूब उपयोग किया गया है। क्षेत्र और कालसंबंधी विशेष गणना-मानों जैसे अंगुल, योजन, श्रेणी, जगप्रतर व लोक तथा आवली, अन्तर्मुहूर्त, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी, पल्योपम, तथा विष्कंभ विष्कंभसूची (पंक्तिरूप क्षेत्रआयाम), इन सबका भी सूत्रों में खूब उपयोग पाया जाता है, जिनके स्वरूप पर ध्यान देने से आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व के एतद्देशीय गणितज्ञान का अच्छा दिग्दर्शन मिल जाता है।

धवलाकार की रचना में असंख्यात, असंख्यातासंख्यात तथा अनन्त और अनन्तानन्त के आन्तरिक प्रभेदों और तारतम्यों का और भी सूक्ष्म निदर्शन किया गया है, जिसका स्वरूप हम ऊपर दिखा आये हैं। इस विषय में धवलाकार द्वारा अर्धच्छेद और वर्गशालाकाओं के परस्पर संबंध का तथा वर्गित-संवर्गित राशि का जो परिचय दिया गया है वह गणित की विशेष उपयोगी वस्तु है। (देखो भा.३ पृ. १८-२६)। सर्व जीवराशि का उसके अन्तर्गत राशियों में भाग-प्रविभाग दिखाने के लिये धवलाकार ने ध्रुवराशि (भागाहार विशेष) स्थापित करने की क्रिया और उससे भाग देने की प्रक्रियाएं जैसे खंडित, भाजित, विरलित और अपहृत विस्तार से दी हैं, जो गणितज्ञों को रुचिकर सिद्ध होंगी। (देखो भा.३ पृ. ४१)। धुवराशि से भाग देनेपर विवक्षित मिथ्यादृष्टिराशि क्यों आती है, इसका कारणसमझाने में भाज्य और भाजक के हानि-वृद्धिक्रम का जो तारतम्य और संबंध बतलाया गया है और क्षेत्र-गणित से समझाया गया है, वह गणितशास्त्र का एक बहुमूल्य भाग है। (देखो भा.३ पृ. ४२ आदि) अवतरण गाथा २३ से ३२ तक की नौ गाथाओं में इसी संबंध के बड़े सुंदर नियमगुरुरूप में उद्धृत किये गये हैं और उनका उपयोग विवक्षित राशियां लाने के लिये यथासंभव और यथास्थान भाग के अनेक विकल्पों में करके बतलाया गया है। अधस्तन विकल्प में निश्चित भाज्य और भाजक से नीचे की संख्या लेकर वही भजनफल उत्पन्न करके बतलाया गया है, और वह भी द्विरूप अर्थात् वर्गधारा में, अष्टरूप अर्थात् घनधारा में और घनाघनधारा में। अर्थात् निश्चित संख्या का प्रथम, द्वितीय व तृतीय

वर्गमूल लेकर भाजक को कम कर वही भजनफल उत्पन्न कर दिखाया है। उपरिम विकल्प में निश्चित भाज्य व भाजक से ऊपर की अर्थात् वर्ग, घन व घनाघनरूप राशियां ग्रहण करके वही भजनफल उत्पन्न किया गया है। इस प्रक्रिया में धवलाकार ने तीन और विकल्प कर दिखाये हैं, गृहीत, गृहीतगृहीत, और गृहीतगुणकार। गृहीत तो सीधा है, अर्थात् उसमें ऊपर के भाज्य और भाजक के द्वारा निश्चित भजनफल उत्पन्न किया गया है। किन्तु गृहीतगृहीत में निश्चित भजनफल भी एक बड़ी राशि का भाजक बन जाता है और उसके लब्धका उसी भाजक में भाग देने से निश्चित भजनफल प्राप्त होता है। गृहीतगुणकार में निश्चित भजनफल का विवक्षित राशि में भाग देनेसे जो लब्ध आया उसका उसी भाजक राशि से गुण करके उत्पन्न हुए भजनफल का विवक्षित राशि के वर्ग में भाग देकर निश्चित भजनफल प्राप्त किया गया है। ये सब विकल्प वर्गात्मक राशियों में ही घटित होते हैं। इनका पूर्ण स्वरूप पृष्ठ ५२ से ८७ तक देखिये। प्रमाणराशि, फलराशि और इच्छाराशि, इनकी त्रैराशिक क्रिया का उपयोग जगह-जगह दृष्टिगोचर होता है। (भा.३ पृ. ९५, १००)

मनुष्यगति-प्रमाण के प्ररूपण में राशि दो प्रकार की बतलाई है ओज और युग्म। इनमें से प्रत्येक के पुन: दो विभाग किये गये हैं। किसी राशि में चार का भाग देने से यदि तीन शेष रहें तो वह तेजोज राशि, यदिएक शेष रहे तो कलिओज राशि, यदि चार शेष रहें (अर्थात् कुछ शेष न रहे) तो कृतयुग्म राशि तथा यदि दो शेष रहें तो बादरयुग्म राशि कहलाती है। इनमें से मनुष्य राशि तेजोज कही गई है। (भा.३ पृ. २४९)

मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रतियों के मिलान का निष्कर्ष

यह तो पाठकों को विदित ही है कि इन सिद्धान्तग्रंथों की प्राचीन प्रतियां केवल एकमात्र मूड़बिद्री क्षेत्र के सिद्धान्तमन्दिर में प्रतिष्ठित हैं। पूर्व प्रकाशित दो भागों के लिये हमें इन प्राचीन प्रतियों के पाठ-मिलान का सुअवसर प्राप्त नहीं हो सका था। किन्तु हर्ष की बात है कि अब हमें वहां के भट्टारक स्वामी और पंचों का सहयोग प्राप्त हो गया है, जिसके फलस्वरूप ताड़पत्रीय प्रतियों से मिलाया जा चुका है और उससे जो पाठभेद हमें प्राप्त हुए हैं उन पर खूब विचार कर हमने उन्हें चार श्रेणियों में विभाजित किया है -

(अ) वे पाठभेद जो अर्थ व पाठकी दृष्टि से अधिक शुद्ध प्रतीत हुए।

(देखो भा.३ परिशिष्ट पृ.२०)

(ब) वे पाठभेद जो शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से दोनों ही शुद्ध हैं, अतएव जो संभवत: प्राचीन प्रतियों के पाठभेदों से ही आये हैं। (देखो भा.३ परिशिष्ट पृ. २९ आदि)

(स) वे पाठभेद जो प्राकृत में उच्चारण भेद से उत्पन्न होते हैं और विकल्प रूप से पाये जाते हैं। (देखो भा.३ परिशिष्ट पृ. ३२ आदि)

(ड) वे पाठभेद जो अर्थ या शब्द की दृष्टि से अशुद्ध हैं और इस कारण ग्रहण नहीं किये जा सकते। (देखो भा.३ परिशिष्ट पृ.३२ आदि)

इस श्रेणी-विभाग के अनुसार मूड़बिद्री की प्रतियों का पाठ-मिलान इस भाग के साथ प्रकाशित हो रहा है। संक्षेप में यह पाठभेद - परिस्थिति इसप्रकार आती है -

(अ) श्रेणी के पाठभेद भाग १ में ६२, भाग २ में २५ और भाग ३ में ६२, इस प्रकार कुल १४९ पाये गये हैं। भेद प्राय: बहुत थोड़ा है, और अर्थ की दृष्टि से तो अत्यन्त अल्प। यह इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है कि इन पाठभेदों के कारण अनुवाद में किंचित् भी परिवर्तन करने की आवश्यकता केवल भाग १ में १९, भाग २ में १० और भाग ३ में ३२, इस प्रकार कुल ६१ स्थलों पर पड़ी है। शेष ८८ स्थलों का पाठपरिवर्तन वांछनीय होने पर भी उससे हमारे किये हुए भाषानुवाद में कोई परिवर्तन आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ।

(ब) श्रेणी के पाठ भेदभाग १ में ३०, भाग २ में कोईनहीं, और भाग ३ में ३२, इस प्रकार कुल ६२ पाये गये, और इसमें भी किंचित् अनुवाद-परिवर्तन केवल प्रथम भाग में १९ स्थलों पर आवश्यक समझा गया है ।

(स) श्रेणी के पाठभेद भाग १ से ६०, भाग २ में ३० और भाग ३ में ६७, इस प्रकार कुल १५७ पाये गये हैं। इनसे अर्थ में कोई भेद की तो संभावना ही नहीं है। इनमें वे अधिकांश पाठ तो ऐसे हैं जो उपलब्ध प्रतियों में भी पाये जाते थे, किन्तु हमने प्राकृत व्याकरणके नियमों को ध्यान में रखकर परिवर्तित किये हैं।

(देखिये 'पाठ संशोधन के नियम,' षट्खं. भाग१, प्रस्तावना पृ.१०-१३

(ड) श्रेणी के पाठभेद भाग १ में ३८, भाग २ में १५, भाग ३ में ६७, इस प्रका कुल १२० पाये गये। इनमें के अधिकांश तो स्पष्ट: अशुद्ध हैं, और जहांउनके शुद्ध होने की संभावना हो सकती है, वहां टिप्पणी देकर स्पष्ट कर दिया गया है कि वे पाठ प्राकृत में क्य नहीं ग्राह्य हो सकते।

इस प्रकार कुल पाठभेद १४९+६२+१५७+१२०=४८८ आये हैं। संक्षेप में यह परिस्थिति इस प्रकार है -

मूल पाठ में भेद						अनुवाद परिवर्तन		
भाग	अ	ब	स	ड	कुल	अ	ब	कुल
१	६२	३०	६०	३८	१९०	१९	१७	३६
२	२५	x	३०	१५	७०	१०	x	१०
३	६२	३२	६७	६७	२२८	३२	x	३२
कुल	१४९	६२	१५७	१२०	४८८	६१	१७	७८

मूल पाठ के संशोधन में अर्थ और शैली की दृष्टि से कुछ स्थानों पर हमें पाठ स्खलित प्रतीत हुए थे। प्रतियों का आधार न होने से हमने वे पाठ कोष्ठकों में भीतर रखे हैं, जिससे पाठक सुलभता से हमारे जोड़े हुए पाठ को अलग पहिचान सकें। गत द्वितीय भाग में भी इसी प्रकार पाठ कहीं कहीं जोड़ना पड़े थे। किन्तु वह आलाप प्रकरण होने से स्खलन शीघ्र दृष्टि में आ जाते हैं। पर इसभाग का विषय बहुत कुछ सूक्ष्म है, अतएव यहां के स्खलन बड़े ही गंभीर विचार के पश्चात् ध्यान में आसके और उनका पाथ धवलाकार की शैली में ही बड़े विचार के साथ रखना पड़ा। ऐसे पाठ प्रस्तुत भाग में १९ हैं। हमें यह प्रकट करते हुए हर्ष होता है कि मुड़बिद्री के मिलान से इन पाठों में के १२ पाठ जैसे हमने रखे हैं वैसे ही शब्दश: ताड़पत्रीय प्रतियों में पाये गये [१]। एक पाठ में हमारे रखे हुए 'खवगा' के स्थान पर 'बंधगा' पाठ आया है, किन्तु विचार करने पर यह अशुद्ध प्रतीत होता है, वहां 'खवगा' ही चाहिये [२]। शेष ६ पाठ मूडबिद्रीकी की प्रति में नहीं पाये गये। किन्तु वे पाठ अशुद्ध फिर भी नहीं हैं। यथार्थत: वहां अर्थ की दृष्टि से वही अभिप्राय पूर्वापर पर प्रसंग से लेना पड़ता है। धवलाकार की अन्यत्र शैली पर से ही वे पाठ निहित किये गये हैं [३]।

१ देखो पृष्ठ २६४, ३५४, ३८३, ३८४, ३९२, ४१२, ४२४, ४३५, ४४४, ४५१.

२ देखो पृष्ठ ४८६.

३ देखो पृष्ठ ६१, २४८, ३४८, ३५३, ४४०

सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार

जैन धर्म ज्ञान और विवेक प्रधान है । यहां मनुष्य के प्रत्येक कार्य की अछाई और बुराई का निर्णय वस्तुस्वरूप के विचार और भावों की शुद्धि या अशुद्धि के अनुसार किया गया है । ज्ञान का स्थान यहां बहुत ऊंचा है । मोक्ष का मार्ग जो रत्नत्रयरूप कहा गया है उसमें ज्ञान का स्थान चरित्र से पूर्व रखा है । जब कुछ ज्ञान हो जायगा तभी तो चरित्र सुधर सकेगा, और जितनी मात्रा में ज्ञान विशुद्ध होता जायगा उतनी मात्रा में ही चरित्र निर्मल होने की सम्भावना हो सकती है । इसीलिये जैनी देव के साथ ही शास्त्र की भी पूजा करते हैं। दैनिक आवश्यक क्रियाओं में शास्त्र-स्वाध्याय का स्थान विशेष रूप से है ।[१] चार प्रकार के दानों में [२] शास्त्रदान की बड़ी महिमा है । जैन आचार्यो को ज्ञात था कि धर्म का प्रचार और परिपालन शास्त्रों के आधार से ही हो सकता है, अत. उन्होंने समय - समय पर सभी स्थानों और प्रदेशों की भाषाओं में ग्रंथ रचकर उनका प्रचार व पठन-पाठन बढ़ाने का प्रयत्न किया। स्वयं तीर्थकर भगवान् की दिव्यवाणी की यह एक विशेषता कही जाती है कि उसे सब प्राणी सुन और समझ सकते तथा उससे लाभ उठा सकते हैं । प्राचीन काल की शिष्ट भाषा कहलाने वाली संस्कृत को छोड़कर जैन सिद्धान्त को प्राकृत- भाषा - निबद्ध करने में यह भी एक हेतु कहा जाता है कि जिससे बाल, स्त्री, मन्द, मूर्ख सभी चारित्र सुधारने की वांछा रखने वाले उससे लाभ उठा सकें [३] ।

किन्तु धर्म का उदात्त ध्येय और स्वरूप सदैव एकसा नियत नहीं रहने पाता । ज्यों ही उसमें गुरु कहलाने की अभिलाषा रखनेवाले व्यक्तियों की वृद्धि हुई, और ज्ञान की हीनता होते हुये भी वे मर्यादा से बाहर की बातें कहने सुनने लगे, त्यों ही उसमें अनेक विवेकहीन और तर्कशून्य बातें व विश्वास भी आ घुसते हैं, जो भोली समाज में घर करके कभी - कभी बडे अनर्थ के कारण बन जाते हैं । जैनशास्त्र- स्वाध्याय के सम्बन्ध में भी ऐसी ही एक बात उत्पन्न हुई है जिसका हमें यहां विचार करना है ।

षट्खंडागम की इससे पूर्व तीन जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं और अब चौथी जिल्द पाठकों के हाथ में पहुंच रही है । इन सिद्धान्त ग्रंथों का समाज में आदर और प्रचार

---

१ देवपूजा गुरूपास्ति: स्वाध्याय: संयमस्तप: । दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥

२ औषधिदान, शास्त्रदान, अभयदान और आहारदान ।

३ बालस्त्रीमंदमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम् । अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्त: प्राकृतः कृत: ॥

देखकर हमें अपने ध्येय की सफलता का संतोष हो रहा है। इस ओर समाज के औत्सुक्य और तत्परता का अनुमान इसी से हो सकता है कि इतने अल्प काल में हमें सिद्धान्तोद्धार के कार्य में मूडबिद्री-संस्थान का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो गया है, जयधवल के प्रकाशन के लिये भी अनेक संस्थायें उत्सुक हो उठी और जैन संघ, मथुरा, की ओर से उसका कार्य भी प्रारम्भ हो गया, तथा सेठ गुलाबचंद जी शोलापुर की सद्भावना से महाधवल के सम्बन्ध में भी एक समिति सुसंगठित हो गई है। श्रीयुक्त मंजैया जी हेगडे ने तीनों सिद्धान्तों के मूलपाठ को ताड़पत्रीय प्रतियों के आधार से प्रकाशित करने की स्कीम भी प्रस्तुत की है। प्रकाशित सिद्धान्त स्वाध्याय भी अनेक मंदिरों और शास्त्रभंडारों व गृहों में हो रहा है। यही नहीं, बम्बई की माणिकचंद जैन परीक्षालय समिति ने अपनी गत बैठक में धवलसिद्धान्त प्रथम भाग सत्प्ररूपणा को अपनी सर्वोच्च शास्त्री परीक्षा के पाठयक्रम में सम्मिलित कर इन सिद्धान्तों के समयोचित पठन-पाठन का मार्ग भी खोल दिया है।

इस सब प्रगतिसे विद्वत्संसार को बड़ा हर्ष है। किन्तु एकाध विद्वान् अभी ऐसे भी हैं जिन्हें इन सिद्धान्तों का यह उद्धार-प्रचार उचित नहीं जंचता ★। उनके विचार से न तो इन ग्रंथों का मुद्रण होना चाहिये, और न इन्हें विद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन का विषय बनाना चाहिये। यहां तक कि गृहस्थमात्र को इनके पढने का निषेध कर देना चाहिये। उनका यह विवेक निम्न लिखित आगम और युक्ति पर निर्भर है -

(१) अनेक प्राचीन ग्रंथों में यह उपदेश पायाजाता है कि गृहस्थों को सिद्धान्तों के सिद्धान्तों के श्रवण, पठन या अध्ययन का अधिकार नहीं है।

(२) सिद्धान्तग्रन्थ दो ही हैं जो कि धवल, जयधवल, महाधवल के रूप में टीका द्वारा उपलब्ध हैं, बाकी सभी शास्त्र सिद्धान्तग्रंथ नहीं हैं।

प्रथम बात की पुष्टि में निम्नलिखित ग्रंथों के अवतरण दिये गये हैं -

(१) वसुनन्दि श्रावकाचार, (२) श्रुतसागरकृत षट्प्राभृतटीका, (३) वामदेवकृत

★ देखो पं. मक्खनलाल शास्त्री लिखित 'सिद्धान्शास्त्र और उनके अध्ययन का अधिकार', मोरेना, वी.सं २४६८.

१ दिणपडिम वीरचरिया तियालजोगेसु णत्थि अहियारो। सिद्धंत-रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं ॥ ३१२ ॥ (वसुनन्दि-श्रावकाचार)

२ वीरचर्या च सूर्यप्रतिमा त्रैकाल्ययोगनियमश्च। सिद्धान्तरहस्यादिष्वध्ययनं नास्ति देशविरतानाम्।
(श्रुतसागर - षट्प्राभृतटीका)

भावसंग्रह, (४) मेधावीकृत धर्मसंग्रह श्रावकाचार (५) धर्मोपदेशपीयूषवर्षाकर श्रावकाचार, (६) इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार और (७) आशाधरकृत सागरधर्मामृत।

इन सब ग्रंथों में केवल एक ही अर्थ का और प्राय: उन्हीं शब्दों में एक ही पद्य पाया जाता है जिसमें कहा गया है कि देशविरत श्रावक या गृहस्थ को वीरचर्या, सूर्यप्रतिमा, त्रिकालयोग और सिद्धान्तरहस्य के अध्ययन करने का अधिकार नहीं है।

जिन सात ग्रंथों में से गृहस्थ को सिद्धान्त-अध्ययन का निषेध करने वाला पद्य उद्धृत किया गया है उनमें से नं. ५ और ६ को छोड़कर शेष पांच ग्रंथ इस समय हमारे सन्मुख उपस्थित हैं। वसुनन्दिकृत श्रावकाचार का समय निर्णीत नहीं है तो भी चूंकि आशाधर के ग्रंथों में उनके अवतरण पाये जाते हैं और उनके स्वयं ग्रंथों में अमितगति के अवतरण आये हैं, अत: वे इन दोनों के बीच अर्थात् विक्रम की १२हवीं १३हवीं शब्दादि में हुए होंगे। उनके ग्रंथ की कोई टीका भी उपलब्ध नहीं हे, जिससे लेखक का ठीक अभिप्राय समझ में आ सकता। उनकी गाथा की प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि दिन प्रतिमा, वीरचर्या और त्रिकालयोग इनमें (देशविरतों का) अधिकार नहीं है। दूसरी पंक्ति है 'सिंद्धतरहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं'। यथार्थत: इस पंक्ति की प्रथम पंक्ति के 'णत्थि अहियारो' से संगति नहीं बैठती, जब तक कि इसके पाठ में कुछ परिवर्तनादि न किया जाय। 'सिद्धंतरहस्साण' का अर्थ हिन्दी अनुवाद ने 'सिद्धान्त के रहस्य का पढ़ना' ऐसा किया है, जो आशाधर जी के किये गये अर्थ से भिन्न है। ग्रंथकार अभिप्राय समझने के लिये जब आगे पीछे के पन्न उलटते हैं तो सम्यक्त्व के लक्षण में देखते हैं -

अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होदि।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयध्वं ॥६॥

अर्थात्, जब आप्त आगम और तत्वों में निर्मल श्रद्धा हो जाय और शंका आदिका कोई दोष नहीं रहें तब सम्यक्त्व हुआ समझना चाहिये। अब क्या सिद्धान्तग्रंथ आगम से

---

३ नास्ति त्रिकालयोगोऽस्य प्रतिमा चार्कसम्मुखा। रहस्यग्रंथसिद्धान्तश्रवणे नाधिकारिता ॥ ५४७॥
(वामदेव-भावसंग्रह)

४ कल्प्यन्ते वीरचर्याह: प्रतिमातापनादय:। न श्रावकस्य सिद्धान्तरहस्याध्ययनादिकम् ॥ ७४ ॥
(मेधावी - धर्मसंग्रहश्रावकाचार)

५ त्रिकालयोगनियमों वीरचर्या च सर्वथा। सिद्धान्ताध्ययनं सूर्यप्रतिमा नास्ति तस्य वै ॥
(धर्मोपदेशपीयूषवर्षाकार-श्रावकाचार)

बाहर हैं, जो उनका अध्ययन न किया जाय ? या शंकादि सब दोषों का परिहार होकर निर्मल श्रद्धा उन्हें बिना पढ़े ही उत्पन्न हो जाना चाहिये ? आगम की पहिचान के लिये आगे की गाथा में कहा गया है -

अत्ता दोसविमुक्को पुव्वापरदोसवज्जियं वयणं।

अर्थात्, जिसमें कोई दोष नहीं वह आप्त है, और जिसमें पूर्वा पर विरोध रूपी दोष न हो वह वचन आगम है। तब क्या आगम को बिना देखे ही उसके पूर्वा पर - विरोध राहित्य को स्वीकार कर निःशंक, निर्मलश्रद्धान कर लेने का यहां उपदेश दिया गया है ? जैसा हम देखेंगे, आगम और सिद्धान्त एक ही अर्थ के द्योतक पर्यायवाची शब्द हैं। कहीं इनमें भेद नहीं किया गया। आगे देशविरत के कर्तव्यों में कहा गया है -

णाणे णाणुवयरणे णाणवंतम्भि तह य भत्तीय।
जं परियरणं कीरइ णिच्चं तं णाणविणओ ॥ ३२२ ॥

अर्थात्, ज्ञान, ज्ञान के उपकरण अर्थात् शास्त्र, और ज्ञानवान् की नित्य भक्ति करना ही ज्ञान विनय है। और भी -

हियमियपिज्जं सुत्ताणुवचि अफरसमकक्कसं वयणं।
सजमिजणम्मि जं चाडुभासणं वाचिओ विणओ ॥ ३२७ ॥

अर्थात्, हित, मित, प्रिय और सूत्र के अनुसार वचन बोलना ... आदि वचन विनय है। इन गाथाओं में जो ज्ञान, ज्ञानोपकरण और ज्ञानी का अलग-अलग उल्लेख कर उनके विनय का उपदेश दिया गया है, तथा जो सूत्र के अनुसार वचन बोलने का आदेश है, क्या इस विनय और अनुसरण में सिद्धान्त गर्भित नहीं है ? क्या सूत्र का अर्थ सिद्धान्त वाक्य नहीं है ? हम आगे चलकर देखेंगे कि सूत्र का अर्थ साक्षात् जिन भगवान् की द्वादशांग वाणी है। तब फिर द्वादशांग से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्त ग्रंथों के पठन का गृहस्थ को निषेध किस प्रकार किया जा सकता है ?

अब श्रुतसागर जी की षट्प्राभृतटीका को लीजिये। कुंदकुंदाचार्यकृत सूत्रपाहुड की २१वीं गाथा है -

दुइयं च वुत्तलिंगं उक्किट्ठ अवर सावयाणं च।
भिक्खं भमेइ पत्तो समिदीभासेण मोणेण ॥

इस गाथा में आचार्य ने ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक के लक्षण बतलाये हैं

कि वह भाषासमिति का पालन करता हुआ या मौन सहित भिक्षा के लिये भ्रमण करने का पात्र है। इसी गाथा की टीका समाप्त हो जाने के पश्चात् 'उक्तं च समन्तभद्रेण महाकविना' कहके चार आर्याएं उद्धृत की गई हैं, जिनमें चौथी गाथा है 'वीर्यचर्या च सूर्यप्रतिमा - ' आदि। यहां न तो इसका कोई प्रसंग है और न पाहुडगाथा में उसके लिये कोई आधार है। यह भी पता नहीं चलता कि कौन से समन्तभद्र महाकवि की रचना में से ये पद्य उद्धृत किये गये हैं। जैन साहित्य में जो समन्तभद्र सुप्रसिद्ध हैं उनकी उत्कृष्ट और प्रसिद्ध रचनाओं में ये पद्य नहीं पाये जाते। प्रत्युत इसके उनके रचित श्रावकाचार में जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, श्रावकों पर ऐसा कोई नियंत्रण नहीं लगाया गया। अतएव वह अवतरण कहां तक प्रामाणिक माना जा सकताहै यह शंकास्पद ही है।

स्वयं कुंदकुंदाचार्य की इतनी विस्तृत रचनाओं में कहीं भी इस प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं है। इसी सूत्रपाहुड की गाथा ५ और ७ को देखिये। वहां कहा गया है -

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी॥ ५॥
सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो॥ ७॥

अर्थात्, जो कोई जिन भगवान् के कहे हुए सूत्रों में स्थित जीव, अजीव आदि सम्बन्धी नाना प्रकार के अर्थ को तथा हेय और अहेय को जानता है वही सम्यग्दृष्टि है। सूत्रों के अर्थ से भ्रष्ट हुआ मनुष्य मिथ्यादृष्टि है। यहां श्रुतसागर जी अपनी टीका में कहते हैं 'सूत्रस्यार्थं जिनेन भणितं प्रतिपादितं .... यः पुमान् जानाति वेत्ति स पुमान् स्फुटं सम्यग्दृष्टिर्भवति। ... सूत्रार्थपदविनष्टःपुमान् मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः।

यहां श्रुतसागर जी स्वयं जिनोक्त सूत्रों के अर्थ के ज्ञान को सम्यग्दर्शन का अत्यन्त आवश्यक अंग मान रहे हैं, और उस ज्ञान के बिना मनुष्य मिथ्यादृष्टि रहता है यह भी स्वीकार कर रहे हैं। वे 'पुमान्' शब्द के उपयोग से यह भी स्पष्ट बतला रहे हैं कि जिनोक्त सूत्रों का अर्थ समझना केवल मुनिराजों के लिये ही नहीं, किन्तु मनुष्यमात्र के लिये आवश्यक है। ऐसी अवस्थामें वे सिद्धान्त ग्रंथों के जिनोक्त सूत्रों से बाहर समझकर श्रावकों को उन्हें पढ़ने का निषेध करते हैं, या श्रावकों को मिथ्यादृष्टि बनाना चाहते हैं, यह उनकी स्वयं परस्पर विरोधी बातों से कुछ समझ में नहीं आता। इससे स्पष्ट है कि उस निषेधवाली बात का न तो भगवान् कुंदकुंदाचार्य के वाक्यों से सामञ्जस्य बैठता है, और न स्वयं टीकाकार के पूर्व कथनों से मेल खाता है। श्रुतसागर जी का समय बिक्रम की सोलहवीं शताब्दि

सिद्ध होता है [१]। श्रुतसागर जी कैसे लेखक थे और उनकी षट्पाहुड में कैसी-कैसी रचना है इसके विषय में एक विद्वान् समालेचकका मत देखिये [२]।

" वे (श्रुतसागर जी) कट्टरतो थे ही, असहिष्णु भी बहुत ज्यादा थे। अन्य मतों का खंडन और विरोध तो औरों ने भी किया है, परन्तु इन्होंने तो खण्डन के साथ बुरी तरह गालियाँ भी दी है। सबसे ज्यादा आक्रमण इन्होंने मूर्तिपूजा न करने वाले लोंकागच्छ (ढूंढियों) पर किया है। जरूरत गैरजरूरत जहां भी इनकी इच्छा हुई है, ये उन पर टूट पड़े हैं। इसके लिये उन्होंने प्रसंग की भी परवा नहीं की। उदाहरण के तौर पर हम उनकी षट्पाहुडटीका को पेश कर सकते हैं। षट्पाहुड भगवत्कुंदकुंद का ग्रंथ है, जो एक परमसहिष्णु, शान्तिप्रिय और आध्यात्मिक विचारक थे। उनके ग्रंथों में इस तरह के प्रसंग प्राय: हैं ही नहीं कि उनकी टीका में दूसरों पर आक्रमण किये जा सकें, परंतु जो पहले से ही भरा बैठा हो, वह तो कोई न कोई बहाना ढूंढ ही लेता है। दर्शनपाहुड की मंगलाचरण के बाद की पहली ही गाथा है -

दंसणमूलों धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥

इसका सीधा अर्थ है कि जिनदेव ने शिष्यों को उपदेश दिया है कि धर्म दर्शनमूलक है, इसलिये जो सम्यग्दर्शन से रहित है उसकी वंदना नहीं करनी चाहिये। अर्थात्, चारित्र तभी वन्दनीय है जब वह सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

इस सर्वथा निरुपद्रव गाथा की टीका में कलिकालसर्वज्ञ स्थानकवासियों पर बुरी तरह बरस पड़ते हैं और कहते हैं -

'कोऽसौ दर्शनहीन इति चेत् तीर्थकरपरमदेवप्रतिमां न मानयन्ति, न पुष्पादिना पूजयन्ति . ... यदि जिनसूत्रमुलंघंते तदाऽऽस्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीया:। तथापि यदि कदाग्रंह न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकै- रुपानद्भि: गूथालिप्ताभिर्मुखे ताडनीया:, तत्र पापं नास्ति '।

अर्थात्, दर्शनहीन कौन है, जो तीर्थकरप्रतिमा नहीं मानते, उसे पुष्पादि से नहीं पूजते ... जब ये जिनसूत्र का उलंघन करें तब आस्तिकों को चाहिए कि युक्तियुक्त वचनों से

---

१ षट्प्राभृतादिसंग्रह (मा. ग्रं.मा.) भूमिका पृ. ७

२ जैनसाहित्य और इतिहास, पं. नाथूरामप्रेमी कृत पृ. ४०७ - ४०८

उनका निषेध करें, फिर भी यदि वे कदाग्रह न छोड़ें तो समर्थ आस्तिक उनके मुँह पर विष्टा से लिपटे हुए जूते मारें, इसमें जरा भी पाप नहीं।"

यह है श्रुतसागर जी की भाषासमिति और उनकी आप्तता। ऐसे द्वेषपूर्ण अश्लील वाक्य एक प्रामाणिक विद्वान् तो क्या साधारण शिष्ट व्यक्ति के मुख से भी न निकल सकेंगे।

अब वामदेव जी के भाव संग्रह को लीजिये जिसके ५४७ वें श्लोक 'नास्ति त्रिकालयोगो' आदि में ग्यारहवीं प्रतिमा के धारी श्रावक को 'सिद्धान्त-श्रवण' के अधिकार से वर्जित किया गया है। वामदेव जी का काल विक्रम की १५ हवीं या १६ हवीं शताब्दि अनुमान किया गया है, [१] । उनकी ग्रंथरचना मौलिक नहीं है, किन्तु १० वीं शताब्दि के देवसेनाचार्य के प्राकृत भावसंग्रह का कुछ परिवर्धित संस्कृत रूपान्तर है। उनकी इस कृति के विषय में उस ग्रंथ की भूमिका में कहा गया है -

"यह भावसंग्रह प्राय: प्राकृत भावसंग्रह का ही संस्कृत अनुवाद है, दोनों ग्रंथों को आमने-सामने रखकर पढ़ने से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है। तथापि पं. वामदेव जी ने इसमें जगह जगह अनेक परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन आदि किये हैं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि वह स्वतंत्र ग्रंथ है। शिष्टता की दृष्टि से अच्छा होता, यदि पं. वामदेवजीने अपने ग्रंथ में यह बात स्वीकार कर ली होती है।"

इस परसे जाना जा सकता है कि वामदेवजी किस दर्जे के लेखक और विद्वान् थे। एक प्राचीन और प्रामाणिक आचार्य की रचना का उसका नाम लिये बिना ही चुपचाप उसका रूपान्तर करके उन्होंने ग्रंथकार बनने का यश लूटा है। उसमें यदि उन्होंने कुछ परिवर्धन किया है तो वह उसी प्रकार का है जिसका एक उदाहरण हमारे सन्मुख है। उनसेकोई छह सौ वर्ष प्राचीन उक्त प्राकृत भावसंग्रह में ऐसे निषेध का नाम निशान तक नहीं है। अतएव स्पष्ट है कि वामदेव जी १६ वीं शताब्दि के लगभग कही से यह बात जोड़ी है।

अब इन्द्रनन्दिजी के नीतिसारान्तर्गत उपदेश को लीजिये। इसमें उक्त निषेध ने और भी बड़ा उग्ररूप धारण किया है। यहां कहा गया है कि -

आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम्।
न वाचनीयं पुरतः सिद्धान्ताचारपुस्तकम्॥

अर्थात्, "आर्यिकाओं के सामने, गृहस्थों के सामने और थोड़ी बुद्धिवाले शिष्य

---

१ भावसंग्रहादि (मा.दि.जै.ग्रं.) भूमिका पृ. ३

मुनियों के सामने भी सिद्धान्त शास्त्र नहीं पढ़ने चाहिये।" इसके अनुसार गृहस्थ ही नहीं, किन्तु मंदबुद्धि मुनि और समस्त अर्जिकाएं भी निषेध के लपेटे में आ गये। इसका उत्तर हम स्वयं सिद्धान्त-ग्रंथकारों के शब्दों में ही देना चाहते हैं।

पाठक सत्प्ररूपणा के सूत्र ५ और उसकी धवला टीका को देखें। सूत्र हैं-

एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति ॥ ५ ॥

इसकी टीका है -

'तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि' एतदेवालं, शेषस्य नान्तरीयकत्वादिति चेन्नैष दोषः, मन्द-बुद्धिसत्वानुग्रहार्थत्वात्।

अर्थात्, 'तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि' इतने मात्र सूत्र से काम चल सकता था, शेष शब्दों की सूत्र में आवश्यकता ही नहीं थी, उनका अर्थ वहीं गर्भित हो सकता था? इस शंका का धवलाकार उत्तर देते हैं कि नहीं, यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सूत्रकार का अभिप्राय मन्दबुद्धि जीवों का उपकार करना रहा है। अर्थात्, जिस प्रकार से मन्दबुद्धि प्राणिमात्र सूत्र का अर्थ समझ सकें उस प्रकार स्पष्टता से सूत्र-रचना की गई है। यहां दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। धवलाकार के स्पष्ट मतानुसार एक तो सूत्रकार का अभिप्राय अपना ग्रंथ केवल मुनियों को नहीं, किन्तु सत्त्वमात्र, पुरुष स्त्री, मुनि, गृहस्थ आदि सभी को ग्राह्य बनाने का रहा है, और दूसरे उन्होंने केवल प्रतिभाशाली बुद्धिमानों का ही नहीं, किन्तु मन्दबुद्धियों, अल्पमेधावियों का भी पूरा ध्यान रखा है।

ऐसी बात आचार्य जी ने केवल यही कह दी हो, सो बात भी नहीं है। आगे का नौवां सूत्र देखिये जो इसप्रकार है 'ओघेण अत्थि मिच्छादिट्ठी।' यहां धवलाकार पुनः कहते हैं कि -

यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायात्। ओघाभिमानमन्तरेणापि ओघोऽवगम्यते, तस्येहपुनरुच्चारण मनर्थकमिति न, तस्य दुर्मेधोजनानुग्रहार्थत्वात्। सर्वसत्वानुग्रहकारिणो हि जिनाः, नीरागत्वात्।

अर्थात्, जिस प्रकार उद्देश होता है, उसी प्रकार निर्देश किया जाता है, इस नियम के अनुसार तो 'ओघ' शब्द को सूत्र में न रखकर भी उसका अर्थ समझा जा सकता था, फिर उसका यहां पुनरुच्चारण अनर्थक हुआ ? इस शंका का आचार्य उत्तर देते हैं कि नहीं,

दुर्मेध, अर्थात् अत्यन्त मन्दबुद्धिवाले लोगों के अनुग्रह के ध्यान से उसका सूत्र में पुनरुच्चारण कर दिया गया है। जिनदेव तो नीराग होते हैं, अर्थात् किसी से भी रागद्वेष नही रखते, और इस कारण वे सभी प्राणियों का उपकार करना चाहते हैं केवल मुनियों या बुद्धिमानों का ही नहीं। (सत्प्र.१, पृ. १६२)

और आगे चलिये। सत्प्र. सूत्र ३० में कहा गया है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक तिर्यंच मिश्र होते हैं। इस सूत्र की टीका करते हुए आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि 'गतिमार्गणा की प्ररूपणा करने पर इस गति में इतने गुणस्थान होते हैं, और इतने नहीं ' इस प्रकार के निरूपण से ही यह जाना जाता है कि इस गति की इस गति केसाथ गुणस्थानों की अपेक्षा समानता है, इसकी इसके साथ नहीं। अत: फिर से इसका कथन करना निष्फल है। इस प्रश्न का आचार्य समाधान करते हैं कि -

'न, तस्य दुर्मेधसामपि स्पष्टीकरणार्थत्वात्। प्रतिपाद्यस्य बुभुत्सितार्थ विषय निर्णयोत्पादनं वक्तृवचस: फलम् इति न्यायात्।

अर्थात्, पूर्वोक्त शंका ठीक नहीं, क्योंकि, दुर्मेध लोगों को उसका भाव स्पष्ट हो जावे, यह उसका प्रयोजन है। न्याय यही कहता है कि जिज्ञासित अर्थ का निर्णय करा देना ही वक्ता के वचनों का फल है।

इसी प्रकार पृ. २७५ पर कहा है कि -

'अनवगतस्य विस्मृतस्य वा शिष्यस्य प्रश्नवशादस्य सूत्रस्यावतारात्' अर्थात् उसे जिस बात का अभी तक ज्ञान नहीं है, अथवा होकर विस्मृत हो गया है,ऐसे शिष्य के प्रश्न-वश इस सूत्र का अवतार हुआ है। पृ. ३२२ पर कहा है 'द्रव्यार्थिकनयात् सत्वानुग्रहार्थं तत्प्रवृत्ते:। ...... बुद्धीनां वैचित्र्यात्। ...... अस्यार्षस्य त्रिकालगोचरानन्तप्राण्यपेक्षया प्रवृत्तत्वात्।

अर्थात् उक्त निरूपण द्रव्यार्थिक नयानुसार समस्त पाणियों के अनुग्रह के लिये प्रवृत्त हुआ है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रकार की बुद्धि होती है। और इस आर्ष-ग्रंथ की प्रवृत्ति तो त्रिकालवर्ती अनन्त प्राणियों की अपेक्षा से ही हुई है। पृ. ३२३ पर कहा गया है कि 'जातारेकस्य भव्यस्यारेकानिरसनार्थमाह'

अर्थात्, अमुक बात किसी भी भव्य जीव की शंका के निवारणार्थ कही गई है। पृ. ३७० पर कहा है -

निश्चितबुद्धिजनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयादेशना, मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयादेशना।

अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धिवाले मनुष्यों के लिये द्रव्यार्थिकनयका का उपदेश दिया गया है, और मन्द बुद्धिवालों के लिये पर्यायार्थिकनयका। तृतीय भागपृ. २७७ पर कहा है -

ण पुणरुत्तदोसो वि जिणवयणे संभवइ, मदबुद्धिसत्ताणुग्गहट्ठदाए तस्स साफल्लादो।

अर्थात्, जिन भगवान् के वचनों में पुनरुक्त दोष की संभावना भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि, मंदबुद्धि जीवों का उससे उपकार होता है, यही उसका साफल्य है। पृ. ४५३ पर कहा है -

सुहुमपरूवणमेव किण्ण वुच्चदे ? ण, मेहावि-मंदाइमंदमेहाविजणाणुग्गहकारणेण तहोवएसा।

अर्थात्, अमुक बात का सूक्ष्म प्ररूपणमात्र क्यों नहीं कर दिया, विस्तार क्यों किया ? इसका उत्तर है कि मेधावी, मंदबुद्धि और अत्यंत मंदबुद्धि, इन सभी प्रकार के लोगों का अनुग्रह करने के लिये उस प्रकार उपदेश किया गया है।

इसी चतुर्थ भाग के पृ. १ पर कहा है -

किमट्ठमुभयथा णिद्देसो कीरदे ? न, उभयनयावस्थितसत्वानुग्रहार्थत्वात्। ण तइओ णिद्देसो अत्थि, णयद्दयसंट्ठियजीववदिरित्तसोदाराणं असंभवादो।

अर्थात्, प्रश्न होता है कि ओघ और आदेश, ऐसा दो प्रकार से ही क्यों निर्देश किया जाता है ?

इसका उत्तर है कि दोनों नयों वाले जीवों के उपकार के लिये। तीसरे प्रकार का कोई निर्देश ही नहीं है, क्योंकि, उक्त दो नयों में स्थित जीवों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार के श्रोता होना असंभव है। पुन पृ. ११५ पर कहा है -

एदेण दव्वपज्जवट्ठियणयपज्जायपरिणदजीवाणुग्गहकारिणो जिणा इदि जाणाविदं।

अर्थात्, अमुक प्रकार कथन से यह ज्ञात कराया गया है कि जिन भगवान् द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दोनों नयवर्ती जीवों का अनुग्रह करने वाले होते हैं।

पृ. १२० पर कहा है -

'किमट्ठ एदेसु तीसु सुत्तेसु पज्जयणयदेसणा' बहूणं जीवाणमणुग्गहट्ठं। संगहरुइजीवोहिंतो बहूणं वित्थररुइजीवाणमुवलंभादो।

अर्थात्, इन तीन सूत्रों में पर्यायार्थिकनय से क्यों उपदेश दिया गया है ? इसका उत्तर है कि जिससे अधिक जीवों का अनुग्रह हो सकें । संक्षेपरुचिवाले जीवों से विस्ताररुचिवाले जीव बहुत पाये जाते हैं । पृ.२४६ पर पाया जाता है -

उत्तमेव किमिदि पुणो वि उच्चदे फलाभाव ? ण, मंदबुद्धिभवियजणसंभालणदुवारेण फलोवलंभादो ।

अर्थात्, एक बार कही हुई बात यहां पुन: क्यों दुहराई जा रही है, इसका तो कोई फल नहीं है ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं - नहीं, मंदबुद्धि भव्यजनों के संभाल द्वारा उसका फल पाया जाता है ।

ये थोड़े से अवतरण धवलसिद्धान्त के प्रकाशित अंशों में से दिये गये हैं । समस्त धवल और जय धवलों में से दो चार नहीं, सैकड़ों अवतरण इस प्रकार के दिये जा सकते हैं जहां स्वयं धवला के रचयिता वीरसेनस्वामी ने यह स्पष्टत: बिना किसी भ्रान्ति के प्रकट किया है कि यह सूत्र-रचना और उनकी टीका प्राणिमात्र के उपयोग के लिये, समस्त भव्यजनों के हित के लिये, मन्द से मन्द बुद्धि वाले और महामेधावी शिष्यों के समाधान के लिये हुई है, और उनमें जो पुनरुक्ति व विस्तार पाया जाता है वह इसी उद्धार ध्येय की पूर्ति के लिये है । स्वयं धवलाकार के ऐसे सुस्पष्ट आदेश के प्रकाश में इन्द्रनन्दि आदि लेखकों का आर्थिकाओं, गृहस्थों और अल्पमेधावी शिष्यों को सिद्धान्त पुस्तकों के न पढ़ने का आदेश आर्ष या आगमोक्त है, या अन्यथा, यह पाठक स्वयं विचार कर देख सकते हैं ।

अब हमारे सन्मुख रह जाता है पंडितप्रवरआशाधर जी का वाक्य, जो विक्रमकी १३हवीं शताब्दिका का है । उनका यह निषेधात्मक श्लोक सागरधर्माम्रृत के सप्तम अध्याय का ५०वां पद्य है । इसके पूर्व के ४९ वें श्लोक में ऐलक की स्वपाणिपात्रादि क्रियाओं का विधानात्मक उल्लेख है । तथा आगे के ५१वें श्लोक में श्रावकों को दान, शील, उपवासादिक विधानात्मक उपदेश दिया गया है । इन दोनों के बीच केवल वही एक श्लोक निषेधात्मक दिया गया है। सौभाग्य से आशाधर जी ने अपने श्लोकों पर स्वयं टीका भी लिख दी है जिससे उनका श्लोकगत अभिप्राय खूब सुस्पष्ट हो जाय । उन्होंने अपने -

'स्यान्नधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च' का अर्थ किया है 'सिद्धान्तस्य परमागमस्य सूत्र रूपस्य रहस्यस्य च प्रायश्चित्तशास्त्रस्य अध्ययने पाठे श्रावको नाधिकारी स्यादिति संबंध: ।

अर्थात्, सूत्ररूप परमागम के अध्ययन का अधिकार श्रावक को नहीं है । अब

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सूत्ररूप परमागम किसे कहना चाहिये । क्या वीरसेन-जिनसेन रचित धवला जयधवला टीकाएं सूत्ररूप परमागम है, या यतिवृषम के चूर्णिसूत्र परमागम है, या भगवत् पुष्पदन्त और भूतबलितथा गुणधर आचार्यो के रचे कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत के सूत्र व सूत्र-गथाएं सूत्ररूप परमागम हैं ? या ये सभी सूत्ररूप परमागम हैं? सूत्र की सामान्य पीरभाषा तो यह है -

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।

इसके अनुसार तो पाणिनि के व्याकरणसूत्र और वात्स्यायन के कामसूत्र भी सूत्र हैं, और पुष्पदन्त भूतबलिकृत कर्मप्राभृत या षट्खंडागम और उपास्वाति के तत्वार्थसूत्र आदि ग्रंथ सभी सूत्र कहे जाते हैं । किन्तु यदि जैन आगमानुसार सूत्र का विशेष अर्थ यहां अपेक्षित हैं तो उसकी एक परिभाषा हमें शिवकोटि आचार्य के भगवती आराधना में मिलती है जहां कहा गया है कि-

सुत्तं गणहरकहिय तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च ।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च ।। ३४ ।।

इस गाथा की टीका विजयोदया में कहा है कि तीर्थकरों के कहे हुए अर्थ को जो ग्रथित करते हैं वे गणधर हैं, जिन्हें बिना परोपदेश के स्वयं ज्ञान उत्पन्न हो जाय, वे स्वयंबुद्ध हैं, समस्त श्रुतांग के धारक श्रुतकेवली हैं और जिन्होंने दशपूर्वो का अध्ययन कर लिया है और विद्याओं से चलायमान नहीं होते, वे अभिन्नदशपूर्वी हैं । इनमें से किसी के द्वारा भी ग्रथित ग्रंथ को सूत्र कहते हैं ।

अब यदि हम इस कसौटी पर षट्खंडागम सिद्धान्त को या अन्य उपलब्ध ग्रंथों को कसें तो ये ग्रंथ 'सूत्र' सिद्ध नहीं होते, क्योंकि, न तो इनके रचयिता तीर्थकर हैं, न प्रत्येकबुद्ध, न श्रुतकेवली और न अभिन्नदशपूर्वी हैं । धरसेनाचार्य तो कवल अंग-पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परा से मिला था । वह उन्होंने ग्रंथविच्छेद के भयसे पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यो को सिखा दिया और उसके आधार पर कुछ ग्रंथरचना पुष्पदन्त ने और कुछ भूतबलिने की, जो षट्खंडागम में नाम से उपलब्ध है और जिस पर विक्रम की नौवीं शताब्दि में वीरसेनाचार्य ने धवला टीका लिखी । इस प्रकार यदि हम आशाधरजी द्वारा उक्त सूत्र को सामान्य अर्थ में लेते हैं तो षट्खंडागम सूत्रों के अनुसार तत्वार्थाधिगमसूत्र भी सूत्र

हैं, सर्वार्थसिद्धि भी सूत्रही ठहरताहै, क्योंकि, इसमें षट्खंडागम के सूत्रों का संस्कृत रूपान्तर पाया जाता है, गोम्मटसार भी सूत्र हैं, क्योंकि, इसमें भी षट्खंडागम के प्रमेयांशका संग्रह, अर्थात् सूत्ररूप से समुद्धार किया गया है, इत्यादि। पर यदि हम सूत्र का अर्थ भगवती आराधना की परिभाषानुसार लें, तो ये कोई भी ग्रन्थ सूत्र नहीं सिद्ध होते। इस स्थिति से बचने का कोई उपाय उपलब्ध नहीं है।

अब इन्हीं आशाधर जी के इसी सागरधर्मामृत के प्रथम अध्याय के १०वें श्लोक और उन्हीं के द्वारा लिखी गई उसकी टीका को देखिये -

शालाकयेवाप्तगिराप्तसूत्रप्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात्।
हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वद भायादसौसांव्यवहारिकाणाम्॥

अर्थात्, जिस प्रकार एक मोती जो कि कांति-रहित है, उसमें भी यदि सलाई के द्वारा छिद्र कर सूत (डोरा) पिरोने योग्य मार्ग करा दिया जाय और उसे कांतिवाले मोतियों की माला में पिरो दिया जाय तो वह कांति-रहितमोती भी कांतिवाले मोतियों के साथ वैसा ही, अर्थात् कांति सहित ही सुशोभित होता है। इसी प्रकार जोपुरुष सम्यग्दृष्टि नहीं है वह भी यदि सद्गुरु के वचनों के द्वारा अरंहतदेव के कहे हुये सूत्रों में प्रवेश करने का मार्ग प्राप्त कर ले, तोवह सम्यक्त्व-रहित होकरभी सम्यग्दृष्टियों में नयों के जानने वाले व्यवहारी लोगों को सम्यग्दृष्टि केसमान ही सुशोभित होता है। सागारधर्मामृत की टीका भी स्वयं आशाधर जी की बनाई हुई है। उस श्लोक की टीका में सूत्र का अर्थ परमागम और प्रवेश मार्ग अर्थ 'अन्तस्तत्वपरिच्छेदनोपाय' किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि आशाधरजी के ही मतानुसार अविरतसम्यग्दृष्टि तो बात क्या, सम्यक्त्वरहित व्यक्ति को भी परमागम के अन्तस्तत्वज्ञान करने का पूर्ण अधिकार है। और भी सागारधर्मामृत के दूसरे अध्याय के २१वें श्लोक में आशाधरजी कहते हैं-

तत्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं तद्दीक्षाग्रधृतापराजित महामन्त्रोऽस्तदुर्दैवतः।
आंग पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन्धन्यो निहन्त्यंहसी॥

अर्थात्, तीर्थ याने धर्माचार्य व गृहस्थाचार्य के कथन से जीवादिक पदार्थो को निश्चित करके, एक देशव्रत को धरके, दीक्षा से पूर्व अपराजित महामन्त्रका धारी और मिथ्या देवताओं का त्यागी तथा अंगों (द्वादशांग) व पूर्वो (चौदह पूर्वो) के अर्थसंग्रह का

अध्ययन करके अन्य शास्त्रों का भी अधीता पर्व के अन्त में प्रतिमायोग को धारण करने वाला पुण्यात्मा जीव पापों कोनष्टकरताहै।

इस पद्य में आशाधरजी ने अजैन से जैन बनने के आठ संस्कारों, अर्थात् अवतार, वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढचर्या और उपयोगिता का संक्षेप में निरूपण किया है, जिसमें उन्होंने जैन बनने से पूर्व ही अर्थात् अपनी अजैन अवस्था में ही जैन श्रुतांगों अर्थात् बारह अंग और चौदह पूर्व के 'अर्थसंग्रह' के अध्ययन कर लेने का उपदेश दिया है । पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ और दृढचर्या क्रियाओं का स्वरूप स्वंय वीरसेनस्वामी के शिष्य तथा जयधवला के उत्तरभाग के रचयिता जिनसेन स्वामी ने महापुराण में भी इस प्रकार बतलाया है -

पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा ।
पूजोपवाससम्पत्या गृहतोऽङ्गार्थसंग्रहम् ।।
ततोऽन्यापुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी ।
शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः ।।
तदास्य दृढचर्याख्या क्रिया स्वसमये श्रुतम् ।
निष्ठाप्य श्रृण्वतो ग्रंथान्बाह्यानन्यांश्च कांश्चन ।।

यहां भी जैन होनेसे पूर्व ही गृहस्थ को अंगों के अर्थ संग्रह का तथा पूर्वो की विद्याओं को सुन लेने का पूरा अधिकार दिया गया हैं । यद्यपि मेधावीकृत धर्मसंग्रहश्रावकाचार इस समय हमारे सन्मुख नहीं है तथापि यह तो सुविदित है कि पं. मेधावी या मीहा जिनचन्द्रभट्टारक के शिष्य थे और उन्होंने अपना यह ग्रन्थ वि.सं., १५४१ में हिसार (पंजाब) नगर में वसुनन्दि, आशाधर और समन्तभद्र के ग्रन्थों के आधार से बनाया था । धर्मोपदेशपीयूषवर्षाकर श्रावकाचार का तो हमने नाम ही इसी समय प्रथम वार देखा है, और यहां भी न तो उसके कर्ता का कोई नाम-धाम बतलाया गया और न उसकी किसी प्रति मुद्रित या हस्तलिखित का उल्लेख किया गया । अतएव इस अज्ञात कुल-शील ग्रंथ की हम परीक्षा क्या करें ? यह कोई प्राचीन प्रमाणिक ग्रंथ तो ज्ञात नहीं होता । लेखक ने एक वर्तमान रचयिता मुनि सुधर्मसागरजी के लिखे हुए 'सुधर्मश्रावकाचार' का मत भी उद्धृत किया है । किन्तु प्राचीन प्रमाणों की ऊहापोह में उसे लेना हमने उचित नहीं समझा। वह तो पूर्वोक्त ग्रंथों के आश्रय से ही आज का उनका मत है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गृहस्थ को सिद्धान्त-ग्रंथों का निषेध करने वाले ग्रंथों में जिन रचनाओं का समय निश्चयत: ज्ञात है वे १३ हवीं शताब्दि से पूर्व की नहीं हैं। उनमें सिद्धान्त का अर्थ भी स्पष्ट नहीं किया गया और जहां किया गया है वहां पूर्वापर-विरोध पाया जाता है। कोई उचित युक्ति या तर्क भी उनमें नहीं पाया जाता। यह तो सुज्ञात ही है कि जिन ग्रंथों में पूर्वा पर -विरोध या विवेक वैपरीत्य पाया जावे वे प्रामाणिक आगम नहीं कहे जा सकते। इन्द्रनन्दि के वाक्यों का तो सीधे सिद्धान्त ग्रंथों के ही वाक्यों से विरोध पाया जाता है, अत: वह प्रामाणिक किस प्रकार गिना जा सकता है ? यथार्थत: प्रमाणिक जैन शास्त्रों की रचना और शासन के प्रवर्तन का चरमोन्नत काल तो उक्त समस्त ग्रंथों की रचना से पूर्ववर्ती ही है। तब क्या कारण है कि इससे पूर्व के ग्रंथों में हमें गृहस्थ के सिद्धान्त ग्रंथों के अध्ययन के सम्बन्ध में किसी नियंत्रण का उल्लेख नहीं मिलता ? श्रावकाचार का सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रंथ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार है, जिसे वादिराजसूरि ने 'अक्षयसुखावह' और प्रभाचन्द ने 'अखिल सागारमार्ग को प्रकाशित करने वाला निर्मल सूर्य' कहा है। इस ग्रंथ में श्रावकों के अध्ययन पर कोई नियंत्रण नहीं लगाया गया, किन्तु इसके विपरीत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र को सम्पादन करना ही गृहस्थ का सच्चा धर्म कहा है, तथा ज्ञान-परिच्छेद में, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग सम्बन्धी समस्त आगम का स्वरूप दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि इनका अध्ययन गृहस्थ के लिये हितकारी है। द्रव्यानुयोग का अर्थ भी वहां टीकाकार प्रभाचन्द्र जी ने 'द्रव्यानुयोग सिद्धान्त सूत्र [१]' किया है, जिससे स्पष्ट है कि गृहस्थ के सिद्धान्ताध्ययन में उन्हें किसी प्रकार की कैद अभीष्ट नहीं है। इस श्रावकाचार में उपवास के दिन गृहस्थ को ज्ञान-ध्यान परायण [२] होने का विशेष रूप से उपदेश है, तथा उत्कृष्ट श्रावक के लिये समय या आगम का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक बतलाया है - समय यदि जानीते, श्रेयेज्ञाता ध्रुवं भवति ॥ ५, २७, 'यदि समयं आगमं जानीते, आगमज्ञो यदि भवति, तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयो ज्ञाता स भवति'।

(प्रभाचंद्रकृत टीका)

धर्मपरीक्षावि ग्रन्थों के विद्वान् कर्त्ता अमितगति आचार्य विक्रम की ११ हवीं शताब्दि में हुए हैं। इनका बनाया हुआ श्रावकाचार भी खूब सुविस्तृत ग्रंथ है [१]। इस ग्रंथ में उन्होंने 'जिन प्रवचन का अभिज्ञ' होना उत्तम श्रावक का आवश्यक लक्षण माना है।

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार (मा.ग्रं. मा.) १, ५.

२ रत्नकरण्डश्रावाकचार (मा.ग्रं.मा.) ४, १८

यथा-

ऋजुभूतमनोबुद्धिर्गुरुशुश्रूषणोद्यतः ।

जिनप्रवचनाभिज्ञः श्रावकः सप्तधोत्तमः ।। १३.२.

आगे चलकर उन्होंने गृहस्थ को आगम का अध्ययन करना भी आवश्यक बतलाया है-

आगमाध्ययनं कार्यं कृतकालादिशुद्धिना ।

विनयारुढचित्तेन बहुमानविधायिना ।। १३, १०.

गृहस्थ को स्वाध्याय के उपदेश में स्वाध्याय के पांच प्रकारों में वाचना, आम्नाय और अनुप्रेक्षा का भी विधान है। यथा -

वाचना पृच्छनाऽऽम्नायानुप्रेक्षा धर्मदेशना ।

स्वाध्यायः पंचधा कृत्यः पंचमी गतिमिच्छता ।। १३, ८१

गृहस्थों को जहां तक हो सके स्वयं जिन भगवान् के वचनों का पठन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि, उनके विना वे कृत्याकृत्य-विवेक की प्राप्ति, व आत्म-अहित का त्याग नहीं कर सकते।

जानात्यकृत्यं न जनो कृत्यं जैनेश्वरं वाक्यमबुद्धमानः ।

करोत्यकृत्यं विजहाति कृत्यं ततस्ततो गच्छति दुःखमुग्रम् ।। १३, ८९

अनात्मनीनं परिहर्तुकामा ग्रहीतुकामाः पुनरात्मनीनम् ।

पठन्ति [1] शश्वज्जिननाथवाक्यं समस्तकल्याणविधायि संतः ।। १३, ९०

यथार्थतः वे मूढ हैं जो स्वयं जिनभगवान के कहे हुए सूत्रों को छोड़कर दूसरों के वचनों का आश्रय लेते हैं। जिन भगवान के वाक्य के समान दूसरा अमृत नहीं है -

सुखाय ये सूत्रमपास्य जैनं मूढाः श्रयंते वचनं परेषाम् । १३, ९१

विहाय वाक्यं जिनचन्द्रदृष्टं परं न पीयूषमिहास्ति किंचित् ।। १३, ९२ इत्यादि

यशः कीर्तिकृत प्रबोधसार [2] भी श्रावकाचारका उत्तम ग्रंथ है। इसमें गृहस्थों को उपदेश दिया गया है कि श्रुत के अभाव में तो समस्त शासन का नाश हो जायगा, अतः सब प्रयत्न करके श्रुत के सार का उद्धार करना चाहिये। श्रुत से ही तत्वों का परामर्श होता है और श्रुत से ही शासन की वृद्धि होती है। तीर्थंकरों के अभाव में शासन श्रुत के ही अधीन है, इत्यादि.

---

१ सखाराम नेमचंद गंथमाला, सोलापुर, १९२८. २ अनन्तकीर्ति जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १९७९.

नश्यत्येव ध्रुवं सर्व श्रुताभावऽत्र शासनम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रुतसारं समुद्धरेत् ।।
श्रुतात्तात्त्वपरामर्शः श्रुतात्समयवर्द्धनम् ।
तीर्थेशाभावतः सर्वं श्रुताधीनं हि शासनम् ।। ३, ६३,-६४.

इस प्रकार प्राचीन श्रावकाचार-ग्रंथों ने गृहस्थों के लिये न केवल सिद्धान्ताध्ययन का निषेध नहीं किया, किन्तु प्रबलता से उसका उपदेश दिया है। हम ऊपर बतला ही आये हैं कि स्वयं भगवान् कुंदकुंदाचार्य अपने सूत्रपाहुड में जिनभगवान् के कहे हुए सूत्र के अर्थ के ज्ञान को सम्यग्दर्शन का अत्यन्त आवश्यक अंग कहते हैं, और सूत्रार्थ से जो च्युत हुआ उसे वे मिथ्यादृष्टि समझते हैं।

सिद्धान्त किसे कहना चाहिये, इस बात की पुष्टि में केवल इन्द्रनन्दि और विबुधश्रीधरकृत श्रुतावतारों के ऐसे अवतरण दिये गये हैं, जिनमें कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत को 'सिद्धान्त' कहा गया है, तथा अप्रभंश कवि पुष्पदन्त का वह अवतरण दिया है जहां उन्होंने धवल और जयधवल को सिद्धान्त कहा है। किन्तु इन ग्रन्थों के सिद्धान्त कहेजाने से अन्य ग्रंथ सिद्धान्त नहीं रहे, यह कौन से तर्क से सिद्ध हुआ, यह समझ में नहीं आता। इस सिलसिले में गोम्मटसार को असिद्धान्त सिद्ध करने के लिये गोम्मटसार की टीका के वे अंश उद्धृत किये गये हैं जिनमें कहा गया है कि "इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गोम्मटसार सिद्धान्तग्रंथ नहीं है, किन्तु सिद्धान्त ग्रंथों से सार लेकर बनाया गया है। सिद्धान्त ग्रंथ दो ही है, यह बात भी इन पंक्तियों से सिद्ध हो जाती है।" किन्तु उन पंक्तियों मे हमें ऐसा व्यवच्छेदक भाव जरा भी दृष्टिगोचर नहीं होता। न तो लेखक सिद्धान्त की कोई परिभाषा दे सके, जिससे केवल उक्त दो ही सिद्धान्त-ग्रंथ ठहर जायें और अन्य गोम्मटसारादि ग्रंथ सिद्धान्तश्रेणी के बाहर पड़ जाये। और न कोई ऐसा प्राचीन उल्लेख ही बता सके, जहां कहा गया हो कि सिद्धान्त-ग्रंथ केवल दो ही हैं, अन्य नहीं। यथार्थ बात तो यह है कि सिद्धान्त, आगम, प्रवचन ये सब शब्द एकही अर्थ के पर्यायवाची शब्द हैं। स्वयं धवलाकार ने कहा है - 'आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो' (सत्प्र. १ पृ.२०)

अर्थात्, आगम, सिद्धान्त, प्रवचन, ये सब एक ही अर्थ के बोधक शब्द हैं। लेखक ने भी आगम और सिद्धान्त को एकार्थवाची स्वीकार किया है। यही नहीं, किन्तु गृहस्थों को सिद्धान्ताध्ययन का निषेध करने वाले पूर्वोक्त साधारण परस्पर-विरोधी कथन करने वाले और युक्ति-हीन वाक्यों को भी वे 'आगम' करके मानते हैं। किन्तु सिद्धान्तों के

निरवशेष प्रमेयांश का समुद्धार करने वाले गोम्मटसार को सिद्धान्त मानने में उन्हें ऐतराज है। षट्खंडागम भी तो महाकर्म प्रकृतिपाहुड का संक्षिप्त समुद्धार है। फिर यह कैसे सिद्धान्त बना रहता है, और गोम्मटसार कैसे सिद्धान्त-बाह्य: हो जाता है, यह युक्ति समझ में नहीं आती। यदि किसी के किन्हीं ग्रन्थों को सिद्धान्त कहने से ही अन्य दूसरे ग्रंथ असिद्धान्त हो जाते हों, तो गोम्मटसारादि ग्रंथों के भी सिद्धान्तरूप से उल्लिखित किये जाने के प्रमाण दिये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, राजमल्लकृत लाटीसंहिता नामक श्रावकाचार ग्रंथ में उल्लेख है -

तदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने।
तत्सूत्रं च यथाम्नायात् प्रतीत्यै वच्मि साम्प्रतम्॥ ५, १३४.

इस प्रकार के उल्लेखों से क्या गोम्मटसार सिद्धान्त ग्रंथ सिद्ध नहीं होता ? और क्या उसके सिद्धान्त ग्रंथ सिद्ध हो जाने से शेष ग्रंथ सिद्धान्तबाह्य सिद्ध हो जाते हैं ?

यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो समस्त जैनधर्म और सिद्धान्त का ध्येय जिनोक्त वाक्यों को सर्वव्यापी बनाने का रहा है। स्वयं तीर्थंकर के समवसरण में मनुष्यमात्र ही नहीं, पशु-पक्षी आदि तक सम्मिलित होते थे, जो सभी भगवान् के उपदेश को सुन समझ सकते थे। जब द्वादशांग वाणी की आधारभूत दिव्यध्वनि तक को सुनने का अधिकार समस्त प्राणियों का है, तब उस वाणी के सारांश को ग्रथित करने वाले कोई भी सिद्धान्त ग्रंथ श्रावकों के लिये क्यों निषिद्ध किये जायेंगे, यह समझ में नहीं आता। सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के लिये सिद्धान्त का आश्रय अत्यंत वांछनीय है। समस्त शंकाओं का निवारण होकर नि:शंकित - अंग की उपलब्धि का सिद्धान्तध्ययन से बढ़कर दूसरा उपाय नहीं। जिन सैद्धान्तिक बातों के तर्क वितर्क में विद्वानों का और जिज्ञासुओं का न जाने कितना बहुमूल्य समय व्यय हुआ करता है और फिर भी वे ठीक निर्णय पर नहीं पहुंच पाते, ऐसी अनेक गुत्थियां इन सिद्धान्त ग्रंथों में सुलझी हुई पड़ी हैं। उनसे अपने ज्ञान को निर्मल और विकसित बनाने का सीधा मार्ग गृहस्थ जिज्ञासुओं और विद्यार्थियों को क्यों न बताया जाय ? स्वयं धवलसिद्धान्त में कहीं भी ऐसा नियंत्रण नहीं लगाया गया कि ये ग्रंथ मुनियों को ही पढ़ना चाहिये, गृहस्थों को नहीं। बल्कि, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, जगह जगह हमें आचार्य का यही संकेन मिलता है कि उन्होंने मनुष्य मात्र का ख्याल रखकर व्यख्यान किया है। उन्होंने जगह-जगह कहा है कि 'जिन भगवान् सर्वसत्त्वोपकारी होते हैं, और इसलिये सबकी समझदारी के लिये अमुक बात अमुक रीति से कही गई है। यदि सिद्धान्तों

को पढ़ने का निषेध है, तो वह अर्थ या विषय की दृष्टि से है कि भाषा की दृष्टि से, यह भी विचार कर लेना चाहिए । धवलादि सिद्धान्तग्रंथों की भाषा की दृष्टि से, यह भी विचारकर लेना चाहिए। धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों की भाषा वही है जो कुंदकुंदाचार्यादि प्राकृत ग्रंथकारों की रचनाओं में पाई जाती हे, जिसके अनेक व्याकरण आदि भी हैं। अतएव भाषा की दृष्टि से नियंत्रण लगाने का कोई कारण नहीं दिखता। यदि विषय की दृटि से देखा जाय तो यहां की तत्वचर्चा भी वही है जो हमे तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रंथों में मिलती है। फिर उसी चर्चा को गृहस्थ इन ग्रंथों में पढ़ सकता है, लेकिन उन ग्रंथों में नहीं, यह कैसी बात है ? यदि सिद्धान्त - पठन का निषेध है तो ये सब ग्रंथ भी उस निषेध-कोटि में आवेंगे। जब सिद्धान्ताध्ययन के निषेध वाले उपर्युक्त अत्यंत आधुनिक पुस्तकों को सिद्धान्त के पर्यायवाची शब्द *आगम* से उल्लिखित किया जा सकता है, तब एक अत्यन्त हीन दलील के पोषण-निमित्त गोम्मटसार व सर्वार्थसिद्धि जैसे ग्रन्थों को सिद्धान्तबाह्य कह देना चरमसीमा का साहस और भारी अविनय है। यथार्थत: सवार्थसिद्धि में तो कर्मप्राभृत के ही सूत्रों का अक्षरश: उसी क्रम से संस्कृत रूपान्तर पाया जाता है, जैसा कि धवला के प्रकाशित भागों के सूत्रों और उनके नीचे टिप्पणों में दिये गये सवार्थसिद्धि के अवतरणों में सहज ही देख सकते हैं। राजवार्तिक आदि ग्रंथों को धवलाकर ने स्वयं बड़े आदर से अपने मतों की पुष्टि में प्रस्तुत किया है। गोम्मटसार तो धवलादि का सारभूत ग्रंथ ही है, जिसकी गाथाएं की गाथाएं सीधी वहां से ली गई हैं। उसके सिद्धान्त रूप से उल्लेख किये जाने का एक प्रमाण भी ऊपर दिया जा चुका है। ऐसी अवस्था में इन पूज्य ग्रंथों को 'सिद्धान्त नहीं है' ऐसा कहना बड़ा ही अनुचित है।

मैं इस विषय को विशेष बढ़ाना अनावश्यक समझता हूं, क्योंकि, उक्त निषेध के पक्ष में न प्राचीन ग्रंथों का बल है और न सामान्य युक्ति या तर्क का। जान पड़ता है, जिस प्रकार वैदिक धर्म के इतिहास में एक समय वेद के अध्ययन का द्विजों के अतिरिक्त दूसरों को निषेध किया गया था, उसी प्रकार जैन सामज के गिरती के समय में किसी 'गुरु' ने अपने अज्ञान को छुपाने के लिये यह सार-हीन और जैन उदार-नीति के विपरीत बात चला दी, जिसकी गतानुगतिक थोड़ी सी परम्परा चलकर आज तक सद्ज्ञान के प्रचार में बाधा उत्पन्न कर रही है। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र और चामुण्डरायजी के विषय में जो कथा कही जाती है वह प्राचीन किसी भी ग्रंथ में नहीं पाई जाती और पीछे की निराधार निरी कल्पना प्रतीत होती है। ऐसी ही निराधार कल्पनाओं का यह परिणाम हुआ कि गत सैकड़ों

वर्षों में इन उत्तमोत्तम सिद्धान्त ग्रंथों का पठन-पाठन नहीं हुआ और उनका जैन साहित्य के निर्माण में जब जितना उपयोग होना चाहिये था, नहीं हुआ। यही नहीं, इनकी एक मात्र अवशिष्ट प्रतियां भी धीरे-धीरे विनष्ट होने लगी थीं। महाधवल की प्रति में से कितने ही पत्र अप्राप्य हैं और कितने ही छिद्रित हो जाने से उनमें पाठ स्खलन उत्पन्न हो गये हैं। यह जो लिखा है कि इन सिद्धान्त ग्रंथों की कापियां करा कराके जगह जगह विराजमान करा दी जानी चाहिए, सो ये कापियाँ कौन करेगा ? श्रावक ही तो ? या मुनिजनों को दिया जायगा, सो भी अल्पबुद्धि नहीं, विद्वान मुनियों को ? यथार्थतः गृहस्थों द्वारा ही तो उनकी प्रतिलिपियां की गई, और की जा सकती हैं, तथा गृहस्थों द्वारा ही उनका जो कुछ उद्धारसंभव है, किया जा रहा है। इसमें न तो कोई दूषण है, न बिगाड़। अब तो जैन सिद्धान्त को समस्त संसार में घोषित करने का यही उपाय है। हाथ कंकन को आरसी क्या ?

२. शंका का समाधान

पुस्तक १, पृष्ठ २३४

१. शंका - 'तद्भ्रमणमंतरेणाशुभ्रमज्जीवानां भ्रमद्भूम्यादिदर्शनानुपपत्तेः इति'। इस वाक्य का अर्थ मुझे स्पष्ट नहीं हो सका। उसमें पृथ्वी के परिभ्रमण का उल्लेख सा प्रतीत होता है। उसका अर्थ खोलकर समझाने की कृपा कीजिये।

(नेमीचंद जी वकील, सहारनपुर, पत्र २४.११.४१)

समाधान - प्रस्तुत प्रकरण में शंका यह उठाई गई है कि द्रव्येन्द्रियप्रमाण जीव-प्रदेशों का भ्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि, सर्व जीव-प्रदेशों के भ्रमण मानने पर उनके शरीर के सम्बन्ध-विच्छेद का प्रसंग आता है ? इस शंका का उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं ' यदि द्रव्येन्द्रियप्रमाण जीव-प्रदेशों का भ्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यन्त द्रुतगति से भ्रमण करते हुए जीवों का भ्रमण करती हुई पृथिवी आदि का ज्ञान नहीं हो सकता है।' इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई व्यक्ति शीघ्रता से चक्कर लेता है तो उसे कुछ क्षण के लिये अपने आस-पास चारों ओर का समस्त भूमंडल पृथिवी, पर्वत, वृक्ष, गृहादि घूमता हुआ दिखाई देता है। इसका कारण उपर्युक्त समाधान में यह सूचित किया गया है, कि उस व्यक्तिक शीघ्रता से चक्कर लेने की अवस्था में उसके जीव प्रदेश भी शरीर के भीतर ही भीतर शीघ्रता से भ्रमण करने लगते हैं, जिसके कारण उसे पृथिवी आदि सब घूमते हुए दिखाई देने लगते हैं। यदि द्रव्येन्द्रियप्रमाण जीव प्रदेशों को स्थिर

माना जाय तो उक्त अवस्था में भूमंडलादि के घमते हुए दिखने का कोई कारण नहीं रह जाता। इसलिये आचार्य कहते हैं कि 'आत्मप्रदेशों के भ्रमण करते समय द्रव्येन्द्रियप्रमाण आत्मप्रदेशों का भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिये'। आधुनिक मान्यतासम्बन्धी भूभ्रमणका तो दर्शन किसी को किसी अवस्था में भी होता नहीं है। इसलिये यहां उस भूमिभ्रमण का कोई उल्लेख नहीं प्रतीत होता।

पुस्तक २, पृ. ४२३.

२. शंका - नकशा नं. २ में प्राण के खाने में सयोगिकेवली की अपेक्षा २ प्राण भी होना चाहिये ? (रतनचंद जी मुख्तार, सहारनपुर. पत्र ३.४.४१)

समाधान- प्रस्तुत प्रकरण में अपर्याप्त जीवों के सामान्य आलाप बतलाए गए हैं, जिनमें क्रमशः संज्ञी पंचेन्द्रिय से लगाकर एकेन्द्रिय तक के समस्त जीवों की विवक्षा है, केवलिसमुद्घात जैसी विशेष अवस्थाओं की यहां विवक्षा नहीं है। इसी कारण शंकाकार द्वारा बतलाये गये २ प्राण न मूल टीका में कहे गये, न अनुवाद में लिये गये, और न उक्त नकशे में दिखाये गये। किन्तु पृष्ठ नं. ४४४ नकशा नं. २५ पर जहां सयोगिकेवली के ही आलाप बतलाये गये हैं, वहां पर साधारण अवस्था में होने वाले चार प्राणों का और विशेष अवस्था में होने वाले उक्त दो प्राणों का उल्लेख किया ही गया है।

पुस्तक २, पृ. ४३२ - ४३५

३. शंका - अर्थ में तथा नकशा नं. १४, १५, १६ और १७ में वेद के आलाप में जो तीन वेद कहे हैं सो वहां ३ भाव वेद कहना चाहिये।

(नानकचंद जी, खतौली, पत्र ता. १०.११.४१)

समाधान - नकशा नं. १४, १५, १६, १७ संबंधी आलापों में तथा इससे आगे पीछे के सभी आलापों में भाववेद की ही विवक्षा की गई है। धवलाकार ने लेश्या आलाप में जैसे द्रव्यलेश्या और भावलेश्या का विभाग कर पृथक् पृथक् वर्णन किया है, वैसा वेद आलाप में द्रव्यवेद और भाव वेद का विभाग कर मूल में कहीं वर्णन नहीं किया है। अतः उक्त नकशों में भी भाववेद लिखने की आवश्यकता नहीं समझी, यद्यपि तात्पर्य यहाँ तथा अन्यत्र भाववेद से है।

पुस्तक २, पृ. ४३४

४. शंका - पृष्ठ ४३३ पर जो प्रमत्तसंयत पर्याप्त तथा अपर्याप्त का कथन है, उनके यंत्र क्यों नहीं बनाए गए ? (नानकचंद जी, खतौली, पत्र ता. ११-११-४१)

समाधान - प्रस्तुत ग्रंथभाग में उन्हीं यंत्रों को बनाया गया है, जिनका वर्णन धवला टीका में पाया जाता है। प्रमत्तसंयत पर्याप्त तथा अपर्याप्त के आलापों का धवला टीका में कथन नहीं है, अत: उनके पृथक यंत्र भी नहीं बनाये गये। तो भी विषय के प्रसंगवश विशेषार्थ के अन्तर्गत सर्वसाधारण पाठकों के परिज्ञानार्थ पृ. ४३३ पर उनका कथन किया गया है।

पुस्तक २, पृ. ४५१

५. **शंका** - पृ. ४५१, यंत्र ३१, में प्राण में अ, लिखा है सो नहीं होना चाहिये ?

(नानकचंद जी खतौली, पत्र १०.११.४१)

समाधान- जिन गुणस्थानों या जीवसमासों में पर्याप्त और अपर्याप्त काल सम्बंधी आलाप सम्भव है, उनके सामान्य आलाप कहते समय पाठकों को भ्रम न हो, इसलिए पर्याप्त काल में सम्भव प्राणों के आगे प लिखा गया है। तथा अपर्याप्त काल में सम्भवित प्राणों के आगे अ लिखा गया है। इसी नियम के अनुसार प्रस्तुत यंत्र नं. ३१ में नारक सामान्य मिथ्यादृष्टियों के आलाप प्रकट करते समय पर्याप्त अवस्था में होने वाले १० प्राणों के नीचे प और अपर्याप्त अवस्था में सम्भव ७ प्राणों के आगे अ लिखा गया है।

पुस्तक २, पृ. ६२३

६. **शंका** - पृ ६२३ के विशेषार्थ में यह और होना चाहिए कि चौदहवें गुणस्थान में पर्याप्त का उदय रहता है, लेकिन नोकर्मवर्गणा नहींआती ?

(रतनचंदजी मुख्तार, सहारनपुर, पत्र ३.४.४१)

समाधान - उक्त विशेषार्थ में जो बात सयोगिकेवली के लिये कही गई है, वह अयोगिकेवली के लिये भी उपयुक्त होती है। अतएव वहां उक्त भावार्थ को लेने में कोई आपत्ति नहीं।

पुस्तक २, पृ. ८३८

७. **शंका** - यंत्र नं. २५३ के प्राण के खाने में ३, २ भी होना चाहिए क्योंकि, योग के खाने में ६ योग लिखे हैं ?

समाधान - योग के खाने में ६ योग लिखे जाने से ३ और २ प्राण और भी कहने की आवश्यकता प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। किन्तु, यहां पर ६ योगों का उल्लेख विवक्षा

भेद से ही किया गया है, जैसा कि मूल के 'अथवा तीन योग' इस कथन से स्पष्ट है, और जिसका कि अभिप्राय वहीं पर विशेषार्थ में स्पष्ट कर दिया गया है (देखो पृ. ३३८) । इसी कारण प्राणों के खाने में ३ और २ प्राणों का उल्लेख नहीं किया गया है ।

पुस्तक २, पृ. ६४८

८. शंका - पृ. ६४८ पर काययोगी अप्रमत्तसंयत जीवों के आलाप में वेद लिखा है सो यहां भाववेद होना चाहिए ?

समाधान- इसका उत्तर शंका नं. ३ में दे दिया गया है ।

पुस्तक २, पृ. ६५४, ६६०

९. शंका - पृष्ठ ६५४ पर समाधान जो पहला किया है, उसमें लिखा है कि 'अपर्याप्त योग में वर्तमान कपाटसमुद्घातगत सयोगकेवली का पहले के शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है । यही पृष्ठ ६६० पर समाधान करते हुए लिखा है । यह किस अपेक्षा से कहा है ? क्या समुद्घात में पूर्व मूल शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है ?

(नानकचंदजी, खतौली, पत्र १०.११.४१)

समाधान - 'अपर्याप्त योग में वर्तमान कपाटसमुद्घातगत सयोगकेवली का पहले के शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं रहता' इसका अभिप्राय यह लेना चाहिये कि उक्त अवस्था में जो आत्मप्रदेश शरीर से बाहर फैल गये हैं, उनका शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है । आत्मप्रदेशों के बाहर निकलने पर भी यदि शरीर के साथ सम्बन्ध माना जायगा, तो जिस परिमाण में जीव-प्रदेश फैले हैं, उतने परिमाणवाला ही औदारिकशरीर को होना पड़ेगा । किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं, अत: यह कहा गया है कि कपाटसमुद्घातगत सयोगकेवली का पहले के शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं रहता । किन्तु जो आत्मप्रदेश उस समय शरीर के भीतर हैं, उनसे तो सम्बन्ध बना ही रहता है । इसी प्रकार किसी भी समुद्घात की दशा में पूर्व मूलशरीर से सम्बन्ध नहीं छूटता है । समुद्घात के लक्षण में स्पष्ट ही कहा गया है । कि मूलशरीर को न छोड़कर जीव के प्रदेशों के बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं ।

पुस्तक २, पृ. ८०८

१०. शंका - पृ. ८०८ पंक्ति १२ में सात प्राण के आगे दो प्राण और होना चाहिए, क्योंकि, सयोगी के पर्याप्त अवस्था में दो प्राण होते हैं ।

(रतनचंद जी मुख्तार, सहारनपुर, पत्र ३४-४-१)

यंत्र नं. ४७७ में प्राण मं ४-१ प्राण और लिखना चाहिए।

(नानकचंदजी, खतौली, पत्र १०-११-४१)

समाधान - इसका उत्तर वही है जो कि शंका नं २ में दिया गया है।

पुस्तक ३, पृ. २३

११. शंका - $२^{२^{अ}}$ की वर्गशालाका अ होगी यह शुद्धज्ञात नहीं होता, क्योंकि $२^{२^{४}}$ =२५६ होता है, और २५६ की वर्गशालाका ३ है, ४ नहीं ?

(नेमीचंद जी वकील, सहारनपुर, पत्र २४-११-४१)

समाधान - $२^{२^{अ}}$ का अर्थ है २ का २ अ के प्रमाण वर्ग। अब यदि हम अ को ४ के बराबर मान लें तो - $२^{२^{अ}} = २^{२^{४}} = २^{१६}$ =२५६ X २५६ = ६५५३६, जिसकी वर्ग शलाका ४ होगी। शंकाकार ने भूल यह की है कि $२^{२^{अ}} = २\ (२^{२})^{अ}$ मान लिया है। किन्तु ऐसा नहीं है। प्रचलित पद्धति के अनुसार $२^{२^{अ}} = २^{(२^{अ})}$ होता है। अतएव अनुवाद में उदाहरण रूप से जो बात कही गई है उसमें कोई दोष नहीं है।

पुस्तक ३, पृ. ३०

१२. शंका - यहां सोलह राशिगत अल्पबहुत्व निरूपण में जो अभव्यों से सिद्धकाल का गुणकार छह महिनों के अष्टम भाग में एक मिला देने पर उत्पन्न हुई समय-संख्या से भाजित अतीत काल की अनन्तवां भागकहा है वह अशुद्ध प्रतीत होता है। मेरी राय में अतीत काल को छह माह आठ समय से भाग देने पर जो लब्ध आवे उसको ६०८ से गुणा करने पर उत्पन्न हुई राशि का अनन्तवां भाग गुणकार होना चाहिये ?

(नेमीचंद जी वकील, सहारनपुर,पत्र २४-११-४१)

समाधान - उक्त शंका में शंकाकार की दृष्टि उस प्रचलित मान्यता पर है जिसके अनुसार प्रत्येक छह माह आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं। किन्तु धवला में उक्त स्थल पर दिये गये अल्पबहुत्व में उक्त पाठ द्वारा उसकी सिद्धि नहीं होती, जब तक कि उस पाठ को विशेष रूप से परिवर्तित न किया जाय। उक्त स्थल का अर्थ करते समय हमारी भी दृष्टि इस बात पर थी। किन्तु उपलब्ध पाठ वैसा होने तथा मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रतियों के मिलान से भी उस पाठ में कोई परिवर्तन प्राप्त न होने से हम उस पाठ को बदलने या मूल को छोड़कर अर्थ करने में असमर्थ रहे। यथार्थत: उक्त पाठ से आगे जो सिद्धों का गुणकार हमने 'रूपशतपृथक्त्व' ग्रहण कर लिया था वह उपर्युक्त दृष्टि से ही केवल एक प्रति

के आधार पर किया था। किन्तु दो प्रतियों में उसके स्थान पर 'रूपदशपृथक्त्व ' पाठ था, और मूडबिद्री के प्रति-मिलान से भी इसी पाठ की पुष्टि हुई है। अत: इससे वह संदर्भ और भी शंकास्पद और विचारणीय हो गया है। अतएव जब तक कोई स्पष्ट प्रमाण इस सम्बन्ध का न मिल जावे तब तक उस सम्बन्ध में निर्णयात्मक कुछ नहीं कहा जा सकता।

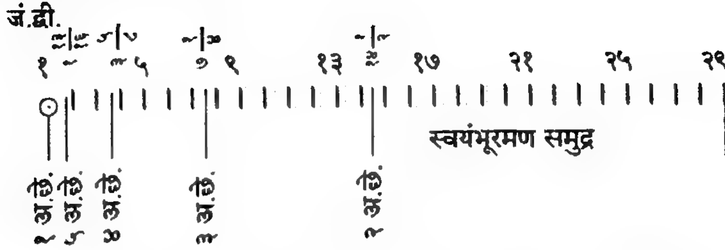
पुस्तक ३, पृ. ३५

१३. शंका - "रज्जु के अर्थधच्छेद उत्तरोत्तर एक एक द्वीप और एक-एक समुद्र में पड़ते हैं, किन्तु लवणसमुद्र में दो अर्धच्छेद पड़ेगें।" यह बात समझ में नहीं आती। जब धातकीखंड में एक अर्धच्छेद पड़ेगा, और लवणसमुद्र उसका आधा है, तब उसमें दो अर्धच्छेद कैसे पड़ जायेगें ?

(नेमीचंद जी वकील, सहारनपुर, पत्र २३.११.४१)

समाधान - उपर्युक्त शंका का समाधान रज्जु के अर्धच्छेदों की व्यवस्था को स्पष्टत: समझ लेने से सहज ही हो जाता है। समस्त तिर्यग्लोक एक रज्जुप्रमाण है। अत: रज्जु को प्रथम बार आधा करने से प्रथम अर्धच्छेद जम्बूद्वीप के मध्य में मेरुपर पड़ा। दूसरी बार जब हम रज्जु को आधा करेंगे तो यह दूसरा अर्धच्छेद स्वयंभूरमणद्वीप की परिधि से कुछ आगे चलकर स्वयंभूरमण समुद्र में पड़ेगा, क्योंकि, उक्त समुद्र का विस्तार भीतर के समस्त द्वीप-समुद्रों के सम्मिलित विस्तार से कुछ अधिक पड़ेगा, क्योंकि, उक्त समुद्र का विस्तार भीतर के समस्त द्वीप-समुद्रों के सम्मिलित विस्तार से कुछ अधिक है। इसी प्रकार रज्जु को तीसरी बार आधा करने पर तीसरा अर्धच्छेद स्वयंभूरमणद्वीप में उसकी प्रारम्भिक सीमा से कुछ और विशेष आगे चलकर पड़ेगा। इस प्रकार रज्जु उत्तरोत्तर छोटा होता जावेगा और उत्तरोत्तर अर्धच्छेद प्रत्येक द्वीप-समुद्र में पड़ते जावेंगे, किन्तु उनका स्थान उस-उस द्वीप-समुद्र की भीतरी परिधि से उत्तरोत्तर आगे को बढ़ता जावेगा। इस प्रकार होते होते अन्तिम समुद्र लवणसागर में एक अर्धच्छेद उसकी बाह्य सीमा के समीप और दूसरा उसकी भीतरी सीमा के समीप पड़ जावेगा। यही बात निम्न चित्र से और भी स्पष्ट हो जावेगी।

मान लो कि स्वयंभूरमणसमुद्र जम्बूद्वीप से आगे तीसरे बलय परहै, और उसी की बाह्य सीमा पर रज्जु का अन्त होता है। रज्जु का प्रथम अर्धच्छेद तो जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु पर पड़ेगा ही। अब वहां से आगे का विस्तार पचार हजार योजन को १ मान लेने पर केवल १+ ४+ ८+ १६ = २९ योजन रहा।



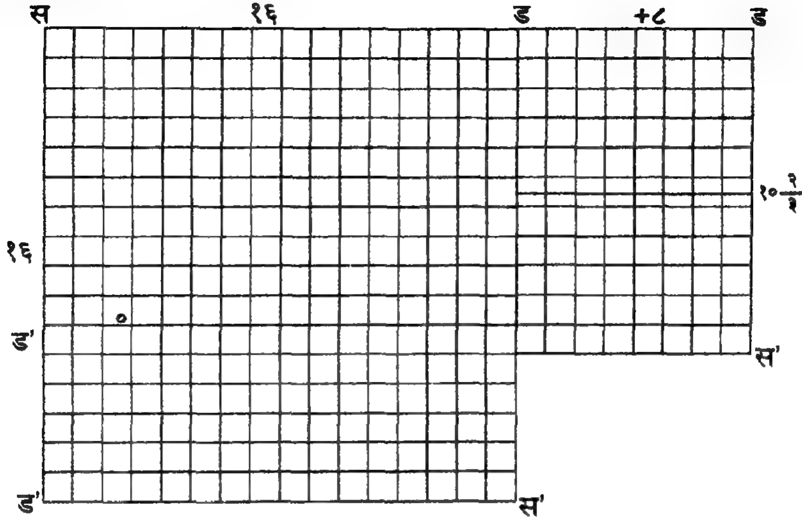
अतएव रज्जु का दूसरा अर्धच्छेद $१४\frac{१}{२}$ योजना पर स्वयं भूरमणसमुद्र में, तीसरा अर्धच्छेद $७\frac{१}{४}$ योजन पर उससे पूर्ववर्ती द्वीप में, चौथा अर्धच्छेद $३\frac{५}{८}$ योजन पर लवणसमुद्र की बाह्य सीमा के समीप, तथा पांचवां अर्धच्छेद $१\frac{१३}{१६}$ योजन पर लवणसमुद्र की आभ्यंतर सीमा के समीप पड़ेगा। इस प्रकार हम कितने ही द्वीप समुद्र आगे आगे मान लें तो भी लवणसमुद्र में अन्तत: दो ही अर्धच्छेद पड़ेंगें। यही बात त्रिलोकसागर की गाथा नं. ३५२-३५८ में कही गई है।

पुस्तक ३, पृ.४४

१४. शंका - पुस्तक ३ के पृ. ४४ पर क्षेत्राकार के द्वारा जो यह समझाया कि संपूर्ण जीवराशि के वर्ग को दूसरे भाग अधिक जीवराशि से भाजित करने पर तीसरा भागहीन जीवराशि प्राप्त होती है, सो यह बात वहां दिये गये आकार से समझ में नहीं आती। कृपया समझाइये ? (नेमीचंद जी वकील, सहारनपुर, पत्र २४.११.४१)

समाधान – मान लीजिये, सर्व जीवराशि १६ है, इसका वर्ग हुआ १६ X१६ =२५६. अब यदि हम इस जीवराशि के वर्ग (२५६) में जीवराशि (१६) का भाग देते हैं तो $\frac{२५६}{१६}=१६$ अर्थात् जीवराशि प्रमाण ही लब्धआता है। और यदि उसी जीवराशि के वर्ग में द्विभाग अधिक जीवराशि (१६ + ८ = २४) का भाग देते हैं तो त्रिभागहीन जीवराशिप्रमाण, अर्थात् $१६ - \frac{११}{३} = १०\frac{२}{३}$ आता है; जैसे $\frac{२५६}{२४} = १०\frac{२}{३}$

इसी बात को धवलाकार ने क्षेत्रमिति द्वारा भी समझाया है जिसका कि अनुवाद के साथ चित्र भी दिया गया है। इस चित्र में स ड जीव राशि (मानलो १६) है, उसको स ड' (१६) से वर्गित करने पर प्रतराकार क्षेत्र स ड स' ड' बन जाता है जिसमें अंक प्रमाण दिखाने के लिये यहां १६ X १२ = २५६ खंड किये जाते हैं। इस वर्ग क्षेत्र में जब हम स ड के १६ खंडों को भाजक मानते हैं तो स ड ' रूप १६ खंड लब्ध रहते हैं।



पर यदि हम स ड को दो भाग अधिक अर्थात् स डेवढ़ा (२४ खंड प्रमाण) कर दें, तो उसी वर्ग राशि प्रमाण क्षेत्रफल को नियत रखने के लिये हमें स ड' को त्रिभागहीन अर्थात् $१०\frac{२}{३}$ खंडप्रमाण कर लेना पड़ेगा, जो जीवराशि का त्रिभागहीन ($१६ - \frac{१६}{३}$) भाग है। यही आचार्य द्वारा समझाये गये और चित्र द्वारा दिखाये गये सिद्धान्त का अभिप्राय है।

पुस्तक ३, पृ. २७८-२७९

१५. शंका - यहां जो नारकी व स्वर्गवासियों की राशियां लाने के लिये विषकंभसूचियां व अवहारकाल बतलाये गये हैं वे खुद्दाबंध और जीवट्ठाण में न्यूनाधिक क्यों कहे गये हैं ? उनमें समानता मानने में क्या दोष आता है, सो समझ नहीं पड़ता। स्पष्ट कीजिये ? (नेमीचंद जी, वकील, सहारनपुर, पत्र २४.११.४१)

समाधान - खुद्दाबंध में जो नारकी व देवों का प्रमाण लाने के लिये विष्कंभसूचियां व अवहारकाल कहे गये हैं वे उन-उन जीवराशियों में गुणस्थान का भेद न करके सामान्यराशि के लिये उपयुक्त होते हैं। किन्तु यहां जीवस्थान में गुणस्थान की विवक्षा है, और प्रस्तुत में अन्य गुणस्थानों को छोड़कर केवल मिथ्यादृष्टियों का प्रमाण कहा जा रहा है जो सामान्यराशि से कुछ न्यून होगा ही। अत: इस न्यून राशि को बतलाने के लिये जीवट्ठाण में उसकी

विष्कंभसूची भी खुद्दाबंध में कथित विष्कंभसूची से कुछ न्यून, तथा अवहारकाल उससे अधिक कहा जाना आवश्यक है। यदि हम खुद्दाबंध में बतलाये गये सामान्य राशि की विष्कंभसूची को ही जीवट्ठाण में मिथ्यादृष्टिराशि की विष्कंभसूची मान लें तो उस समस्त सामान्य जीवराशि का मिथ्यादृष्टियों में ही समावेश होकर शेष गुणस्थानों के उक्त देवों व नारकियों में अभाव का प्रसंग आ जायगा। खुद्दाबंध और यहां जीवट्ठाण में विषकंभसूची और अवहारकाल को समान मान लेने में यही दोष उत्पन्न होता है।

विषय-परिचय (पु. ४)

जीवस्थान की पूर्व प्रकाशित दो प्ररूपणाओं - सत्प्ररूपणा और द्रव्यप्रमाणानुगम में क्रमशः जीव का स्वरूप, गुणस्थान व मार्गणास्थानानुसार भेद, तथा प्रत्येक गुणस्थान व मार्गणा स्थान संबंधी जीवों का प्रमाण व संख्या बतलाई जा चुकी है। अब प्रस्तुत भाग में जीवस्थानसंबंधी आगे की तीन प्ररूपणाएं प्रकाशित की जा रही हैं - क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम और कालानुगम।

१. क्षेत्रानुगम

क्षेत्रानुगम में जीवों के निवास व विहारादि संबंधी क्षेत्र का परिमाण बतलाया गया है। इस संबंध में प्रथम प्रश्न यह उठता है कि यह क्षेत्र है कहां ? इसके उत्तर में अनन्त आकाश के दो विभाग किये गये हैं। एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। लोकाकाश समस्त आकाश के मध्य में स्थित है, परिमित है और जीवादि पांच द्रव्यों का आधार है। उसके चारों तरफ शेष समस्त अनन्त आकाश अलोकाकाश है। उक्त लोकाकाश के स्वरूप और प्रमाण के संबंध में दो मत हैं। एक मत के अनुसार यह लोकाकाश अपने तलभाग में सातराजु व्यासवाला गोलाकार है। पुनः ऊपर को क्रम से घटता हुआ अपनी आधी उंचाई अर्थात् सात राजुपर एक राजु व्यासवाला रह जाता है। वहां से पुनः ऊपर को क्रम से बढ़ता हुआ साढ़े तीन राजु ऊपर जाकर पांच राजु व्यासप्रमाण हो जाता है और वहां पुनः साढ़े तीन राजु घटता हुआ अपने सर्वोपरि उच्च भाग पर एक राजु व्यासवाला रह जाता है। इस मत के अनुसार लोक का आकार ठीक अधोभाग में, वेत्रासन, मध्य में झल्लरी और ऊर्ध्वभाग में मृदंग के समान हो जाता है। किन्तु धवलाकार ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि, ऐसे लोक में जो प्रमाणलोक का घनफल जगश्रेणी अर्थात् सात राजु के घनप्रमाण

कहा है, वह प्राप्त नहीं होता। यह बात स्पष्टत: दिखलाने के लिये उन्होंने अपने समय के गणितज्ञान की विविध और अश्रुतपूर्व प्रक्रियाओं द्वारा इस प्रकार के लोक के अधोभाग व उर्ध्वभाग का घनफल निकाला है जो कुल $१६४\frac{३२८}{१३५६}$ घनराजु होने से श्रेणी के घन अर्थात् ३४३ घनराजु से बहुत हीन रह जाता है। इसलिये उन्होंने लोक का आकार पूर्व-पश्चिम दो दिशाओं में तो ऊपर की ओर पूर्वोक्त क्रम से घटता बढ़ता हुआ, किन्तु उत्तर-दक्षिण दो दिशाओं में सर्वत्र सात राजु ही माना है। इस प्रकार यह लोक गोलाकार न होकर समचतुरस्राकार हो जाता है और दो दिशाओं से उसका आकार वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के सदृश भी दिखाई दे जाता है। ऐसे लोक का प्रमाण ठीकश्रेणी का घन $७^{३}$ = ७ x ७ x ७ = ३४३ घनराजु हो जाता है। यही लोक जीवादि पांचों द्रव्यों का क्षेत्र है।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त ३४३ धनराजुप्रमाण केवल असंख्यात प्रदेशात्मक अत्यन्त परिमित क्षेत्र में अनन्त जीव व अनन्त पुद्गल परमाणु कैसे रह सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि जीवों और पुद्गल-परमाणुओं में अप्रतिघात रूप से अन्योन्यावगाहन शक्ति विद्यमान है जिसके कारण अंगुल के असंख्यातवें भाग में भी अनन्तानन्त जीवों का और जीव के भी प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त औदारिकादि पुद्गल परमाणुओं का अस्तित्व बन जाता है।

ओघ अर्थात् गुणस्थानों की अपेक्षा जीवों का क्षेत्र ४ सूत्रों में बतला दिया गया है कि मिथ्यादृष्टी जीव सर्वलोक में व अयोगिकेवली और शेष सासादनसम्यग्दृष्टि आदि समस्त बारह गुणस्थानों में से प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव लोक के असंख्यातवें भाग में, और सयोगिकेवली लोक के असंख्यातवें भाग में, असंख्यात बहु भागों में, तथा सर्वलोक में रहते हैं। धवलाकार ने इन सूत्र-वचनों को एक ओर जीवों की नाना अवस्थाओं का विचार करके, और दूसरी ओर सूक्ष्मतर क्षेत्रमान के लिये लोक को पांच विभागों में बांटकर बड़े विस्तार से समझाया है।

क्षेत्रावगाहनाकी अपेक्षा से जीवों की तीन अवस्थाएं हो सकती हैं (१) स्वस्थान (२) समुद्घात और (३) उपपाद। स्वस्थान भी दो प्रकार का है - अपने स्थायी निवास के क्षेत्र को स्वस्थान-स्वस्थान, और अपने विहार के क्षेत्र को विहारवत्स्वस्थान कहते हैं। जीव के प्रदेशों का उनके स्वाभाविक संगठन से अधिक फैलना समुद्घात कहलाता है। वेदना और पीड़ा के कारण जीव-प्रदेशों के फैलने को वेदनासमुद्घात कहते हैं। क्रोधादि

कषायों के कारण जीव-प्रदेशों के विस्तार को कषायसमुद्घात कहते हैं। इसी प्रकार अपने स्वाभाविक शरीर के आकार को छोड़कर अन्य शरीराकार परिवर्तन को वैक्रियिकसमुद्घात, मरने के समय अपने पूर्व शरीर को न छोड़कर नवीन उत्पत्तिस्थान तक जीव प्रदेशों के विस्तार को मारणान्तिक, तैजसशरीर की अप्रशस्त व प्रशस्त विक्रिया को तैजसमुद्घात, ऋद्धि प्राप्त मुनियों के शंका-निवारणार्थ जीव प्रदेशों के प्रस्तार को आहारकसमुद्घात और सर्वज्ञताप्राप्त केवली के प्रदेशों का शेष कर्मक्षय-निमित्त दंडाकार, कपाटाकार, प्रतराकार, व लोकपूरणरूप प्रस्तार को केवलिसमुद्घात कहते हैं - जीवका अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर तीर के समान सीधे, व एक, दो या तीन मोड़े लेकर अन्य पर्याय के ग्रहणक्षेत्र तक गमन करने को उपपाद कहते हैं। इन्हीं दश-अर्थात् (१) स्वस्थानस्वस्थान (२) विहारवत्स्वस्थान (३) वेदनासमुद्घात (४) कषायसमुद्घात (५) वैक्रियिकसमुद्घात (६) मारणान्तिकसमुद्घात (७) तैजससमुद्घात (८) आहारकसमुद्घात (९) केवलिसमुद्घात ओर (१०) उपपाद अवस्थाओं की अपेक्षा से यथासम्भव जीव के भिन्न-भिन्न गुणस्थानों और मार्गणास्थानों का क्षेत्रप्रमाण इस क्षेत्ररूपणा में बतलाया गया है।

सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम क्षेत्रमान के लिये धवलाकार ने पांच प्रकार से लोक का ग्रहण किया है (१) समस्त लोक या सामान्य लोक जो ७ राजुका घनप्रमाण है (२) अधोलोक जो १९६ घनराजुप्रमाण है (३) ऊर्ध्वलोक जो १४७ घनराजुप्रमाण है (४) तिर्यकलोक या मध्यलोक जो १ राजु के प्रतर या वर्ग प्रमाण है; और (५) मनुष्यलोक जो अढ़ाई द्वीपप्रमाण, अर्थात् ४५ लाख व्यासवाला वर्तुलाकार क्षेत्र है। किसी भी एक प्रकार के जीवों का क्षेत्रमान बतलाने के लिये धवलाकार ने उस उस जातिविशेषवाली प्रधान राशि को लेकर उसके क्षेत्रावगाहनका विचार किया है। उदाहरणार्थ- विहारवत्स्वस्थान वाले मिथ्यादृष्टियों के क्षेत्र का विचार करते समय उन्होंने त्रसपर्याप्तराशि को ही विहार करने की योग्यता रखनेवाली मानकर पहले यह निर्दिष्ट कर दिया कि किसी भी समय में इस राशि का संख्यातवां भाग ही विहार करेगा। फिर उन्होंने इस विहार करनेवाली राशि में स्वयंप्रभनागेन्द्र पर्वत के परभागवर्ती बड़े-बड़े त्रस जीवों का विचार किया, जिनमें द्वीन्द्रिय जीव शंख बारह योजनका, त्रीन्द्रिय गोम्ही तीन कोसकी, चतुरिन्द्रिय भ्रमर एक योजनका और पंचेन्द्रिय मच्छ एक हजार योजन का होता है। अतएव ऐसे प्रत्येक जीव का उन्होंने क्षेत्रमिति के सूत्र व विधान देकर प्रमाणांगुलों में घनफल निकाला, और फिर इस उत्कृष्ट अवगाहना में जघन्य अवगाहनाका अंगुल का असंख्यातवां भाग जोड़कर उसका आधा

किया जिससे उस राशि के एक जीव की मध्यम अर्थात् औसत अवगाहना संख्यात घनांगुल आगई। समस्त त्रस पर्याप्तराशि प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग से भाजित जगप्रतरप्रमाण है और इसका केवल संख्यातवां भाग विहार करता है। अत: इस संख्यातवें भाग को पूर्वोक्त घनफल से गुणा करने पर विहारवत्स्वस्थान मिथ्यादृष्टिराशि का क्षेत्र संख्यात सूच्यंगुलगुणित जगप्रतरप्रमाण होता है, जो लोकका असंख्यातवां भाग और उसी प्रकार अधोलोक और ऊर्ध्वलोक का भी असंख्यातवां भाग, तिर्यग्लोक का संख्यातवाँ भाग और मनुष्यलोक या अढ़ाईद्वीप से असंख्यात गुणा होगा।

२. स्पर्शनानुगम

स्पर्शनप्ररूपणा में यह बतलाया गया है कि भिन्न-भिन्न गुणस्थान वाले जीव, तथा गति आदि भिन्न-भिन्न मार्गणास्थानवाले जीव तीनों कालों में पूर्वोक्त दश अवस्थाओं द्वारा कितना क्षेत्र स्पर्श कर पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि क्षेत्र और स्पर्शन प्ररूपणाओं में विशेषता इतनी ही है कि क्षेत्रप्ररूपणा तो केवल वर्तमानकाल की ही अपेक्षा रखती है, किन्तु स्पर्शनप्ररूपणा में अतीत और अनागतकाल का भी, अर्थात् तीनों कालों का क्षेत्रमान ग्रहण किया जाता है।

उदाहरणार्थ- क्षेत्रप्ररूपणा में सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों का क्षेत्र लोक का असंख्यातवां भाग बताया गया है। यह क्षेत्र वर्तमानकाल से ही सम्बन्ध रखता है, अर्थात् वर्तमान में इस समय स्वस्थानादि यथासंभव पदों को प्राप्त सासादनसम्यग्दृष्टि जीव लोक के असंख्यात में भागप्रमाण क्षेत्र को व्याप्त करके विद्यमान है। यही बात स्पर्शप्ररूपणा में वर्तमानकालिक स्पर्शन को बताते समय कही है। उसके पश्चात् दूसरे सूत्र में अतीतकाल सम्बंधी स्पर्शनक्षेत्र बतलाया गया है। कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों ने अतीतकाल में देशोन आठ बटे चौदह ($\frac{८}{१४}$) और बारह बटे चौदह ($\frac{१२}{१४}$) भाग स्पर्श किए हैं। इसका अभिप्राय जान लेना आवश्यक है। तीन सौ तेतालीस धनराजुप्रमित इस लोकाकाश के ठीक मध्य भाग में वृक्ष में सार के समान एक राजू लम्बी चौड़ी और चौदह राजु ऊंची लोकनाली अवस्थित है। इसे त्रसनाली भी कहते हैं, क्योंकि, त्रसजीवों का संचार इसके ही भीतर होता है। केवल कुछ अपवाद हैं, जिनमें कि इसके भी बाहर त्रसजीवों का पाया जाना संभव है। इस त्रसनाली के एक एक राजु लम्बे, चौड़े और मोटे भाग बनाए जावें तो चौदह भाग होते हैं। उनमें से जो जीव जितने धनराजु प्रमाण क्षेत्र को स्पर्श करता है, उसका उतना ही स्पर्शन क्षेत्र माना जाता है। जैसे प्रकृत में सासादनसम्यग्दृष्टियों का स्पर्शनक्षेत्र आठ बटे

चौदह ($\frac{८}{१४}$) या बारह बटे चौदह ($\frac{१२}{१४}$) भाग बताया गया है। इनमें से विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिकसमुद्घातगत सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों ने उक्त त्रसनाली के चौदह भागों में से आठ भागों को स्पर्श किया है, अर्थात् आठ घनराजु प्रमाण त्रसनाली के भीतर ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है कि जिसे अतीतकाल में सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों ने (देव, मनुष्य, तिर्यच और नारकी, इन सभी ने मिलकर) स्पर्श न किया हो। यह आठ घनराजुप्रमाण क्षेत्र त्रसनाली के भीतर जहां कहीं नहीं लेना चाहिए, किन्तु नीचे तीसरी बालुका पृथिवी से लेकर ऊपर सोलहवें अच्युतकल्प तक लेना चाहिये। इसका कारण यह है कि भवनवासी देव स्वत: नीचे तीसरी पृथिवी तक विहार करते हैं, और ऊपर सौधर्मविमान के शिरध्वजदंड तक। किन्तु उपरिम देवों के प्रयोग से ऊपर अच्युतकल्प तक भी विहार कर सकते हैं (देखो, पृ.२२९)। उनके इतने क्षेत्र में विहार करने के कारण उक्त क्षेत्र का मध्यवर्ती एक भी आकाश प्रदेश ऐसा नहीं बचा है कि जिसे अतीत काल में उक्त गुणस्थानवर्ती देवों ने स्पर्श न किया हो। इस प्रकार इस स्पर्श किये क्षेत्र को लोकनाली के चौदह भागों में से आठ भाग प्रमाण स्पर्शनक्षेत्र कहते हैं। मारणान्तिकसमुद्घात की अपेक्षा उक्त गुणस्थानवर्ती जीवों ने लोकनाली के चौदहभागों में से बारह भाग स्पर्श किये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि छठी पृथिवी के सासादनगुस्थानवर्ती नारकी मध्यलोक तक मारणान्तिकसमुद्घात कर सकते हैं, और सासदनसम्यग्दृष्टि भवनवासी आदि देव आठवी पृथिवी के ऊपर विद्यमान पृथिवीकायिक जीवों में मारणान्तिकसमुद्घात कर सकते हैं, या करते हैं। इस प्रकार मेरुतल से छठी पृथिवी तक के ५ राजु और ऊपर लोकान्त तक के ७ राजु, दोनों मिलाकर १२ राजु हो जाते हैं। यही बारह घनराजुप्रमाण क्षेत्र त्रसनाली के बारह बटे चौदह ($\frac{१२}{१४}$) भाग, अथवा त्रसनाली के चौदह भागों में से बारह भाग प्रमाण स्पर्शनक्षेत्र कहा जाता है।

इस उक्त प्रकार से बतलाए गए स्पर्शन क्षेत्र को यथासंभव जान लेना चाहिए। ध्यान रखने की बात केवल इतनी ही है कि वर्तमानकालिक स्पर्शनक्षेत्र तो लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण ही होता है, किन्तु अतीतकालिक स्पर्शनक्षेत्र त्रसनाली के चौदह भागों में से यथासंभव $\frac{१}{१४}$, $\frac{२}{१४}$ को आदि लेकर $\frac{१२}{१४}$ तक होता है। तथा मिथ्यादृष्टि जीवों का मारणान्तिक,वेदना, कषायसमुद्घात आदि की अपेक्षा सर्वलोक स्पर्शनक्षेत्र होता है, क्योंकि, सारे लोककर्म में सर्वत्र ही एकेन्द्रिय जीव ठसाठस भरे हुए हैं और गमनागमन कर रहे हैं, अतएव उनके द्वारा समस्त लोकाकाश वर्तमान में भी स्पर्श हो रहा है और अतीतकाल में भी स्पर्श किया जा चुका है।

इन एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवों के अतिरिक्त सयोगिकेवली भगवान् भी प्रतरसमुद्घात के समय लोक के असंख्यात बहु भागों को और लोकपूरणसमुद्घात के समय सर्व लोकाकाश को स्पर्श करते हैं। तथा उपपाद और मारणान्तिक समुद्घातवाले त्रसजीवों का भी त्रसनाली के बाहर अस्तित्व पाया जाता है। वह इस प्रकार से कि लोक के अन्तिम वातवलय में स्थित कोई जीव मरण करके विग्रहगति द्वारा त्रसनाली के अन्त:स्थित त्रसपर्याय में उत्पन्न होने वाला है वह जीव जिस समय मरण करके प्रथम मोड़ा लेता है, उस समय त्रसपर्याय को धारण करने पर भी वह त्रसनाली के बाहर है, अतएव उपपाद की अपेक्षा त्रसजीव त्रसनाली के बाहर रहता है। इसी प्रकार त्रसनाली में स्थित किसी ऐसे त्रसजीवने जिसे कि त्रसनाली के बाहर मरकर उत्पन्न होना है, मारणान्तिकसमुद्घात के द्वारा त्रसनाली के बाहर के आकाश-प्रदेशों का स्पर्श किया, तो उस समय भी त्रसजीवका अस्तित्व त्रसनाली के बाहर पाया जाता है, (देखो. पृ. २१२)। उक्त तीन अवस्थाओं को छोड़कर शेष त्रसजीव त्रसनाली के बाहर कभी नहीं रहते हैं।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणास्थानों में उक्त स्वस्थानादि दश पदों को प्राप्त जीवों का स्पर्शनक्षेत्र इस स्पर्शनप्ररूपणा में बतलाया गया है।

स्पर्शनप्ररूपणा की कुछ विशेष बातें

सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों का क्षेत्र निकालते हुए प्रसंगवश असंख्यात द्वीप-समुद्रों के ऊपर आकाश में स्थित समस्त चंद्रों के प्रमाण को भी गणितशास्त्र के अनेक अदृष्टपूर्व करणसूत्रों के द्वारा निकाला गया है और साथ ही यह बतलाया गया है कि एक चंद्र के परिवार में एक सूर्य, अठासी ग्रह, अट्ठाईस नक्षत्र और छयासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ाकोड़ी (६६९७५००००००००००००००) तारे होते हैं। इस चारों प्रकार के परिवार के प्रमाण से चन्द्रबिम्बों की संख्या को गुणा कर देने पर समस्त ज्योतिष्क देवों का प्रमाण निकल आता है।

इसी बीच में धवलाकार ने ज्योतिष्क देवों के भागहार को उत्पन्न करने वाले सूत्र से अवलम्बित युक्ति के बल से यह सिद्ध किया है कि चूंकि-स्वयंभूरमण समुद्र के परभाग में भी राजु के अर्धच्छेद पाये जाते हैं, इसलिए स्वयंभूरमणसमुद्र के परभाग में भी असंख्यात द्वीप-समुद्रों के व्यास-रुद्ध योजनों से संख्यात हजार गुने योजन आगे जाकर तिर्यग्लोक की समाप्ति होती है, अर्थात् स्वयंभू रमणसमुद्र की बाह्यवेदिका के परे भी पृथिवी का अस्तित्व है वहां भी राजु के अर्धच्छेद उपलब्ध होते हैं; किन्तु वहां पर ज्योतिषी देवों के विमान नहीं हैं। (देखो पृ. १५०-१६०)

इसी प्रकरण में उन्होंने अपनी उक्त बात की पुष्टि करते हुए जो उदाहरण दिए हैं, उनसे एकदम तीन ऐसी बातों पर प्रकाश पड़ता है, जिनसे पता चलता है कि वे बातें वीरसेनाचार्य के पूर्ववर्ती दिगम्बर साहित्य में प्रतिष्ठित नहीं थीं और सर्व प्रथम इन्हींने उनकी प्रतिष्ठा की है।

वे नवीन प्रतिष्ठित तीनों बातें इस प्रकार हैं -

१ 'संख्यात आवलियों का एक अन्तर्मुहूर्त होता है' इस प्रचलित और सर्वमान्य मान्यता को भी 'एदेहि पलिदोवममवहिरदि अंतोमुहुत्तेण कालेण' (द्रव्यप्र. सू ६) इस सूत्र के आधार से 'अन्तर्मुहूर्त' इस पद में पड़े हुए अन्तर शब्द को सामीप्यार्थक मानकर यह सिद्ध किया है कि अन्तर्मुहूर्त का अभिप्राय मुहूर्त से अधिक काल का भी हो सकता है।

२. दूसरी बात आयतचतुरस्र लोक-संस्थान के उपदेश की है, जिसका अभिप्राय समझने के लिये इसी भाग के पृ. ११ से २२ तक का अंश देखिए। उससे ज्ञात होता है कि धवलाकार के सामने विद्यमान करणानुयोगसम्बन्धी साहित्य में लोक के आयतचतुरस्राकार होने का विधान या प्रतिषेध कुछ भी नहीं मिल रहा था, तो भी उन्होंने प्रतरमुद्घातगत केवली के क्षेत्र के साधनार्थ कही गई दो गाथाओं के (देखो इसी भाग के पृ. २०-२१) आधार पर यही सिद्ध किया है कि लोक का आकार आयतचतुष्कोण है, न कि अन्य आचार्यों से प्ररूपित $१६४\frac{३२८}{१३५६}$ घनराजु प्रमाण मृदंग के आकार का। साथ ही उनका दावा है कि यदि ऐसा न माना जायगा तो उक्त दोनों गाथाओं को अप्रमाणता और लोक में ३४३ घनराजुओं का अभाव प्राप्त होगा। इसलिए लोक का आकार आयतचतुस्र ही मानना चाहिए।

३. तीसरी बात स्वयंभूरमण समुद्र के परभाग में पृथिवी के अस्तित्व सिद्ध करने की है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। (देखो पृ. १५५ - १५८ तक)

इस प्रकार बड़े जोरदार शब्दों में उक्त तीनों बातों का समर्थन करने के पश्चात् भी उनकी निष्पक्षता दर्शनीय है। वे लिखते हैं - 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार एकान्त हठ पकड़कर के असद आग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि, परमगुरुओं की परम्परा से आये हुए उपदेशको युक्ति के, बल से अयथार्थ सिद्ध करना अशक्य है, तथा अतीन्द्रिय पदार्थों में छद्मस्थ जीवों के द्वारा उठाए गए विकल्पों के अविसंवादी होने का नियम नहीं है। अतएव पुरातन आचार्यों के व्याख्यान का परित्याग न करके हेतुवाद (तर्कवाद) के अनुसरण करने वाले व्युत्पन्न शिष्यों के अनुरोध से तथा अव्युत्पन्न शिष्यजनों के व्युत्पादन के लिये यह दिशा भी दिखाना चाहिए। (देखो. पृ.१५७-१५८)

तिर्यचों के स्वस्थानस्वस्थानक्षेत्र का निकालते हुए द्वीप और समुद्रों का क्षेत्रफल अनेक कारणसूत्रों द्वारा पृथक् और सम्मिलित निकालने की प्रक्रियाएँ दी गई हैं, और साथ ही यह भी सिद्ध किया गया है कि इस मध्यलोक में कितना भाग समुद्र से रुका हुआ है।

(देखो. पृ. १९४-२०३)

कायमार्गणा में बादर पृथिवी कायिक जीवों के स्पर्शन-क्षेत्र को बतलाते हुए रत्नप्रभादि सातों पृथिवियों की लम्बाई चौड़ाई का भी प्रमाण बतलाया गया है।

३. कालानुगम

उक्त प्ररूपणाओं के समान कालप्ररूपणा में भी ओघ और आदेश की अपेक्षा काल का निर्णय किया गया है, अर्थात् यह बतलाया गया है कि यह जीव किस गुणस्थान या मार्गणास्थान में कम से कम कितने काल तक रहता है, और अधिक से अधिक कितने काल रहता है।

उदाहरणार्थ - मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वगुणस्थान में कितने काल तक रहते हैं इस प्रश्न के उत्तर में बतलाया गया है कि नाना जीवों की अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि जीव सर्वकाल ही मिथ्यात्व गुण स्थान में रहते हैं, अर्थात् तीनों कालों में ऐसा एक भी समय नहीं है, जबकि मिथ्यादृष्टि जीव न पाये जाते हों। किन्तु, एक जीव की अपेक्षा मिथ्याकाल तीन प्रकार का होता है - अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। जो अभव्य जीव है, अर्थात् त्रिकाल में भी जिनको सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं होना है, ऐसे जीवों के मिथ्यात्व का काल अनादि-अनन्त होता है, क्योंकि, उनके मिथ्यात्वका न कभी आदि है, न अन्त।जो अनादिमिथ्यादृष्टि भव्य जीव है, उनके मिथ्यात्व का काल अनादि-सान्त है, अर्थात अनादि काल से आज तक सम्यक्त्व की प्राप्ति न होने से तो उनका मिथ्यात्व अनादि है, किन्तु आगे जाकर सम्यक्त्व की प्राप्ति और मिथ्यात्व का अन्त हो जाने से वह मिथ्यात्व सान्त है। धवलाकार ने इस प्रकार के जीवों में वर्द्धनकुमार दृष्टान्त दिया है, जो कि उस पर्याय में सर्वप्रथम सम्यक्त्वी हुए थे। इस प्रकार सर्वप्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले जीवों के सम्यक्त्वप्राप्ति के पूर्व समय तक उनके मिथ्यात्व का काल अनादि-सान्त समझना चाहिए। जिन जीवों ने एक बार सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया, तथापि परिणामों के संक्लेशादि निमित्त से जो फिर भी मिथ्यात्व का आदि और अन्त, ये दोनों पाये जाते हैं। इस प्रकार के जीवों में भी श्रीकृष्ण का दृष्टान्त धवलाकार ने दिया है।

प्रकृत में अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त मिथ्यात्व के काल को छोड़कर सादि-सन्त मिथ्यात्व काल की ही विवक्षा की गई है, और उसी की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल बतलाया गया है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहुर्त बतलाया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई सम्यग्मिथ्यादृष्टि, या असंयतसम्यग्दृष्टि या संयतासंयत या प्रमत्तसंपत जीव परिणामों के निमित्त से मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और मिथ्यात्वदशा में सबसे छोटे अन्तर्मुहुर्तकाल तक रहकर पुनः सम्यग्मिथयात्व को, या असंयतसम्यक्त्व को, या संयमासंयम अथवा अप्रमत्तसंयम को प्राप्त हो गया, तो ऐसे जीव के मिथ्यात्वका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण पाया जाता है। ऐसे मिथ्यात्व को सादि-सान्तकहते हैं, क्योकि, उसका आदि और अन्त, दोनों पाये जाते हैं। इसी सादि-सन्त मिथ्यात्व का उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण है। इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई जीव प्रथम बार सम्यक्त्वी होकर पुनः मिथ्यात्वी हो जाता है तो वह अधिक से अधिक अर्धपुद्गल-परिवर्तन काल के भीतर अवश्य ही पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करमोक्ष चला जाता है। (अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल के लिये देखिये पृ. ३२५-३३२)

इसी प्रकार शेष गुणस्थानों के भी जघन्य और उत्कृष्ट काल बतलाये गये हैं।

गुणस्थानों की अपेक्षा से जीवों के क्षेत्र, स्पर्शन और काल का प्रमाण

(पु. ४ प्रस्ता. पृ. २१ अ)

गुणस्थान	क्षेत्र	स्पर्शन		काल नाना जीवों की अपेक्षा		काल एक जीव की अपेक्षा	
		वर्तमानकालिक	अतीत अनागतकालिक			जघन्यकाल	उत्कृष्टकाल
१ मिथ्यादृष्टि	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वकाल		(सा.सां मि.) अन्तर्मुहूर्त	देशोन अर्धपुद्गलपरिवर्तन
				जघन्य	उत्कृष्ट		
२ सासादनसम्यग्दृष्टि	लोक का असंख्यातवां भाग	लोक का असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ और $\frac{१२}{१४}$ राजु	एकसमय	पल्यो असं भाग	एकसमय	छहआवली
३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि	,,	,,	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु	अन्तर्मुहूर्त	,,	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
४. असंयतसम्यग्दृष्टि	,,	,,	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु	सर्वकाल		,,	साधिक तेतीस सागरोपम
५. संयतासंयत	,,	,,	देशोन $\frac{६}{१४}$ राजु	,,		,,	देशोन पूर्वकोटी वर्ष
६. प्रमत्तसंयत	,,	,,	लोक का असंख्यातवां भाग	,,		एकसमय	अन्तर्मुहूर्त
७. अप्रमत्तसंयत	,,	,,	,,	,,		,,	,,
				जघन्य	उत्कृष्ट		
८. अपूर्वकरण	,,	,,	,,	उप. एकसमय क्षपक अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त ,,	एक समय अन्तर्मुहूर्त	,, ,,
९. अनिवृत्तिकरण	,,	,,	,,	उप. एक समय क्षपक अन्तर्मुहूर्त	,, ,,	एक समय अन्तर्मुहूर्त	,,
१० सूक्ष्मसाम्पराय	,,	,,	,,	उप. एक समय क्षपक अन्तर्मुहूर्त	,, ,,	एक समय अन्तर्मुहूर्त	,,
११. उपशान्तकषाय	,,	,,	,,	एकसमय	,,	एकसमय	,,
१२. क्षीण मोह	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
१३ सयोगिकेवली	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	सर्वकाल		,,	देशोन पूर्वकोटी वर्ष
१४ अयोगिकेवली	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	,,	अन्तर्मुहूर्त

गुणस्थानों की अपेक्षा जीवों के क्षेत्र, स्पर्शन और काल का प्रमाण

(पु. ४ प्रस्ता. पृ. २१ अ)

गुणस्थान	मार्गणा के अवान्तर भेद	क्षेत्र	स्पर्शन		काल नाना जीवों की अपेक्षा	काल एक जीव की अपेक्षा	
			वर्तमानकालिक	अतीत अनागतकालिक		जघन्यकाल	उत्कृष्टकाल
१ गतिमार्गणा	नरकगति	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{६}{१४}$ राजु (उत्कृष्ट)	सर्वकाल	अन्तर्मुहूर्त	तेतीस सागरोपम
	तिर्यंचगति	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वलोक	"	"	अनन्तकाल असंख्यात पद्गलपरिवर्तन
	मनुष्यगति	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवा भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	"	"	"	तीन पल्योपम और पूर्वकोटी पृथक्त्व
	देवगति	लोक का असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यतवा भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ और $\frac{९}{१४}$ राजु (उत्कृष्ट)	"	"	तेतीस सागरोपम
२ इन्द्रियमार्गणा	एकेन्द्रिय	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वलोक	"	क्षुद्रभवग्रहण	अनन्तकाल असंख्यात पद्गलपरिवर्तन
	विकलत्रय	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	"	"	"	संख्यात हजार वर्ष
	पंचेन्द्रिय	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु, सर्वलोक	"	अन्तर्मुहूर्त	एक हजार सागरोपम पूर्व कोटिपृथक्त्व से अधिक
३ कायमार्गणा	पांच स्थावरकायिक	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वलोक	"	क्षुद्रभवग्रहण	अनन्तकाल असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन
	त्रसकायिक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहु " सर्वलोक	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु, सर्वलोक	"	अन्तर्मुहूर्त	दो हजार सागरोपम पूर्व कोटिपृथक्त्व से अधिक
४ योगमार्गणा	मनोयोगी	लोका असंख्यातवा भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	" " " "	"	एकसमय	अन्तर्मुहूर्त
	वचनयोगी	लोका असंख्यातवा भाग	लोका असंख्यातवां भाग	" " " "	"	"	"
	काययोगी	लोका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	सर्वलोक	"	"	अनन्तकाल असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन
५ वेदमार्गणा	स्त्रीवेदी	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ और $\frac{९}{१४}$ राजु सर्वलोक	"	अन्तर्मुहूर्त	पल्योपमशतपृथक्त्व
	पुरुषवेदी	लोकका असंख्यातवा भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	" " " " " " "	"	"	सागरोपमशतपृथक्त्व
	नपुंसकवेदी	सर्वलोक	सर्वलोक	" " " " " " "	"	"	अनन्तकाल असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन
	अपगतवेदी	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	जघन्य उत्कृष्ट एकसमय अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त सर्वकाल अन्तर्मुहूर्त	"	अन्तर्मुहूर्त, देशोन पूर्वकोटि वर्ष

गुणस्थानों की अपेक्षा जीवों के क्षेत्र, स्पर्शन और काल का प्रमाण

(पु. ४ प्रस्ता पृ. २९ अ)

गुणस्थान	मार्गणा के अवान्तर भेद	क्षेत्र	स्पर्शन		नाना जीवों की अपेक्षा	काल	एक जीव की अपेक्षा
			वर्तमानकालिक	अतीत अनागतकालिक		जघन्यकाल	उत्कृष्टकाल
६. कषायमार्गणा	क्रोधादिचतुष्कषायी	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वकाल	एकसमय	अन्तर्मुहूर्त
	अकषायी	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहु भाग सर्वलोक	अन्तर्मुहूर्त और सर्वकाल	एकसमय अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त, और देशोन पूर्वकोटी वर्ष
	कुमति-कुश्रुतज्ञानी	"	"	"	सर्वकाल	अन्तर्मुहूर्त	देशोन अर्धपुद्गलपरिवर्तन
	विभंगज्ञानी	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु सर्वलोक	"	"	तेतीस सागरोपम
७. ज्ञानमार्गणा	मति-श्रुत अवधि	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु	"	"	साधिक " "
	मनःपर्ययज्ञानी	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	"	"	देशोन पूर्वकोटि वर्ष
	केवलज्ञानी	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यातवां भाग सर्वलोक	"	"	देशोन पूर्वकोटि वर्ष
	सामायिक आदि चार संयमी	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	जघन्य उत्कृष्ट एकसमय अन्तर्मुहूर्त	एकसमय	अन्तर्मुहूर्त
८. संयममार्गणा	यथाख्यातसंयमी	" " " लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	" " " लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	" " " लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	" " अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त	" देशोन पूर्वकोटी वर्ष
	संयतासंयमी	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{६}{१४}$ राजु	सर्वकाल	"	देशोन पूर्वकोटीवर्ष
	असंयमी	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वलोक	"	"	अर्धपुद्गलपरिवर्तन
	अचक्षुदर्शनी	"	"	"	"	"	अनन्तकाल असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन
	चक्षुदर्शनी	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु	"	"	दो हजार सागरोपम
९. दर्शनमार्गणा	अवधिदर्शनी	" " " लोकका असंख्यातवां भाग	" " " लोकका असंख्यातवां भाग	" " " लोकका असंख्यातवां भाग	"	"	साधिक तेतीस "
	केवलदर्शनी	लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यात बहु भाग सर्वलोक	"	"	देशोन पूर्वकोटी वर्ष

गुणस्थानों की अपेक्षा जीवों के क्षेत्र, स्पर्शन और काल का प्रमाण

(पु. ४ प्रस्ता. पृ. २९ अ)

गुणस्थान	मार्गणा के अवान्तर भेद	क्षेत्र	स्पर्शन		नाना जीवों की अपेक्षा	काल	एक जीव की अपेक्षा
			वर्तमानकालिक	अतीत अनागतकालिक		जघन्यकाल	उत्कृष्टकाल
१० लेश्यामार्गणा	कृष्ण	सर्वलोक लोकका असंख्यातवां भाग	सर्वलोक लोकका असंख्यातवा भाग	सर्वलोक देशोन $\frac{५}{१४}$ राजु	सर्वकाल	अन्तर्मुहूर्त	साधिक तेतीस सागरोपम
	नील	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवा भाग	सर्वलोक देशोन $\frac{५}{१४}$ राजु	,,	,,	साधिक सत्तरह सागरोपम
	कापोत	लोकका असंख्यातवा भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	सर्वलोक देशोन $\frac{२}{१४}$ राजु	,,	,,	साधिक सात सागरोपम
	तेज	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ और $\frac{९}{१४}$ राजु	,,	अंतरएकसमय	साधिक दो सागरोपम
	पद्म	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु	,,	,, ,,	साधिक अठारह सागरोपम
	शुक्ल	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	देशोन $\frac{६}{१४}$ राजु लोकका असंख्यातवां भाग सर्वलोक			साधिक तेतीस सागरोपम
	अलेश्य	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
११ भव्यमार्गणा	भव्य अभव्य	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहु ,, सर्वलोक सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक सर्वलोक	सर्वकाल	,,	देशोन अर्धपुद्गलपरिवर्तन
१२.सम्यक्त्वमार्गणा	औपशमिकसम्यक्त्व	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु	अन्तर्मुहूर्त पल्यो असं भाग एकसमय अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त एकसमय	अन्तर्मुहूर्त
	क्षायोपशमिक ,,	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु	सर्वकाल	अन्तर्मुहूर्त	साधिक छयासठ सागरोपम
	क्षायिक ,,	,, ,, ,, लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	,, ,, ,, लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	लोकका असंख्यातवां भाग लोकका असंख्यात बहुभाग सर्वलोक	,, ,,	अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त	साधिक तेतीस सागरोपम
	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु	अन्तर्मुहूर्त पल्यो असं भाग	,,	अन्तर्मुहूर्त
	सासादनसम्यग्दृष्टि	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{५}{१४}$ और $\frac{१२}{१४}$ राजु	एकसमय पल्यो असं भाग	एकसमय	अन्तर्मुहूर्त
	मिथ्यादृष्टि	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वकाल	अन्तर्मुहूर्त	देशोन अर्धपुद्गलपरिवर्तन
१३ संज्ञिमार्गणा	संज्ञी	लोकका असंख्यातवां भाग	लोकका असंख्यातवां भाग	देशोन $\frac{८}{१४}$ राजु	,,	,,	सागरोपमशतपृथक्त्व
	असंज्ञी	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वलोक	,,	क्षुद्रभवग्रहण	अनन्तकाल असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन
१४. आहारमार्गणा	आहारक	,,	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	अंगुल के असंख्यात भागप्रमाण
	अनाहारक	,,	,,	,,	,,	एकसमय	असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी तीन समय, अन्तर्मुहूर्त

धवला का गणितशास्त्र

यह विदित हो चुका है कि भारतवर्ष में गणित-अंकगणित, बीजगणित, क्षेत्रमिति आदि का अध्ययन अति प्राचीन काल में किया जाता था। इस बात का भी अच्छी तरह पता चल गया है कि प्राचीन भारतवर्षीय गणितज्ञों ने गणितशास्त्र में ठोस और सारगर्भित उन्नति की थी। यथार्थत: अर्वाचीन अंकगणित और बीजगणित के जन्मदाता वे ही थे। हमें यह सोचने का अभ्यास हो गया है कि भारतवर्षकी विशाल जनसंख्या में से केवल हिंदुओं ने ही गणित का अध्ययन किया, और उन्हें ही इस विषय में रुचि थी, और भारतवर्षीय जनसंख्या के अन्य भागों, जैसे कि बौद्ध वा जैन गणितज्ञों द्वारा लिखे गये कोई गणिशास्त्र के ग्रन्थ ज्ञात नहीं हुए थे। किन्तु जैनियों के आगमग्रन्थों के अध्ययन से प्रकट होता है कि गणितशास्त्र का जैनियों में भी खूब आदर था। यथार्थत: गणित और ज्योतिष विद्या का ज्ञान जैन मुनियों की एक मुख्य साधना समझी जाती थी [१]।

अब हमें यह विदित हो चुका है कि जैनियों की गणितशास्त्र की एक शाखा दक्षिण भारत में थी और इस शाखा का कम से कम एक ग्रन्थ, महावीराचार्य-कृत गणितसारसंग्रह, उस समय की अन्य उपलब्धकृतियों की अपेक्षा अनेक बातों में श्रेष्ठ है। महावीराचार्य की रचना सन् ८५० की है। उनका यह ग्रन्थ सामान्य रूपरेखा में ब्रह्मगुप्त, श्रीधराचार्य, भास्कर और अन्य हिन्दू गणितज्ञों के ग्रन्थों के समान होते हुए भी विशेष बातों में उनसे पूर्णत: भिन्न है। उदाहरणार्थ - गणितसारसंग्रह के प्रश्न (Problems) प्राय: सभी दूसरे ग्रन्थों के प्रश्नों से भिन्न हैं।

वर्तमान काल में उपलब्ध गणित शास्त्रसंबंधी साहित्य के आधार पर से हम यह कह सकते हैं कि गणितशास्त्र की महत्वपूर्ण शाखाएं पाटलिपुत्र (पटना), उज्जैन, मैसूर, मलावार और संभवत: बनारस, तक्षशिला और कुछ अन्य स्थानों में उन्नतिशील थीं। जब तक आगे प्रमाण प्राप्त न हों, तब तक यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन शाखाओं में परस्पर क्या संबंध था। फिर भी हमें पता चलता है कि भिन्न-भिन्न शाखाओं

---

१ देखो-भगवती सूत्र, अभयदेव सूरिकी टीका सहित, म्हेसाणाकी आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित, १९१९, सूत्र ९०। जैकोबी कृत उत्तराध्ययन सूत्र का अंग्रेजी अनुवाद, ऑक्सफोर्ड १९१५, अध्याय ७, ८, ३८.

से आये हुए ग्रन्थों की सामान्य रूपरेखा तो एक सी है, किन्तु विस्तार संबंधी विशेष बातों में उनमें विभिन्नता है। इससे पता चलता है कि भिन्न-भिन्न शाखाओं में आदान-प्रदान का संबंध था, छात्रगण और विद्वान एक शाखा से दूसरी शाखा में गमन करते थे, और एक स्थान में किये गये आविष्कार शीघ्र ही भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक विज्ञापित कर दिये जाते थे।

प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रचार ने विविध विज्ञानों और कलाओं के अध्ययन को उत्तेजना दी। सामान्यत: सभी भारतवर्षीय धार्मिक साहित्य, और मुख्यतया बौद्ध व जैन साहित्य, बड़ी-बड़ी संख्याओं के उल्लेखों से परिपूर्ण है। बड़ी संख्याओं के प्रयोग ने उन संख्याओं को लिखने के लिये सरल संकेतों की आवश्यकता उत्पन्न की, और उसी से दाशमिक क्रम (The place-value system of notation) का आविष्कार हुआ। अब यह बात निस्संशय रूप से सिद्ध हो चुकी है कि दाशमिक क्रम का आविष्कार भारत में ईस्वीसन् के प्रारंभ काल के लगभग हुआ था, जबकि बौद्धधर्म और जैनधर्म अपनी चरमोन्नति पर थे। यह नया अंक-क्रम बड़ा शक्तिशाली सिद्ध हुआ, और इसी ने गणितशास्त्र को गतिप्रदान कर सुल्वसूत्रों में प्राप्त वेदकालीन प्रारंभिक गणित को विकास की ओर बढ़ाया, और बराहमिहिर के ग्रंथों में प्राप्त पांचवी शताब्दी के सुसम्पन्न गणितशास्त्र में परिवर्तित कर दिया।

एक बड़ी महत्वपूर्ण बात, जो गणित के इतिहासकारों की दृष्टि में नहीं आई, यह है कि यद्यपि हिन्दुओं, बौद्धों और जैनियों का सामान्य साहित्य ईसा से पूर्व तीसरी व चौथी शताब्दी से लगाकर मध्यकालीन समय तक अविच्छिन्न हैं, क्योंकि प्रत्येक शताब्दी के ग्रंथ उपलब्ध हैं, तथापि गणितशास्त्र संबंधी साहित्य में विच्छेद हैं। यथार्थत: सन् ४९९ में रचित आर्यभटीय से पूर्व की गणिशास्त्र संबंधी रचना कदाचित् ही कोई हो। अपवाद में बख्शालि प्रति (Bakhsali Manuscript) नामक वह अपूर्ण हस्तलिखित ग्रंथ ही है जो संभवत: दूसरी या तीसरी शताब्दी की रचना है। किन्तु इसकी उपलब्ध हस्तलिखित प्रति से हमें उस काल के गणित ज्ञान की स्थिति के विषय में कोई विस्तृत वृत्तान्त नहीं मिलता, क्योंकि यथार्थ में यह आर्यभट, ब्रह्मगुप्त अथवा श्रीधर आदि के ग्रंथों के सदृश गणितशास्त्र की पुस्तक नहीं है। वह कुछ चुने हुए गणितसंबंधी प्रश्नों की व्याख्या अथवा टिप्पणी सी है। इस हस्तलिखित प्रति से हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि दाशमिकक्रम और तत्संबंधी अंकगणित की मूल प्रक्रियायें उस समय अच्छी तरह विदित थीं, और पीछे के गणितज्ञों द्वारा उल्लिखित कुछ प्रकार के गणित प्रश्न (Problems) भी ज्ञात थे।

यह पूर्व ही बताया जा चुकाहै कि आर्यभटीय में प्राप्त गणितशास्त्र विशेष उन्नत है, क्योंकि उसमें हमको निम्नलिखित विषयों का उल्लेख मिलता है - वर्तमानकालीन प्राथमिक अंकगणित के सब भाग जिनमें अनुपात, विनिमय और ब्याज के नियम भी सम्मिलित हैं, तथा सरल और वर्ग समीकरण, और सरल कुट्टक (Indeterminat equations) की प्रक्रिया तक का बीजगणित भी है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या आर्यभट ने अपना गणितज्ञान विदेश से ग्रहणकिया, अथवा जो भी कुछ सामग्री आर्यभटीय में अन्तर्हित है वह सब भारतवर्ष की ही मौलिक सम्पत्ति है ? आर्यभट लिखते हैं "ब्रह्म,पृथ्वी, चंद, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, वृहस्पति, शनि और नक्षत्रों को नमस्कार करके आर्यभट उस ज्ञान का वर्णन करता है जिसका कि यहां कुसुमपुर में आदर है [१]।" इससे पता चलता है कि उसने विदेश से कुछ ग्रहण नहीं किया। दूसरे देशों के गणितशास्त्र के इतिहास के अध्ययन से भी यही अनुमान होता है, क्योंकि आर्यभटीय गणित संसार के किसी भी देश के तत्कालीन गणित से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। विदेश से ग्रहण करनेकी संभावना को इस प्रकार दूर कर देने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि आर्यभट से पूर्वकालीन गणितशास्त्र संबंधी कोई ग्रंथ उपलब्ध क्यों नहीं है ? इस शंका का निवारण सरल है। दाशमिकक्रम का आविष्कार ईसवी सन्के प्रारंभ काल के लगभग किसी समय हुआ था। इसे सामान्य प्रचार में आने के लिये चार पांच शताब्दियां लग गई होंगी। दाशमिक क्रम का प्रयोग करने वाला आर्यभट का ग्रंथही सर्वप्रथम अच्छा ग्रंथ प्रतीत होता है। आर्यभट के ग्रंथ से पूर्व के ग्रंथों में या तो पुरानी संख्यापद्धति का प्रयोग था, अथवा, वे समय की कसौटी पर ठीक उतरने लायक अच्छे नहीं थे। गणित की दृष्टि से आर्यभट की विस्तृत ख्याति का कारण, मेरे मतानुसार, बहुतायंत से यही था कि उन्होंने ही सर्वप्रथम एक अच्छा ग्रन्थ रचा, जिसमें दाशमिकक्रम का प्रयोग किया गया था। आर्यभट के ही कारण पुरानी पुस्तकें अप्रचलित और विलीन हो गई। इससे साफ पता चल जाता है कि सन् ४९९ के पश्चात् लिखी हुई तो हमें इतनी पुस्तकें मिलती हैं, किन्तु उसके पूर्व के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

इस प्रकार सन् ५०० ईसवी से पूर्व के भारतीय गणितशास्त्र के विकास और उन्नति का चित्रण करने के लिये वास्तव में कोई साधन हमारे पास नहीं है। ऐसी अवस्था

---

१ ब्रम्हकुशशिबुधभृगुरविकुजगुरुकोणभगणान्नमस्कृत्य।
आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्॥ आर्यभटीय २, १. ब्रह्मभूमिनक्षत्रगणान्नमस्कृत्य कुसुमपुरे कुसुमपुराख्येऽस्मिन्देशे अभ्यर्चितं ज्ञानं कुसुमपुरवासिभिः पूजितं ग्रहगतिज्ञानसाधनभूतं तन्त्रमार्यभटो निगदति। (परमेश्वराचार्यकृत टीका)

में आर्यभट से पूर्व के भारतीय गणितज्ञान का बोध कराने वाले ग्रंथों की खोज करना एक विशेष महत्वपूर्ण कार्य हो जाता है। गणितशास्त्र संबंधी ग्रन्थों के नष्ट हो जाने के कारण सन् ५०० के पूर्वकालीन भारतीय गणितशास्त्र के इतिहास का पुन: निर्माण करने के लिये हमें हिंदुओं, बौद्धों और जैनियों के साहित्य की, और विशेषत: धार्मिक साहित्य की, छानबीन करना पड़ती है। अनेक पुराणों में हमें ऐसे भी खंड मिलते हैं जिनमें गणितशास्त्र और ज्योतिषविद्या का वर्णन पाया जाताहै। इसी प्रकार जैनियों के अधिकांश आगमग्रन्थों में भी गणितशास्त्र या ज्योतिविद्या की कुछ न कुछ सामग्री मिलती है। यही सामग्री भारतीय परम्परागल गणित की द्योतक है, और वह उस ग्रन्थ से जिसमें वह अन्तर्भूत है, प्राय: तीन चार शताब्दियां पुरानी होती हैं। अत: यदि हम सन् ४०० से ८०० तक की किसी धार्मिक या दार्शनिक कृति की परीक्षा करें तोउसका गणितशास्त्रीय विवरण ईसवी के प्रारंभ से सन् ४०० तक का माना जा सकता है।

उपर्युक्त निरूपण के प्रकाश में ही हम इस नौंवी शताब्दी के प्रारंभ की रचना षट्खंडागम की टीका धवला की खोज को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझते हैं। श्रीयुत हीरालाल जैन ने इस ग्रन्थ का सम्पादन और प्रकाशन करके विद्वानों को स्थायी रूप से कृतज्ञता का ऋणी बना लिया है।

गणितशास्त्र की जैनशाखा

सन् १९१२ में रंगाचार्यद्वारा गणितसारसंग्रह की खोज और प्रकाशन के समय से विद्वानों को [१] आभास होने लगा है कि गणितशास्त्र की ऐसी भी एक शाखा रही है जो कि पूर्णत जैन विद्वानों द्वारा चलाई जाती थी। हाल ही में जैनआगम के कुछ ग्रन्थों के अध्ययन से जैन गणितज्ञ और गणित ग्रन्थों संबंधी उल्लेखों का पता चला है [२]। जैनियों का धार्मिक साहित्य चार भागों में विभाजित है जो अनुयोग, (जैनधर्म में) तत्वों का स्पष्टीकरण, कहलाते हैं। उनमें से एक का नाम करणानुयोग या गणितानुयोग, अर्थात् गणितशास्त्र संबंधी तत्वों का स्पष्टीकरण है। इसी से पता चलता है कि जैनधर्म और जैनदर्शन में गणितशास्त्र को कितना उच्च पद दिया गया है।

---

१ देखो - रंगाचार्य द्वारा सम्पादित गणितसार संग्रह की प्रस्तावना, डी.ई. स्मिथद्वारा लिखित, मद्रास, १९१२.

२ बी. दत्त: गणित शास्त्रीय जैन शाखा, बुलेटिन कलकत्ता गणित सोसायटी, जिल्द २१ (१९१९) पृष्ठ ११५ से १४५

यद्यपि अनेक जैन गणितज्ञों के नामज्ञात हैं,परंतु उनकी कृतियां लुप्त हो गई हैं। उनमें सबसे प्राचीन भद्रबाहु हैं जो कि ईसा से २७८ वर्ष पूर्व स्वर्ग सिधारे। वे ज्योतिष विद्या के दो ग्रन्थों के लेखक माने जाते हैं (१) सूर्यप्रज्ञप्ति की टीका; और (२) भद्रबाहवी संहिता नामक एक मौलिक ग्रंथ। मलयगिरि (लगभग११५० ई.) ने अपनी सूर्यप्रज्ञप्ति की टीका में इनका उल्लेख किया है, और भट्टोत्पल[1] (९६६) ने उनके ग्रन्थावतरण दिये हैं। सिद्धसेन नामक एक दूसरे ज्योतिषी के ग्रन्थावतरण वराहमिहिर (५०५) और भट्टोत्पल द्वारा दिये गये हैं। अर्धभागधी और प्राकृत भाषा में लिखे हुए गणितसम्बन्धी उल्लेख अनेक ग्रन्थों में पाये जाते हैं। धवला में इस प्रकार के बहुसंख्यक अवतरण विद्यमान हैं। इन अवतरणों पर यथा स्थान विचार किया जायगा। किन्तु यहां यह बात उल्लेखनीय है कि वे अवतरण नि:संशयरूप से सिद्ध करते हैं कि जैन विद्वानों द्वारा लिखे गये गणित ग्रंथ थे जो कि अब लुप्त हो गये हैं।[2] क्षेत्र समास और करण भावना के नाम से जैन विद्वानों द्वारा लिखित ग्रंथ गणितशास्त्र सम्बन्धी ही थे। पर अब हमें ऐसा कोई ग्रंथ प्राप्य नहीं है। हमारा जैन गणितशास्त्र सम्बन्धी अत्यन्त खंडित ज्ञात स्थानांग सूत्र, उमास्वातिकृत तत्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य, सूर्यप्रज्ञप्ति, अनुयोगद्वार सूत्र, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार आदि गणितेतर ग्रन्थों से संकलित है। अब इन ग्रन्थों में धवला का नाम भी जोड़ा जा सकता है।

धवला का महत्व

धवला नौवीं सदी के प्रारंभ में वीरसेन द्वारा लिखी गई थी। वीरसेन तत्वज्ञानी और धार्मिक दिव्यपुरुष थे। वे वस्तुत: गणितज्ञ नहीं थे। अत: जो गणितशास्त्रीय सामग्री धवला के अन्तर्गत है, वह उनसे पूर्ववर्ती लेखकों की कृति कही जा सकती है, और मुख्यतया पूर्वगत टीकाकारों की, जिनमें से पांच का इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में उल्लेख किया है। ये टीकाकार कुंदकुंद, शामकुंद, तुंबुलूर, समन्तभद्र और बप्पदेव थे, जिनमें से प्रथम लगभग सन २०० के और अन्तिम सन् ६०० के लगभग हुए। अत: धवला की अधिकांश गणितशास्त्रीय सामग्री सन् २०० से ६०० तक के बीच के समय की मानी जा सकती है। इस प्रकार भारतवर्षीय गणितशास्त्र के इतिहासकारों के लिये धवला प्रथमश्रेणी का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हो जाता है, क्योंकि उनमें हमें भारतीय गणितशास्त्र के इतिहास के सबसे अधिक

---

१ बृहत्त्संहिता, एस. द्विवेदीद्वारा सम्पादित, बनारस, १८९५, पु. २२६

२ शीलांकने सूत्रकृतांगसूत्र, स्मयाध्ययन अनुयोगद्वार, श्लोक २८, पर अपनी टीका में भंगसंबंधी (regarding permutations and combination) तीन नियम उद्धृत किये हैं। ये नियम किसी जैन ग्रंथ में से लिये गये जान पड़ते हैं।

अंधकारपूर्ण समय, अर्थात् पांचवीं शताब्दी से पूर्व की बातें मिलती हैं। विशेष अध्ययन से यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि धवला की गणितशास्त्रीय सामग्री सन् ५०० से पूर्व की हैं। उदाहरणार्थ - धवला में वर्णित अनेक प्रक्रियायें किसी भी अन्य ज्ञात ग्रंथ में नहीं पाई जाती, तथा इसमें कुछ ऐसी स्थूलता का आभास भी है जिसकी झलक पश्चात् के भारतीय गणितशास्त्र से परिचित विद्वानों को सरलता से मिल सकती है। धवला के गणित भाग में वह परिपूर्णता और परिष्कार नहीं है जो आर्यभटीय और उसके पश्चात् के ग्रंथों में है।

धवलान्तर्गत गणितशास्त्र

संख्याएं और संकेत - धवलाकार दाशमिकक्रम से पूर्णत: परिचित है। इसके प्रमाण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। हम यहां धवला के अन्तर्गत अवतरणों से ली गई संख्याओं को व्यक्त करने की कुछ पद्धतियों को उपस्थित करते हैं -

(१) ७९९९९९८ को ऐसी संख्या कहा है कि जिसके आदि में ७, अन्त में ८ और मध्य में छह बार ९ की पुनरावृत्ति है [१]।

(२) ४६६६६६६४ व्यक्त किया गया है - चौसठ, छह सौ, छयासठ हजार, छयासठ लाख, और चार करोड़ [२]।

(३) २२७९९४९८ व्यक्त किया गया है - दो करोड़, सत्ताइस लाख, निन्यान्नवे हजार, चार सौ और अन्ठान्नवे [३]।

इसमें से (१) में जिस पद्धति का उपयोग किया है वह जैन साहित्य में अन्य स्थानों में भी पायी जाती है, और गणितसारसंग्रह में [४] भी कुछ स्थानों में है। उससे दाशमिकक्रम का सुपरिचय सिद्ध होता है। (२) में छोटी संख्याएं पहले व्यक्त की गई हैं। यह संस्कृत साहित्य में प्रचलित साधारण रीति के अनुसार नहीं है। उसी प्रकार यहां संकेत-क्रम सौ है, न कि दश जो कि साधारणत संस्कृत साहित्य में पाया जाता है [५]। किन्तु पाली और प्राकृत में सौ का क्रम ही प्राय: उपयोग में लाया गया है। (३) में सबसे बड़ी संख्या पहले व्यक्त की गई है। अवतरण (२) और (३) स्पष्टत: भिन्न स्थानों से लिये गये हैं।

---

१. ध. भाग ३, पृष्ठ ९८, गाथा ५१। देखो गोम्मटसार, जीवकांड, पृष्ठ ६३३.

२. ध. भाग ३, पृ. ९९, गाथा ५२. ३. ध. भाग ३, पृ. १००, गाथा ५३.

४. देखो - गणितसारसंग्रह १, २७. और भी देखो - दत्त और सिंह का हिन्दूगणितशास्त्र का इतिहास, जिल्द १, लाहौर १९३५, पृ. १६. ५. दत्त और सिंह, पूर्ववत्, पृ. १४.

बड़ी संख्यायें - यह सुविदित है कि जैन साहित्य में बड़ी संख्यायें बहुतायत से उपयोग में आई हैं। धवला में भी अनेक तरह की जीवराशियों (द्रव्यप्रमाण) आदि पर तर्क वितर्क है। निश्चित रूप से लिखी गई सबसे बड़ी संख्या पर्याप्त मनुष्यों की है। यह संख्या धवला में [१] दो के छठे वर्ग और दो के सातवें वर्ग के बीच की, अथवा और भी निश्चित, कोटि-कोटि-कोटि और कोटि-कोटि-कोटि-कोटि के बीच की कही गई हैं। याने -

$२^{२^{६}}$ और $२^{२^{७}}$ के बीच की। अथवा, और अधिक नियम - $(१,००,००,०००)^{३}$ और $(१,००,००,०००)^{४}$ के बीच की। अथवा, सर्वथा निश्चित - $२^{२^{५}} \times २^{२^{६}}$। इन जीवों की संख्या अन्य मतानुसार [२] ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ है।

यह संख्या उन्तीस अंक ग्रहण करती है। इसमें भी उतने ही स्थान हैं जितने कि $(१,००,००,०००)^{४}$ में, परन्तु है वह उससे बड़ी संख्या। यह बात धवलाकार को ज्ञात है, और उन्होंने मनुष्यक्षेत्र का क्षेत्रफल निकालकर यह सिद्ध किया है कि उक्त संख्या के मनुष्य मनुष्य क्षेत्र में नहीं समा सकते, और इसलिये उस संख्यावाला मत ठीक नहीं है।

मौलिक प्रक्रियायें

धवला में जोड़, बाकी, गुणा, भाग, वर्गमूल और धनमूल निकालना, तथा संख्याओं का घात निकालना (The raising of numbers to given powers) आदि मौलिक प्रक्रियाओं का कथन उपलब्ध है। ये क्रियाएं पूर्णक और भिन्न, दोनों के संबंध में कही गई हैं। धवला में वर्णित घातांक का सिद्धांत (Theory of indices) दूसरे गणित ग्रंथों से कुछ-कुछ भिन्न है। निश्चयत: यह सिद्धान्त प्राथमिक है, और सन् ५०० से पूर्व का है। इस सिद्धान्त संबंधी मौलिक विचार निम्नलिखित प्रक्रियाओं के आधार पर प्रतीत होते हैं :- (१) वर्ग, (२) घन, (३) उत्तरोत्तर वर्ग, (४) उत्तरोत्तर घन, (५) किसी संख्या का संख्यातुल्य धातु निकालना (६) वर्गमूल, (७) घनमूल, (८) उत्तरोत्तर वर्गमूल, (९) उत्तरोत्तर घनमूल, आदि। अन्य सब घातांक इन्हीं रूपों से प्रगट किये गये हैं।

उदाहरणार्थ - $अ^{\frac{३}{२}}$ को अ के घन का प्रथम वर्गमूल कहा है। $अ^{९}$ को अ का घन का घन कहा है। $अ^{६}$ को अ के घन का वर्ग, या वर्ग का घन कहा है, इत्यादि [३]। उत्तरोत्तर वर्ग और घनमूल नीचे लिखे अनुसार हैं -

---

१ ध. भाग ३, पृ. २५३. २ गोम्मटसार, जीवकांड, (से.बु.जै. सीरीज) पृ. १०४

३ धवला, भाग ३ पृ. ५३

अ का	प्रथम वर्ग	याने	$(अ)^{२} = अ^{२}$	
"	द्वितीय वर्ग	"	$(अ^{२})^{२} = अ^{४} =$	$अ^{२^{२}}$
"	तृतीय वर्ग	"		$अ^{२^{३}}$
"	न वर्ग	"		$अ^{२^{न}}$

उसी प्रकार - अ का	प्रथम वर्गमूल	याने		$अ^{१/२}$
"	द्वितीय	"	"	$अ^{१/२^{२}}$
"	तृतीय	"	"	$अ^{१/२^{३}}$
"	न	"	"	$अ^{१/२^{न}}$

वर्गित-संवर्गित

परिभाषिक शब्द वर्गित-संवर्गित का प्रयोग किसी संख्या का संख्यातुल्य घात करने के अर्थ में किया गया है।

उदाहरणार्थ - $न^{न}$ न का वर्गितसंवर्गित रूप है।

इस सम्बन्ध में धवला में विरलन-देय 'फैलाना और देना' नामक प्रक्रिया का उल्लेख आया है। किसी सुख्या का 'विरलन' करना व फैलाना अर्थात् उस संख्या को एक-एक में अलग करना है। जैसे, न के विरलन का अर्थ है -

१११११ .... न वार

'देय' का अर्थ है उपर्युक्त अंकों में प्रत्येक स्थान पर एक की जगह न (विवक्षित संख्या) को रख देना। फिर उस विरलन-देयसे उपलब्ध संख्याओं को परस्पर गुणा कर देने से उस संख्या का वर्गित-संवर्गित प्राप्त हो जाता है, और यही उस संख्या का प्रथम वर्गित-संवर्गित कहलाता है। जैसे, न का प्रथम वर्गित-संवर्गित $न^{न}$।

विरलन-देय की एक बार पुन: प्रक्रिया करने से, अर्थात् न न को लेकर वही विधान फिर करने से, द्वितीय वर्गित-संवर्गित $(न^{न})^{न^{न}}$ प्राप्त होता है। इसी विधान को पुन: एक बार करने से न का तृतीय वर्गित-संवर्गित $\{(न^{न})^{न^{न}}\}^{\{(न^{न})^{न^{न}}\}}$ प्राप्त होता है।

धवला में उक्त प्रक्रिया का प्रयोग तीन बार से अधिक अपेक्षित नहीं हुआ है। किन्तु तृतीय वर्गितसंवर्गित का उल्लेख अनेकवार [१] बड़ी संख्याओं व असंख्यात व अनन्त के संबंध में किया गया है। इस प्रक्रिया में कितनी बड़ी संख्या प्राप्त होती है, इसका ज्ञान इस बात से हो सकता है कि २ का तृतीय बार वर्गितसंवर्गित रूप $२५६^{२५६}$ हो जाता है।

घातांक सिद्धान्त

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि धवलाकार घातांक सिद्धान्तसे पूर्णत: परिचित थे। जैसे -

(१) $अ^{म}\ अ^{न} \quad = \quad अ^{म+न}$

(२) $अ^{म}/अ^{न} \quad = \quad अ^{म-न}$

(३) $(अ^{म})^{न} \quad = \quad अ^{मन}$

उक्त सिद्धान्तों के प्रयोग संबंधी उदाहरण धवला में अनेक हैं। एक रोचक उदाहरण निम्न प्रकार का है [२] - कहा गया है कि २ के ७ वें वर्गमें २ के छठवें वर्ग का भाग देने से २ का छठवां वर्ग लब्ध आता है। अर्थात् -

$$२^{२^{७}}/२^{२^{६}} = २^{२^{६}}$$

जब दाशमिकक्रम का ज्ञान नहीं हो पाया था तब द्विगुणक्रम और अर्धक्रमकी प्रक्रियाएं (The operations of duplation and mediation) महत्वपूर्ण समझी जाती थीं। भारतीय गणितशास्त्र के ग्रंथों में इन प्रक्रियाओं का कोई चिन्ह नहीं मिलता। किन्तु इन प्रक्रियाओं को मिश्र और यूनान के निवासी महत्वपूर्ण गिनते थे, और उनके अंकगणित संबंधी ग्रंथों में वे तदानुसार स्वीकार की जाती थीं। धवला में इन प्रक्रियाओं के चिन्ह मिलते हैं। दो या अन्य संख्याओं के उत्तरोत्तर वर्गीकरण का विचार निश्चयत:द्विगुणक्रम की प्रक्रिया से ही परिस्फुटित हुआ होगा, और यह द्विगुणक्रम की प्रक्रिया दाशमिकक्रम के प्रचार से पूर्व भारतवर्ष में अवश्य प्रचलित रही होगी। उसी प्रकार अर्धक्रमपद्धति का भी पता चलता है। धवला में इस प्रक्रिया को हम २,३,४ आदि आधार वाले लघुरिक्थ सिद्धान्त में साधारणीकृत पाते हैं।

१.धवला, भाग ३, पृ. २० आदि।

२ धवला भाग ३, पृ. २५३ आदि।

लघुरिक्थ (Logarithm)

धवला में निम्न पारिभाषिक शब्दों के लक्षण पाये जाते हैं [१]-

(१) अर्धच्छेद - जितनी बार एक संख्या उत्तरोत्तर आधी-आधी की जा सकती है, उतने उस संख्या के अर्धच्छेद कहे जाते हैं। जैसे - $२^{म}$ के अर्धच्छेद = म

अर्धच्छेद का संकेत अछे मान कर हम इसे आधुनिक पद्धतिमें इस प्रकार रख सकते हैं -

क का अछे (या अछे क) = लरि क। यहां लघुरिक्थ का आधार २ है।

(२) वर्गशालाका - किसी संख्या के अर्द्धच्छेद उस संख्या की वर्गशलाका होती है। जैसे - क की वर्गशालाका = वश क = अछे अछे क = लरि लरि क। यहां लघुरिक्थ का आधार २ है।

(३) त्रिकच्छेद [२] - जितने बार एक संख्या उत्तरोत्तर ३ से विभाजित की जाती है, उतने उस संख्या के त्रिकच्छेद होते हैं। जैसे- क के त्रिकच्छेद = त्रिछे क = लरि ३ क। यहां लघुरिक्थ का आधार ३ है।

(४) चतुर्थच्छेद [३] - जितने बार एक संख्या उत्तरोत्तर ४ से विभाजित की जा सकती हैं, उतने उस संख्या के चतुर्थच्छेद होते हैं। जैसे - क के चतुर्थच्छेद = चछे क = लरि ४ क। यहां लघुरिक्थ का आधार ४ है।

धवला में लघुरिक्थसंबंधी निम्न परिणामोंका उपयोग किया गया है -

(१) [४] लरि/(म/न) = लरि म - लरि न

(२) लरि (म.न) = लरि म + लरि न

(३) [५] $२^{लरि\ म}$ = म। यहां लघुरिक्थ का आधार २ है।

(४) [६] लरि $(क^{क})^{२}$ = २ क लरि क

(५) [७] लरि लरि $(क^{क})^{२}$ = लरि क + १ + लरि लरि क,

(वाई ओर) = लरि (२ क लरि क)

---

१ धवला भाग ३, पृ. २१. आदि २ धवला भाग ३, पृ. ५६. ३ धवला, भाग ३, पृ. ५६.
४ धवला, भाग ३, पृ. ६०. ५ धवला, भाग ३, पृ. ५५. ६ धवला, भाग ३, पृ. २१ आदि
७ पूर्ववत्

= लरि क + लरि २ + लरि लरि क

= लरि क + १ + लरि लरि क।

चूंकि लरि २ = १, जब कि आधार २ है।

(६) [१] लरि $(क^{क})^{क^{क}}$ = $क^{क}$ लरि $क^{क}$

(७) मानलो अ एक संख्या है, तो -

अ का	प्रथम वर्गित-संवर्गित		=	$अ^{अ}$	=	ब (मानलो)
"	द्वितीय	"	=	$ब^{ब}$	=	भ "
"	तृतीय	"	=	$भ^{भ}$	=	म "

धवला में निम्नपरिणाम दिये गये हैं [२] -

(क) लरि ब	=	अ लरि अ
(ख) लरि लरि ब	=	लरि अ + लरि लरि अ
(ग) लरि भ	=	ब लरि ब
(घ) लरि लरि भ	=	लरि ब + लरि लरि ब
	=	लरि अ + लरि लरि अ + अ लरि ब
(ङ) लरि म	=	भ लरि भ
(च) लरि लरि म	=	लरि भ + लरि लरि भ। इत्यादि

(८) [३] लरि लरि म < $ब^{२}$

इस असाम्यता से निम्न असाम्यता आती है -

ब लरि ब + लरि ब + लरि लरि ब < $ब^{२}$

भिन्न- अंक गणित में भिन्नों की मौलिक प्रक्रियाओं, जिनका ज्ञान धवला में ग्रहण कर लिया गया है, के अतिरिक्त भिन्न संबंधी अनेक ऐसे रोचक सूत्र पाते हैं जो अन्य किसी गणित संबंधी ज्ञात ग्रंथ में नहीं मिलते। इनमें निम्न लिखित उल्लेखनीय है -

---

१ पूर्ववत्। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि ग्रंथों में ये लघुरिक्थ पूर्णांकों तक ही परिमित नहीं हैं। संख्या क कोई भी संख्या हो सकती है। क क प्रथम वर्गित संवर्गित राशि और (क क) द्वितीय वर्गित संवर्गित राशि है।

२ धवला, भाग ३, पृ. २१-२४. ३ धवला, भाग ३, २४ ४ धवला, भाग ३, पृ. ४६.

(१)[1] $\frac{न^2}{न \pm (न / प)} = न \mp \frac{न}{प \pm १}$

(२) [2] मानलो कि किसी एक संख्या म में द, द' ऐसे दो भाजकों का भाग दिया गया और उनसे क्रमशः क और क' ये दो लब्ध (या भिन्न) उत्पन्न हुए । निम्नलिखित सूत्र में म के द ± द' से भाग देने का परिणाम दिया गया है -

$$\frac{म}{द \pm द'} = \frac{क}{(क / क) \pm १}$$

अथवा $\frac{क}{१ \pm (क / क)}$

(३) [3] यदि $\frac{म}{द} = क$, और $\frac{म'}{द} = क'$, तो - द (क - क') + म' = म

(४) [4] यदि $\frac{अ'}{ब} = क$, तो $\frac{अ'}{ब + \frac{ब}{न}} = क - \frac{क}{न + १}$,

और $\frac{अ'}{ब - \frac{ब}{न}} = क + \frac{क}{न - १}$,

(५) [5] $\frac{अ}{ब} = क$ तो – $\frac{अ}{ब + स} = क - \frac{क}{\frac{ब}{स} + १}$

और $\frac{अ}{ब - स} = क + \frac{क}{\frac{ब}{स} - १}$

---

१ धवला, भाग ३, पृ. ४६. २ धवला, भाग ३, पृ. ४६ ३ धवला, भाग ३, पृ. ४७, गाथा २७.
४ भाग ३, पृ. ४६, गाथा २४. ५ भाग ३, पृ. ४६, गाथा २४.

(६)[1] यदि $\frac{अ}{ब} = क$ और $\frac{अ}{ब'} = क + स$, तो –

$$ब = ब - \frac{ब}{\frac{क}{स} + १};$$

और यदि $\frac{अ}{ब'} = क - स$, तो- $ब' = ब + \frac{ब}{\frac{क}{स} - १}$

(७)[2] यदि $\frac{अ}{ब} - क$, और $\frac{अ}{ब'}$ दूसरा भिन्न है, तो –

$$\frac{अ}{ब} - \frac{अ}{ब'} = क(\frac{ब' - ब}{ब'})$$

(८)[3] यदि $\frac{अ}{ब} = क$ और $\frac{अ}{ब + ख} = क - स$ तो– $ख = \frac{बस}{क - स}$

(९)[4] यदि $\frac{अ}{ब} = क$ और $\frac{अ}{ब - ख} = क + स$ तो – $ख = \frac{बस}{क + स}$

(१०)[5] यदि $\frac{अ}{ब} = क$ और $\frac{अ}{ब + स} = क'$ तो – $क' = क - \frac{कस}{ब + स}$

(११)[6] यदि $\frac{अ}{ब} = क$, और $\frac{अ}{ब - स} = क'$ तो– $क' = क - \frac{कस}{ब + स}$

ये सब परिणाम धवला के अन्तर्गत अवतरणों में पाये जाते हैं। वे किसी भी गणित संबंधी ज्ञात ग्रंथों में नहीं मिलते। ये अवतरण अर्धमागधी अथवा प्राकृत ग्रंथों के हैं।

---

१ भाग ३, पृ. ४६, गाथा २५. २ भाग ३, पृ.४६, गाथा २८. ३ भाग ३, पृ. ४८, गाथा २९

४ भाग ३, पृ. ४९, गाथा ३० ५ भाग ३, पृ. ४९, गाथा ३१ ६ भाग ३, पृ. ४९, गाथा ३२

अनुमान यही होता है कि वे सब किन्हीं गणित संबंधी जैन ग्रन्थों से, अथवा पूर्ववर्ती टीकाओं से लिये गये हैं। वे अंकगणित की किसी सारभूत प्रक्रिया का निरूपण नहीं करते। वे उस काल के स्मारकावशेष हैं जबकि भाग एक कठिन और श्रमसाध्य विधान समझा जाता था। ये नियम निश्चयतः उस काल के हैं जबकि दाशमिक-क्रम का अंकगणित की प्रक्रियाओं में उपयोग सुप्रचलित नहीं हुआ था।

त्रैराशिक - त्रैराशिक क्रिया का धवला में अनेक स्थानों पर उल्लेख और उपयोग किया गया है [1]। इस प्रक्रिया संबंधी पारिभाषिक शब्द हैं - फल, इच्छा और प्रमाण-ठीक वही जो ज्ञात ग्रंथों में मिलते हैं। इससे अनुमान होता है कि त्रैराशिक क्रिया का ज्ञान और व्यवहार भारतवर्ष में दाशमिक क्रम के आविष्कार से पूर्व भी वर्तमान था।

अनन्त

बड़ी संख्याओं का प्रयोग - 'अनन्त' शब्द का विविध अर्थों में प्रयोग सभी प्राचीन जातियों के साहित्य में पाया जाता है। किन्तु उसकी ठीक परिभाषा और समझदारी बहुत पीछे आई। यह स्वाभाविक ही है कि अनन्त की ठीक परिभाषा उन्हीं लोगों द्वारा विकसित हुई जो बड़ी संख्याओं का प्रयोग करते थे, या अपने दर्शनशास्त्र में ऐसी संख्याओं के अभ्यस्त थे। निम्नविवेचन से यह प्रकट हो जायगा कि भारतवर्ष में जैन दार्शनिक अनन्त से संबंधरखने वाली विविध भावनाओं को श्रेणीबद्ध करने तथा गणना संबंधी अनन्त की ठीक परिभाषा निकालने में सफल हुए।

बड़ी संख्याओं को व्यक्त करने के लिये उचित संकेतों का तथा अनन्त की कल्पना का विकास तभी होता है जब निगूढ़ तर्क और विचार एक विशेष उच्च श्रेणी पर पहुंच जाते हैं। यूरोप में आर्कमिडीज ने समुद्र-तट की रेत के कणों के प्रमाण के अंदाज लगाने का प्रयत्न किया था और यूनान के दार्शनिकों ने अनन्त एवं सीमा (लिमिट) के विषय में विचार किया था। किन्तु उनके पास बड़ी संख्याओं को व्यक्त करने के योग्य संकेत नहीं थे। भारतवर्ष में हिन्दू, जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने बहुत बड़ी संख्याओं का प्रयोग किया और उस कार्य के लिये उन्होंने उचित संकेतों का भी आविष्कार किया। विशेषतः जैनियों ने लोकभर के समस्त जीवों, काल-प्रदेशों और क्षेत्र अथवा आकाश-प्रदेशों आदि का प्रमाण का निरूपण करने का प्रयत्न किया है।

बड़ी संख्यायें व्यक्त करने के तीन प्रकार उपयोग में लाये गये --

१ धवला भाग ३, पृ. ६९ और १०० आदि.

(१) दाशमिक-क्रम (Place-Value notation) - जिसमें दशमानका उपयोग किया गया । इससंबंध में यह बात उल्लेखनीय है कि दशमान के [1] आधारपर $१०^{१४०}$ जैसी बड़ी संख्याओं को व्यक्त करने वाले नाम कल्पित किये गये।

(२) घातांक नियम - (Law of indices वर्ग-संवर्ग) - का उपयोग बड़ी संख्याओं को सूक्ष्मता से व्यक्त करने के लिये किया गया। जैसे -

(अ) $२^{२} = ४$

(ब) $(२^{१})^{२^{२}} = ४^{४} = २५६$

(स) $\{(२^{२})^{२^{२}}\}^{\{(२^{२})^{२^{२}}\}} = २५६^{२५६}$

जिसको २ का तृतीय वर्गित-संवर्गित कहा है। यह संख्या समस्त विश्व (Universe) के विघुत्वकणों (Protons and electrons) की संख्या से बड़ी है।

(३) लघुरिक्थ (अर्धच्छेद) अथवा लघुरिक्थ के लघुरिक्थ (अर्धच्छेदशलाका) का उपयोग बड़ी संख्याओं के विचार को छोटी संख्याओं केविचार में उतारने के लिये किया गया है। जैसे -

(अ) लरि $_{२}$ $२^{२}$ = २

(ब) लरि $_{२}$ लरि $_{२}$ $४^{४}$ = ३

(स) लरि$_{२}$ लरि$_{२}$ $२५६^{२५६}$ = ११

इससे कोई आश्चर्य नहीं कि आज भी संख्याओं को व्यक्त करने के लिये हम उपर्युक्त तीन प्रकार का उपयोग करते हैं। दाशमिक क्रम समस्त देशों की साधारण सम्पत्ति बन गई है। जहां बड़ी संख्याओं का गणित करना पड़ता है, वहां लघुरिक्थों का उपयोग किया जाता है। आधुनिक पदार्थ विज्ञान में परिमाणों (magnitudes) को व्यक्त करने के लिये घातांक नियमों का उपयोग सर्वसाधारण है। उदाहरणार्थ- विश्वभर के विद्युतगणों की

---

१ बड़ी संख्याओं तथा संख्या - नामों के संबंध में विशेष जानने के लिये देखिये दत्त और सिंह कृत हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास (History of Hindu Mathematics) मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, द्वारा प्रकाशित, भाग १, पृ.११ आदि.

२ संख्या १३६ २ ३५६ को दाशमिक-क्रम से व्यक्त करने पर जो रूप प्रकट होता है वह इस प्रकार है- १५, ७४७, ७२४, १३६, २७५, ००२, ५७७, ६०५, ६५३, ९६१, १८१, ५५५, ४६८, ०४४, ७१७, ९१४, ५७२, ११६, ७०९, ३६६, २३१, ४२५, ०७६, १८५, ६३१, ०३१, २९६,

गणना[१] करके उसकी व्यक्ति इसप्रकार की गई है -$१३६.२^{२५६}$ तथा, रूढ़ संख्याओं के विकलन (Distribution of Primes) को सूचित करने वाली स्कयूज संख्या (Skewes' Number) निम्न प्रकार से व्यक्त की जाती है।

$$१०^{१०^{१०^{३४}}}$$

संख्याओं को व्यक्त करने वाले उपर्युक्त समस्त प्रकारों का उपयोग धवला में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भारत वर्ष में उन प्रकारों का ज्ञान सातवीं शताब्दि से पूर्व ही सर्व-साधारण हो गया था।

अनन्त का वर्गीकरण

धवला में अनन्त का वर्गीकरण पाया जाता है । साहित्य में अनन्त शब्द का उपयोग अनेक अर्थो में हुआ है। जैन वर्गीकरण में उन सबका ध्यान रखा गया है। जैन वर्गीकरण के अनुसार अनन्त के ग्यारह प्रकार हैं। जैसे -

(१) नामानन्त [१] - नाम का अनन्त। किसी भी वस्तु-समुदाय के यथार्थतः अनन्त होने या न होने का विचार किये बिना ही केवल उसका बहुत्व प्रगट करने के लिये साधारण बोलचाल में अथवा अबोध मनुष्यों द्वारा या उनके लिये, अथवा साहित्य में, उसे अनन्त कह दिया जाता है। ऐसी अवस्था में 'अनन्त ' शब्द का अर्थ नाम मात्र का अनन्त है। इसे ही नामानन्त कहते हैं।

(२) स्थापनानन्त [२] - आरोपित या आनुषंगिक, या स्थापित अनन्त। यह भी यथार्थ अनन्त नहीं है। जहां किसी वस्तु में अनन्त का आरोपण कर लिया जाता है वहां इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इससे देखा जा सकता है कि २ का तृतीय वर्गित-संवर्गित अर्थात् $२५६^{२५६}$ विश्वभर के समस्त विद्युत कणों की संख्या से अधिक होता है। यदि हम समस्त विश्व को एक शतरंज का फलक मान लें और विद्युतकणों को उसकी गोटियां, और दो विद्युतकणों की किसी भी परिवृत्ति को इस विश्व के खेल की एक 'चाल' मान लें, तो समस्त संभव 'चालों' की संख्या - $१०^{१०^{१०^{३४}}}$ होगी। यह संख्या रूढ संख्याओं (primes) के विभाग (distribution) से भी संबंध रखती है।

१ जीवाजीवमिस्सदव्वस्स कारणणिरवेक्खा सण्णा अणंता। धवला ३, पृ. ११.

२. जं ठ्ठवणाणंतं णाम तं कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा ..... अक्खो वा वराडयो वा जे च अण्णे ठ्ठवणाए ठ्ठविदा अणंतमिदि तं सव्वं ठ्ठवणाणंतं णाम। ध. ३, पृ. ११ से १२.

(३) द्रव्यानन्त[1] - तत्काल उपयोग में न आते हुए ज्ञान की अपेक्षा अनन्त। इस संज्ञा का उपयोग उन पुरुषों के लिये किया जाता है जिन्हें अनन्त-विषयक शास्त्र का ज्ञान है, जिसका वर्तमान में उपयोग नहीं है।

(४) गणनानन्त - संख्यात्मक अनन्त। यह संज्ञा गणितशास्त्र में प्रयुक्त वास्तविक अनन्त के अर्थ में आई है।

(५) अप्रदेशिकानन्त - परिमाणहीन अर्थात् अत्यन्त अल्प परमाणुरूप।

(६) एकानन्त - एकदिशात्मक अनन्त। यह बात अनन्त है जो एक दिशा में सीधी एक रेखारूप से देखने में प्रतीत होता है।

(७) विस्तारानन्त - द्विविस्तारात्मक अथवा पृष्ठप्रदेशीय अनन्त। इसका अर्थ है प्रतरात्मक अनन्ताकाश।

(८) उभयानन्त - द्विदिशात्मक अनन्त। इसका उदाहरण है एक सीधी रेखा जो दोनों दिशाओं में अनन्त तक जाती है।

(९) सर्वानन्त - आकाशात्मक अनन्त। इसका अर्थ है त्रिधा-विस्तृत अनन्त, अर्थात् धनाकार अनन्ताकाश।

(१०) भावानन्त - तत्काल उपयोग में आते हुए ज्ञान की अपेक्षा अनन्त। इस संज्ञा का उपयोग उस पुरुष के लिये किया जाता है जिसे अनन्त-विषयक शास्त्र का ज्ञान है और जिसका उस ओर उपयोग है।

(११) शाश्वतानन्त - नित्यस्थायी या अविनाशी अनन्त।

पूर्वोक्त वर्गीकरण खूब व्यापक है जिसमें उन सब अर्थो का समावेश हो गया है जिन अर्थो की 'अनन्त' संज्ञा का प्रयोग जैन साहित्य में हुआ है।

गणनानन्त (Numerical infinite)

धवला में यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि प्रकृत में अनन्त संज्ञा का प्रयोग[2] गणनानन्त के अर्थ में ही किया गया है, अन्य अनन्तों के अर्थ में नहीं, 'क्योंकि उन अन्य अनन्तों के द्वारा प्रमाण का प्ररूपण नहीं पाया जाता'[3]। यह भी कहा गया है कि 'गणनानन्त

---

१ जं तं दव्वाणंतं तं दुविहं आगमदो णोआगमदो य। ध. ३, पृ. १२

२ धवला ३, पृ. १६. ३ 'ण च सेसअणंताणि पमाणपरूवणाणि, तत्थ तधादंसणादो'। ध.३, पृ.१७.

बहुवर्णनीय और सुगम है' । इस कथन का अर्थ संभवत: यह है कि जैन-साहित्य में अनन्त अर्थात् गणानानन्त की परिभाषा अधिक विशदरूप से भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा कर दी गई थी, तथा उसका प्रयोग और ज्ञान भी सुप्रचलित हो गया था। किन्तु धवला में अनन्त की परिभाषा नहीं दी गई । तो भी अनन्तसंबंधी प्रक्रियाएं संख्यात और असंख्यात नामक प्रमाणों के साथ-साथ बहुत बार उल्लिखित हुई हैं।

संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रमाणों का उपयोग जैन साहित्य में प्राचीनतम ज्ञातकाल से किया गया है। किन्तु प्रतीत होता है कि उनका अभिप्राय सदैव एकसा नहीं रहा। प्राचीनतर ग्रंथों में अनन्त सचमुच अनन्त के उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ था जिस अर्थ में हम अब उसकी परिभाषा करते हैं। किन्तु पीछे के ग्रंथों में उसका स्थान अनन्तानन्तने ले लिया। उदाहरणार्थ - नेमिचंद्र द्वारा दशवीं शताब्दि में लिखित ग्रंथ त्रिलोकसार के अनुसार परीतानन्त, युक्तानन्त एवं जघन्य अनन्तानन्त एक बड़ी भारी संख्या है, किन्तु हैं वह सान्त। उस ग्रंथ के अनुसार संख्याओं के तीन मुख्य भेद किये जा सकते हैं -

(१) संख्यात - जिसका संकेत हम स मान लेते हैं।

(२) असंख्यात - जिसका संकेत हम अ मान लेते हैं।

(३) अनन्त - जिसका संकेत हम न माल लेते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के संख्या-प्रमाणों के पुन: तीन तीन प्रभेद किये गये हैं जो निम्न प्रकार हैं -

(१) संख्यात- (गणनीय) संख्याओं के तीन भेद हैं -

(अ) जघन्य-संख्यात (अल्पतम संख्या) जिसका संकेत हम स ज मान लेते हैं।

(ब) मध्यम-संख्यात (बीच की संख्य) जिसका संकेत हम स म मान लेते हैं।

(स) उत्कृष्ट-संख्यात (सबसे बड़ी संख्या) जिसका संकेत हम स उ मान लेते हैं।

(२) असंख्यात (अगणनीय) के भी तीन भेद हैं -

(अ) परीत-असंख्यात (प्रथम श्रेणी का असंख्य) जिसका संकेत हम अ प मान लेते हैं।

(ब) युक्त-असंख्यात (बीच का असंख्य) जिसका संकेत हम अ यु मान लेते हैं।

(स) असंख्यातासंख्यात (असंख्य-असंख्य) जिसका संकेत हम अ अ मान लेते हैं।

पूर्वोक्त इन तीनों भेदों में से प्रत्येक के पुन: तीन-तीन प्रभेद होते हैं, जैसे, जघन्य (सबसे छोटा), मध्यम (बीच का) और उत्कृष्ट (सबसे बड़ा)। इस प्रकार असंख्यात के भीतर निम्न संख्याएं प्रविष्ट हो जाती हैं -

१. जघन्य-परीत-असंख्यात .... अ प ज

२. मध्यम-परीत-असंख्यात .... अ प म

३. उत्कृष्ट-परीत-असंख्यात .... अ प उ

१. जघन्य-युक्त-असंख्यात .... अ य ज

२. मध्यम-युक्त-असंख्यात .... अ यु म

३. उत्कृष्ट-युक्त-असंख्यात .... अ यु उ

१. जघन्य-असंख्यातासंख्यात .... अ अ ज

२. मध्यम-असंख्यातासंख्यात .... अ अ म

३. उत्कृष्ट-असंख्यातासंख्यात .... अ अ उ

(३) अनन्त - जिसका संकेत हम न मान चुके हैं। उसके तीन भेद हैं -

(अ) परीत-अनन्त (प्रथम श्रेणी का अनन्त) जिसका संकेत हम न प मान लेते हैं।

(ब) युक्त-अनन्त (बीच का अनन्त) जिसका संकेत हम न यु मान लेते हैं।

(स) अनन्तानन्त (नि:सीम अनन्त) जिसका संकेत हम न न मान लेते हैं।

असंख्यात के समान इन तीनों भेदों के भी प्रत्येक के पुन: तीन-तीन प्रभेद होते हैं। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। अत: अनन्त के भेदों में हमें निम्न संख्याएं प्राप्त होती हैं -

१. जघन्य-परीतानन्त .... न प म

२. मध्यम-परीतानन्त .... न प म

३. उत्कृष्ट-परीतानन्त .... न प उ

१. जघन्य-युक्तानन्त .... न यु ज

२. मध्यम-युक्तानन्त .... न यु म

३. उत्कृष्ट-युक्तानन्त .... न यु उ

१. जघन्य-अनन्तानन्त .... न न ज

२. मध्यम-अनन्तानन्त .... न न म

३. उत्कृष्ट-अनन्तानन्त .... न न उ

संख्यात का संख्यात्मक परिमाण - सभी जैन ग्रंथों के अनुसार जघन्य संख्यात २ हैं, क्योंकि, उन ग्रंथों के मत से भिन्नता की बोधक यही सबसे छोटी संख्या है। एकत्व को संख्यात में सम्मिलित नहीं किया। मध्यम संख्यात में २ और उत्कृष्ट संख्यात के बीच की समस्त गणना आ जाती है, तथा उत्कृष्ट-संख्यात जघन्य-परीतासंख्यात से पूर्ववर्ती अर्थात् एक कम गणना का नाम है। अर्थात् स उ = अ प ज - १। अप ज को त्रिलोकसार में निम्न प्रकार से समझाया गया है [१] -

जैन भूगोलानुसार यह विश्व, अर्थात् मध्यलोक, भूमि और जल के क्रमवार वलयों से बना हुआ है। उनकी सीमाएं उत्तरोत्तर बढ़ती हुई त्रिज्याओं वाले समकेन्द्रीय वृत्तरूप हैं। किसी भी भूमि या जलमय एक वलय का विस्तार उससे पूर्ववर्ती वलय के विस्तार से दुगुना है। केन्द्रवर्ती वृत्त (सबसे प्रथम बीच का वृत्त) एक लाख (१,००,०००) योजन व्यास वाला है, और जम्बूदीप कहलाता है।

अब बेलन के आकार के चार ऐसे गड्ढों की कल्पना कीजिये और जो प्रत्येक एक लाख योजन व्यास वाले और एक हजार योजन गहरे हों। इन्हें $अ_१$, $ब_१$, $स_१$ और $ड_१$ कहिये। अब कल्पना कीजिये कि $अ_१$ सरसों के बीजों से पूरा भर दिया गया और फिर भी उस पर और सरसों डाले गये जब तक कि उसकी शिखा शंकु के आकार की हो जाय, जिसमें सबसे ऊपर एक सरसों का बीज रहे। इस प्रक्रिया के लिये जितने सरसों के बीजों की आवश्यकता होगी उनकी संख्या इस प्रकार है -

बेलनाकार गड्ढे के लिये - $१९७९१२०९२९९९६८.१०^{३१}$। ऊपर शंकार शिखा के लिये - १७९९२००८४५४५१६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६। संपूर्ण सरसों का प्रमाण - १९९७११२९३८४५१३१६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६

इस पूर्वोक्त प्रक्रिया को हम बेलनाकार गड्ढे का सरसों के बीजों से 'शिखायुक्त पूरण' कहेंगे। अब उपर्युक्त शिखायुक्त पूरित गड्ढे में से उन बीजों को निकालिये और जम्बूद्वीप से प्रारंभ करके प्रत्येक द्वीप और समुद्र के वलयों में एक-एक बीज डालिये। चूंकि बीजों की संख्या सम है, इसलिये अन्तिम बीज समुद्रवलय पर पड़ेगा। अब एक बीज $ब_१$ नामक गड्ढे में डाल दीजिये, यह बतलाने के लिये कि उक्त प्रक्रिया एक बार हो गई।

---

१ देखो त्रिलोकसार, गाथा ३५.

अब एक ऐसे बेलन की कल्पना कीजिये जिसका व्यास उस समुद्र की सीमापर्यन्त व्यास के बराबर हो जिसमें वह अन्तिम सरसों का बीज डाला हो। इस बेलन को $अ_१$ कहिये। अब इस $अ_१$ को भी पूर्वोक्त प्रकार सरसों से शिखायुक्त भर देने की कल्पना कीजिये। फिर इन बीजों को भी पूर्व प्राप्त अन्तिम समुद्रवलय से आगे के द्वीप-समुद्र रूप वलयों में पूर्वोक्त प्रकार से क्रमशः एक-एक बीज डालिये। इस द्वितीय वार विरलन में भी अन्तिम सरसप किसी समुद्रवलय पर ही पड़ेगा। अब $ब_१$ में एक और सरसप डाल दो, यह बतलाने के लिये कि उक्त प्रक्रिया द्वितीय वार हो चुकी।

कल्पना कीजिये कि यही प्रक्रिया तब तक चालू रखी गई जब तक कि $ब_१$ शिखायुक्त न भर जाय। इस प्रक्रिया में हमें उत्तरोत्तर बढ़ते हुए आकार के बेलन लेना पड़ेंगें।

$अ_१$, $अ_२$, ... $अ_र$, ...

मान लीजिये कि $ब_१$ के शिखायुक्त भरने पर अन्तिम बेलन अ ' प्राप्त हुआ।

अब अ' को प्रथम शिखायुक्त भरा गड्ढा मान कर उस जलवलय के बाद से जिसमें पिछली क्रिया के अनुसार अन्तिम बीज डाला गया था, प्रारम्भ करके प्रत्येक जल और स्थल के वलय में एक-एक बीज छोड़ने की क्रिया को आगे बढ़ाइये। तब $स_१$ में एक बीज छोड़िये। इस प्रक्रिया को तब तक चालू रखिये जब तक कि $स_१$ शिखायुक्त न भर जाय। मान लीजिये कि इस प्रक्रिया से हमें अन्तिम बेलन अ'' प्राप्त हुआ। तब फिर इस अ'' से वही प्रक्रिया प्रारम्भ कर दीजिये और उसे $ड_१$ के शिखायुक्त भर जाने तक चालू रखिये। मान लीजिये कि इस प्रक्रिया के अन्त में हमें अ ''' प्राप्त हुआ। अतएव जघन्यपरीतासंख्यात अ प ज का प्रमाण ''' में समानेवाले सरसप बीजों की संख्या के बराबर होगा और उत्कृष्ट संख्यात = स उ = अ प ज - १.

पर्यालोचन - संख्याओं को तीन भेदों में विभक्त करने का मुख्य अभिप्राय यह प्रतीत होता है - संख्यात अर्थात् गणना कहां तक की जा सकती है यह भाषा में संख्या-नामों की उपलब्धि अथवा संख्या व्यक्ति के अन्य उपायों की प्राप्ति पर अवलम्बित है। अतएव भाषा में गणना का क्षेत्र बढ़ाने के लिये भारतवर्ष में प्रधानतः दश-मान के आधार पर संख्या-नामों की एक लम्बी श्रेणी बनाई गई। हिन्दु $१०^{१७}$ तक की गणना को भाषा में व्यक्त कर सकनेवाले अठारह नामों से संतुष्ट हो गये। $१०^{१७}$ से ऊपर की संख्याएं उन्हीं नामों की पुनरावृत्ति द्वारा व्यक्त की जा सकती थी, जैसा कि अब हम दश-दश-लाख (million million) आदि कह कर करते हैं। किन्तु इस बात का अनुभव हो गया कि यह

पुनरावृत्ति भारभूत (cumbersome) है। बौद्धों और जैनियों को अपने दर्शन और विश्वरचना संबंधी विचारों के लिये $१०^{१७}$ से बहुत बड़ी संख्याओं की आवश्यकता पड़ी। अतएव उन्होंने और बड़ी-बड़ी संख्याओं के नाम कल्पित कर लिये। जैनियों के संख्यानामों का तो अब हमें पता नहीं है[१], किन्तु बौद्धों द्वारा कल्पित संख्या- नामों की निम्न श्रेणिका चित्ताकर्षक है -

१ एक	=	१	१५ अब्बुद	=	$(१०,०००,०००)^{८}$
२ दस	=	१०	१६ निरब्बुद	=	$(१०,०००,०००)^{९}$
३ सत	=	१००	१७ अहह	=	$(१०,०००,०००)^{१०}$
४ सहस्स	=	१,०००	१८ अबब	=	$(१०,०००,०००)^{११}$

१ जैनियों के प्राचीन साहित्य में दीर्घकाल - प्रमाणों के सूचक नामों की तालिका पाई जाती है जो एक वर्ष प्रमाण से प्रारम्भ होती है। यह नामावली इस प्रकार है -

१ वर्ष			१७ अटटांग	=	८४ त्रुटित
२ युग	=	५ वर्ष	१८ अटट	=	,, लाख अटटांग
३ पूर्वांग	=	८४ लाख वर्ष	१९ अममांग	=	,, अटट
४ पूर्व	=	,, लाख पूर्वांग	२० अमम	=	,, लाख अममांग
५ नयुतांग	=	,, पूर्व	२१ हाहांग	=	,, अमम
६ नयुत	=	,, लाख नयुतांग	२२ हाहा	=	,, लाख हाहांग
७ कुमुदांग	=	,, नयुत	२३ हूहांग	=	,, हाहा
८ कुमुद	=	,, लाख कुमुदांग	२४ हूहू	=	,, लाख हूहांग
९ पद्मांग	=	,, कुमुद	२५ लतांग	=	,, हूहू
१० पद्म	=	,, लाख पद्मांग	२६ लता	=	,, लाख लतांग
११ नलिनांग	=	,, पद्म	२७ महालतांग	=	,, लता
१२ नलिन	=	,, लाख नलिनांग	२८ महालता	=	,, लाख महालतांग
१३ कमलांग	=	,, नलिन	२९ श्रीकल्प	=	,, लाख महालता
१४ कमल	=	,, लाख कमलांग	३० हस्तप्रहेलित	=	,, लाख श्रीकल्प
१५ त्रुटितांग	=	,, कमल	३१ अचलप्र	=	,, लाख हस्तप्रहेलित
१६ त्रुटित	=	,, लाख त्रुटितांग			

यह नामावली त्रिलोकप्रज्ञप्ति (४-६ वीं शताब्दि) हरिवंशपुराण (८ वीं शताब्दि) और राजवार्तिक (८ वीं शताब्दि) में कुछ नामभेदों के साथ पाई जाती है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति के एक उल्लेखानुसार अचलप्रका प्रमाण ८४ को ३१ बार परस्पर गुणा करने से प्राप्त होता है - अचलप्र - $८४^{३१}$ तथा यह संख्या ९० अंक प्रमाण होगी। किन्तु लघुरिक्थ तालिका (Logarithmic tables) के अनुसार ८४३१ संख्या ६० अंक प्रमाण ही प्राप्त होती है। देखिये धवला, भाग ३, प्रस्तावना व फुट नोट, पृ.३४ - सम्पादक

५ दससहस्स	=	१०,०००	१९ अटट	=	(१०,०००,०००)^{१२}
६ सतसहस्स	=	१००,०००	२० सोगन्धिक	=	(१०,०००,०००)^{१३}
७ दससतसहस्स	=	१,०००, ०००	२१ उप्पल	=	(१०,०००,०००)^{१४}
८ कोटि	=	१०,०००,०००	२२ कुमुद	=	(१०,०००,०००)^{१५}
९ पकोटि	=	(१०,०००,०००)^{२}	२३ पुंडरीक	=	(१०,०००,०००)^{१६}
१० कोटिप्पकोटि	=	(१०,०००,०००)^{३}	२४ पदुम	=	(१०,०००,०००)^{१७}
११ नहुत	=	(१०,०००,०००)^{४}	२५ कथान	=	(१०,०००,०००)^{१८}
१२ निन्नहुत	=	(१०,०००,०००)^{५}	२६ महाकथान	=	(१०,०००,०००)^{१९}
१३ अखोभिनी	=	(१०,०००,०००)^{६}	२७ असंख्येय	=	(१०,०००,०००)^{२०}
१४ बिन्दु	=	(१०,०००,०००)^{७}			

यहां देखा जाता है कि श्रेणिका में अन्तिम नाम असंख्येय है। इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि असंख्येय के ऊपर की संख्याएं गणनातीत है।

असंख्येय का परिमाण समय-समय पर अवश्य बदलता रहा होगा। नेमिचंद्र का असंख्यात उपर्युक्त असंख्येय से, जिसका प्रमाण १०^{१४०} होता है, निश्चयत: भिन्न है।

असंख्यात - ऊपर कहा ही जा चुका है कि असंख्यात के तीन मुख्य भेद हैं और उनमें से भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं। ऊपर निर्दिष्ट संकेतों के प्रयोग करने से हमें नेमिचंद्र के अनुसार निम्न प्रमाण प्राप्त होते हैं -

जघन्य-परीत-असंख्यात (अ प ज) = स उ + १

मध्यम-परीत-असंख्यात (अ प म) है > अ प ज, किन्तु < अ प उ.

उत्कृष्ट - परीत - असंख्यात (अ प उ) = अ यु ज - १

जहां -

जघन्य-युक्त-असंख्यात (अ यु ज) = (अ प ज)$^{\text{अ प ज}}$

मध्यम-युक्त-असंख्यात (अ यु म) है > अ यु ज, किन्तु < अ यु उ.

उत्कृष्ट-युक्त-असंख्यात (अ यु उ = अ अ ज - १.)

जहां -

जघन्य-असंख्यातासंख्यात (अअ ज) = $(\text{अ यु ज})^2$

मध्यम-असंख्यातासंख्यात (अ अ म) है > अ अ ज, किन्तु < अ अ उ.

उत्कृष्ट - असंख्यातासंख्यात (अ अ उ) = अ प ज - १.

जहां -

न प ज जघन्य-परीत-अनन्त का बोधक है।

अनन्त- अनन्त श्रेणी की संख्याएं निम्न प्रकार हैं -

जघन्य-परीत-अनन्त (न प ज) निम्न प्रकार से प्राप्त होता है -

$$\left[\left\{ (\text{अअज})^{(\text{अअज})} \right\}^{\left\{ (\text{अअज})^{(\text{अअज})} \right\}} \right]$$

$$\text{क} = \left[\left\{ (\text{अअज})^{(\text{अअज})} \right\}^{\left\{ (\text{अअज})^{(\text{अअज})} \right\}} \right]$$

मानलो ख = क +छह द्रव्य [1]

$$\left\{ (\text{ख}^{\text{ख}})^{\text{ख}^{\text{ख}}} \right\} + \text{४ राशियां}$$

मानलो ग = $\left\{ (\text{ख}^{\text{ख}})^{\text{ख}^{\text{ख}}} \right\}$

तब –

जघन्य-परीत-अनन्त (न प ज) = $\left\{ (\text{ग}^{\text{ग}})^{\text{ग}^{\text{ग}}} \right\} \left\{ (\text{ग}^{\text{ग}})^{\text{ग}^{\text{ग}}} \right\}$

मध्यम-परीत-अनन्त (न प म) है > न प ज, किंतु < न प उ

उत्कृष्ट-परीत-अनन्त (न प उ) = न यु ज - १,

---

१ छह द्रव्य ये हैं - (१) धर्म, (२) अधर्म, (३) एक जीव, (४) लोकाकाश, (५) अप्रतिष्ठित (वनस्पति जीव) और (६) प्रतिष्ठित (वनस्पति जीव)

२ चार समुदाय ये हैं - (१) एक कल्पकाल के समय, (२) लोकाकाश के प्रदेश (३) अनुभागबंध अध्यवसायस्थान और (४) योग के अविभाग-प्रतिच्छेद.

जहां --

जघन्य-युक्त-अनन्त (न यु ज) = $(\text{अ प ज})^{(\text{अ प ज})}$

मध्यम-युक्त-अनन्त (न यु म) है > न यु ज, किंतु < न यु उ

उत्कृष्ट - युक्त - अनन्त (न यु उ) = न न ज -- १

जहां --

जघन्य-अनन्तानन्त (न न ज) = (न यु ज) [२]

मध्यम-अनन्तानन्त (न न म) > है न न ज, किंतु < न न उ

जहां -

न न उ उत्कृष्ट अनन्तानन्त के लिये प्रयुक्त है, जो कि नेमिचंन्द्र के अनुसार निम्न प्रकार से प्राप्त होता है -

$$\text{क्ष} = \left[\left\{(\text{नन ज})^{(\text{नन ज})}\right\}^{(\text{नन ज})^{(\text{नन ज})}} \right]^{\left[\left\{(\text{नन ज})^{(\text{नन ज})}\right\}^{(\text{नन ज})^{(\text{नन ज})}} \right]}$$

+ छह राशियाँ [१]

$$\text{त्र} = \left\{(\text{क्ष}^{\text{क्ष}})^{\text{क्ष}^{\text{क्ष}}}\right\}^{\left\{(\text{क्ष}^{\text{क्ष}})^{\text{क्ष}^{\text{क्ष}}}\right\}} + \text{दो राशियाँ}$$ [२]

$$\text{ज्ञ} = \left\{(\text{त्र}^{\text{त्र}})^{\text{त्र}^{\text{त्र}}}\right\}^{\left\{(\text{त्र}^{\text{त्र}})^{\text{त्र}^{\text{त्र}}}\right\}}$$

अब, केवलज्ञान राशि ज्ञ से भी बड़ी है और -

न न उ = केवलज्ञान - ज्ञ + ज्ञ = केवलज्ञान.

पर्यालोचन — उपर्युक्त विवरण का यह निष्कर्ष निकलता है -

---

१ छह राशियाँ ये हैं - (१) सिद्ध, (२) साधारण वनस्पति निगोद, (३) वनस्पति, (४) पुद्गल, (५) व्यवहारकाल और (६) आलोकाकाश.

२ ये दो राशियां हैं - (१) धर्मद्रव्य, (२) अधर्मद्रव्य, (इन दोनों के अगुरुलघु गुण के अविभाग-प्रतिच्छेद)

(१) जघन्य-परीत-अनन्त (न प ज) अनन्त नहीं होता जब तक उसमें प्रक्षिप्त किये गये छह द्रव्यों या चार राशियों में से एक या अधिक अनन्त न मान लिये जायें।

(२) उत्कृष्ट-अनन्त-अनन्त (न न उ) केवलज्ञानराशि के समप्रमाण है। उपर्युक्त विवरण से यह अभिप्राय निकलता है कि उत्कृष्ट अनन्तानन्त अंकगणित की किसी प्रक्रिया द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, चाहे वह प्रक्रिया कितनी ही दूर क्यों न ले जाई जाय। यथार्थत वह अंकगणित द्वारा प्राप्त ज्ञ की किसी भी संख्या से अधिक ही रहेगा। अत: मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि केवलज्ञान अनन्त है, और इसीलिये उत्कृष्ट-अनन्तानन्त भी अनन्त है।

इस प्रकार त्रिलोकसारान्तर्गत विवरण हमें कुछ संशय में ही छोड़ देता है कि परीतानन्त और युक्तानन्त के तीन-तीन प्रकार तथा जघन्य अनन्तानन्त सचमुच अनन्त है या नहीं, क्योंकि ये सब असंख्यात के ही गुणनफल कहे गये हैं, और जो राशियां उनमें जोड़ी गई हैं वे भी असंख्यात मात्र ही हैं। किन्तु धवला का अनन्त सचमुच अनन्त ही है, क्योंकि यहां यह स्पष्टत कह दिया गया है कि 'व्यय होने से जो राशि नष्ट हो वह अनन्त नहीं कही जा सकती' [1]। धवला में यह भी कह दिया गया है कि अनन्तानन्त से सर्वत्र तात्पर्य मध्यम-अनन्तानन्त से है। अत: धवलानुसार मध्यम-अनन्तानन्त अनन्त ही है। धवला में उल्लिखित दो राशियों के मिलान की निम्न रीति बड़ी रोचक है [2] -

एक ओर गतकाल की समस्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी अर्थात् कल्पकाल के समयों को (Time-instants) स्थापित करो। (इनमें अनादि-सातत्य होने से अनन्तत्व है ही।) दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि जीवराशि रक्खो। अब दोनों राशियों में से एक-एक रूप बराबर उठा उठा कर फेंकते जाओ। इस प्रकार करते जाने से कालराशि नष्ट हो जाती है, किन्तु जीवराशि का अपहार नहीं होता [3]। धवला में इस प्रकार से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि मिथ्यादृष्टि राशि अतीत कल्पों के समयों से अधिक है।

यह उपर्युक्त रीति और कुछ नहीं केवल एक से एक की संगति (one-to-one correspondence) का प्रकार है जो आधुनिक अनन्त गणनांकों के सिद्धान्त (Theory of infinite cardinals) का मूलाधार है। यह कहा जा सकता है कि यह रीति परिमित गणनांकों

---

१ 'संते वए णट्ठंतस्स अणंतत्तविरोहादो'। ध.३, पृ. २५.

२ धवला ३, पृ २८.

३ 'अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणी ण अवहिरंति कालेण'। ध. ३, पृ. २८ सूत्र ३. देखो टीका, पृ. २८. 'कधं कालेण मिणिज्जते मिच्छाइट्ठी जीवा' ? आदि।

के मिलान में भी उपयुक्त होती है, और इसीलिये उसका आलम्बन दो बड़ी परिमित राशियों के मिलान के लिये लिया गया था - इतनी बड़ी राशियां जिनके अंगों (elements) की गणना किसी संख्यात्मक संज्ञा द्वारा नहीं की जा सकी। यह दृष्टिकोण इस बात से और भी पुष्ट होता है कि जैन-ग्रंथों के समय के अध्वान का भी निश्चय कर दिया गया है, और इसलिये एक कल्प (अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी) के कालप्रदेश परिमित ही होना चाहिये, क्योंकि, कल्प स्वयं कोई अनन्त कालमान नहीं है। इस अन्तिम मत के अनुसार जघन्य-परीत-अनन्त, जो कि परिभाषानुसार कल्प के कालप्रदेशों की राशि से अधिक है, परिमित ही है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, एक से एक की संगति की रीति अनन्त गणनांकों के अध्ययन के लिये सबसे प्रबल साधन सिद्ध हुई है, और उस सिद्धान्त के अन्वेषण तथा सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय जैनियों को ही है।

संख्याओं के उपर्युक्त वर्गीकरण में मुझे अनन्त गणनांकों के सिद्धान्त को विकसित करने का प्राथमिक प्रयत्न दिखाई देता है। किन्तु इस सिद्धान्त में कुछ गंभीर दोष हैं। ये दोष विरोध उत्पन्न करेंगें। इनमें से एक स - १ की संख्या की कल्पना का है, जहां स अनन्त है और एक वर्ग की सीमा का नियामक है। इसके विपरीत जैनियों का यह सिद्धान्त कि एक संख्या स का वर्गित-संवर्गित रूप अर्थात् $स^{स}$ एक नवीन संख्या उत्पन्न कर देता है, युक्तपूर्ण है। यदि यह सच हो कि प्राचीन जैन साहित्य का उत्कृष्ट-असंख्यात अनन्त से मेल खाता है, तो अनन्त की संख्याओं की उत्पत्ति में आधुनिक अनन्त गणनांकों के सिद्धान्त (Theory of infinite cardinals) का कुछ सीमा तक पूर्वनिरूपण हो गया है। गणितशास्त्रीय विकास के उतने प्राचीन काल और उस प्रारम्भिक स्थिति में इस प्रकार के किसी भी प्रयत्न की असफलता अवश्यंभावी थी। आश्चर्य तो यह है कि ऐसा प्रयत्न किया गया था।

अनन्त के अनेक प्रकारों की सत्ता को जार्ज केन्टर ने उन्नीसवीं शताब्दि के मध्यकाल के लगभग प्रयोग-सिद्ध करके दिखाया था। उन्होंने सीमातीत (transfinite) संख्याओं का सिद्धान्त स्थापित किया। अनन्त राशियों के क्षेत्र (domain) के विषय में कैन्टर के अन्वेषणों से गणितशास्त्र के लिये एक पुष्ट आधार, खोज के लिये एक प्रबल साधन और गणितसंबंधी अत्यन्त गूढ़ विचारों को ठीक रूप से व्यक्त करने के लिये एक भाषा मिल गई है। तो भी यह सीमातीत संख्याओं का सिद्धांत अभी अपनी प्राथमिक अवस्था में ही है। अभी तक इन संख्याओं का कलन (Calculus) प्राप्त नहीं हो पाया है, और इसलिये हम उन्हें अभी तक प्रबलता से गणितशास्त्रीय विश्लेषण में नहीं उतार सके हैं।

'धवला का गणितशास्त्र'[१] में जो गणित से सम्बन्ध रखने वाले विशेष हिन्दी शब्दों का उपयोग किया गया है उसके समरूप अंग्रेजी शब्द निम्न प्रकार हैं -

अनन्त	-	Infinite.
अनन्त गणनांक सिद्धांत	-	Theory of infinite cardinals.
अनुताप	-	Proportion.
अर्धक्रम	-	Operation of mediation.
अर्धच्छेद	-	Number of times a number is halved; mediation; logarithm.
असंख्यात	-	Innumerable.
असाम्यता	-	Inequality
अंक	-	Notational Place
अंकगणित	-	Arithmetic
अंग	-	Element.
आधार	-	Base (of logarithm)
आविष्कार	-	Discovery; invention.
उत्तरोत्तर	-	Successive.
एकदिशात्मक	-	One directional.
एकसे-एंककी संगति	-	One-to-one correspondence.
कला	-	Art
कालप्रदेश	-	Time-instant.
कुट्टक	-	Indeterminte equation.
केन्द्रवर्ती	-	Initial circle; central core.
केन्द्रवर्ती वृत्त	-	Initial circle; central core.
क्रिया	-	Operation.

१. यह अध्ययन मूलत: अंग्रेजी में प्रेषित, लखनऊ यूनिवर्सिटी के तत्कालीन गणित के प्रोफेसर डा. अवधेशनारायण सिंह के लेख का हिन्दी भाषान्तर है जिसे गणित सम्बन्धी धवलांश की प्रमाणित निष्पक्ष पुष्टि हेतु मूल प्रस्तावना में यथारूप शामिल किया गया है। - संपादक

क्षेत्रप्रदेश	-	Locations; points or places.
क्षेत्रमिति	-	Mensuration.
क्षेत्रमिति	-	Mensuration
गणितशास्त्र	-	Mathematics.
गणितज्ञ	-	Mathematician.
गुणा	-	Multiplication.
घनमूल	-	Cube root
घात निकालना, करना	-	Raising of numbers to given powers.
घातांक	-	Powers.
घातांक सिद्धान्त	-	Theory of indices.
चतुर्थच्छेद	-	Number of times that a number can be divided by 4
चिह्न	-	Trace
जोड़	-	Addition
ज्योतिषविद्या	-	Astronomy
टिप्पणी	-	Notes
त्रिकच्छेद	-	Number of times that a num. ber can be divided by 3.
त्रिज्या	-	radius.
त्रैराशिक	-	Rule of three.
दशमान	-	Scale of ten.
दाशमिकक्रम	-	Decimal place-value
द्विगुणक्रम	-	Operation of duplation.
द्विविस्तारात्मक	-	Two-dimensional; superficial.
निगूढ़तक	-	Abstract reasoning.

नियम	-	Rule
पद्धति	-	Method
परिणाम	-	Result
परिमाण	-	Magnitude
परिमाणहीन	-	Dimensionless.
परिमित गणनांक	-	Finite cardinals
पूर्णंक	-	Integer
प्रक्रिया	-	Process, operation
प्रतरात्मक अनन्त आकाश	-	Infinite plane area.
प्रश्न	-	Problem
प्राथमिक	-	Elementary; primitive
बाकी	-	Subtraction
बीजगणित	-	Algebra
बेलनाकार	-	Cylindrical
भाग	-	Division
भाज्य	-	Divisisor
भिन्न	-	Fraction
मूल, मौलिक प्रक्रिया	-	Fundamental operation
राशि	-	Aggregate
रूढ संख्या	-	Prime
रूपरेखा	-	General outline
लघुरिक्थ	-	Logarithm.
लब्ध	-	Quotient
वर्ग	-	Square

वर्गमूल	-	Square root
वर्गशलाका	-	Logarithm of logarithm
वर्गसमीकरण	-	Quadratic equation
वर्गित-संवर्गित	-	Raising a number to its own power (संख्यातुल्य घात)
वलय	-	Ring
विकलन	-	Distribution
विज्ञान	-	Science.
विद्युत्कण	-	Protons and electrons.
विनिमय	-	Barter and exchange
विरलन	-	Distribution; spreading.
विरलन देय	-	Spread and give
विश्लेषण	-	Analysis
विस्तार	-	Details
वृत्तु	-	Circle
ब्याज	-	Interest
व्यास	-	Diameter.
शंक्वाकार शिखा	-	Super-incumbent cone.
शाखा	-	School
श्रेणीबद्ध करना	-	Classify.
समकेन्द्रीय	-	Concentric
सरल समीकरण	-	Simple equation
संकेत	-	Symbol, notation.
संकेतक्रम	-	Scale of notation

संख्या	-	Number
संख्यात	-	Numberable
संख्यातुल्य घात	-	Raising of number to its own power
सातत्य	-	Continuum.
साधारणीकृत	-	Generalised.
सीमा	-	Boundary.
सीमातीत संख्या	-	Transfinite number
सूत्र	-	Formula

कन्नड़ प्रशस्ति

अन्तर-प्ररूपणा के पश्चात् और भाव-प्ररूपणा से पूर्व प्रतियों में दो कन्नड़ पद्यों की प्रशस्ति पाई जाती है जो इस प्रकार है -

पोडवियोलु मल्लिदेवन
पडेदर्थवदर्थिजनकवाश्रितजनकं ।
पडेदोडमेयादुदिन्नी
पडेवळनौदार्यदोलवने बण्णिपुदो ।।
कडुचोद्यवन्नदानं
बेडंगुवडेदेसेव जिनगृहगलुवं ता ।
नेडेवरियदे माडिसुवं
पडेवळनी मल्लिदेवनेंब विधात्रं ।।

ये दोनों पद्य कन्नड भाषा के कंदवृत्त में है । इनका अनुवाद इन प्रकार है -

" इस संसार में मल्लिदेव द्वारा उपार्जित धन अर्थी और आश्रित जनों की सम्पत्ति हो गया । अब सेनापति की उदारता का यथार्थ वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है ?"

"उनका अन्नदान बड़ा आश्चर्यजनक है । ये सेनापति मल्लिदेव नाम के विधाता विना किसी स्थान के भेदभाव के सुन्दर और महान् जिनगृह निर्माण करा रहे हैं ।"

इन पद्यों में मल्लिदेव नाम के एक सेनापति के दान-धर्म की प्रशंसा की गई है। उनके विषय में यहां केवल इतना ही कहा गया है कि वे बड़े दानशील और अनेक जैन मन्दिरों के निर्माता थे। तेरहवीं शताब्दि के प्रारंभ में मल्लिदेव नाम के एक सिन्द-नरेश हुए हैं। उनके एचण नाम के मंत्री थे जो जैनधर्म पालते थे और उन्होंने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण भी कराया था। उनकी पत्नि का नाम सोविलदेवी था।

(ए.क.७, लेख नं. ३१७, ३२० और ३२१).

कर्नाटक के लेखों में तेरहवीं शताब्दी के एक मल्लिदेव का भी उल्लेख मिलता है जो होय्सलनरेश नरसिंह तृतीय के सेनापति थे। किन्तु इनके विषय में यह निश्चय नहीं है कि वे जैन धर्मावलम्बी थे या नहीं। श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं. १३० (३३५) में भी एक मल्लिदेव का उल्लेख आया है जो होय्सलनरेश वरिबल्लाल के पट्टणस्वामी व सचिव नागदेव और उनकी भार्या चन्दव्वे (मल्लिसेट्टिकी पुत्री) के पुत्र थे। नागदेव जैनधर्मावलम्बी थे इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि, उक्त लेख में वे नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवती के पदभक्त शिष्य कहे गये हैं और उन्होंने नगरजिनालय तथा कमठपार्श्वदेव बस्ति के सन्मुख शिलाकुट्टम और रंगशाला निर्माण कराई थी तथा नगर जिनालय को कुछ भूमि का दान भी किया था। मल्लिदेव की प्रशंसा में इस लेख में जो एक पद्य आया वह इस प्रकार है -

परमानन्ददिनेन्तु नाकपतिगं पौलोमिगं पुट्टिदों
वरसौन्दर्य्यजयन्तनन्ते तुहिन-क्षीरोद-कल्लोल भा-
सुरकीर्त्तिप्रियनागदेवविभुगं चन्दब्वेगं पुट्टिदों
स्थिरनीपट्टणसामिविश्वनुतं श्रीमल्लिदेवाह्वयं ॥ १० ॥

अर्थात् 'जिस प्रकार इन्द्र और पौलोमी (इन्द्राणी) के परमानन्द पूर्वक सुन्दर जयन्त की उत्पत्ति हुई थी, उसी प्रकार तुहिन (वर्फ) तथा क्षीरोदधिकी कल्लोलों के समान भास्वर कीर्ति के प्रेमी नागदेव विभु और चन्दव्वे से इन स्थिरबुद्धि विश्वविनुत पट्टणस्वामी मल्लिदेव की उत्पत्ति हुई है।" इससे आगे के पद्य में कहा गया है कि वे नागदेव क्षितितलपर शोभायमान हैं जिनके बम्मदेव और जोगब्बे माता-पिता तथा पट्टणस्वामी मल्लिदेव पुत्र हैं। यह लेख शक सं. १११८ (ईस्वी ११९६) का है, अत: यही काल पट्टणस्वामी मल्लिदेव का पड़ता है। अभी निश्चयत: तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु संभव है कि यही मल्लिदेव हों जिनकी प्रशंसा धवला प्रति के उपर्युक्त दो पद्यों में की गई है।

शंका-समाधान

पुस्तक ४, पृष्ठ ३८

१. शंका - पृष्ठ ३८, पर लिखा है - 'मिच्छाइट्ठिस्स सेस-तिण्णि विसेसणाणि ण संभवंति, तक्कारणसंजमादिगुणाणमभावादो' यानी तैजससमुद्घात प्रमुत्तगुणस्थान पर ही होता है, सो इसमें कुछ शंका होती है। क्या अशुभ तैजस भी इसी गुणस्थान पर होता है ? प्रमुत्तगुणस्थान पर ऐसी तीव्र कषाय होना कि सर्वस्व भस्म कर दे और स्वयं भी उससे भस्म हो जाय और नरक तक चला जाय, ऐसा कुछ समझ में नहीं आता ?

समाधान - मिथ्यादृष्टि के शेष तीन विशेषण अर्थात् आहारकसमुद्घात, तैजससमुद्घात और केवलिसमुद्घात संभव नहीं है, क्योंकि, इनके कारणभूत संयमादि गुणों का मिथ्यादृष्टि के अभाव है। इस पंक्ति का अर्थ स्पष्ट है कि जिन संयमादि विशिष्ट गुणों के निमित्त से आहारकऋद्धि आदि की प्राप्ति होती है, वे गुण मिथ्यादृष्टि जीव के संभव नहीं हैं। शंकाकार के द्वारा उठाई गई आपत्ति का परिहार यह है कि तैजसशक्ति की प्राप्ति के लिये भी उस संयम-विशेष की आवश्यकता है जो कि मिथ्यादृष्टि जीव के हो नहीं सकता। किन्तु अशुभतैजस का उपयोग प्रमत्तसंयत साधु नहीं करते। जो करते हैं, उन्हें उस समय भावलिंगी साधु नहीं, किन्तु द्रव्यलिंगी समझना चाहिए।

पुस्तक ४, पृष्ठ ४५

२ शंका - विदेह में संयतराशि का उत्सेध ५०० धनुष लिखा है, सो क्या यह विशेषता की अपेक्षा से कथन है, या सर्वथा नियम ही हैं ?

(नानकचन्द्र जैन, खतौली, पत्र ता. १-४-४२)

समाधान - विदेह में संयतराशिका ही उत्सेध नहीं, किन्तु वहां उत्पन्न होने वाले मनुष्य मात्र का उत्सेध पांच सौ धनुष होता है, ऐसा सर्वथा नियम ही है जैसा कि उसी चतुर्थ भाग के पृ. ४५ पर आई हुई "एदाओ दो वि ओगाहणाओ भरह-इरावएसु चेव होंति ण विदेहेसु, तत्थ पंचधणुस्सदुस्सेधणियमा" इस तीसरी पंक्ति से स्पष्ट है। उसी पंक्ति पर तिलोयपण्णत्ती से दी गई टिप्पणी से भी उक्त नियम की पुष्टि होती है। विशेष के लिए देखो तिलोयपण्णत्ती, अधिकार ४, गाथा २२५५ आदि।

पुस्तक ४, पृष्ठ ७६

३. शंका - पृष्ठ ७६ में मूल में 'मारणंतिय ' के पहले का 'मुक्क ' शब्द अभी विचारणीय प्रतीत होता है ? (जैन संदेश, ता. २३-४-४२)

समाधान - मूल में 'मुक्कमारणंतियरासी' पाठ आया है, जिसका अर्थ - "किया है मारणान्तिकसमुद्घात जिन्होंने " ऐसा किया है। प्रकरण को देखते हुए यही अर्थ समुचित प्रतीत होता है, जिसकी कि पुष्टि गो.जी.गा. ५४४ (पृ.९९२) की टीका में आए हुए 'क्रियमाणमारणान्तिकदंडस्य'; 'तिर्यग्जीवमुक्तोपपाददंडस्य', तथा, ५४७ की गाथा की टीका में (पृ. ५६७) आये हुए 'अष्टमपृथवीसंबंधिवादरपर्याप्तपृथवीकायेषु उप्पत्तुं मुक्ततत्समुद्घातदंडानां' आदि पाठों से भी होती है। ध्यान देने की बात यह है कि द्वितीय व तृतीय उद्धरण में जिस अर्थ में 'मुक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है, प्रथम अवतरण में उसी अर्थ में 'क्रियमाण' शब्द का उपयोग हुआ है और यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि प्राकृत 'मुक्क' शब्द की संस्कृतच्छाया 'मुक्त' ही होती है। पंडित टोडरमल्लजी ने भी उक्त स्थल पर 'मुक्त' शब्द का यही अर्थ किया है। इस प्रकार 'मुक्क' शब्द के किये गये अर्थ में कोई शंका नहीं रह जाती है।

पुस्तक ४, पृष्ठ १००

४. शंका - पृ १०० पर मूल पाठ में कुछ पाठ छूटा हुआ प्रतीत होता है ?

(जैन सन्देश ३०-४-४२)

समाधान - शंकाकार ने यद्यपि पृष्ठ का नाम मात्र ही दिया है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि उक्त पेज पर २४ वें सूत्र की व्याख्या में पाठ छूटा हुआ उन्हें प्रतीत हुआ या २५ वें सूत्र की व्याख्या में। जहां तक हमारा अनुमान जाता है कि २४ वें सूत्र की व्याख्या में 'बादरवाउअपज्जत्तेसु अंतब्भावादो' के पूर्व कुछ पाठ उन्हें स्खलित जान पड़ा है। पर न तो उक्त स्थल पर काम में ली जाने वाली तीनों प्रतियों में ही तदतिरिक्त कोई नवीन पाठ है, और न मूड़बिद्री से ही कोई संशोधन आया है। फिर मौजूदा पंक्ति का अर्थ भी वहां बैठ जाता है।

पुस्तक. ४, पृ. १३५

५. शंका - उपशमश्रेणी से उतरने वाले उपशमसम्यग्दृष्टि जीवों के अतिरिक्त अन्य उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों के मरण का निषेध है, इससे वह ध्वनित होता है कि उपशम श्रेणी में चढ़ने वाले अपशमसुम्यग्दृष्टि जीवों का मरण नहीं होता। परन्तु पृष्ठ ३५१ से ३५४ तक कई स्थानों पर स्पष्टता से चढ़ते हुए भी मरण लिखा है, सो क्या कारण है ?

(नानकचन्द जैन, खतौली, पत्र ता. १-४-४२)

समाधान - उक्त पृष्ठ पर दी गई शंका-समाधान के अभिप्राय समझने में भ्रम हुआ है। यह शंका-समाधान केवल चतुर्थ गुणस्थानवर्ती उन उपशमसम्यग्दृष्टियों के लिये है, जो कि उपशमश्रेणी से उतरकर आये हैं। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि सर्वसाधारण उपशमसम्यग्दृष्टि असंयतों का मरण नहीं होता है। अपवादरूप जिन उपशमसम्यग्दृष्टि असंयतों का मरण होता है उन्हें श्रेणी से उतरे हुए ही समझना चाहिए। आगे पृ. ३५१ से ३५४ तक कई स्थानों पर जो श्रेणी से उतरे हुए ही समझना चाहिए। आगे पृ.३५१ से ३५४ तक कई स्थानों पर जो श्रेणी पर चढ़ते या उतरने हुए मरण लिखा है, वह उपशामक-गुणस्थानों की अपेक्षा से लिखा है, न कि असंयतगुणस्थान की अपेक्षा से।

पुस्तक ४, पृष्ठ १७४

६. शंका - पृष्ठ १७४ में 'एक्कम्हि इंदए सेढीबद्ध-पइण्णए च संट्ठिदगामागार बहुविधबिल - का अर्थ - 'एक ही इन्द्रक, श्रेणीबद्ध या प्रकीर्णक नरक में विद्यमान ग्राम, घर और बहुत प्रकार के बिलों में' किया है। क्या नरक में भी ग्राम घर होते हैं ? बिले तो जरूर होते हैं। असल में 'गामागार' का अर्थ 'ग्राम के आकार वाले अर्थात् गांव के समान बहुत प्रकार के बिलों में' ऐसा होना चाहिए ? (जैन सन्देश, ता. २३-४-४२)

समाधान - सुझाया गया अर्थ भी माना जा सकता है, पर किया गया अर्थ गलत नहीं है, क्योंकि, घरों के समुदाय को ग्राम कहते हैं। समालोचक के कथनानुसार 'ग्राम के आकार वाले अर्थात् गांव के समान' ऐसा भी 'गामागार' पद का अर्थ मान लिया जाय तो भी उन्हीं के द्वारा उठाई गई शंका तो ज्यों की त्यों ही खड़ी रहती है, क्योंकि,ग्राम के आकारवालों को ग्राम कहने में कोई असंगति नहीं है। इसलिए इस सुझाए गए अर्थ में कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती।

पुस्तक ४, पृ. १८०

७. शंका - पृ.१८० में मूल में एक पंक्ति में 'व' और 'ण' ये दो शब्द जोड़े गये हैं। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि 'घणरज्जु' में जो 'घण' शब्द है वह अधिक है और लेखकों की करामात से 'व ण' का 'घण' होगया है ? (जैन सन्देश ता. २३-४-४२)

समाधान - प्रस्तुत पाठ के संशोधन करते समय हमें उपलब्ध पाठ में अर्थ की दृष्टि से 'व ण' पाठ का स्खलन प्रतीत हुआ। अतएव हमने उपलब्ध पाठ की रक्षा करते हुए हमारे नियमानुसार 'व' और 'ण' को यथास्थान कोष्ठक के अन्दर रख दिया। शंकाकार

की दृष्टि इसी संशोधन के आधार से उक्त पाठ पर अटकी और उन्होंने 'व ण' पाठ की वहां आवश्यकता अनुभव की। इससे हमारी कल्पना की पूरी पुष्टि हो गई। अब यदि 'व ण' पाठ की पूर्ति उपलब्ध पाठ के 'घण' को 'व ण' बनाकर कर ली जाय तो भी अर्थ का निर्वाह हो जाता है और किये गये अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। बात इतनी है कि ऐसा पाठ उपलब्ध प्रतियों में नहीं मिलता और न मूडबिद्री से कोई सुधार प्राप्त हुआ।

पुस्तक ४, पृ. २४०

८. शंका - पृ. २४० में ५७ वें सूत्र के अर्थ में एकेन्द्रियपर्याप्त एकेन्द्रियअपर्याप्त भेद गलत किये हैं, ये नहीं होना चाहिए ; क्योंकि, इस सूत्र की व्याख्या में इनका उल्लेख नहीं है ? (जैन सन्देश, ता. ३०-४-४२)

समाधान - यद्यपि यहां व्याख्या में उक्त भेदों का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि द्रव्यप्रमाणानुगम (भाग ३, पृ.३०५) में इन्हीं शब्दों से रचित सूत्र नं. ७४ की टीका में धवलाकारने उन भेदों का स्पष्ट उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है - "एइंदिया बादरेइंदिया सुहुमेइंदिया पज्जत्ता च एदे णव वि रासीओ ...."। धवलाकार ने इसी स्पष्टीकरण को ध्यान में रखकर प्रस्तुत स्थल पर भी नौ भेद गिनाये गये हैं। तथा उन भेदों के यहां ग्रहण करने पर कोई दोष भी नहीं दिखता। अतएव जो अर्थ किया गया है वह सप्रमाण और शुद्ध है।

पुस्तक ४, पृष्ठ ३१३

९. शंका - पृ. ३१३ में - 'स-परप्पयासमयपमाणपडिवादीण' पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है, इसके स्थान में यदि 'सपरप्पयासयमणिपमाणपईवादीण ' पाठ हो तो अर्थ की संगति ठीक बैठ जाती है ? (जैन सन्देश, ३०-४-४२)

समाधान - प्रस्तुत स्थल पर उपलब्ध तीनों प्रतियों में जो विभिन्न पाठ प्राप्त हुए और मूड़बिद्री से जो पाठ प्राप्त हुआ उन सबका उल्लेख वहीं टिप्पणी में दे दिया गया है। उनमें अधिक हेर-फेर करना हमने उचित नहीं समझा और यथाशक्ति उपलब्ध पाठों पर से ही अर्थ की संगति बैठा दी। यदि पाठ बदलकर और अधिक सुसंगत अर्थ निकालना ही अभीष्ट हो तो उक्त पाठ को इस प्रकार रखना अधिक सुसंगत अर्थ निकालना ही अभीष्ट हो तो उक्त पाठको इस प्रकार रखना अधिक सुसंगत होगा - स-परप्पयासयपमाण-पडीवादीणमुवलंभा। इस पाठ के अनुसार अर्थ इस प्रकार होगा - "क्योंकि स्व-परप्रकाशक प्रमाण व प्रदीपादिक पाये जाते हैं (इसलिये शब्द के भी स्वप्रतिपादकता बन जाती है)"।

पुस्तक ४, पृष्ठ ३५०

१०. शंका - धवलराज खंड ४, पृष्ठ ३५०, ३६६ पर सम्मूर्च्छन जीव के सम्यग्दर्शन होना लिखा है। परन्तु लब्धिसार गाथा २ में सम्यग्दर्शन की योग्यता गर्भज के लिखी है, सो इसमें विरोध सा प्रतीत होता है, खुलासा करिए।

(नानकचन्द्र जैन, खतौली, पत्र १६-३-४२)

समाधान - लब्धिसार गाथा दूसरी में जो गर्भज का उल्लेख है, वह प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति की अपेक्षा से है। किन्तु यहां उपर्युक्त पृष्ठों में जो सम्मूर्च्छिम जीव के संयमासंयम पाने का निरूपण है, उसमें प्रथमोशमसम्यक्त्व का उल्लेख नहीं है, जिससे ज्ञात होता है कि यहां वह कथन वेदकसम्यक्त्व की अपेक्षा से किया गया है। अतएव दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं समझना चाहिए।

पुस्तक ४, पृष्ठ ३५३

११. शंका - आपने अपूर्वकरण उपशामक को मरण करके अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होना लिखा है, जब कि मूल में 'उत्तमो देव' पाठ है। क्या उपशमश्रेणी में मरण करने वाले जीव नियम से अनुत्तर में ही जाते हैं ? क्या प्रमत्त और अप्रमत्तवाले भी सर्वार्थसिद्धि में जा सकते हैं ?

(नानकचंद्र जैन खतौजी, पत्र ता. १-४-३२)

समाधान- इस शंका में तीन शंकायें गर्भित हैं जिनका समाधान क्रमशः इस प्रकार है -

१. मूल में 'उत्तमा देवो' पाठ नहीं किन्तु 'लयसत्तमों देवो' पाठ है। लयसत्तम का अर्थ अनुत्तर विमानवासी देव होता है। यथा - लवसत्तम-लवसप्तम-पुं.। पंचानुत्तरविमानस्थ-देवेसु। सूत्र १ श्रु ६ अ.। सम्प्रति लवसप्तमदेवस्वरूपमाह -

सत्त लवा जइ आउं पहुं पमाणं ततो उ सिज्झंतो।
तत्तियमेत्तं न हु तं तो ते लवसत्तमा जाया ॥१३२॥
सव्वट्ठसिद्धिनामे उक्कोसठिई य विजयमादीसु।
एगावसेसगब्भा भंवति लवसत्तमा देव ॥ १३३ ॥ व्य. ५ उ.

अभिघानराजेन्द्र, लवसत्तमशब्द.

(२) उपशमश्रेणी में मरण करने वाले जीव नियम से अनुत्तर विमानों में ही जाते हैं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्ति की निम्न गाथा से ऐसा अवश्य

ज्ञात होता है कि चतुर्दशपूर्वधारी जीव लान्तव-कापिष्ठ कल्प से लगाकर सर्वार्थसिद्धिपर्यत उत्पन्न होते हैं। चूंकि 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविद: ' के नियमानुसार उपशमश्रेणीवाले भी जीव पूर्ववित् हो जाते हैं, अतएव उनकी लान्तवकल्प से ऊपर ही उत्पत्ति होती है नीचे नहीं, ऐसा अवश्य कहा जा सकता है। वह गाथा इस प्रकार है -

दसपुव्वधरा सोहम्मप्पहुदि सव्वट्ठसिद्धिपरियंतं
चोद्दसपुव्वधरा तह लंतवकप्पादि बच्चंते ॥ ति.प.पत्र २३७, १६.

(३) उपशमश्रेणी पर नहीं चढ़ने वाले, पमत्त अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में ही परिवर्तन सहस्रों को करने वाले साधु सर्वार्थसिद्धि नहीं जा सकते हैं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख देखने में नहीं आया। प्रत्युत इसके त्रिलोकसार गाथा नं. ५४६ के 'सव्वट्ठो त्ति सुदिट्ठी महव्वई' पद से द्रव्य भावरूप से महाव्रती संयतों का सर्वार्थसिद्धि तक जाने का स्पष्ट विधान मिलता है।

पुस्तक ४, पृष्ठ ४११

१२. शंका - योग परिवर्तन और व्याघात - परिवर्तन में क्या अन्तर है ?

(नानकचन्द्र जैन, खतौली, पत्र ता. १-४-४२)

समाधान - विवक्षित योग का अन्य किसी व्याघात के बिना काल-क्षय हो जाने पर अन्य योग के परिणमन को योग-परिवर्तन कहते हैं। किन्तु विवक्षित योग का कालक्षय होने के पूर्व ही क्रोधादि निमित्त से योग-परिवर्तन को व्याघात कहते हैं। जैसे- कोई एक जीव मनोयोग के साथ विद्यमान है। जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मनोयोग का काल पूरा हो गया तब वह वचन योगी या काययोगी हो गया। यह योग-परिवर्तन है। इसी जीव के मनोयोग का काल पूरा होने के पूर्व ही कषाय, उपद्रव, उपसर्ग आदि के निमित्त से मन चंचल हो उठा और वह वचनयोगी या काययोगी हो गया, तो यह योग का परिवर्तन व्याघात की अपेक्षा से हुआ। योग परिवर्तन में काल प्रधान है, जब कि व्याघात-परिवर्तन में कषाय आदि का आघात प्रधान है। यही दोनों में अन्तर है।

पुस्तक ४, पृष्ठ ४५६

१३. शंका - पृष्ठ ४५६ में 'अण्णलेस्सागमणासंभवा' का अर्थ 'अन्य लेश्याका आगमन असंभव है' किया है, होना चाहिए - अन्य लेश्या में गमन असंभव है ?

(जैन सन्देश, ता. ३०-४-४२)

समाधान - किये गये अर्थ में और सुझाये गये अर्थ में कोई भेद नहीं है।' अन्य लेश्या का आगमन' और 'अन्य लेश्या में गमन' कहने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। मूल में भी दोनों प्रकार के प्रयोग पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ - प्रस्तुत पाठ के ऊपर ही वाक्य है - 'हीयमाण-वड्ढमाणकिण्हलेस्साए काउलेस्साए वा अच्छिदस्स णीललेस्सा आगदा' अर्थात् हीयमान कृष्णलेश्या में अथवा वर्धमान कापोतलेश्या में विद्यमान किसी जीव के नीललेश्या आ गई, इत्यादि।

विषय-परिचय (पु. ५)

जीवस्थान की आठ प्ररूपणाओं में से प्रथम पांच प्ररूपणाओं का वर्णन पूर्व-प्रकाशित चार भागों में किया गया है। अब प्रस्तुत भाग में अवशिष्ट तीन प्ररूपणाएं प्रकाशित की जा रही हैं - अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम।

१. अन्तरानुगम

विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीव का उस गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुणस्थान में चले जाने पर पुन: उसी गुणस्थान की प्राप्ति के पूर्व तक के काल को अन्तर, व्युच्छेद या विरहकाल कहते हैं। सबसे छोटे विरहकाल को जघन्य अन्तर और सबसे बड़े विरहकाल को उत्कृष्ट अन्तर कहते हैं। गुणस्थान और मार्गणास्थानों में इन दोनों प्रकारों के अन्तरों के प्रतिपादन करने वाले अनुयोगद्वार को अन्तरानुगम कहते हैं।

पूर्व प्ररूपणाओं के समान इस अन्तरप्ररूपण में भी ओघ और आदेश की अपेक्षा अन्तर का निर्णय किया गया है, अर्थात् यह बतलाया गया है कि यह जीव किस गुणस्थान या मार्गणास्थान से कम से कम कितने काल तक के लिए और अधिक से अधिक कितने काल तक के लिये अन्तर को प्राप्त होता है।

उदाहरणार्थ — ओघ की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवों का अन्तर कितने काल होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है, निरन्तर है। इसका अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्वपर्याय से परिणत जीवों का तीनों ही कालों में व्युच्छेद, विरह का अभाव नहीं है, अर्थात् इस संसार में मिथ्यादृष्टि जीव सर्वकाल पाये जाते हैं। किन्तु एक जीव की अपेक्षा मिथ्यात्व का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण है। यह जघन्य अन्तरकाल इस प्रकार घटित होता है कि कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव परिणामों

गुणस्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण
(पु.५, प्रस्ता. पृ.४३ अ)

गुणस्थान	नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य	नाना जीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट	एक जीव की अपेक्षा जघन्य	एक जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट	भाव
१ मिथ्यादृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	[illegible] सागरोपम	औदयिक
२ सासादनसम्यग्दृष्टि	एक समय	पल्योपम का असंख्यातवां भाग	पल्योपम का असंख्यातवां भाग	अर्धपुद्गलपरिवर्तन	पारिणामिक
३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि	"	"	अन्तर्मुहूर्त	"	क्षायोपशमिक
४. असंयतसम्यग्दृष्टि	निरन्तर		"	"	औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक
५. संयतासंयत	"		"	"	क्षायोपशमिक
६. प्रमत्तसंयत	"		"	"	"
७. अप्रमत्तसंयत	"		"	"	"
८. अपूर्वकरण	उपशम एक समय क्षपक "	वर्षपृथक्त्व छह मास	" निरन्तर	"	उपशम. औपशमिक क्षपक क्षायिक
९. अनिवृत्तिकरण	उपशम " क्षपक "	वर्षपृथक्त्व छहमास	" निरन्तर	"	उपश. औपशमिक क्षपक क्षायिक
१०. सूक्ष्मसाम्पराय	उपशम " क्षपक "	वर्षपृथक्त्व छह मास	" निरन्तर	"	उपशम औपशमिक क्षपक क्षायिक
११ उपशान्तकषाय	"	वर्षपृथक्त्व	"	"	औपशमिक
१२ क्षीण मोह	"	छहमास	निरन्तर		क्षायिक
१३ सयोगिकेवली	निरन्तर				
१४ अयोगिकेवली	एक समय	छह मास	"	"	"

अल्पबहुत्व गुणस्थान	प्रमाण	अपेक्षा
उपशामक: अपूर्वकरण	सबसे कम	प्रवेश और संचय
उपशामक: अनिवृत्तिकरण	"	"
उपशामक: सूक्ष्मसाम्पराय	"	"
उपशान्तकषाय	पूर्वोक्त प्रमाण	"
क्षपक: अपूर्वकरण	संख्यातगुणित	"
क्षपक: अनिवृत्तिकरण	"	"
क्षपक: सूक्ष्मसाम्पराय	"	"
क्षीणकषाय	पूर्वोक्त प्रमाण	"
सयोगिकेवली अयोगिकेवली	"	
सयोगिकेवली	संख्यातगुणित	संचय
अप्रमत्तसंयत	पूर्वोक्त प्रमाण से "	"
प्रमत्तसंयत	" "	"
संयतासंयत	" असंख्यात गुणित	"
सासादनसम्यग्दृष्टि	"	"
सम्यग्मिथ्यादृष्टि	" संख्यातगुणित	"
असंयतसम्यग्दृष्टि	" असंख्यातगुणित	"
मिथ्यादृष्टि	" अनन्तगुणित	"

मार्गणास्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण
(पु.५, प्रस्ता. पृ.४३ आ)

मार्गणा	मार्गणा के अवान्तर भेद	नाना जीवों की अपेक्षा		एक जीव की अपेक्षा		भाव	अल्पबहुत्व	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट		गुणस्थान	प्रमाण
१ गतिमार्गणा	नरकगति { मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	देशोन १, ३, ७, १०, १७, २२, ३३ सागरोपम	औदयिक सम्यग्मिथ्या	सासादनसम्य संख्यातगुणित	' सबसे कम
	{ सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि	एक समय	पल्योपम का असं-ख्यातवां भाग	पल्योपम का असं-ख्यातवां भाग अन्तर्मुहूर्त	,,	पारिणामिक क्षायोपशमिक	असंयतसम्य मिथ्यादृष्टि	असंख्यातगुणित ,,
	तिर्यग्गति मिथ्यादृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	देशोन तीन पल्योपम	औदयिक	संयतासंयत	सबसे कम
	{ सासादनादि चार गुणस्थान	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	शेष गुणस्थानवर्ती	ओघवत्
	मनुष्यगति मिथ्यादृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	देशोन तीन पल्योपम	औदयिक	उपशामक अपूर्वकरण से प्रमत्त संयत तक	.
	{ सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	पूर्वकोटीपृथक्त्व से अधिक तीन पल्योपम	पारिणामिक क्षायोपशमिक		
	असंयतसम्यग्दृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	,,	औप क्षायिक क्षायो	संयतासंयत सासादनसम्य	संख्यातगुणित ,,
	{ संयतासंयत प्रमत्तसंयत अप्रमत्तसंयत	निरन्तर		,,	पूर्वकोटीपृथक्त्व	क्षायोपशमिक ,,	सम्यग्मिथ्या असंयतसम्य मिथ्यादृष्टि	,, ,, असंख्यातगुणित (मनुष्यसामान्य)
	चारों उपशामक	ओघवत्	ओघवत्	,,	,,	औपशमिक		संख्यातगुणित (मनुष्यपर्याप्त)
	{ चारों क्षपक सयोगिकेवली अयोगिकेवली	,,	,,	ओघवत्	ओघवत्	क्षायिक		
	देवगति { मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त ओघवत्	देशोन ३१ सागरोपम	औदयिक औप क्षायिक क्षायो	सासादनसम्य संख्यातगुणित	सबसे कम
	{ सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि	ओघवत्	ओघवत्		,,	पारिणामिक क्षायोपशमिक	असंयतसम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि	असंख्यातगुणित ,,
२ इन्द्रियमार्गणा	एकेन्द्रिय	निरन्तर		क्षुद्रभवग्रहण	पूर्वकोटीपृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपम	औदयिक	गुणस्थान-भेदाभाव	अल्पबहुत्वाभाव
	विकलेन्द्रिय	,,	,,	,,	अनन्तकालात्मक असंख्यात पुद्गल परिवर्तन	,,	,,	,,

मार्गणास्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण

(पु.५, प्रस्ता पृ.४३ इ)

मार्गणा	मार्गणा के अवान्तर भेद	नाना जीवों की अपेक्षा		एक जीव की अपेक्षा		भाव	अल्पबहुत्व	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट		गुणस्थान	प्रमाण
	पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	उपशामक अपूर्वकरण से असंयत सम्यग्दृष्टि तक मिथ्यादृष्टि	ओघवत्
	{ सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि	"	"	"	पूर्वकोटी पृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपम	"		असंख्यातगुणित
	स्थावर { पृथिवीकायिक आदि चार वनस्पतिकायिक	निरन्तर		क्षुद्रभवग्रहण	अनन्तकालात्मक असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन असंख्यात लोक	औदयिक	गुणस्थानभेदाभाव	अल्पबहुत्वाभाव
		"		"		"		
३ कायमार्गणा	मिथ्यादृष्टि	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	सर्वगुणस्थान	पंचेन्द्रियवत्
	{ सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि	"	"	"	पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपम	"		
	{ असंयतादि चार गुणस्थान	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	" तथा देशोन दो हजार सागरोपम	"		
	त्रसकायिक चारों उपशामक	ओघवत्	ओघवत्	"	पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपम	औपशमिक		
	{ चारों क्षपक सयोगिकेवली अयोगिकेवली	"	"	"	ओघवत्	क्षायिक		
	मनोयोगी और { मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत प्रमत्तसंयत अप्रमत्तसंयत सयोगिकेवली	निरन्तर		निरन्तर		ओघवत्	"	"

मार्गणास्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण
(पु. ५, प्रस्ता. पृ. ४३ ई)

मार्गणा	मार्गणा के अवान्तर भेद	अन्तर: नाना जीवों की अपेक्षा		अन्तर: एक जीव की अपेक्षा		भाव	अल्पबहुत्व	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट		गुणस्थान	प्रमाण
४ योग मार्गणा	वचनयोगी { सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि }	एक समय	पल्योपम का असंख्यातवा भाग	निरन्तर		ओघवत्		
	वचनयोगी चारों उपशामक	ओघवत्	ओघवत्	,,		औपशमिक	सर्वगुणस्थान	ओघवत्
	चारों क्षपक	,,	,,	ओघवत्	ओघवत्	क्षायिक		
	काययोगी औदारिककाययोगी	मनोयोगिवत्	मनोयोगिवत्	मनोयोगिवत्	मनोयोगिवत्	ओघवत्	,, मिथ्यादृष्टि	पंचेन्द्रियवत् { असंख्यातगुणित अनन्तगुणित }
	{ औदारिकमिश्रकाय मिथ्यादृष्टि	निरन्तर		निरन्तर		,,	सयोगिकेवली असंयतसम्यग्दृष्टि	सबसे कम संख्यातगुणित
	,, सासादन	ओघवत्	ओघवत्	,,		,,	सासादन सम्यग्दृष्टि	असंख्यातगुणित
	,, असंयतसम्य.	एक समय	वर्षपृथक्त्व	,,		क्षायिक, क्षायोपशमिक		
	,, सयोगिकेवली }	,,	,,	,,		क्षायिक	मिथ्यादृष्टि	अनन्तगुणित
	{ वैक्रियिककाययोगी चारों गुणस्थानवर्ती }	मनोयोगिवत्	मनोयोगिवत्	मनोयोगिवत्	मनोयोगिवत्	ओघवत्	चारों गुणस्थान	देवगतिवत्
	{ वैक्रियिकमिश्रकाय मिथ्यादृष्टि }	एक समय	[illegible] मुहूर्त	निरन्तर		,,	सासादनसम्यग्दृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि	सबसे कम संख्यातगुणित
	{ सासादनसम्यग्दृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि }	औदारिकमिश्रवत्	औदारिकमिश्रवत्	औदारिकमिश्रवत्	औदारिकमिश्रवत्	,,	मिथ्यादृष्टि	असंख्यातगुणित
	{ आहारककाययोगी ,, मिश्रकाययोगी प्रमत्तसंयत }	एकसमय	वर्षपृथक्त्व	निरन्तर		क्षायोपशमिक	गुणस्थानभेदाभाव	अल्पबहुत्वाभाव

मार्गणास्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण
(पु.५, प्रस्ता. पृ ४३ ३)

मार्गणा	मार्गणा के अवान्तर भेद	अन्तर: नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य	अन्तर: नाना जीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट	अन्तर: एक जीव की अपेक्षा जघन्य	अन्तर: एक जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट	भाव	अल्पबहुत्व: गुणस्थान	अल्पबहुत्व: प्रमाण
	कार्मणकाययोगी मिथ्यादृष्टि „ सासादनसम्यग्दृष्टि „ असंयतसम्यग्दृष्टि „ सयोगिकेवली	औदारिक मिश्रवत्	औदारिकमिश्रवत्	औदारिकमिश्रवत्	औदारिकमिश्रवत्	ओघवत्	सयोगिकेवली सासादनसम्यग्दृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि	सबसे कम असंख्यातगुणित „ संख्यातगुणित
५ वेदमार्गणा	स्त्रीवेदी मिथ्यादृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	देशोन ५५ पल्योपम	औदयिक	सर्वगुणस्थान	पंचेन्द्रियवत्
	स्त्रीवेदी { सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि }	ओघवत्	ओघवत्	पल्योपम का असं. भाग अन्तर्मुहूर्त	पल्योपमशतपृथक्त्व	ओघवत्		
	स्त्रीवेदी { असंयतसम्यग्दृष्टि अप्रमत्तसंयत तक }	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	„	„		
	स्त्रीवेदी { उपशामक अपूर्वकरण „ अनिवृत्तिकरण }	„	„	„	„	औपशमिक		
	स्त्रीवेदी { क्षपक अपूर्वकरण „ अनिवृत्तिकरण }	एक समय	वर्षपृथक्त्व	निरन्तर		क्षायिक		
	पुरुषवेदी मिथ्यादृष्टि	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	औदयिक	„	„
	पुरुषवेदी { सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि }	„	„	पल्योपम का असं. अन्तर्मुहूर्त	सागरोपम शत पृथक्त्व	ओघवत्		
	पुरुषवेदी { असंयतसम्यग्दृष्टि से अप्रमत्तसंयत तक }	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	„	„		
	पुरुषवेदी { उपशामक अपूर्वकरण „ अनिवृत्तिकरण }	ओघवत्	ओघवत्	„	„	औपशमिक		
	पुरुषवेदी { क्षपक अपूर्वकरण „ अनिवृत्तिकरण }	एक समय	साधिक वर्ष	निरन्तर		क्षायिक		

मार्गणास्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण

(पु.५, प्रस्ता. पृ.४३)

मार्गणा	मार्गणा के अवान्तर भेद	अन्तर: नाना जीवों की अपेक्षा — जघन्य	उत्कृष्ट	[redacted] जीव की अपेक्षा — जघन्य	उत्कृष्ट	भाव	अल्पबहुत्व: गुणस्थान	प्रमाण
	मिथ्यादृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	देशोन ३३ सागरोपम	औदयिक		
	{ सासादन से अनिवृत्ति करण उपशामक तक	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	सर्वगुणस्थान	ओघवत्
	{ क्षपक अपूर्वकरण क्षपक अनिवृत्तिकरण	एक समय	वर्षपृथक्त्व	निरन्तर		क्षायिक		
	नपुंसकवेदी							
	{ अनिवृत्ति उप सूक्ष्मसाम्य उप	,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	ओघवत्	,,	,,
	अपगतवेदी उपशान्तकषाय	,,	,	निरन्तर		,,		
	{ क्षपक अनिवृत्तिकरण अयोगिकेवली तक	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	,,	,,	,,
६ कषायमार्गणा	{ क्रोधादिचतुष्कषायी मिथ्या से अनि	मनो-योगिवत्	मनोयोगिवत्	मनोयोगिवत्	मनोयोगिवत्	ओघवत्	असंयतसम्यग्दृष्टि तक	पुरुषवेदिवत्
							मिथ्यादृष्टि	अनन्तगुणित
	कषायी { लोभक सूक्ष्मसां उप.	ओघवत्	ओघवत्	निरन्तर		,,	सूक्ष्म उप	विशेषाधिक
	{ लोभक सूक्ष्मसां क्षप.	,,	,,	ओघवत्	ओघवत्		सूक्ष्म क्षपक	संख्यातगुणित
	उपशामक	एक समय	वर्षपृथक्त्व	निरन्तर		,,		
	अकषायी { क्षीणकषाय सयोगिकेवली अयोगिकेवली	ओघवत्	ओघवत्	,,	,,	क्षायिक	चारों गुणस्थान	ओघवत्
	अज्ञानी { मत्यज्ञानी मिथ्यादृष्टि श्रुताज्ञानी मिथ्यादृष्टि विभंगज्ञानी ,,	निरन्तर		निरन्तर		औदयिक	सासादनसम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि	सबसे कम { असंख्यातगुणित अनन्तगुणित
	,, सासादन	,,	,,	,,		पारिणामिक		

मार्गणास्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण
(पु.५, प्रस्ता. पृ.४३ इ)

मार्गणा	मार्गणा के अवान्तर भेद	अन्तर — नाना जीवों की अपेक्षा — जघन्य	अन्तर — नाना जीवों की अपेक्षा — उत्कृष्ट	अन्तर — एक जीव की अपेक्षा — जघन्य	अन्तर — एक जीव की अपेक्षा — उत्कृष्ट	भाव	अल्पबहुत्व — गुणस्थान	अल्पबहुत्व — प्रमाण
७ ज्ञानमार्गणा	असंयतसम्यग्दृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्वकोटि	ओघवत्	चारों उपशामक	सबसे कम
	संयतासंयत	,,		,,	साधिक ६६ सागरोपम	,,	चारों क्षपक	संख्यातगुणित
							अप्रमत्तसंयत	,,
	मति-श्रुत-अवधिज्ञानी { प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत	,,		,,	,, ३३ ,,	,,	प्रमत्तसंयत	,,
							संयतासंयत	असंख्यातगुणित
							असंयतसम्यग्दृष्टि	,,
	चारों उपशामक	एक समय	वर्षपृथक्त्व { अवधि ,,	,	,, ६६ ,,	,,		
	चारों क्षपक	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	क्षायिक		
	मनःपर्यय ज्ञानी { प्रमत्तसंयत	निरंतर		अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	क्षायोपशमिक	चारों उपशामक	सबसे कम
	{ अप्रमत्तसंयत						चारों क्षपक	संख्यातगुणित
	चारों उपशामक	एक समय	वर्षपृथक्त्व	,,	देशोन पूर्वकोटि	औपशमिक	अप्रमत्तसंयत	,,
	,, क्षपक	,,	,,	निरन्तर		क्षायिक	प्रमत्तसंयत	,,
	केवलज्ञानी { सयोगिकेवली	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	,,	अयोगिकेवली	सबसे कम
	{ अयोगिकेवली					सयोगिकेवली	संख्यातगुणित	
	सामायिक छेदोपस्थापना { प्रमत्तसंयत	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	क्षायोपशमिक	{ उप. अपूर्वकरण	सबसे कम
	{ अप्रमत्तसंयत						{ ,, अनिवृत्ति	
	उपशामक अपूर्वकरण	एक समय	वर्षपृथक्त्व	,,	देशोन पूर्वकोटि	औपशमिक	{ क्षपक अपूर्वकरण	संख्यातगुणित
	,, अनिवृत्तिकरण						{ ,, अनिवृत्तिकरण	
	{ क्षपक अपूर्वकरण	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	क्षायिक	अप्रमत्तसंयत	,,
	{ ,, अनिवृत्तिकरण						प्रमत्तसंयत	,,
८ संयममार्गणा	परिहारशुद्धिसंयमी { प्रमत्तसंयत	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	क्षायोपशमिक	अप्रमत्तसंयत	सबसे कम
	{ अप्रमत्तसंयत						प्रमत्तसंयत	संख्यातगुणित
	सूक्ष्मसाम्परायसंयमी { उप. सूक्ष्म.	एक समय	वर्षपृथक्त्व	निरन्तर		ओघवत्	सूक्ष्मसा. उपशा.	सबसे कम
	{ क्षपक ,,	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	क्षायिक	,, क्षपक	संख्यातगुणित

मार्गणास्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण
(पु.५, प्रस्ता पृ.४३ से)

मार्गणा	मार्गणा के अवान्तर भेद	अन्तर: नाना जीवों की अपेक्षा		अन्तर: एक जीव की अपेक्षा		भाव	अल्पबहुत्व	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट		गुणस्थान	प्रमाण
	यथाख्यातसंयत	अकषायवत्	अकषायवत्	अकषायवत्	अकषायवत्	क्षायिक	चारों गुणस्थान	ओघवत्
	संयतासंयत	निरन्तर		निरन्तर		ओघवत्	गुणस्थानापेक्षाभाव	अल्पबहुत्वाभाव
	असंयत मिथ्यादृष्टि	"		अन्तर्मुहूर्त	देशोन ३३ सागरोपम	"		
	,, १-४ गुण	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	"	चारों गुणस्थान	ओघवत्
९ दर्शनमार्गणा	चक्षुदर्शनी: मिथ्यादृष्टि	"	"	"	"	औदयिक		
	चक्षुदर्शनी: सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि	"	"	पल्योपम असं. भाग अन्तर्मुहूर्त	देशोन दो हजार सागरोपम	ओघवत्		
	चक्षुदर्शनी: असंयतसम्यग्दृष्टि से अप्रमत्तसंयत तक	निरन्तर		"	"	"	सर्वगुणस्थान	मनोयोगिवत्
	चारों उपशामक	"	"	"	"	औपशमिक		
	,, क्षपक	"	"	ओघवत्	ओघवत्	क्षायिक		
	अचक्षुदर्शनी: मिथ्यादृष्टि से क्षीणकषाय तक	"	"	"	"	ओघवत्	"	काययोगिवत्
	अवधिदर्शनी	अवधि-ज्ञानिवत्	अवधिज्ञानिवत्	अवधिज्ञानिवत्	अवधिज्ञानिवत्	"	"	अवधिज्ञानिवत्
	केवलदर्शनी	केवलज्ञानी	केवलज्ञानिवत्	केवलज्ञानिवत्	केवलज्ञानिवत्	क्षायिक	दोनों गुणस्थान	केवलज्ञानिवत्
	कृष्ण, नील, कपोत लेश्यावाले: मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त "	कृ. नी. का. देशोन ३३, १७, ७ सागरोपम	ओघवत्	सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि	सबसे कम संख्यातगुणित
	सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि	ओघवत्	ओघवत्	पल्योपम असं. भाग अन्तर्मुहूर्त	"	"	असंयतसम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि	असंख्यातगुणित अनन्तगुणित
	मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि	निरन्तर		"	तेज पद्म साधिक २, १८ सागरोपम	"	अप्रमत्तसंयत प्रमत्तसंयत संयतासंयत	सबसे कम संख्यातगुणित असंख्यातगुणित

मार्गणास्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण
(पु ५, प्रस्ता पृ ४३ ओ)

मार्गणा	मार्गणा के अवान्तर भेद	अन्तर: नाना जीवों की अपेक्षा		अन्तर: एक जीव की अपेक्षा		भाव	अल्पबहुत्व	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट		गुणस्थान	प्रमाण
१० लेश्यामार्गणा	तेज, पद्म लेश्यावाले: सासादनसम्यग्दृष्टि	ओघवत्	ओघवत्	पल्योपम असंख्यात भाग अन्तर्मुहूर्त	तेज, पद्म साधिक २, १८ सागरो.	ओघवत्	सासादनसम्यग्दृष्टि	असंख्यातगुणित
	सम्यग्मिथ्यादृष्टि						सम्यग्मिथ्यादृष्टि	संख्यातगुणित
	संयतासंयत						असंयतसम्यग्दृष्टि	असंख्यातगुणित
	प्रमत्तसंयत	निरन्तर		निरन्तर		क्षायोपशमिक		
	अप्रमत्तसंयत						मिथ्यादृष्टि	,,
	शुक्ल लेश्यावाले: मिथ्यादृष्टि	,,		अन्तर्मुहूर्त	देशोन ३१ सागरोपम	ओघवत्	चारों उपशामक	सबसे कम
	असंयतसम्यग्दृष्टि						,, क्षपक	संख्यातगुणित
							सयोगिकेवली	,,
	सासादनसम्यग्दृष्टि	ओघवत्	ओघवत्	पल्योपम का असंख्यात भाग	,,	,,	अप्रमत्तसंयत	,,
	सम्यग्मिथ्यादृष्टि						प्रमत्तसंयत	,,
	संयतासंयत	निरन्तर		निरन्तर		क्षायोपशमिक	संयतासंयत	असंख्यातगुणित
	प्रमत्तसंयत							
	अप्रमत्तसंयत	,,		अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	,,	सासादनसम्यग्दृष्टि	,,
	तीन उपशामक	एक समय	वर्षपृथक्त्व	,,	,,	औपशमिक	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	संख्यातगुणित
	उपशान्तकषाय	,,	,,	निरन्तर		,,	मिथ्यादृष्टि	असंख्यातगुणित
	चारों क्षपक और सयोगिकेवली	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	क्षायिक	असंयतसम्यग्दृष्टि	संख्यातगुणित
११ भव्य मार्गणा	भव्य	,,	,,	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	सर्वगुणस्थान	ओघवत्
	अभव्य	निरन्तर		निरन्तर		पारिणामिक	गुणस्थानभेदाभाव	अल्पबहुत्वाभाव
	असंयतसम्यग्दृष्टि	,,		अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्वकोटि	क्षायिक	चारों उपशामक	सबसे कम
	क्षायिकसम्यग्दृष्टि: संयतासंयत						,, क्षपक, अयोगि	संख्यातगुणित
	प्रमत्तसंयत	,,		,,	साधिक ३३ सागरोपम	क्षायोपशमिक	सयोगिकेवली	,,
	अप्रमत्तसंयत	,,					अप्रमत्तसंयत	,,
							प्रमत्तसंयत	,,
	चारों उपशामक	एक समय	वर्षपृथक्त्व	,,	,,	औपशमिक	संयतासंयत	,,

मार्गणास्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण

(पु.५, प्रस्ता पृ.४३ औ)

मार्गणा	मार्गणा के अवान्तर भेद	अन्तर: नाना जीवों की अपेक्षा — जघन्य	अन्तर: नाना जीवों की अपेक्षा — उत्कृष्ट	अन्तर: एक जीव की अपेक्षा — जघन्य	अन्तर: एक जीव की अपेक्षा — उत्कृष्ट	भाव	अल्पबहुत्व — गुणस्थान	अल्पबहुत्व — प्रमाण
१२ सम्यक्त्वमार्गणा	चारों क्षपक, सयोगिकेवली, अयोगिकेवली	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	क्षायिक	असंयतसम्यग्दृष्टि	असंख्यातगुणित
	वेदकसम्यग्दृष्टि: असंयतसम्यग्दृष्टि	निरन्तर		अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्वकोटि	क्षायोपशमिक	अप्रमत्तसंयत	सबसे कम
	संयतासंयत	"		"	" ६६ सागरोपम	"	प्रमत्तसंयत	संख्यातगुणित
	प्रमत्तसंयत						संयतासंयत	असंख्यातगुणित
	अप्रमत्तसंयत	"		"	साधिक ३३ "	"	असंयतसम्यग्दृष्टि	"
	उपशमसम्यग्दृष्टि: असंयतसम्यग्दृष्टि	एक समय	सात अहोरात्र	"	अन्तर्मुहूर्त	औपशमिक	चारों उपशामक	सबसे कम
	संयतासंयत	"	चौदह "	"	"	क्षायोपशमिक	अप्रमत्तसंयत	संख्यातगुणित
	प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत	"	पन्द्रह "	"	"	"	प्रमत्तसंयत	"
	तीन उपशामक	"	वर्षपृथक्त्व	"	"	औपशमिक	संयतासंयत	असंख्यातगुणित
	उपशान्तकषाय	"	"	निरन्तर	"		असंयतसम्यग्दृष्टि	"
	सासादनसम्यग्दृष्टि	"	पल्योपमका असंख्यातवां भाग	निरन्तर		ओघवत्	गुणस्थानभेदाभाव	अल्पबहुत्वाभाव
	सम्यग्मिथ्यादृष्टि						"	"
	मिथ्यादृष्टि	निरन्तर		"		औदयिक	"	"
१३ संज्ञि मार्गणा	संज्ञी: मिथ्यादृष्टि	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	औदयिक	सर्वगुणस्थान	मनोयोगिवत्
	सासादन से उपशान्तकषाय तक	पुरुषवेदिवत्	पुरुषवेदिवत्	पुरुषवेदिवत्	पुरुषवेदिवत्	ओघवत्		
	चारों क्षपक	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	क्षायिक		
	असंज्ञी	निरन्तर		निरन्तर		औदयिक	गुणस्थानभेदाभाव	अल्पबहुत्वाभाव

मार्गणास्थानों की अपेक्षा जीवों के अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का प्रमाण
(पु.५, प्रस्ता पृ.४३ क)

मार्गणा	मार्गणा के अवान्तर भेद	अन्तर: नाना जीवों की अपेक्षा		अन्तर: एक जीव की अपेक्षा		भाव	अल्पबहुत्व	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट		गुणस्थान	प्रमाण
१४ आहारमार्गणा	मिथ्यादृष्टि	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	ओघवत्	औदयिक	चारों उपशामक ,, क्षपक	सबसे कम संख्यातगुणित
	आहारक { सासादन सम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि	,,	,,	पल्योपम का असं. भाग अन्तर्मुहूर्त	असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी	ओघवत्	सयोगिकेवली	,, ,,
	आहारक { असंयतसम्यग्दृष्टि से अप्रमत्तसंयत तक	निरन्तर		,,	,,	,,	प्रमत्तसंयत	,, असंख्यातगुणित
	आहारक { चारों उपशामक	,,	,,	,,	,	औपशमिक	सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि	,, संख्यातगुणित
	आहारक { चारों क्षपक सयोगिकेवली	,,	,,	ओघवत्	ओघवत्	क्षायिक	असंयतसम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि	असंख्यातगुणित अनन्तगुणित
	अनाहारक: मिथ्यादृष्टि	निरन्तर		निरन्तर		औदयिक	सयोगिकेवली	सबसे कम
	अनाहारक: सासादनसम्यग्दृष्टि	एक समय	पल्योपम का असं. भाग	,,		पारिणामिक	अयोगिकेवली	संख्यातगुणित
	अनाहारक: असंयतसम्यग्दृष्टि	,,	मासपृथक्त्व	,,		ओघवत्	सासादनसम्यग्दृष्टि	असंख्यातगुणित
	अनाहारक: सयोगिकेवली (समुद्घातगत)	,,	वर्षपृथक्त्व	,,		क्षायिक	असंयतसम्यग्दृष्टि	,,
	अनाहारक: अयोगिकेवली	,,	छह मास	,,		,,	मिथ्यादृष्टि	अनन्तगुणित

की विशुद्धि के निमित्त से सम्यक्त्व को प्राप्तकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती हुआ। यह चतुर्थ गुणस्थान में सबसे छोटे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण सम्यक्त्व के साथ रहकर संक्लेश आदि के निमित्त से गिरा और मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया, अर्थात् पुन: मिथ्यादृष्टि हो गया। इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुण स्थान को प्राप्त होकर पुन: उसी गुणस्थान में आने के पूर्व तक जो अन्तर्मुहूर्तकाल मिथ्यात्वपर्याय से विरहित रहा, यही उस एक जीव की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का जघन्य अन्तर माना जायेगा ?

इसी एक जीव की अपेक्षा मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो छयासठ अर्थात् एक सौ बत्तीय (१३२) सागरोपम काल है। यह उत्कृष्ट अन्तरकाल इस प्रकार घटित होता है कि कोई एक मिथ्यादृष्टि तिर्यंच अथवा मनुष्य चौदह सागरोपम आयुस्थिति वाले लान्तवकापिष्ठ कल्पवासी देवों में उत्पन्न हुआ। वहां वह एक सागरोपम काल के पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। तेरह सागरोपम काल वहां सम्यक्त्व के साथ रहकर च्युत हो मनुष्य हो गया। उस मनुष्यभव में संयम को, अथवा संयमासंयम को पालन कर बाईस सागरोपम आयु की स्थितिवाले आरण-अच्युत कल्पवासी देवों में उत्पन्न हुआ। वहां से च्युत होकर पुन. मनुष्य हुआ। इस मनुष्यभव में संयम धारण कर मरा और इकतीस सागरोपम की आयु वाले उपरिम ग्रैवेयक के अहमिन्द्रों में उत्पन्न हुआ। वहां से च्युत हो मनुष्य हुआ, और संयम धारण कर पुन: उक्त प्रकार से बीस, बाईस और चौबीस सागरोपम की आयुवाले देवों और अहमिन्द्रों में क्रमश: उत्पन्न हुआ। इस प्रकार वह पूरे एक सौ बत्तीस (१३२) सागरों तक सम्यक्त्व के साथ रहकर अन्त में पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। इस तरह मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अन्तर सिद्ध हो गया। उक्त विवेचन में यह बात ध्यान रखने की है कि वह जीव जितने बार मनुष्य हुआ, उतने बार मनुश्यभवसम्बन्धी आयु से कम ही देवायु को प्राप्त हुआ, अन्यथा बतलाए गए काल से अधिक अन्तर हो जायेगा। कुछ कम दो छयासठ सागरोपम कहने का अभिप्राय यह है कि वह जीव दो छयासठ सागरोपम काल के प्रारंभ में ही मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्वी बना और उसी दो छयासठ सागरोपमकाल के अन्त में पुन. मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया। इसलिए उतना काल उनमें से घटा दिया गया।

यहां ध्यान रखने की खास बात यह है कि काल-प्ररूपणा में जिन-जिन गुणस्थानों का काल नानाजीवों की अपेक्षा सर्वकाल बतलाया गया है, उन-उन गुणस्थानवर्ती जीवों का नानाजीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं होता है। किन्तु उनके सिवाय शेष सभी गुणस्थानवर्ती जीवों की नानाजीवों की तथा एक जीव की अपेक्षा अन्तर होता है। इस प्रकार नानाजीवों की अपेक्षा कभी भी विरह को नहीं प्राप्त होने वाले छह गुणस्थान हैं - १ मिथ्यादृष्टि, २

असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, ४ प्रमत्तसंयत, ५ अप्रमत्तसंयत और ६ सयोगिकेवली। इन गुणस्थानों में केवल एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर बतलाया गया है, जिसे ग्रन्थ-अध्ययन से पाठक भलीं भांति जान सकेंगें।

जिस प्रकार ओघ से अन्तर का निरूपण किया गया है, उसी प्रकार आदेश की अपेक्षा भी उन-उन मार्गणाओं में संभव गुणस्थानों का अन्तर जानना चाहिए। मार्गणाओं में आठ सान्तरमार्गणाएं होती हैं, अर्थात् जिनका अन्तर होता है। जैसे- १. उपशमसम्यक्त्वमार्गणा, २. सूक्ष्मसाम्परायसंयममार्गणा, ३. आहारककाययोगमार्गणा, ४ आहारकमिश्र काययोगमार्गणा, ५. वैक्रियिकमिश्रकाययोगमार्गणा, ६. लब्ध्यपर्याप्तमनुष्यगतिमार्गणा, ७. सासादनसम्यक्त्वमार्गणा और ८. सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणा। इन आठों का उत्कृष्ट अन्तर काल क्रमशः १ सात दिन, २ छह मास, ३ वर्षपृथक्त्व, ४ वर्ष वर्षपृथक्त्व, ५ बारह मुहूर्त, और अन्तिम तीस सान्तर मार्गणाओं का जघन्य अन्तरकाल एक समयप्रमाण ही है। इन सान्तर मार्गणाओं के अतिरिक्त शेष सब मार्गणाएं नानाजीवों की अपेक्षा अन्तर-रहित हैं, यह ग्रन्थ के स्वाध्याय से सरलतापूर्वक हृदयंगम किया जा सकेगा।

२. भावानुगम

कर्मों के उपशम,क्षय आदि के निमित्त से जीव के जो परिणामविशेष होते हैं, उन्हें भाव कहते हैं। वे भाव पांच प्रकार के होते हैं - १. औदयिकभाव, २. औपशमिकभाव, ३. क्षायिकभाव, ४. क्षायोपशमिकभाव और ५ .पारिणामिकभाव। कर्मों के उदय से होने वाले भावों को औदयिक भाव कहते हैं। इसके इक्कीस भेद हैं - चार गतियां (नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति), तीन लिंग (स्त्री, पुरुष, और नपुंसकलिंग), चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ), मिथ्यादर्शन, असिद्धत्व, अज्ञान, छह लेश्याएं (कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुल्कलेश्या), तथा असंयम। मोहनीयकर्म के उपशम से (क्योंकि, शेष सात कर्मो का उपशम नहीं होता है) उत्पन्न होने वाले भावों को औपशमिक भाव कहते हैं। इसके दो भेद हैं - १ औपशमिकसम्यक्त्व और २ औपशमिकचारित्र। कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले भावों को क्षायिकभाव कहते हैं। इसके नौ भेद हैं- १. क्षायिकसम्यक्त्व, २. क्षायिकचारित्र ३. क्षायिकज्ञान, ४. क्षायिकदर्शन, ५. क्षायिकदान, ६. क्षायिकलाभ, ७. क्षायिकभोग, ८. क्षायिक उपभोग और ९.क्षायिक वीर्य। कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले भावों को क्षायोपशमिकभाव कहते हैं। इनके अट्ठारह भेद हैं - चार ज्ञान (मति, श्रुत,

अवधि और मन:पर्ययज्ञान), तीन अज्ञान (कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि), तीन दर्शन (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन), पांच लब्धियां (क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य), क्षायोपशमिकसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकचारित्र और संयमासंयम। इन पूर्वोक्त चारों भावों से विभिन्न, कर्मो के उदय, उपशम आदि की अपेक्षा न रखते हुए स्वत: उत्पन्न भावों को परिणामिकभावक कहते हैं । इसके तीन भेद हैं - १ जीवत्व, २ भव्यत्व और ३ अभव्यत्व।

इन उपर्युक्त भावों के अनुगम को भावानुगम कहते हैं। इन अनुयोगद्वार में भी ओघ और आदेश की अपेक्षा भावों का विवेचन किया गया है। औघनिर्देश की अपेक्षा प्रश्न किया गया है कि 'मिथ्यादृष्टि' यह कौन सा भाव है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि यह औदयिकभावहै, क्योंकि, जीवों के मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। यहां यह शंका उठाई गई है कि, जब मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व भाव के अतिरिक्तज्ञान, दर्शन, गति, लिंग, कषाय भव्यत्व आदि और भी भाव होते हैं, तब यहां केवल एक औदयिक भाव को ही बताने का कारण है ? इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीव के औदयिक भाव के अतिरिक्त अन्य भाव भी होते हैं, किन्तु वे मिथ्यादृष्टित्व के कारण नहीं हैं, एक मिथ्यात्वकर्म का उदय ही मिथ्यादृष्टित्व का कारण होता है, इसलिए मिथ्यादृष्टि को औदयिक भाव कहा गया है।

सासादनगुणस्थान में पारिणामिकभाव बताया गया है, और इसका कारण यह कहा गया है कि जिस प्रकार जीवत्व आदि पारिणामिक भावों के लिए कर्मो का उदय आदि कारण नहीं है, उसी प्रकार सासादनसम्यक्त्व के लिए दर्शन मोहनीय कर्म का उदय, उपशाम, क्षय और क्षयोपशम, ये कोई भी कारण नहीं है, इसलिए इसे यहां पारिणामिक भाव ही मानना चाहिए।

सम्यग्मिथ्यात्वगुण स्थान में क्षायोपशमिकभाव होता है। यहां शंका उठाई गई है कि प्रतिबंधीकर्म के उदय होने पर भी जो जीव के स्वाभाविक गुण का अंश पाया जाता है, वह क्षायोपशमिक कहलाता है, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय रहते हुए तो सम्यक्त्वगुण कणिका भी अवशिष्ट नहीं रहती है, अन्यथा सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के सर्वघातीपना नहीं बन सकता है। अतएव सम्यग्मिथ्यात्वभाव क्षायोपशमिक सिद्ध नहीं होता है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के उदय होने पर श्रद्धानाश्रद्धानात्मक एक मिश्रभाव उत्पन्न होता है। उसमें जो श्रद्धानांश है, वह सम्यक्त्वगुण का अंश है। उसे सम्यग्मिथ्यात्वकर्म का उदय नष्ट नहीं करता है, अतएव सम्यग्मिथ्यात्वभाव क्षायोपशमिक है।

असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीन भाव पाये जाते हैं, क्योंकि, यहां पर दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम, ये तीनों होते हैं।

यहां एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि चौथे गुणस्थान तक भावों का प्ररूपण दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा किया गया है। इसका कारण यह है कि गुणस्थानों का तारतम्य या विकाश-क्रम मोह और योग के आश्रित है। मोहकर्म के दो भेद हैं - एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय। आत्मा के सम्यक्त्वगुण को घातनेवाला दर्शनमोहनीय है जिसके निमित्त से वस्तुस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान करते हुए भी, सन्मार्ग को जानते हुए भी, जीव उस पर चल नहीं पाता है। मन, वचन और काय की चंचलता को योग कहते हें। इसकेनिमित्त से आत्मा सदैव परिस्पन्दनयुक्त रहता है, और कर्माश्रवका कारण भी यही है। प्रारम्भ के चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम आदि से उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन गुणस्थानों में दर्शनमोह की अपेक्षा से (अन्य भावों के होते हुए भी) भावों का निरूपण किया गया है। तथापि चौथे गुणस्थान तक रहने वाला असंयमभाव चारित्रमोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा से, अत: उसे ओदयिक भाव ही जानना चाहिए। पांचवें से लेकर बारहवें तक आठ गुणस्थानों का आधार चारित्रमोहनीय कर्म है अर्थात् ये आठों गुणस्थान चारित्रमोहनीय कर्म के क्रमशः, क्षयोपशम, उपशम और क्षय से होते हैं, अर्थात् पांचवें, छठें और सातवें गुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव:, आठवें, नवें, दशवें और ग्यारहवें, इन चारों उपशामक गुणस्थानों में औपशमिकभाव, तथा क्षपकश्रेणीसम्बन्धी चारों गुणस्थानों में, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में क्षायिकभाव कहा गया है। तेरहवें गुणस्थान में मोह का अभाव हो जाने से केवलयोग की ही प्रधानता है और इसीलिए इस गुणस्थान का नाम संयोगिकेवली रखा गया है। चौदहवें गुणस्थान में योग के अभाव की प्रधानता है, अतएव अयोगिकेवली ऐसा नाम सार्थक है। इस प्रकार थोड़े में यह फलितार्थ जानना चाहिए कि विवक्षित गुणस्थान में संभव अन्य भाव पाये जाते हैं, किन्तु यहां भावप्ररूपणा में केवल उन्हीं भावों को बताया गया है, जो कि उन गुणस्थानों के मुख्य आधार हैं।

आदेश की अपेक्षा भी इसी प्रकार से भावों का प्रतिपादन किया गया है, जो कि ग्रंथावलोकन से प्रस्तावना में दिये गये नक्शों के सिंहावलोकन से सहज में ही जाने जा सकते हैं।

३. अल्पबहुत्वानुगम

द्रव्यप्रमाणानुगम में बतलाये गये संख्या-प्रमाण के आधार पर गुणस्थानों और मार्गणा स्थानों में संभव पारस्परिक संख्याकृत हीनता औरअधिकता का निर्णय करने वाला अल्पबहुत्वानुगम नामक अनुयोगद्वार है। यद्यपि व्युत्पन्न पाठक द्रव्यप्रमाणानुगम अनुयोगद्वार के द्वारा ही उक्त अल्पबहुत्व का निर्णय कर सकते हैं, पर आचार्य ने विस्ताररुचि शिष्यों के लाभार्थ इस नाम का एक पृथक ही अनुयोगद्वार बनाया, क्योंकि, संक्षेपरुचि शिष्यों की जिज्ञासा को तृप्त करना ही शास्त्र-प्रणयन का फल बतलाया गया है।

अन्य प्ररूपणाओं के समान यहां भी ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश की अपेक्षा अल्पबहुत्व का निर्णय किया गया है। ओघनिर्देश से अपूर्वकरण आदि तीनगुणस्थानों में उपशामक जीव प्रवेश की अपेक्षा परस्पर तुल्य हैं, तथा शेष सब गुणस्थानों के प्रमाण से अल्प हैं, क्योंकि, इन तीनों ही गुणस्थानों में पृथक्-पृथक् रूप से प्रवेश करने वाले जीव एक दो को आदि लेकर अधिक से अधिक चौपन तक ही पाये जाते हैं। इतने कम जीव इन तीनों उपशामक गुणस्थानों को छोड़कर और किसी गुणस्थान में नहीं पाये जाते हैं। उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ जीव भी पूर्वोक्त प्रमाण ही हैं, क्योंकि, उक्त उपशामक जीव ही प्रवेश करते हुए इस ग्यारहवें गुणस्थान में आते हैं। उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थों से अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती क्षपक संख्यातगुणित हैं, क्योंकि, उपशामक के एक गुणस्थान में उत्कर्ष से प्रवेश करने वाले चौपन जीवों की अपेक्षा क्षपक के एक गुणस्थान में उत्कर्ष से प्रवेश करने वाले एक सौ आठ जीवों के दूने प्रमाणस्वरूप संख्यातगुणितता पाई जाती है। क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ जीवपूर्वोक्त प्रमाण ही हैं, क्योंकि, उक्त क्षपक जीव ही इस बारहवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। सयोगिकेवली और अयोगिकेवली जिन प्रवेश की अपेक्षा दोनों ही परस्पर तुल्य और पूर्वोक्त प्रमाण अर्थात् एक सौ आठ हैं। किन्तु सयोगिकेवली जिन संचयकाल की अपेक्षा प्रविश्यमान जीवों से संख्यातगुणित हैं, क्योंकि, पांच सौ अट्ठानवे मात्र जीवोंकी अपेक्षा आठ लाख अट्ठानवें हजार पांच सौ दो (८९८५०२) संख्याप्रमाण जीवों के संख्यातगुणितता पाई जाती है। दूसरी बात यह है कि इस तेरहवें गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष से कम पूर्व कोटी वर्ष माना गया है। सयोगिकेवली जिनों से उपशम और क्षपकश्रेणी पर नहीं चढनेवाले अप्रमत्तसंयत जीव संख्यातगुणित हैं, क्योंकि, अप्रमत्तसंयत्तों का प्रमाण दो करोड़ छयानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन (२९६९९१०३) है। अप्रमत्तसंयत्तों प्रमत्तसंयत संख्यातगुणित हैं, क्योंकि,

उनसे इनका प्रमाण दूना अर्थात् पांच करोड़ तेरानवे लाख अट्ठानवे हजार दो सौ छह (५९३९८२०६) है । प्रमत्तसंयत्तों से संयतासंयत जीव असंख्यातगुणित हैं, क्योंकि, वे पल्योपमके असंख्यात के भागप्रमाण हैं । संयतासंयतों से सासादनसम्यग्दृष्टि जीव असंख्यातगुणित हैं, क्योंकि, संयमासंयम की अपेक्षा सासादनसम्यक्त्व का पाना बहुतसुलभ है । यहां पर गुणकार का प्रमाण आवली का असंख्यातवां भाग जानना चाहिए, अर्थात् आवली के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उनके द्वारा संयतासंयत जीवों की राशि को गुणित करने पर जो प्रमाण आता है, उतने सासादन सम्यग्दृष्टि जीव है । सासादनसम्यग्दृष्टियों से सम्यग्मिथयादृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव संख्यातगुणित हैं, क्योंकि, दूसरे गुणस्थान की अपेक्षा तीसरे गुणस्थान का काल संख्यातगुणा है । सम्यग्मिथ्यादृष्टियों से असंयत सम्यग्दृष्टि जीव असंख्यातगुणित हैं, क्योंकि, तीसरे गुणस्थान को प्राप्त होने वाली राशि की अपेक्षा चौथे गुणस्थान को प्राप्त होने वाली राशि आवली के असंख्यातवें भागगुणित हैं । असंयतसम्यग्दृष्टि जीवों से मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तगुणित हैं, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त होते हैं । इस प्रकार यह चौदहों गुणस्थानों की अपेक्षा अल्पबहुत्व कहा गया है, जिसका मूल आधार द्रव्यप्रमाण हैं । यह अल्पबहुत्व गुणस्थानों में दो दृष्टि से बताया गया है प्रवेश की अपेक्षा और संचयकाल की अपेक्षा । जिन गुणस्थानों में अन्तर का अभाव है अर्थात् जो गुणस्थान सर्वकाल संभव है, उनका अल्पबहुत्व संचयकाल की ही अपेक्षा से कहा गया है । ऐसे गुणस्थान, जैसा कि अन्तरप्ररूपणा में बताया जा चुका है, मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार और सयोगिकेवली, ये छह हैं । जिन गुणस्थानों में अन्तर पड़ता है, उनमें अल्पबहुत्व प्रवेश और संचयकाल, इन दोनों की अपेक्षा बताया गया है । जैसे- अन्तरकाल समाप्त होने के पश्चात् उपशामक और क्षपक गुणस्थानों में कम से कम एक दो तीन से लगाकर अधिक से अधिक ५४ और १०८ तक जीव एक समय में प्रवेश कर सकते हैं, और निरन्तर आठ समयों में प्रवेश करने पर उनके संचय का प्रमाण क्रमशः ३०४ और ६०८ तक एक-एक गुणस्थान में हो जाता है । दूसरे और तीसरे गुणस्थान का प्रवेश और संचय ग्रन्थानुसार जानना चाहिए । ऐसे गुणस्थान चारों उपशामक,चारों क्षपक, अगोगिकेवली सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि हैं ।

इसके अतिरिक्त इस अनुयोगद्वार में मूलसूत्र कार ने एक ही गुणसथान में सम्यक्त्व की अपेक्षा से भी अल्पबहुत्व बताया है । जैसे - असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में उपशमसम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं । उपशमसम्यग्दृष्टियों से क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव

असंख्यातगुणित हैं और क्षायिकसम्यग्दृष्टियों से वेदकसम्यग्दृष्टि जीव असंख्यातगुणित हैं। इस हीनाधिकता का कारण उत्तरोत्तर संचयकाल की अधिकता है। संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं, क्योंकि, देश संयम को धारण करने वाले क्षायिकसम्यग्दृष्टि मनुष्यों का होना अत्यन्त दुर्लभ है। दूसरी बात यह है कि तिर्यचों में क्षायिकसम्यक्त्व के साथ देशसंयम नहीं पाया जाता है। इसका कारण यह है कि तिर्यचों में दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणा नहीं होती है। इसी संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से उपशमसम्यग्दृष्टि संयतासंयत असंख्यातगुणित हैं और उपशमसम्यग्दृष्टियों से वेदकसम्यग्दृष्टि संयतासंयत असंख्यातगुणित हैं। प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में उपशमसम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम है, उनसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव संख्यातगुणित हैं, उनसे वेदकसम्यग्दृष्टि जीव संख्यातगुणित हैं। इस अल्पबहुत्व का कारण संचयकाल की हीनाधिकता ही है। इसी प्रकार का सम्यक्त्वसम्बन्धी अल्पबहुत्व अपूर्वकरण आदि तीन उपशामक गुणस्थानों में जानना चाहिए। यहां ध्यान रखने की बात यह है कि इन गुणस्थानों में उपशमसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व, ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं। यहां वेदकसम्यक्त्व नहीं पाया जाता है, क्योंकि, वेदकसम्यक्त्व के साथ उपशमश्रेणी के आरोहण का अभाव है। अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानों में उपशमसम्यक्त्वा जीव सबसे कम हैं, उनसे उन्हीं गुणस्थानवर्ती क्षायिकसम्यक्त्वी जीव संख्यातगुणित हैं। आगे के गुणस्थानों में सम्यक्त्वसम्बन्धी अल्पबहुत्व नहीं है, क्योंकि, वहां सभी जीवों के एकमात्र क्षायिकसम्यक्त्व ही पाया जाता है। इसी प्रकार प्रारंभ के तीन गुणसथानोंमें भी यह अल्पबहुत्व नहीं है, क्योंकि, उनमें सम्यग्दर्शन होता ही नहीं है।

जिस प्रकार यह औघ की अपेक्षा अल्पबहुत्व कहा है, उसी प्रकार आदेश की अपेक्षा भी मार्गणास्थानों में अल्पबहुत्व जानना चाहिए। भिन्न-भिन्न मार्गणाओं में जो खास विशेषता है, वह ग्रन्थ के स्वाध्याय से ही हृदयंगम की जा सकेगी। किन्तु स्थूलरीति का अल्पबहुत्व द्रव्यप्रमाणानुगम (भाग३) पृष्ठ ३८ से ४२ तक अंकसंदृष्टि के साथ बताया गया है, जो कि वहां से जाना जा सकता है। भेद केवल इतना ही है कि वहां वह क्रम बहुत्व से अल्प की ओर रक्खा गया है।

इन प्ररूपणाओं का मथितार्थ साथ में लगाये गये नक्शों से सुस्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार अल्पबहुत्वप्ररूपणा की समाप्ति साथ जीवस्थाननामक प्रथम खंड की आठों प्ररूपणाएं समाप्त हो जाती हैं।

शंका समाधान

पुस्तक १, पृ. ७०

१. शंका — यहां षष्ठभक्त उपवास का अर्थ जो दो दिन का उपवास किया है वह किस प्रकार संभव है ? (नानकचंद जी, खतौली)

समाधान — नियमानुसार दिन में दो बार भोजन का विधान है। किन्तु उपवास धारण करने के दिन दूसरी बार का भोजन त्याग दिया जाता है और आगे दो दिन के चार भोजन भी त्याग दिये जाते हैं। इस प्रकार चूंकि दो उपवासों में पांच भोजनवेलाओं को छोड़कर छठी बेला पर भोजन ग्रहण किया जाता है, अतएव षष्टभक्त का अर्थ दो उपवास करना उचित ही है। उदाहरणार्थ, यदि अष्टमी व नवमी का उपवास करना है तो सप्तमी की एक अष्टमी की दो और नवमी की दो, इस प्रकार भोजन वेलाओं को छोड़कर दशमी के दोपहर को छठी बेला पर पारणा की जायगी।

पुस्तक १, पृ. १९२

२. शंका - यहां उद्धृत गाथा २५ के अनुवाद में योग पद का अर्थ तीनों योग किया है। परन्तु गोम्मटसार गाथा ६४ में उक्त पद का अर्थ केवल काययोग ही किया है। क्या केवली के तीनों योग हो सकते हैं ? (नानकचंदजी, खतौली)

समाधान — केवली के तीनों योग होते हैं, इसीलिये उनका अन्त में निरोध भी किया जाता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६४ की जी.प्र. टीका में योग पद से सामान्यतया योग और मं. प्र. टीका में मन, वचन व काय योगों में अन्यतम योग लिया गया है।

पुस्तक १, पृ. १९६

३. शंका — यहां सम्पूर्ण भावकर्म और द्रव्यकर्मों से रहित होकर सर्वज्ञता को प्राप्त हुए जीव को आगम का व्याख्याता कहा है। क्या तेरहवें गुणस्थान में सम्पूर्ण द्रव्यकर्म दूर हो जाते हैं ? (नानकचंदजी, खतौली)

समाधान — सम्पूर्ण कर्मों से रहित होने का अभिप्राय चार घातिया कर्मों से रहित होने का है, अघातियों से नहीं, क्योंकि, ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म ही क्रमशः अज्ञान, अदर्शन, मिथ्यात्व सहित अविरति, और अदानशीलत्वादि दोषों को उत्पन्न करते हैं जो कि आगमव्याख्याता होने में बाधक हैं।

(देखो आप्तमीमांसा १, ४-६ व विद्यानन्दिकी टीका अष्टसहस्री)

पुस्तक १, पृ. ४०६

४. शंका — जब सौधर्म कल्प से लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि तीनों ही पाये जाते हैं तब सूत्र १७० व १७१ के पृथक् रचने का क्या कारण है ? (नानकचंद जी, खतौली)

समाधान — अनुदिश एवं अनुत्तरादि उपरिम विमानों में सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं, इस विशेषता के ज्ञापनार्थ ही दोनों सूत्रों की पृथक् रचना की गई प्रतीत होती है।

पुस्तक २, पृ. ४८२

५. शंका — तिर्यंच संयतासंयतों में क्षायिक सम्यक्त्व के न होने का कारण यह बतलाया गया है कि "वहां पर जिन अर्थात् केवली या श्रुतकेवली का अभाव है"। किन्तु कर्मभूमि में जहां संयतासंत तिर्यंच होते हैं वहां केवली व श्रुतकेवली का अभाव कैसे माना जा सकता है, वहां तो जिन व केवली होते ही हैं ? (नानकचंद जी, खतौली)

समाधान — शंकाकार की आपत्ति बहुत उचित है। विचार करने से अनुमान होता है कि धवला के 'जिणाणमभावादो' पाठ में कुछ त्रुटि है। हमने अमरावती की हस्तलिखित प्रति पुनः देखी, किन्तु उसमें यही पाठ है। पर अनुमान होता है कि 'जिणाणमभावादो' के स्थान पर संभवतः 'जिणाणाभावादो' पाठ रहा है, जिसके अनुसार अर्थ यह होगा कि संयतासंयत तिर्यंच दर्शनमोहनीय कर्म का क्षपण नहीं करते हैं, क्यों कि तिर्यंचगति में दर्शनमोह के क्षपण होने का जिन भगवान् का उपदेश नहीं पाया जाता।

(देखो गत्यागति चूलिका सूत्र १६४, पृ. ४७४-४७५)

पुस्तक २, पृ. ५७६

६. शंका — यंत्र १९२ में योग खाने में जो अनु. संकेत लिखा गया है उससे क्या अभिप्राय है ? (नानकचंद जी, खतौली)

समाधान — अनु. से अभिप्राय अनुभय का है जिसका प्रकृत में असत्यमृषा वचन योग से तात्पर्य है।

पुस्तक २, पृ. ६२९

७. शंका — पंक्ति १७ में जो संज्ञिक तथा असंज्ञिक इन दोनों विकल्पों से रहित स्थान बतलाया है, वह कौन से गुणस्थान की अपेक्षा कहा गया है ? (नाकचंदजी, खतौती)

समाधान — वहां उक्त दोनों विकल्पों से रहित स्थान से अभिप्राय सयोगी गुणस्थान से है।

पुस्तक २, पृ. ७२३

८. शंका — अभिनिबोधिक और श्रुतज्ञानियों के आलापों में ज्ञान दो और दर्शन तीन कहे हैं, सो दो ज्ञानों के साथ तीन दर्शनों की संगति कैसे बैठती है ?

(नानकचंद जी, खतौली)

समाधान — चूंकि छद्मस्थों के ही मति-श्रुत ज्ञान होते हैं और ज्ञान होने से पूर्व दर्शन होता है, अतएव जिन मति-श्रुतज्ञानियों के अवधिदर्शन उत्पन्न हो गया है किन्तु अवधिज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाया, उनकी अपेक्षा उक्त दो ज्ञानों के साथ तीन दर्शनों की संगति बैठ जाती है।

पुस्तक ४, पृ. १२६

९. शंका — पुस्तक २, पृ. ५००, व ५३१ पर लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच व मनुष्यों में चक्षु और अचक्षु इन दोनों दर्शनों का सद्भाव बतलाया है, किन्तु पुस्तक ४, पृष्ठ १२६, १२७ व ४५६ पर लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के चक्षुदर्शन का अभाव कहा है। इस विरोध का कारण क्या है। (नेमीचंद रतनचंदजी, सहारनपुर)

समाधान — पुस्तक २ में लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के सामान्य अलाप कहे गये हैं, अतएव वहां क्षयोपशम मात्र के सद्भाव की अपेक्षा दोनों दर्शनों का कथन किया गया है। किन्तु पुस्तक ४ में दर्शनमार्ग की अपेक्षा क्षेत्र व काल की प्ररूपणा करते हुए उक्त विषय आया है, अतएव वहां उपयोग की खास विवक्षा है। लब्धि-अपर्याप्तकों में चक्षुदर्शन लब्धिरूप से वर्तमान होते हुए भी उसका उपयोग न है और न होना संभव है, क्योंकि पर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व ही उस जीव का मरण होना अवश्यंभावी है। यही बात स्वयं धवलाकार ने पुस्तक ४ के उक्त दोनों स्थलों पर स्पष्ट कर दी है कि लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था में क्षयोपशम लब्धि उपयोग की अविनाभावी न होने से उसका वहां निषेध किया गया है।

पुस्तक ४, पृ. १५५-१५८ आदि

१०. शंका — पुस्तक ३, पृ. ३३-३६ तथा पुस्तक ४, पृ. १५५-१५८ पर कथन है कि स्वयंभूरमण समुद्र के अन्त में तिर्यग्लोक की समाप्ति नहीं होती किन्तु असंख्यात द्वीप-

समुद्रों से रुद्ध योजनों से संख्यात गुणे योजन आगे जाकर होती है। परन्तु पुस्तक ४, पृष्ठ १६८ पर कहा गया है कि स्वयंभूरमण समुद्र का विष्कंभ एक राजु के अर्ध प्रमाण से कुछ अधिक है, तथा पृ. १९९ पर स्वयंभूरमण का क्षेत्रफल जगप्रतरका ८२ वां भाग बताया गया है, जिससे विदित होता है कि राजुका अन्त स्वयंभूरमण समुद्र पर ही हुआ है। इस विरोध का समाधान क्या है ? (नेमीचंद रतनचंदजी, सहारनपुर)

समाधान — भाग ३ पृ. ३६ पर धवलाकार ने स्वयं उक्त दोनों मतों पर विचार किया है जिससे यही प्रकट होता है कि उक्त विषय पर प्राचीन आचार्यों में मतभेद रहा है जिसके कारण कितनी ही मान्यताएं एक मत पर और कितनी ही दूसरे मत पर अवलम्बित हुई पायी जाती है। धवलकार ने अपनी समन्वयबुद्धि द्वारा जहां जिस मत के अनुसार विषय की संगति बैठती है वहां उसी मत का अवलम्बन लेकर विचार किया है धवलाकार के अनुसार एक मत तिलोयपवण्णत्ति सूत्र के आधार पर और दूसरा परिकर्म सूत्र पर अवलम्बित है। धवलाकार ने परिकर्म सूत्र के शब्दों की तो प्रथम मत के साथ किसी प्रकार संगति बैठा दी है, पर उनका जो अर्थ दूसरे आचार्यों ने किया है उसको उन्होंने केवल प्रकृत में व्याख्यानाभास कह कर टाल दिया है।

पुस्तक ५, पृ. ८

११. शंका — पल्योपम का असंख्यातवां भाग कितना समय है, वह मुहूर्त या अन्त मुहूर्त से कितना गुणा या अधिक है, एवं उपशमसम्यग्दृष्टि जीव सासादन से मिथ्यात्व को प्राप्त होकर पुनः ठीक कितने काल में फिर उपशमसम्यकत्व को प्राप्त कर सकता है ?
(हुकमचंद जैन, सलावा मेरठ)

समाधान — पल्योपम से प्रकृत में अद्धापल्यका ही अभिप्राय है जिसका प्रमाण भाग ३ द्रव्यप्रमाण की प्रस्तावना पृ ३५ पर बतलाया जा चुका है। तदनुसार पल्योपम का असंख्यातवां भाग मुहूर्त या अन्तमुहूर्त से असंख्यातगुणा सिद्ध होता है। इससे अधिक स्पष्ट या निश्चित रूप से उक्त प्रमाण न कहीं बतलाया गया और न छद्मस्थों द्वारा बतलाया ही जा सकता है। उपशमसम्यक्त्व से सासादन होकर पुनः उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति संख्यात वर्ष की आयु में संभव नहीं बतलाई। किन्तु असंख्यात वर्ष की आयु में संभव बतलायी गई है। (देखो गत्यागति चूलिका सूत्र ६६-७३ की टीका व विशेषार्थ पृ. ४४४-४४५)। इस पर से इतना ही कहा जा सकता है कि पल्योपम का असंख्यातवां भाग भी असंख्यात वर्ष प्रमाण होता है।

पुस्तक ५, पृ. २८

१२. शंका — यहां सातों पृथिवियों के जीवों के सम्यक्त्व का उत्कृट अन्तर बतलाते हुए जो उन्हें अंन्तिम वार उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कराया है ओर सासादन में ले जाकर एक और अन्तर्मुहूर्त कम कराया है सो क्यों ? यदि उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त न कराकर क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कराया जाता तो वह सासादन कालका अन्तर्मुहूर्त कम करने की आवश्यकता न पड़ती जिससे उत्कृष्ट अन्तर अधिक पाया जा सकता था ?

(नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — उक्त प्रकरण में क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त न कराकर उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कराने के दो कारण दिखाई देते हैं। एक तो वहां सातों पृथिवियों का एक साथ कथन किया गया है, और सावतीं पृथिवी से सम्यक्त्व सहित निर्गमन होना संभव ही नहीं है। दूसरे क्षयोपशम सम्यक्त्व तभी प्राप्त किया जा सकता है जब सम्यक्त्व प्रकृति का सर्वथा उद्वेलन नहीं हो पाया, और उसकी सत्ता शेष है। अतएव क्षयोपशम सम्यक्त्व के स्वीकार करने में उत्कृष्ट अन्तर पल्योपमका असंख्यातवां भागमात्र काल ही प्राप्त हो सकता है। किन्तु उपशम सम्यक्त्व तभी प्राप्त हो सकता है जब सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों की उद्वेलना पूरी हो चुकती है। अतएव उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कराने से ही उक्त कुछ अन्तर्मुहूर्तो को छोड़ शेष आयुकालप्रमाण उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हो सकता है; क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कराने से नहीं हो सकता।

पुस्तक ५, पृ. ३८

१३. शंका — सूत्र नं. ४० की टीका में तीन पंचेन्द्रिय तिर्यंच मिथ्यादृष्टियों का जघन्य अन्तर बतलाते हुए उन्हें केवल एक असंयतसम्यक्त्व गुणस्थान में ही क्यों प्राप्त कराया ? सूत्र नं. ३६ की टीका के समान यहां भी 'अन्य गुणस्थान में ले जाकर' ऐसा सामान्य निर्देश कर तृतीय, चतुर्थ व पंचम गुणस्थान को प्राप्त क्यों नहीं कराया।

(नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — सूत्र नं. ३६ और ४० की टीका में केवल कथनशैली का ही भेद ज्ञात होता है, अर्थ का नहीं। यहां सम्यक्त्व से संभवत: केवल चतुर्थ गुणस्थान का ही अभिप्राय नहीं, किन्तु मिथ्यात्व को छोड़ उन सब गुणस्थानों से है जो प्रकृत जीवों के संभव हैं। यह बात कालानुगम के सूत्र ५८ की टीका (पुस्तक ४ पृ. ३६३) को देखने से और

भी स्पष्ट हो जाती है जहां उक्त तीनों तिर्यंचों के मिथ्यात्व से सम्यग्मिथ्यात्व, असंयतसम्यक्त्व व संयतासंयत गुणस्थान में जाने-आने का स्पष्ट विधान है ।

पुस्तक ५, पृ. ४०

१४. शंका — सूत्र ४५ में तीन पंचेन्द्रिय तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का उत्कृष्ट अन्तर बतलाते हुए अन्त में प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण कराकर सम्यग्मिथ्यात्व को क्यों प्राप्त कराया, सीधे मिथ्यात्व से ही सम्यग्मिथ्यात्व को क्यों नहीं प्राप्त कराया ? क्या उनके सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों की उद्वेलना हो जाती है ?

(नेमीचंद रतनचंदजी, सहारनपुर)

समाधान — सूत्र नं. ३६ और ४० की टीका में केवल कथनशैली का ही भेद ज्ञात होता है, अर्थ का नहीं । यहां सम्यक्त्व से संभवत: केवल चतुर्थ गुणस्थान का ही अभिप्राय नहीं, किन्तु मिथ्यात्व को छोड़ उन सब गुणस्थानों से हैं जो प्रकृत जीवों के संभव हैं । यह बात कालानुगम के सूत्र ५८ की टीका (पुस्तक ४ पृ ३६३) को देखने से और भी स्पष्ट हो जाती है जहां उक्त तीनों तिर्यंचों के मिथ्यात्व से सम्यग्मिथ्यात्व, असंयतसम्यक्त्व व संयतासंयत गुणस्थान में जाने आने का स्पष्ट विधान है ।

पुस्तक ५, पृ. ४०

१४. शंका — सूत्र ४५ में तीन पंचेन्द्रिय तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का उत्कृष्ट अन्तर बतलाते हुए अन्त में प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण कराकर सम्यग्मिथ्यात्त्व को क्यों प्राप्त कराया, सीधे मिथ्यात्व से ही सम्यग्मिथ्यात्व को क्यों नहीं प्राप्त कराया ? क्या उनके सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों की उद्वेलना हो जाती है ?

(नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — हां, वहां उक्त दो प्रकृतियों की उद्वेलना हो जाती है । वह उद्वेलना पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र काल में ही हो जाती है, और यहां तीन पल्योपम काल का अन्तर बतलाया जा रहा है ।

पुस्तक ५, पृ. ४०

१५. शंका — सूत्र ४५ की टीका में पंचेन्द्रिय तिर्यंच सासादनों का ही उत्कृष्ट अन्तर क्यों कहा, पंचेन्द्रिय पर्याप्त और योनिमती तिर्यंच सासादनों का क्यों नहीं कहा ?

(नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — पृष्ठ ४० के अन्त में व ४१ के आदि में टीकाकार ने पंचेन्द्रिय पर्याप्त व योनिमतियों का भी निर्देश किया है एवं उपर्युक्त कथन से जो विशेषता है वह बतलाई है।

पुस्तक ५, पृ.५१-५५

१६. **शंका** — यहां मनुष्यनियों में संयतासंयतादि उपशान्तकषायान्त गुणस्थानों का जो अन्तर कहा गया है वह द्रव्य स्त्री की अपेक्षा से कहा गया है या भाव स्त्री की ?

(नेमीचंद रतनचंदजी, सहारनपुर)

समाधान — इसका कुछ समाधान पुस्तक ३, पृ. २८-३० (प्रस्तावना) में किया गया है। पर यह समस्त विषय विचारणीय है। इसकी शास्त्रीय चर्चा जैन पत्रोंमें चलाई है। (देखो जैन संदेश, ता. ११-११-४३ आदि)

पुस्तक ५, पृ.६२

१७. **शंका** — सूत्र ९४ की टीका में भवनवासी आदि देव सासादनों के अन्तर को ओघ के समान कहकर उनके उत्कृष्ट अन्तर में दो समय और छह अन्तर्मुहूर्तो से कम अपनी उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण अन्तर की ओघ से समानता बतलाई है। परन्तु ओघ- निरूपण में बनिस्वत दो के तीन समयों को कम किया गया है। इस विरोध की संगति किस प्रकार बैठायी जाय ? (नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — सूत्र नं. ९० की टीका में यद्यपि प्रतियों में 'तिहि समएहि' पाठ है, पर विचार करने से जान पड़ता है कि वहां 'वेहि समएहि' पाठ होना चाहिए,क्योंकि ऊपर जो व्यवस्था बतलाई है उसमें दो ही समय कम किये जाने का विधान ज्ञात होता है। अतएव सूत्र ९४ की टीका में जो दो समय कम करने का आदेश है वही ठीक जान पड़ता है।

पुस्तक ५, पृ. ७३

१८. **शंका** — यहां अन्तरानुगम में सूत्र १२१,१८६, २०० और २८८ की टीका में क्रमश: तीन पक्ष तीन दिन व अन्तर्मुहूर्त, दो मास व दिवस पृथक्त्व, दो मास व दिवसपृथक्त्व, तथा तीन पक्ष दिन दिन व अन्तर्मुहूर्त से गर्भज जीव को संयतासंयत गुणस्थान में प्राप्त कराया है। क्या गर्भ के दिन घट बढ़ भी सकते हैं।

(नेमीचंदरतनचंदजी, सहारनपुर)

समाधान — यह भेद उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तियों के भेदों पर से उत्पन्न हुआ है जिसके लिये देखिये पुस्तक ५ अंतरानुगम सूत्र ३७ की टीका पृ. ३२.

पुस्तक ५, पृ. ९१

१९. शंका — यहां सूत्र १६९ व उसकी टीका में वैक्रिकिय काययोगियों में आदि के चार गुणस्थानों के अन्तर को मनोयोगियों के समान कहकर दोनों में नाना व एक जीव की अपेक्षा अन्तराभाव की समानता बतलाई है। परन्तु सूत्र १५४-१५५ में मनोयोगी सासादन सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षाजघन्य एक समय और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण अन्तर बतलाया है। ओघकी अपेक्षा भी (सूत्र ५-६) उक्त दोनों गुणस्थानों में वही अन्तर बतलाया गयाहै। फिर यहां चारों गुणस्थानों में जो अन्तर का अभाव कहा गया है वह कैसे घटित होगा ?

(नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — यहां सूत्र १६९ की टीका में 'अन्तराभावेण' से यदि 'अन्तर और उसके अभाव का अर्थ लिया जाय तो सामन्जस्य ठीक बैठ जाता है कि सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर तथा उन्हीं गुणस्थानों की एक जीव की अपेक्षा एवं मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टियों के नाना व एक जीव की अपेक्षा अन्तराभाव से वैक्रियिक काययोगियों की मनोयोगियों से समानता है।

पुस्तक ५, पृ. ९९

२०. शंका — यहां सूत्र १८९ की टीका में स्त्रीवेदी अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण का अन्तर बतलाते हुए जो कृतकृत्यवेदक होकर अपूर्वकरण उपशामक होना कहा है वह किस अपेक्षा से है, क्योंकि, उपशमश्रेणी आरोहण क्षायिकसम्यग्दृष्टि या द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि ही करते हैं, वेदकसम्यग्दृष्टि नहीं ? (नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — यहाँ 'कृतकृत्यवेदक होकर अपूर्वकरण उपशामक हुआ' इसका अभिप्राय कृतकृत्यवेदक काल को पूर्ण कर क्षायिक सम्यक्त्वके साथ अपूर्वकरण उपशामक होने का है, न कि कृतकृत्यवेदक होने के अनन्तर समय में ही अपूर्वकरण उपशामक होने का। यह बात पुरुषवेदी अपूर्वकरण उपशामक के उत्कृष्ट अन्तर की प्रक्रिया से भी सिद्ध होती है, जिसके लिये देखिये सूत्र नं २०३ की टीका।

पुस्तक ५, पृ. १०२

२१. शंका — सूत्र १९७ में पुरुषवेदी सासादनसम्यग्दृष्टियों के अन्तरनिरूपण में पुरुषवेद की स्थिति प्रमाण परिभ्रमण कर अन्त में जो देवों में उत्पन्न होना कहा है यह कैसे

सम्भव है ? पुरुषवेद की स्थिति पूर्ण हो जाने पर तो देवियों में उत्पन्न कराना चाहिये था न कि देवों में ? (नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — यहां 'देवों में उत्पन्न हुआ' इसका अभिप्राय देवगति में उत्पन्न हुआ समझना चाहिये ।

पुस्तक ५, पृ. ११५

२२. शंका — सूत्र २३४ की टीका में अवधिज्ञानी असंयतसम्यग्दृष्टि की अन्तरप्ररूपणा में संज्ञी सम्मूर्च्छिम पर्याप्त के अवधिज्ञान का सद्भाव कहा है । परन्तु इसके आगे सूत्र २३७ की टीका में मति-श्रुतज्ञानी संयता संयतों के उत्कृष्ट अन्तर सम्बन्धी शंका के समाधान में उक्त जीवों में उसी का अभाव भी बतलाया है । इस विरोध का परिहार क्या है ? (नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — संज्ञी सम्मूर्च्छिम पर्याप्त तिर्यंचों में वेदक सम्यक्त्व,संयामासंयम व अवधिज्ञान उत्पन्न होना तो निश्चित है, क्योंकि कालप्ररूपणा के सूत्र १८ की टीका में संयतासंयत का एक जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट काल एवं सूत्र २६६ की टीका में आभिनिबोधिक, श्रुत और अवधिज्ञानियों का काल उक्त जीवों में ही घटित करके बतलाया गया है । उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र २३४ की टीका में भी वही बात स्वीकृत की गई है वह उपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा से है, क्योंकि उन जीवों में उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति का अभाव है । यही बात आगे सूत्र २३७ की टीका के शंका-समाधान में उपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा क्यों उत्पन्न हुई यह बात विचारणीय रह जाती है ।

पुस्तक ५, पृ. १४७

२३. शंका — यहाँ सूत्र ३०४ में तेजोलेश्या वाले मिथ्यादृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि का तथा सूत्र ३०६ में इसी लेश्यावाले सासादन व सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का उत्कृष्ट अन्तर जो दो सागरोपमप्रमाण ही बतलाया गया है वह कम है, क्योंकि सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्पों की अपेक्षा उक्त अन्तर सात सागरोपमप्रमाण भी हो सकता था । फिर उसकी यहां उपेक्षा क्यों की गई है ? यही शंका उपर्युक्त लेश्यावाले जीवों के कालप्ररूपण (पु.४ पृ. ४६२) में भी उठायी जा सकती है ? (नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — उक्त विधान से यही प्रतीत होता है कि तेजोलेश्यावाला मिथ्यादृष्टि या असंयतसम्यग्दृष्टि जीव सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में उत्पन्न नहीं होता या उसके अधस्तन

विमान में ही उत्पन्न होता है जहां दो सागरोपम स्थिति की संभावना है। धवलाकार ने उक्त कल्प के अधस्तन विमान में ही तेजोलेश्या के संभव का उपदेश बतलाया है (देखो पुस्तक ४ प. २९६)। फिर भी राजवार्तिक ४-२२ में तथा गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५२१ में तेजोलेश्यासहित सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के अन्तिम पटल में जाने का विधान पाया जाता है। यह कोई मतभेद नहीं मालूम होता है।

पुस्तक ५, पृ. २१८

२४. शंका — कोई तिर्यंच जीव मनुष्य का बंध करके पश्चात् क्षयोपशम सम्यक्त्व सहित मरण कर मनुष्यगति को प्राप्त हो सकता है या नहीं? गोम्मटसार जीवकांण्ड, गाथा ५३०-५३१ में इसको स्पष्ट माना है, किन्तु षट्खंडागम जीवट्ठाण की भावप्ररूपणा के सूत्र ३४ और उसकी टीका से उसमें कुछ सन्देह होता है?

(हुकमचंद जैन, सलावा, मेरठ)

समाधान — कृतकृत्यवेदक को छोड़ अन्य क्षयोपशमसम्यक्त्वी तिर्यंच मरण करके एक मात्र देवगति को ही प्राप्त होता है (देखो गत्यागति चूलिका सूत्र १३१, पृ. ४६४)। यदि उस तिर्यंच ने उक्त सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व देवायु को छोड़ अन्य किसी आयु का बन्ध कर लिया है तो मरण से पूर्व उसका वह सम्यक्त्व छूट जायगा (देखो गत्यागति चूलिका, सूत्र १६४ टीका, पृ ४७५)। जीवकाण्ड की गाथा ५३१ में केवल मनुष्य व तिर्यंचों के भोग भूमि में अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व होने का सामान्य से उल्लेख मात्र है। संस्कृत टीकाकार ने यहां क्षायिक व वेदक सम्यक्त्व का विधान किया है जिससे क्षायिक व कृतकृत्यवेद का अभिप्राय ग्रहण करना चाहिये, अन्य क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का नहीं।

(देखो भाग २, पृ. ४८१)।

पुस्तक ५, पृ. २१८

२५. शंका — यहां सूत्र ३४ की टीका में जहां देव, नारकी व मनुष्य सम्यग्दृष्टियों की उत्पत्ति तिर्यंच व मनुष्यों में बतलायी है वहां तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीवों की भी उत्पत्ति उक्त दोनों प्रकार के जीवों में क्यों नहीं बतलायी? क्या मनुष्य के समान बद्धायुष्क क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच मरकर तिर्यंच व मनुष्यों में उत्पन्न नहीं हो सकता या मरते समय उसका वह सम्यग्दर्शन छूट जाता है? (नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — इस शंका का समाधान ऊपर की शंका के समाधाम में हो चुका है।

पुस्तक ५, पृ. २२२

२६. शंका — यहां अपगतवेदविषयक शंका और उसके समाधान से विदित होता है कि द्रव्यस्त्री के भी अनिवृत्तिकरणादि गुणस्थान हो सकते हैं। क्या यह ठीक है ?
(नेमीचंद रतनचंदजी, सहारनपुर)

समाधान — देखो ऊपर नं. १६ का शंका - समाधान।

पुस्तक ५, पृ. ३०३

२७. शंका — यहां सूत्र १५९ में स्त्रीवेदियों तथा सूत्र १८८ में नपुंसकवेदियों में अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती उपशम सम्यग्दृष्टियों की अपेक्षा जो क्षायिक सम्यग्दृष्टियों को कम बतलाया है वह किस अपेक्षा से है, क्योंकि सूत्र १६०-१६१ व १८९-१९० में उपशामकों की अपेक्षा क्षपकों का प्रमाण संख्यातगुणा कहा है। और उपशमश्रेणी पर चढ़नेवाले औपशमिक एवं क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों हैं जब कि क्षपकश्रेणी चढ़ने वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही हैं। अतएव औपशमिक सम्यग्दृष्टियों की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का प्रमाण अधिक होना चाहिये था ? (नेमीचंद रतनचंद जी, सहारनपुर)

समाधान — स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदी अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती जीवों में क्षायिक सम्यग्दृष्टियों की कमी का कारण उनका अप्रशस्तवेद है। अप्रशस्त वेद के उदय सहित जीवों में दर्शनमोह का क्षय करने वालों की अपेक्षा उसका उपशम करने वाले ही अधिक होते हैं। (देखो अल्पबहुत्वानुगम सूत्र ७५-७६)। एवं उपशामकों के संचयकाल की अपेक्षा क्षपकों का काल अधिक होता है।

हस्तलिखित प्रतियों में चूलिका - सूत्रों की व्यवस्था

प्रस्तुत संस्करण में भिन्न-भिन्न नौ चूलिकाओं के सूत्रों की संख्या का क्रम एक दूसरी चूलिका से सर्वथा स्वतंत्र रखा गया है। यह व्यवस्था हस्तलिखित प्रतियों में पाई जाने वाली व्यवस्था से कुछ भिन्न है। उदाहरणार्थ अमरावती की प्रति में प्रकृतिसमुत्कीर्तना नामक प्रथम चूलिका में सूत्रसंख्या १ से ४२ तक पाई जाती है। दूसरी स्थानसमुत्कीर्तन चूलिका में सूत्र संख्या १ से ११६ तक दी गई है। इसके आगे की चूलिकाओं में सूत्रों पर चालू संख्याक्रम दिया गया है जिसके अनुसार प्रथम दंडकपर ११७, द्वितीय दंडकपर ११८, तृतीय दंडकपर ११९, उत्कृष्टस्थिति चूलिका में १२० से १६२ तक, जघन्यस्थिति में १६३ से

२०३ तक, सम्यक्त्वोत्पत्ति में २०४ से २२० तक, एवं गत्यागति में २२० से ३६८ तक सूत्रसंख्या पाई जाती है। ऐसी अवस्था में हमारे सन्मुख दो प्रकार उपस्थित हुए कि या तो प्रथम से लेकर नौवीं तक सभी चूलिकाओं में सूत्रक्रम संख्या एक सी चालू रखी जावे, या फिर सबकी अलग अलग। यह तो बहुत विसंगत बात होती कि प्रतियों के अनुसार प्रथम दो चूलिकाओं का सूत्र क्रम पृथक् पृथक् रखकर शेष का एक ही रखा जाय, क्योंकि ऐसा करने का कोई कारण हमारी समझ में नहीं आया। प्रत्येक चूलिका का विषय अलग-अलग है और अपनी -अपनी एक विशेषता रखता है। सूत्रकार ने और तदनुसार टीकाकार ने भी प्रत्येक चूलिका की उत्थानिका अलग-अलग बांधी है। अतएव हमें यही उचित जंचा कि प्रत्येक चूलिका का सूत्रक्रम अपना अपना स्वतंत्र रखा जाय। हस्तलिखित प्रतियों और प्रस्तुत संस्करण में सूत्रसंख्याओं में जो वैषम्य है वह हस्त प्रतियों में संख्याएं देने में त्रुटियों के कारण उत्पन्न हुआ है। वहां कुछ सूत्रों पर कोई संख्या ही नहीं है, पर विषय की संगति और टीका को देखते हुए वे स्पष्टत: सूत्र सिद्ध होते हैं। कहीं कहीं एक ही संख्या दो बार लिखी गई है। इन सब त्रुटियों के निराकरण के पश्चात् जो व्यवस्था उत्पन्न हुई वही प्रस्तुत संस्करण में पाठका को दृष्टिगोचर होगी। यदि इसमें कोई दोष या अनाधिकार चेष्टा दिखाई दे तो पाठक कृपया हमें सूचित करें।

विषय परिचय (पु. ६)

षट्खंडागम के प्रथम खंड जीवस्थान के अन्तिम भाग को धवलाकार ने चूलिका कहा है। पूर्व में हुए अनुयोगों के कुछ विषम स्थलों का जहां विशेष विवरण किया जाय उसे चूलिका कहते हैं[१]। यहां चूलिका में नौ अवान्तर विभाग किये गये हैं जिनका परिचय इस प्रकार है -

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका

क्षेत्र, काल और अन्तर प्ररूपणाओं में जो जीव के क्षेत्र व काल सम्बन्धी नाना परिवर्तन बतलाये गये हैं वे विशेष कर्मबन्ध के द्वारा ही उत्पन्न हो सकते हैं। वे कर्मबन्ध

---

१ सम्मत्तेसु अट्ठसु अणियोगद्दारेसु चूलिया किमट्ठमागदा ? पुव्वुत्ताणमट्ठण्णमणिओगद्दाराणं विसमपएस विवरणट्ठमागदा। पु. ६, पृ.२. चूलिया णाम किं ? एक्कारसअणिओगद्दारेसु सूइदत्थस्स विसेसिऊण परूवणा चूलिया। खुद्दाबंध, अन्तिम महादंडक. उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्तनं चूलिका।गो. क. ३९८ टीका.

कौन से हैं, उन्हीं का व्यवस्थित और पूर्ण निर्देश इस चूलिका में किया गया है। यहां ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, इस क्रम से आठ प्रधान कर्मों का स्वरूप बतलाया गया है और फिर उनकी क्रमशः पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पांच प्रकृतियां बतलाई गयी हैं। नाम की ब्यालीस प्रकृतियों के भीतर चौदह प्रकृतियां ऐसी हैं जिनकी पुनः क्रमशः चार, पांच, पांच, पांच, पांच, छह, तीन, छह, पांच दो, पांच, आठ, चार और दो, इस प्रकार पैंसठ उत्तरप्रकृतियां हो गई हैं, अतएव नामकर्म के कुल भेद ६५ - २८ = ९३ हुए, जिससे आठों कर्मों की समस्त उत्तरप्रकृतियां एक सौ अड़तालीस (१४८) हुई हैं [१]। इसमें ४६ सूत्र हैं जिनका विषय आग्रायणीय पूर्व की चयनलब्धि के अन्तर्गत महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के सातवें अधिकार बंधन के बन्धविधान नामक विभागान्तर्गत समुत्कीर्तना अधिकार से लिया गया है [२]।

२. स्थानसमुत्कीर्तन चूलिका

प्रकृतियों की संख्या व स्वरूप जान लेने के पश्चात् यह जानना आवश्यक होता है कि उनमें से प्रत्येक मूलकर्म की कितनी उत्तर प्रकृतियाँ एक साथ बांधी जा सकती हैं और उनका बंध कौन-कौन से गुणस्थानों में संभव है। यह विषय स्थानसमुत्कीर्तन चूलिका में समझाया गया है। यहां सूत्रों में गुणस्थान निर्देश चौदह विभागों में न करके केवल संक्षेप के लिये छह विभागों में किया गया है - मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयता-संयत और संयत। इनमें के प्रथम पांच तो गुणस्थान क्रम से ही हैं, किन्तु अन्तिम विभाग संयत में छठवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के यथासंभव सभी गुणस्थानों का अन्तरभाव है जिनका उपपत्ति सहित विशेष स्पष्टीकरण धवलाकार ने किया है। ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियों का एक ही स्थान है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि से लेकर संयत तक सभी उन पांचों ही का बंध करते हैं। दर्शनावरण के तीन स्थान हैं। पहले स्थान में मिथ्यादृष्टि और सासादन जीव हैं जो समस्त नौ ही प्रकृतियों का बंध करते हैं दूसरे में सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि संयत तक के जीव हैं जो निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि, इन तीन को छोड़ शेष छह प्रकृतियों को बांधते हैं। तीसरे स्थान में वे संयत जीव हैं जो चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल, इन चार दर्शनावरणों का ही बंध करते हैं। वेदनीय का एक ही बंधस्थान है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि से लेकर संयत तक सभी जीव साता और असाता

---

१ देखो आगे दी हुई तालिका।

२ देखो पुस्तक १, पृ. १२७, व प्रस्तावना पृ. ७३

इन दोनों वेदनीयों का बंध करते हैं। मोहनीय कर्म के दस बन्धस्थान हैं। पहले स्थान में मिथ्यादृष्टि जीव हैं जो एक साथ बंध योग्य बाईस ही प्रकृतियों का बंध करते हैं। यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व उत्पन्न होते समय मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाने से सत्त्व में आ जाती हैं। तथा तीन वेदों और हास्य-रति व अरति - शोक इन दो युगलों में से एक साथ एक ही का बंध सम्भव होता है। मोहनीय के दूसरे बंधस्थान में सासादनसम्यग्दृष्टि जीव हैं जो उपर्युक्त बाईस में से एक नपुंसकवेद को छोड़ शेष इक्कीस प्रकृतियों का बंध करते हैं। तीसरे स्थान में सम्यग्मिथ्यादृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि जीव हैं जो उक्त इक्कीस में से चार अनन्तानुबंधी कषायों व स्त्रीवेद को छोड़ शेष सत्तरह का बंध करते हैं। चौथे स्थान में संयतासंयत जीव हैं जो चार अप्रत्याख्यान कषायों का भी बंध नहीं करते, केवल शेष तेरह का करते हैं। पांचवें स्थान में वे संयत जीव हैं जो चार प्रत्याख्यान कषायों का भी बंध नहीं करते, पर शेष नौ का करते हैं। छठवें स्थान में वे संयत जीव हैं जो मोहनीय की अन्य प्रकृतियों को छोड़ केवल चार संज्वलन और पुरुषवेद, इन पांच का ही बंध करते हैं। सातवें स्थान में वे संयत जीव हैं जो पुरुषवेद को भी छोड़ केवल संज्वलन चतुष्क को बांधते हैं। सातवें स्थान में वे संयत हैं जो क्रोध संज्वलन को छोड़ शेष तीन का ही बंध करते हैं नौवें स्थान वाले वे संयत हैं जो मान संज्वलन का भी बंध करना छोड़ देते हैं व केवल शेष दो का बंध करते हैं। दशवें स्थान में केवल लोभ संज्वलन का बंध करने वाले संयत हैं।

आयुकर्म की चारों प्रकृतियों के अलग-अलग चार बंधस्थान हैं - एक नरकायु को बांधनेवाले मिथ्यादृष्टि का; दूसरा तिर्यचायु को बांधने वाले मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टिका; तीसरा मनुष्यायु को बांधने वाले मिथ्यादृष्टि, सासादन व असंयतसम्यग्दृष्टिका; और चौथा देवायु को बांधनेवाले मिथ्यादृष्टि, सासादन, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत व संयतका यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव किसी भी आयु को नहीं बांधता।

नामकर्म के बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या के अनुसार आठ बंधस्थान हैं जिनमें क्रमशः ३१, ३०, २९, २८, २६, २५, २३ और १ प्रकृतियों का बंध किया जाता है। इन स्थानों का चार गतियों के अनुसार इस प्रकार निरूपण किया गया है - नरकगति और पंचेन्द्रिय पर्याप्त का बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव २८ प्रकृतियों को बांधता है (सूत्र ६२)। तिर्यंचगति सहित पंचेन्द्रिय पर्याप्त व उद्योतका बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव अथवा सासादन जीव एवं तिर्यंचगति सहित विकलेन्द्रिय पर्याप्त व उद्योत का बंध करता हुआ

मिथ्यादृष्टि जीव भिन्न प्रकार से ३० प्रकृतियों को बांधता है (सूत्र ६४, ६६, ६८)। तिर्यंचगति सहित पंचेन्द्रिय पर्याप्त का बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि या सासादनसम्यग्दृष्टि एवं तिर्यंचगति सहित विकलेन्द्रिय पर्याप्त का बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव भिन्न प्रकार से २९ प्रकृतियों को बांधता है (सूत्र ७०, ७२, ७४)। तिर्यंचगति सहित एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त और आताप या उद्योत का बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि २६ प्रकृतियों को बांधता है (सूत्र ७६)। तिर्यंचगति सहित एकेन्द्रिय पर्याप्त और बादर का सूक्ष्म का बंध करता हुआ, अथवा त्रस एवं अपर्याप्त का बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि भिन्न प्रकार से २५ प्रकृतियों को बांधता है। (सूत्र ७८,८०)। तिर्यंचगति सहित एकेन्द्रिय अपर्याप्त और बादर या सूक्ष्म का बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि २३ प्रकृतियां बांधता है। (सूत्र ८२) मनुष्य गति पंचेन्द्रिय और तीर्थंकर प्रकृतियों को बांधता हुआ असंयत सम्यग्दृष्टि जीव ३० प्रकृतियों का बंध करता है। मनुष्यगति सहित पंचेन्द्रिय पर्याप्त को बांधता हुआ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, सासादन व मिथ्यादृष्टि भिन्न प्रकार से २९ प्रकृतियों को बांधता है (सू.७८,८९, ९१)। मनुष्य गति सहित पंचेन्द्रिय अपर्याप्त को बांधता हुआ मिथ्यादृष्टि २५ प्रकृतियों का बंध करता है (सू.९३)। देवगति सहित पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, आहारक और तीर्थंकर प्रकृतियों का बंध करता हुआ अप्रमत्तसंयत या अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव ३१ प्रकृतियों को बांधता है (सू.९६)। वहीं जीव तीर्थंकर प्रकृति को छोड़कर ३० का एवं आहारक को भी छोड़कर २९ का बंध करता है (सू.९८, १००)। देवगति सहित पंचेन्द्रिय पर्याप्त तीर्थंकर को बांधता हुआ असंयतसम्यग्दृष्टि या संयतासंयत जीव भी २९ प्रकृतियों को बांधता है (सू. १०२)। देवगति सहित पंचेन्द्रिय पर्याप्त का बंध करता हुआ अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अथवा मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत व संयत जीव २८ प्रकृतियों का बंध करता है (सू. १०४, १०६)। जब संयत जीव यशःकीर्ति का बंध करता है तब केवल इस एक नामप्रकृति का ही बंध होता है (सू.१०८)। इस प्रकार यद्यपि एक साथ बांधने वाले प्रकृतियों की संख्या की अपेक्षा नामकर्म के आठ बंधस्थान हैं तथापि संस्थान, संहनन एवं विहायोगति आदि सात युगलों के विकल्पों से बंधस्थानों के भेद कई हजारों पर पहुंच गये हैं (देखो सू. ९०, ९१)।

गोत्रकर्म के केवल दो ही बंधस्थान हैं। मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि जीव नीचगोत्र का और शेष उच्च गोत्र का बंध करते हैं।

अन्तरायकर्म का केवल एक ही बंधस्थान है क्योंकिमिथ्यादृष्टि से लेकर संयत तक सभी जीव पांचों ही अन्तरायों का बंध करते हैं।

इस चूलिका का विषय भी प्रथम चूलिका के समान महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के बंधविधान के समुत्कीर्तना अधिकार से लिया गया है। इसकी सूत्रसंख्या ११७ है।

३. प्रथम महादंडक चूलिका

इस चूलिका में केवल दो सूत्र हैं जिनमें से एक में ऐसी प्रकृतियां बतलाने की प्रतिज्ञा की गई है जिन्हें प्रथमसम्यक्त्व को ग्रहण करने वाला जीव बांधता है, और दूसरे सूत्र में वे प्रकृतियां गिनाई गई हैं तथा यह भी प्रकट कर दिया गया है कि उनका स्वामी मनुष्य या तिर्यंच होता है। इन प्रकृतियों की संख्या ७३ है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि उक्त जीव आयुकर्म का बंध नहीं करता, एवं आसाता व स्त्री-नपुंसकवेदादि अशुभ प्रकृतियों को भी नहीं बांधता। धवलाकार ने यहां अपनी व्याख्या में सम्यक्त्वोन्मुख जीव के किस परिणामों में किस प्रकार विशुद्धता बढ़ती है और उससे किस प्रकार अशुभतम, अशुभतर व अशुभ प्रकृतियों का क्रमशः बंधव्युच्छेद होता है इसका विशद निरूपण किया है (देखो पृ. १३५-१३९), और अन्त में क्षयोपशम आदि पांच लब्धियों के निर्देश करने वाली गाथा को उद्धृत करके चूलिका समाप्त की है।

४. द्वितीय महादंडक चूलिका

जिस प्रकार प्रथम दंडक में तिर्यंच और मनुष्य प्रथमसम्यक्त्वोन्मुख जीवों के बंध योग्य प्रकृतियां बतलाई हैं, उसी प्रकार इस दूसरे महादंडक में प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख, देव और प्रथमादि छह पृथिवियों के नारकी जीवों के बंध योग्य प्रकृतियां गिनाई गई हैं। यहां भी सूत्रों की संख्या केवल दो ही है।

५. तृतीय महादंडक चूलिका

इस चूलिका में सातवीं पृथिवी के नारकी जीवों के सम्यक्त्वाभिमुख होने पर बंध योग्य प्रकृतियों का निर्देश किया गया है।

उपर्युक्त तीनों दडकों का विषय भी उपर्युक्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के समुत्कीर्तना अधिकार से लिया गया है।

६. उत्कृष्टस्थिति चूलिका

कर्मो का स्वरूप व उनके बंध योग्य स्थानों का ज्ञान हो जाने पर स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक बार बांधे हुए कर्म कितने काल तक जीव के साथ रह सकते हैं, सब कर्मो का स्थितिकाल बराबर ही है या कम बढ़, व सब जीव सब समय एक ही

समान कर्मस्थिति बांधते हैं या भिन्न-भिन्न, एवं बंध होते ही कर्म अपना फल दिखाने लगते हैं या कुछ काल पश्चात् ? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर आगे की दो अर्थात् उत्कृष्टस्थिति और जघन्यस्थिति चूलिका में दिये गये हैं। उत्कृष्टस्थिति चूलिका में यह बतलाया गया है कि भिन्न-भिन्न कर्मो का अधिक से अधिक बंधकाल कितना हो सकता है और कितने काल की उनमें आबाधा हुआ करती है अर्थात् बंध होने के कितने समय पश्चात् उनका विपाक प्रकट होता है। इस काल निर्देश के लिये आगे दी हुई तालिका देखिये। आबाधा के सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक कोडाकोडी सागर के बंध पर एक सौ वर्षो की आबाधा होती है। जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, असातावेदनीय व अन्तराय कर्मो का उत्कृष्ट स्थितिबंध तीस कोडाकोडी सागरोपमों का है तो इसी पर से जाना जा सकता है, कि उक्त कर्म बंध होने से तीन हजार वर्षो के पश्चात् उदय में आवेंगे। पर यह नियम आयुकर्म के लिये लागू नहीं होता क्योंकि वहां अधिक से अधिक आबाधा अधिक से अधिक भुज्यमान आयु के तृतीय भागप्रमाण ही हो सकती है (देखो सू. २९ टीका)। जिन कर्मो की स्थिति अन्त:कोडाकोड़ी सागरोपम की है उनकी आबाधा का प्रमाण एक अन्तर्मुहूर्त माना गया है (देखो सू. ३३-३४)। इस प्रकार आबाधाकाल को छोड़कर शेष समस्त कर्मस्थितिकाल में उन कर्मो का निषेक अर्थात् उदय में आकर गलन होता है जिसकी प्रक्रिया धवलाकार ने गणित के नियमानुसार विस्तार से समझाई है। इसमें आबाधाकाण्डक और नानागुणहानि आदि प्रक्रियायें ध्यान देने योग्य हैं (देखो सू ६ टीका)। इस चूलिका की सूत्रसंख्या ४४ है जिनके विषय का संग्रह महाकर्मप्रकृति के बंधविधानान्तर्गत स्थिति अधिकार अर्धच्छेद प्रकरण से किया गया है।

७. जघन्यस्थिति चूलिका

जिस प्रकार उपर्युक्त उत्कृष्टस्थिति चूलिका में कर्मो की अधिक से अधिक स्थिति व आबाधा आदि का विवरण दिया गया है, उस प्रकार जघन्यस्थिति चूलिका में कर्मो की कम से कम संभव स्थिति व आबाधा आदि का ज्ञान कराया गया है। यहां धवलाकार ने आदि में ही उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियोंके कर्मबंधों का कारण इस प्रकार बतलाया है कि परिणामों की उत्कृष्ट विशुद्धिसे जो कर्मबंध होता है उसमें स्थिति जघन्य पड़ती है और जितनी मात्रा में परिणामों में संक्लेश की वृद्धि होती है उतनी ही कर्मस्थिति की वृद्धि होती है। असाता बंध के योग्यपरिणाम को संक्लेश कहते हैं और सातावंध के योग्य परिणाम को विशुद्धि। दूसरे आचार्यो ने जो उत्कृष्ट स्थिति से नीचे-नीचे की स्थितियों को बांधनेवाले

जीव के परिणाम को विशुद्धि और जघन्यस्थिति से ऊपर-ऊपर की स्थितियों को बांधने वाले जीव के परिणाम को संक्लेश कहा है, उसे धवलाकार ठीक नहीं समझते, क्योंकि वैसा मानने पर तो जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध योग्य परिणामों को छोड़कर शेष मध्यम स्थितियों सम्बन्धी समस्त परिणाम संक्लेश और विशुद्धि दोनों कहे जा सकते हैं, और लक्षणभेद के बिना एक ही परिणाम को दो भिन्न रूप मानने में विरोध आता है। उन्होंने कषायवृद्धि को भी संक्लेश का लक्षण मानना उचित नहीं समझा, क्योंकि विशुद्धिकाल में भी तो कषायवृद्धि होना संभव है और उसी से सातावेदनीय आदि कर्मो का भुजाकार बंध होता है। ध्यान देने योग्य बात एक और यह है कि छठवें गुणस्थान तक जिस असातावेदनीय कर्म का बंध होता है उसकी जघन्य स्थिति एक सागरोपम के लगभग ३/७ भागप्रमाण होती है और जो सातावेदनीय कर्म सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में बांधा जाता है उसका भी जघन्य स्थितिबंध १२ मुहूर्त से कम नहीं होता। यद्यपि दर्शनावरणीय का बंध तीस कोड़ाकोड़ी सागर से घटकर अन्तर्मुहूर्त मात्र जघन्य स्थिति पर आ जाता है, पर शुभबंध होने के कारण सातावेदनीय कर्म की विशुद्धि के द्वारा भी उतनी अपवर्तना नहीं हो पाती।

(देखो सू.९ टीका)

सूत्रों में प्रकृति और स्थिति बंध का विचार तो खूब हुआ, पर प्रदेश और अनुभाव बंध का कहीं परिचय नहीं कराया गया ? इसका समाधान धवलाकार ने जघन्यस्थिति चूलिका के अन्त में किया है कि उक्त प्रकृति और स्थितिबंध की व्यवस्था से ही प्रदेश व अनुभाग बंध की व्यवस्था निकल आती है जिसे उन्होंने वहां समझा भी दिया है। उसी प्रकार उन्होंने सत्व, उदय और उदारीणाका स्वरूप भी बंधप्ररूपणा के आधार से समझा दिया है।

इस चूलिका में ४३ सूत्र हैं और यह विषय उत्कृष्टस्थिति चूलिका के समान अर्धच्छेद प्रकरण से लिया गया है।

८. सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका

इस चूलिका को इस समस्त ग्रंथ का प्राण कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। यहां सूत्र केवल १६ ही हैं पर उनमें संक्षेपरूप से यह महत्वपूर्ण समस्त विषय बड़ी ही सावधानी से सूचित कर दिया गया है। यह विषय चार अधिकारों में विभाजित है। पहले सात सूत्रों में यह बतलाया गया है कि कोई भी पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव अपने परिणामों

की विशुद्धता बढ़ाते हुए क्रमश: समस्त कर्मो की स्थिति को घटाते-घटाते जब अन्त:कोड़ाकोड़ी प्रमाण से भी कम कर लेता है तब फिर वह एक अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व का अवघट्टन करता है, अर्थात् उसकी अनुभागशक्ति का घटा कर उसका अन्तकरण करता है, जिससे मिथ्यात्व के तीन भाग हो जाते हैं सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। बस, यहीं उस जीव को प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

आगे के तीन सूत्रों में (८-१०) समस्त दर्शनमोहनीय कर्म के उपशमन के अधिकारी जीव का निर्देश किया गया है, जिसमें कहा गया है कि यह क्रिया चारों गतियों का कोई भी पंचेन्द्रिय संज्ञी गर्भोत्पन्न पर्याप्तक जीव कर सकता है।

फिर आगे सूत्र ११ में दर्शनमोह के क्षपण का प्रारंभ करने योग्य स्थान और परिस्थिति को बतलाया है कि अढ़ाई द्वीप-समुद्रों की केवल उन पन्द्रह कर्मभूमियों में दर्शनमोह का क्षपण प्रारंभ किया जा सकता है जहां जिन भगवान् केवली व तीर्थंकर विद्यमान हों। और १२ वें सूत्र में यह कह दिया है कि एक बार उक्त परिस्थिति में क्षपणा की स्थापना करके उसकी निष्ठापना अर्थात् पूर्ति चारों गतियों में से किसी भी गति में की जा सकती है। ऐसे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव की योग्यता सूत्र १३-१४ में बतलाई है कि जब वह क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के उन्मुख होता है तब वह आयुकर्म को छोड़ शेष सात कर्मो की स्थिति को अन्त:कोड़ाकोड़ी धवलाकार के स्पष्टीकरणानुसार पूर्व से बहुत हीन होती है।

आगे के सूत्र १५ और १६ में सकलचारित्र ग्रहण की योग्यता बतलाई गयी है कि उस समय जीव चारों घातिया कर्मो की स्थित तो अन्तर्मुहूर्त कर लेता है, किन्तु वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त एवं शेष की स्थिति भिन्न मुहूर्त करता है।

सूत्रकार के इस संक्षेप निर्देश को धवलाकार ने इतना विस्तार दियाहै और विषय को इतनी सूक्ष्मता, गम्भीरता और विशालता के साथ समझाया है जितना यह विषय और कहीं प्रकाशित साहित्य में अब तक हमारे देखने में नहीं आया। लब्धिसार का विवेचन भी इसके सन्मुख बहुत स्थूल दिखने लगता है।

धवलाकार ने पहले तो पांचों लब्धियों का स्वरूप समझाया है (पृ.२७४) और फिर सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के कितनी प्रकृतियों की सत्ता रहती है, उनमें कितना कैसा अनुभाग रहता है, किन प्रकृतियों का उदय रहता है व चारों गतियों में इनमें कितना क्या भेद

पड़ता है, इसका खूब खुलासा किया है (पृ. २०७-२१४) । इसके पश्चात् अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों की विशेषता समझाई है (पृ. २१५-२२२) । सूत्र ५ के आश्रय से उन्होंने यह बात विस्तार से बतलाई है कि उक्त परिणामों में विशुद्धि बढ़ने के साथ-साथ कर्मो का स्थिति व अनुभाग घात किस प्रकार व किस क्रम से होता है (पृ.२२२-२३०) । फिर मिथ्यात्व के अवघट्टन या अन्तरकरण की क्रिया समझाई है व उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होने तक गुणश्रेणी व गुणसंक्रमणादि कार्य बतलाये हैं, तथा पूर्वोक्त समस्त क्रियाओं के काल का अल्पबहुत्व पच्चीस पदों के दंडक द्वारा बतलाया है (पृ. २३१-२३७) ।

क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य क्षेत्र व जीव का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि जिन जीवों का पन्द्रह कर्मभूमियों में ही जन्म होता है, अन्यत्र नहीं, वे ही क्षपणा के योग्य होते हैं, और चूंकि तिर्यंच उक्त कर्मभूमियों के अतिरिक्त स्वयंप्रभ पर्वत के परभाग में भी उत्पन्न होते हैं, इससे तिर्यचमात्र क्षपणा के योग्य नहीं ठहरते (पृ. २४४-२४५) । यद्यपि जिस काल में जिन, केवली व तीर्थंकर हों वही काल क्षपणा की प्रस्थापना के योग्यहोता है ऐसा कहने से केवल दुषमासुषमा काल ही इसके योग्य ठहरता है, पर कृष्णादिक के तीसरी पृथ्वी से निकलकर तीर्थकरत्व प्राप्त करने की जो मान्यता है उसके अनुसार सुषमादुषमा काल में भी दर्शनमोह का क्षपण किया जा सकता है (पृ. २४६-२४७) । आगे दर्शनमोह के क्षपण करने के आदि में अनन्तानुबंधी के विसंयोजन से लगाकर जो स्थितिबंधापसरण, अनुभागबंधापसरण,स्थितिकांडकघात, अनुभागकांडकघात व गुणश्रेणी संक्रमण आदि कार्य होते हैं वे खूब विस्तार से समझाये हैं (पृ.२४५-२६६)। और फिर वे ही कार्य देशचारित्र सहित सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले के किस विशेषता को लेकर होते हैं यह बतलाया है (पृ.२६८-२८०) । वे ही कार्य सकलचारित्र की प्राप्ति में किस विशेषता को लेकर होते हें यह बतलाया है (पृ.२६८-२८०)। वे ही कार्य सकलचारित्र की प्राप्ति में किस विशेषता से होते हैं यह फिर आगे बतलाया है (पृ. २८१-३१७) । इससे आगे उपशांतकषाय से पतन होने का क्रमवार विवरण दिया गया है (पृ.३१७-३३१) और फिर पूर्वोक्त जो पुरुषवेद और क्रोधकषाय सहित श्रेणी चढ़ने का विधान कहा है उसमें अन्य कषायों व अन्य वेदों से चढ़ने पर क्या विशेषता उत्पन्न होती है यह बतलाया है (पृ.३३२-३३५) । तत्पश्चात् श्रेणी चढ़ने से उतरने तक की समस्त क्रियाओं के काल का अल्पबहुत्व कहा गया है । (पृ. ३३५-३४२) ।

अब चरित्रमोह की क्षणका का विधान आता है जिसमें अपूर्वकरण गुणस्थान से लेकर समय समय की क्रियाओं का विशद और सूक्ष्म निरूपण किया गया है और क्रमशः

आठ कषाय व निद्रानिद्रादिका संक्रमण, मन:पर्ययज्ञानावरणादिक का बन्ध से देशघातिकरण, चार संज्वलन और नौ नोकषायों का अन्तरकरण तथा नपुंसक व स्त्रीवेद तथा सात नोकषायों का संक्रमण बतलाया गया है (पृ. ३४४ - ३६४)। इसके आगे अश्वकर्णकरणकाल का निरूपण है जिसमें चारों कषायों के स्पर्द्धकों और फिर उनके अपूर्वस्पर्द्धकों तथा उनकी वर्गणाओं में अविभागप्रतिच्छेदों का वर्णन किया गया है (पृ. ३६४-३३८)। इसके पश्चात् अश्वकर्णकरण काल के प्रथम, द्वितीय व तृतीय समय के कार्यों का अल्पबहुत्व, अनुभाग सत्वकर्म का अल्पबहुत्व व अपूर्वस्पर्द्धकों का अल्पबहुत्व देकर अश्वकर्णकरण अन्तर्मुहूर्तकाल का विधान समाप्त किया गया है (३६९-३७३)। यहां अश्वकर्णकरण काल के अन्त में कर्मों के स्थितिबन्ध का प्रमाण बतलाकार कृष्टिकरण काल का विधान समझाया गया है जिसमें प्रथमसमयवर्ती कृष्टियों की तीव्र-मंदता का अल्पबहुत्व, कृष्टियों के अन्तरों का अल्पबहुत्व, कृष्टियों के प्रदेशाग्र की श्रेणी प्ररूपणा और कृष्टिकरणकाल के अन्त समय में संज्वलनादि कर्मों के स्थितिबन्ध का निरूपण खूब विशद हुआ है (पृ. ३७४-३८१)। कृष्टिकरणकाल में पूर्व और अपूर्व स्पर्धकों का वेदन होता है, कृष्टियों का नहीं। जब कृष्टिकरणकाल समाप्त हो जाता है, तब उनके वेदन का काल प्रारम्भ होता है, जिसमें कृष्टियों के बन्ध, उदय, अपूर्वकृष्टिनिर्माण, प्रदेशाग्रसंक्रमण एवं सूक्ष्मसाम्परायकृष्टियों का निर्माण किया जाता है। (पृ. ३८२ - ४०६)

यह जो विधान बतलाया गया है वह क्रोध कषाय व पुरुषवेद से उपस्थित होने वाले जीव का है। अब आगे क्रम से मान, माया व लोभ तथा स्त्रीवेद व नपुंकसवेद से उपस्थित हुए क्षपक की विशेषताएं बतलाई गई हैं (पृ. ४०७-४१०)। यह सब सूक्ष्मसाम्यपराय तक का कार्य हुआ जिसके अन्त में कर्मों के स्थितिबंध का प्रमाण बतलाकर आगे क्षीणकषाय गुणस्थान में होने वाले घातिया कर्मों की उदीरणा, निद्रा-प्रचला के उदय और सत्त्व का व्युच्छेद तथा अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के सत्त्व व उदय के व्युच्छेद का निर्देश करके सयोगकेवली गुणस्थान प्राप्त कराया गया है। (पृ. ४१०-४१२)

सयोगी जिन सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हुए एवं असंख्यातगुणश्रेणी द्वारा प्रदेशाग्रनिर्जरा करते हुए विहार करते हैं व आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर वे केवलिसमुद्घात करते हैं जिसकी दंड, कपाट, मंथ एवं लोकपूरण क्रियाओं में होने वाले कार्य बतलाये गये हैं (पृ. ४१२- ४१४)। इसके पश्चात् मन, वचन और काय योगों के निरोध का विधान है। सूक्ष्मकाय का निरोध करते समय अन्तर्मुहूर्त तक अपूर्वस्पर्द्धककरण और फिर अन्तर्मुहूर्त

तक कृष्टिकरण क्रियायें भी होती हैं जिनके अन्त में योग का पूर्णत: निरोध हो जाता है और सर्व कर्मों की स्थिति शेष आयु के बराबर हो जाती है। बस, यहीं जीव अयोगी हो जाता है जहां सर्व कर्माश्रव का निरोध, शैलेशी वृत्ति एवं समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति शुक्लध्यान होता है। इस अन्तर्मुहूर्त के द्विचरम समय में ७३ और अन्तिम समय में शेष १२ प्रकृतियों की सत्ता का विनाश हो जाने से जीव सर्व कर्मसे वियुक्त होकर सिद्ध हो जाता है।

सूत्रकार ने यह विषय दृष्टिवाद के पांच अंगों में से द्वितीय अंग सूत्र पर से संग्रह किया है (पुस्तक १, पृ. १३०, व प्रस्तावना पृ. ७४)। धवलाकार ने उसका जो विस्तार किया है उसके आधार का यद्यपि उन्होंने स्पष्टीकरण नहीं किया, पर मिलान से निश्चयत: ज्ञात होता है कि उन्होंने यह कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्रों से लिया है। यथार्थत: बहुतायत से उन्होंने उक्त चूर्णि सूत्रों को ही जैसा का तैसा उद्धृत किया है जैसा कि प्रस्तुत चूलिका में जगह जगह दी हुई टिप्पणियों पर से ज्ञात हो सकेगा।

९. गत्यागति चूलिका

इस चूलिका के चार विभाग किये जा सकते हैं। पहले ४३ सूत्रों में भिन्न भिन्न नारकी तिर्यंच, मनुष्य व देव जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण, जातिस्मरण व वेदना इन चार में से किन-किन कारणों द्वारा व कब सम्यक्त्व की प्राप्ति करते हैं इसका प्ररूपण किया गया है। आगे सूत्र ४४ से ७५ तक उक्त चारों गतियों में प्रवेश करने और वहांसे निकलने के समय जीव के कौन-कौन गुणस्थान होना संभव है इसका निर्देश किया गया है। सूत्र ७६ से २०२ तक यह बतलाया गया है कि उक्त गतियों से भिन्न-भिन्न गुणस्थानों सहित निकलकर जीव कौन-कौनसी गतियों में जा सकता है। फिर सूत्र २०३ से अन्तिम सूत्र २४३ तक यह बतलाया गया है कि उक्त चार गतियों के जीव उस गति से निकलकर जिस अन्य गति में जावेंगे वहां वे कौन कौन से गुण प्राप्त कर सकते हैं। ये चारों विषय आगे चार पृथक् तालिकाओं में स्पष्ट कर दिये गये हैं अतएव उनकेविषय में यहां विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है।

यह गत्यागति का विषय सूत्रकार ने दृष्टिवाद के पांच अंगों में प्रथम अंग परिकर्म के चन्द्र-प्रज्ञप्ति आदि पांच भेदों के अन्तिम भेद वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति) से ग्रहण किया है। (पुस्तक १ पृ. १३०)

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, स्थानसमुत्कीर्तन, तीनों दंडक व उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियों की तालिका

	प्रकृतिसमुत्कीर्तन		बन्धस्थान	प्रथम सम्यक्त्व अभिमुख के बन्धयोग्य है या नहीं	उत्कृष्ट		जघन्य	
	मूलप्रकृति	उ. प्रकृति			स्थिति	आबाधा	स्थिति	आबाधा
१	ज्ञानावरणीय	मतिज्ञानावरणादि ५	मिथ्यादृष्टि से लेकर सू. सा. संयम तक	है	३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	३ वर्ष सहस्र	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मु.
२	दर्शनावरणीय	१ नि नि. २ प्र प्र. ३ स्त्यान.	मिथ्यादृष्टि व सासादन	"	"	"	$\frac{3}{7}$ सा.x	"
		४ निद्रा ५ प्रचला	मिथ्यात्व से अपूर्वकरण के प्र सप्तम भाग	"	"	"	"	"
		६ चक्षुद ७ अचक्षु ८ अवधि ९ केवल.	मिथ्यात्व से सूक्ष्मसाम्पराय तक	"	"	"	अन्तर्मुहूर्त	"
३	वेदनीय	१ साता	मिथ्यात्व से सयोगी तक	"	१५ को	१ व स.	१२ मुहू	"
		२ असाता	मिथ्यात्व से प्रमत्त तक	नहीं	३०"	३ "	$\frac{3}{7}$ सा x	"
४	मोहनीय	१ सम्यक्त्व	x	x				
	(अ) दर्शनमोह	२ मिथ्यात्व	मिथ्यात्व	है	७० "	७ "	$\frac{1}{7}$ सा. x	"
		३ सम्यग्मि	x	x				
	(आ) चारित्रमो १ कसाय-वेदनीय	अनन्तानुबन्धी क्रोधादि ४	मिथ्यादृष्टि व सासादन	"	४० "	४ "	$\frac{4}{7}$ सा x	"
		अप्रत्याख्यान क्रोधादि ४	मिथ्यादृष्टि से असंयत सम्यग्दृष्टि तक	"	"	"	"	"
		प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि ४	मिथ्यादृष्टि से संयतासंयत तक	"	"	"	"	"

प्रकृतिसमुत्कीर्तन		बन्धस्थान	प्रथम सम्यक्त्व अभिमुख के बन्धयोग्य है या नहीं	उत्कृष्ट		जघन्य	
मूलप्रकृति	उ. प्रकृति			स्थिति	आबाधा	स्थिति	आबाधा
	संज्वलन क्रोध	मिथ्यादृष्टि से	है	४० को.	४ व स	२ मास	अन्तर्मु
	,, मान	अनि क तक					
	,, माया	,,	,,	,,	,,	१ मास	,,
	,, लोभ	सूक्ष्मसाम्पराय तक	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
(२) नोकषाय वेदनीय	१ स्त्रीवेद	मिथ्यादृष्टि और सासादन	नहीं	१५ को	१ १/२ व स	२/७ सा X	,,
	२ पुरुषवेद	अनिवृत्ति-करण तक	है	१० ,,	१ ,,	८ वर्ष	,,
	३ नपुंसकवेद	मिथ्यादृष्टि	नहीं	२० ,,	२ ,,	२/७ सा X	,,
	४ हास्य	अपूर्वक तक	हैं	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	५ रति	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	६ अरति	,,	नहीं	२० को.	२ व स	,,	,,
	७ शोक	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	८ भय	,,	हैं	,,	,,	,,	,,
	९ जुगुप्सा	,,	,,	,,	,,	,,	,,
५ आयु	१ नारकायु	मिथ्यादृष्टि	,,	३३ सा	१/३ पू को	१० व स	,,
	२ तिर्यंचायु	मिथ्यादृष्टि और सासादन	,,	३ पल्योपम	,,	क्षुद्रभव	,,
	३ मनुष्यायु	मिश्र को छोड़ असंयत तक	,,	,,	,,	,,	,,
	४ देवायु	अप्रमत्त तक	,,	३३ सा	,,	१० व स	,,
६ नाम (पिंडप्रकृतियां)							
१ गति	१ नरक	मिथ्यादृष्टि	नहीं	२० को सा	२ व स	२/७ सा X	,,
	२ तिर्यंच	मिथ्या.सासा	सावतीं पृथिवी के नारकी बांधते हैं	,,	,,	,,	,,
	३ मनुष्य	असंयत सम्य तक	देव नारकी	१५ को सा	१ १/२ व स	,,	,,
	४ देव	अप्रमत्त तक	तिर्यंच मनुष्य बांधते हैं	१० ,,	१ व स	,,	,,

X इसे पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन ग्रहण करना चाहिये।

प्रकृतिसमुत्कीर्तन		बन्धस्थान	प्रथम सम्यक्त्व अभिमुख के बन्धयोग्य है या नहीं	उत्कृष्ट		जघन्य	
मूलप्रकृति	उ. प्रकृति			स्थिति	आबाधा	स्थिति	आबाधा
(२) जाति	१ एकेन्द्रिय	मिथ्यादृष्टि	नहीं	२० को.	२ व स	२/७ सा. X	अन्तर्मु.
	२ द्वीन्द्रिय	,,	,,	१८ ,,	१ ४/५ ,,	,,	,,
	३ त्रीन्द्रिय	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	४ चतुरिन्द्रिय	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	५ पंचेन्द्रिय	अपूर्वकरण तक	है	२० ,,	२ ,,	,,	,,
(३) शरीर ५ (४) शरीर-बंधन ५ (५) शरीर-संघात ५	१ औदारिक	असं सम्य तक	देव नारकी बांधते हैं	,,	,,	,,	,,
	२ वैक्रियिक	अपूर्व तक	तिर्य.मनुष्य	,,	,,	२/७ सा. X	,,
	३ आहारक	अप्रमत्त और अपूर्वकरण	नहीं	अन्तः-कोड़ाकोड़ी	अन्तर्मुहूर्त	अन्तः कोड़ाकोड़ी	,,
	४ तैजस	अपूर्वक तक	है	२० को	२ व स	२/७ सा X	,,
	५ कार्मण	,,	,,	,,	,,	,,	,,
(६) शरीर संस्थान	१ समचतुरस्र	अपूर्वक.तक	है	१० ,,	१ ,,	१/७ सा X	,,
	२ न्यग्रोध-परिमंडल	मिथ्या सासा	नहीं	१२ ,,	१ १/५ ,,	,,	,,
	३ स्वाति	,,	,,	१४ ,,	१ २/५	,,	,,
	४ कुब्जक	,,	,,	१६ ,,	१ ३/५	,,	,,
	५ वामन	,,	,,	१८ ,,	१ ४/५ ,,	,,	,,
	६ हुंड	मिथ्यादृष्टि	,,	२० ,,	२ ,,	,,	,,
(७) शरीरां गोपांग	१ औदारिक	असयंत सम्य.तक	देव नारकी बांधते हैं	,,	,,	,,	,,
	२ वैक्रियिक	अपूर्व तक	तिर्य.मनुष्य बांधते हैं	,,	,,	,,	,,
	३ आहारक	अप्रमत्त अपूर्वकरण	नहीं	अन्त.-कोड़ाकोड़ी	अन्तर्मुहूर्त	अन्त.-कोड़ाकोड़ी	,,
(८) शरीर	१ वज्रभूषण-नाराच	असंयत सम्य.तक	देवनारकी बांधते हैं	१० को.	१ व.स.	२/७ सा. X	,,
	२ वज्रनाराच	मिथ्या.सासा	,,	१२ ,,	१ १/५ ,,	,,	,,
	३ नाराच	,,	,,	१४ ,,	१ २/५	,,	,,
	४ अर्धनाराच	,,	,,	१६ ,,	१ ३/५	,,	,,
	५ कीलिक	,,	,,	१८ ,,	१ ४/५ ,,	,,	,,
	६ असंप्राप्त सेबर्त	मिथ्यादृष्टि	,,	२० ,,	२ ,,	,,	,,

X इसे पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन ग्रहण करना चाहिये।

प्रकृतिसमुत्कीर्तन		बन्धस्थान	प्रथम सम्यक्त्व अभिमुख के बन्धयोग्य है या नहीं	उत्कृष्ट		जघन्य	
मूलप्रकृति	उ. प्रकृति			स्थिति	आबाधा	स्थिति	आबाधा
(९) वर्ण	५ कृष्णादि	अपूर्व.तक	है	२० को	२ व.स	$\frac{२}{७}$ सा X	अन्तर्मु.
(१०) गंध	१ सुरभि २ दुरभि	,,	,,	,,	,,	,,	,,
(११) रस	५ तिक्तादिक	,,	,,	,,	,,	,,	,,
(१२) स्पर्श	८ कर्कशादि	,,	,,	,,	,,	,,	,,
(१३) आनु-पूर्वी	१ नरकगति	मिथ्यादृष्टि	,,	,,	,,	,,	,,
	२ तिर्यंचगति	मिथ्या सासा	७ वें नरक के जीव बांधते हैं	,,	,,	,,	,,
	३ मनुष्यगति	असंयत सम्य तक	देव नारकी बांधते हैं	१५ को	१ $\frac{१}{२}$ व स	,,	,,
	४ देवगति	अपूर्व तक	तिर्यंच मनुष्य बांधते हैं	१० ,,	१ ,,	,,	,,
(१४) विहायो-गति	१ प्रशस्त	,,	है	,,	,,	,,	,,
	२ अप्रशस्त	मिथ्या सासा	नहीं	२० ,,	२ ,,	,,	,,
(अपिंड प्रकृतियां)	१ अगुरुलघु	अपूर्व तक	है	,,	,,	,,	,,
	२ उपघात	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	३ परघात	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	४ उच्छ्वास	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	५ आताप	मिथ्यादृष्टि	नहीं	,,	,,	,,	,,
	६ उद्योत	मिथ्या सासा	७ वें नरक के जीव विकल्प से बांधते हैं	,,	,,	,,	,,
	७ त्रस	अपूर्व. तक	है	,,	,,	,,	,,
	८ स्थावर	मिथ्यादृष्टि	नहीं	,,	,,	,,	,,
	९ बादर	अपूर्व तक	है	,,	,,	,,	,,
	१० सूक्ष्म	मिथ्यादृष्टि	नहीं	१८ ,,	१ $\frac{४}{५}$,,	,,	,,

X इसे पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन ग्रहण करना चाहिये।

प्रकृतिसमुत्कीर्तन		बन्धस्थान	प्रथम सम्यक्त्व अभिमुख के बन्धयोग्य है या नहीं	उत्कृष्ट		जघन्य	
मूलप्रकृति	उ. प्रकृति			स्थिति	आबाधा	स्थिति	आबाधा
	११ पर्याप्त	अपूर्वक तक	है	२० को	२ व स	$\frac{२}{७}$ सा X	अन्तर्मु.
	१२ अपर्याप्त	मिथ्यादृष्टि	नहीं	१८ ,,	१ $\frac{४}{५}$,,	,,	,,
	१३ प्रत्येक-शरीर	अपूर्वक.तक	है	२० ,,	२ ,,	,,	,,
	१४ साधारण शरीर	मिथ्यादृष्टि	नहीं	१८ ,,	१ $\frac{४}{५}$,,	,,	,,
	१५ स्थिर	अपूर्वक तक	है	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	१६ अस्थिर	प्रमत्तसं ,,	नहीं	२० ,,	२ ,,	,,	,,
	१७ शुभ	अप्रपूर्वक ,,	हैं	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	१८ अशुभ	प्रमत्तसं ,,	नहीं	२० ,,	२ ,,	,,	,,
	१९ सुभग	अपूर्वक ,,	है	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	२० दुर्भग	मिथ्या सासा	नहीं	२० ,,	२ ,,	,,	,,
	२१ सुस्वर	अपूर्वक तक	है	१० ,,	१	,,	,,
	२२ दु स्वर	मिथ्या सासा	नहीं	२० ,,	२ ,,	,,	,,
	२३ आदेय	अपूर्वक तक	है	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	२४ अनादेय	मिथ्या सासा	नहीं	२० ,,	२ ,,	,,	,,
	२५ यश कीर्ति	सूक्ष्मसा तक	है	१० ,,	१ ,,	८ मुहूर्त	,,
	२६ अयश -	प्रमत्तसं ,,	नहीं	२० ,,	२ ,,	$\frac{२}{७}$ सा X	,,
	२७ निर्माण	अपूर्वक ,,	है	,,	,,	,,	,,
	२८ तीर्थंकर	असंयत सम्यग्दृष्टि से अपूर्वकरण तक	नहीं	अन्तः-कोड़ाकोड़ी	अन्तर्मुहूर्त	अन्तः-कोड़ाकोड़ी	,,
७ गोत्र	१ उच्च	सूक्ष्मसा तक	है	१० को	१ व.स.	८ मुहूर्त	,,
	२ नीच	मिथ्या सासा.	७ वें नरक के जीव बांधते हैं	२० ,,	२ ,,	$\frac{२}{७}$ सा. X	,,
८ अंतराय	५ दानान्तरायादि	सूक्ष्मसा तक	है	३० ,,	३ ,,	अन्तर्मुहूर्त	,,

X इसे पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन ग्रहण करना चाहिये।

स्थानसमुत्कीर्तनचूलिकानुसार स्थानक्रम से प्रकृतियों का बन्ध

१. मिथ्यादृष्टि जीव द्वारा बन्धयोग्य प्रकृतियां

५. ज्ञानावरणीय, ९ दर्शनावरणीय, २ वेदनीय, मिथ्यात्व, १६ कषाय, अन्यतम वेद, हास्य और रति, अथवा अरति और शोक, भय और जुगुप्सा, ये २२ मोहनीय, ४ आयु, नरकगति आदि २८ नामकर्म सूत्र (६१) अथवा तिर्यंचगति आदि ३०, २९, २६, २५, या २३ नामकर्म (सूत्र ६६-८३) अथवा मनुष्यगति आदि २९ या २५ नामकर्म (सूत्र ९१-९४) अथवा देवगति आदि २८ नामकर्म (सूत्र १०६), नीच या उच्चगोत्र, और ५ अन्तराय।

२. सासादन जीव द्वारा बन्धयोग्य प्रकृतियां

५ ज्ञानावरणीय, ९ दर्शनावरणीय, २ वेदनीय, १६ कषाय, स्त्री व पुरुष वेद में से अन्यतर वेद, हास्य और रति अथवा अरति और शोक, भय और जुगुप्सा, ये २१ मोहनीय, नारकायु को छोड़ शेष ३ आयु, मनुष्यगति आदि २९ नामकर्म (सूत्र १०६), नीच या उच्च गोत्र, और ५ अन्तराय।

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव द्वारा बन्धयोग्य प्रकृतियां

५ ज्ञानावरणीय, निद्रानिद्रादि ३ को छोड़ शेष ६ दर्शनावरणीय, २ वेदनीय, अप्रत्याख्यानादि १२ कषाय, पुरुषवेद, हास्य और रति, अथवा अरति और शोक, भय और जुगुप्सा, ये १७ मोहनीय, यहां आयुबन्ध होता नहीं, मनुष्यगति आदि २९ नामकर्म (सूत्र ८७), उच्च गोत्र, और ५ अन्तराय।

४. असंयतसम्यग्दृष्टि जीव द्वारा बन्धयोग्य प्रकृतियां

५. ज्ञानावरणीय, निद्रानिद्रादि को छोड़ शेष ६ दर्शनावरणीय,२ वेदनीय, मिश्र के अनुसार १७ मोहनीय, मनुष्य और देव आयु मनुष्यगति आदि ३० नामकर्म (सूत्र ८५ - ८६) अथवा २९ नामकर्म (सूत्र ८७) अथवा देवगति आदि २९ नामकर्म (सूत्र १०२), उच्च गोत्र और ५ अन्तराय।

५. संयतासंयत जीव द्वारा बन्धयोग्य प्रकृतियां

५ ज्ञानावरणीय, निद्रानिद्रादि ३ को छोड़ शेष ६ दर्शनावरणीय, २ वेदनीय, प्रत्याख्यानावरणादि ८ कषाय एवं मिश्र के अनुसार शेष ५, ये १३ मोहनीय, देवायु, देवगति आदि २९ नामकर्म (सूत्र १०२), उच्चगोत्र और ५ अन्तराय।

६. संयत जीव द्वारा बन्धयोग्य प्रकृतियां

५ ज्ञानावरणीय सूक्ष्मसाम्पराय तक। निद्रानिद्रादि ३ को छोड़ शेष ६ दर्शनावरणीय अपूर्वकरण के प्रथम सप्तम भाग तक, तथा निद्रानिद्रादि ५ को छो ड़ शेष ४ अपूर्वकरण के द्वितीय भाग से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय तक। असातावेदनीय प्रमत्तसंयत तक, तथा सातावेदनीय सयोगी तक। ४ संज्वलन कषाय एवं मिश्र के अनुसार पुरुषवेदादि ५ ये ९ मोहनीय प्रमत्त से लेकर अपूर्वकरण तक, एवं ४ संज्वलन और पुरुषवेद ये पांच मोहनीय अनिवृत्तिकरण तक, तथा इसी युगस्थान में क्रमशः पुरुषवेदरहित ४ संज्वलन, क्रोध संज्वलन को छोड़ केवल ३ संज्वलन, एवं क्रोध मान को छोड़ केवल २ संज्वलन, सूक्ष्मसाम्पराय में केवल एक लोभसंज्वलन मोहनीय। देवायु अप्रमत्त गुणस्थान तक। देवगति आदि ३१, ३०, २९ या २८ नामकर्म अप्रमत्त व अपूर्वकरण संयत के (सूत्र ९६-१०४), यशःकीर्ति नामकर्म अपूर्वकरण के ७ वें भाग से सूक्ष्मसाम्पराय संयत तक। उच्च गोत्र सक्ष्मसाम्पराय तक। ५ अन्तराय सूक्ष्मसाम्पराय तक।

३. भिन्न भिन्न गतियों में सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण

(गत्यागति चूलिका सूत्र १-४३)

गति	जिनबिंबदर्शन	धर्मश्रवण	जातिस्मरण	वेदना	काल
नरक					
प्रथम पृथ्वी	X	,,	,,	,,	पर्याप्त होने से
द्वितीय ,,	X	,,	,,		अन्तर्मुहूर्त पश्चात्
तृतीय ,,	X	,,	,,	,,	,,
चतुर्थ ,,	X	X	,,	,,	,,
पंचम ,,	X	X	,,	,,	,,
षष्ठ ,,	X	X	,,	,,	,,
सप्तम ,,	X	X	,,	,,	,,
तिर्यंच (पं.सं.ग..प.)	,,	,,	,,	X	दिवसपृथक्त्व के पश्चात्
मनुष्य (ग.प.)	,,	,,	,,	X	
प. देव भवनवासी से शतार-सहस्रार	जिनमहिमदर्शन	,,	,,	देवर्द्धिदर्शन	अन्तर्मुहूर्त ,,
आनत-अच्युत	,,	,,	,,	X	,,
नव ग्रैवेयक ग्रैवेयकों से ऊपर देव नियम से सम्यक्त्वी ही होते हैं	X	,,	,,	X	,,

४. गतियों में प्रवेश और निर्गमनसम्बन्धी गुणस्थान

(गत्यागति चूलिका सूत्र ४४-७५)

गति	प्रवेश कालीन गुणस्थान	निर्गम कालीन गुणस्थान		
नरक				
पृथम पृथ्वी के नारकी	मिथ्यात्व	मिथ्यात्व	सासादन	सम्यक्त्व
	सम्यक्त्व	सम्यक्तव	X	X
द्वितीय से छठवीं पृथ्वी तक के नारकी	मिथ्यात्व	मिथ्यात्व	सासादन	सम्यक्त्व
सातवीं पृथ्वी के नारकी	,,	,,	X	X
तिर्यंच-मनुष्य-देव				
पंचेन्द्रिय तिर्यंच	,,	,,	सासादन	सम्यक्त्व
पर्याप्त व	सासादन	,,	,,	,,
अपर्याप्त	सम्यक्तव	सम्यक्तव	X	X
पंचेन्द्रिय तिर्यंच				
योनिमती				
मनुष्यिनी				
भवनवासी देव-देवियां	मिथ्यात्व	मिथ्यात्व	सासादन	सम्यक्त्व
व्यंतर ,,	सासादन	,,	X	,,
ज्योति ,,				
सौधर्म-ईशानवासी देवियां				
मनुष्य पर्याप्त व	मिथ्यात्व	,,	सासादन	,,
अपर्याप्त तथा सौधर्म	सासादलन	,,	,,	,,
से नौ ग्रेवेयक	सम्यक्त्व	,,	,,	,,
तक के देव				
अनुदिशों से				
सर्वार्थसिद्धि	,,	,,	X	X
तक के देव				

जीव किस गति से किस गति में जाता है

(गत्यागति चूलिका सूत्र ७६ - २०२)

निर्गमन करने वाला जीव भेद	प्राप्त करने योग्य गतियाँ				
	नरक	तिर्यंच	मनुष्य	देव	विशेष
नारकी					
मिथ्यादृष्टि	x	पं.सं.ग.प. संख्या	ग.प. संख्या.	x	
सासादन	x	,,	x	x	
सम्यग्मिथ्यादृष्टि	x	x	x	x	निर्गमन नहीं होता
सम्यग्दृष्टि	x	x	ग.प. संख्या	x	
सप्तम पृथिवीस्थ मिथ्यादृष्टि	x	पं.सं.ग.प.संख्या	x	x	सप्तम पृथिवी में केवल मिथ्यात्व से ही निर्गमन होता है।
तिर्यंच					
सं.पं.पं. संख्या मिथ्यादृष्टि	सर्व	सर्व	सर्व	भवनवासी से शतार-सहस्रार तक	
असंज्ञी पं. प.	प्रथम पृथिवी	,,	,,	भवन व्यंतर	
१ पं. सं. अप. २ पं असं. अप. ३ पृथिवी. बा. सू.प.अ. ४ जल. ,, ५ वन. निगोद ,, ६ वन. बा. प्र. प. अप. ७ द्वी.प.अ. ८ त्री. ,, ९ चतु. ,,	x	सर्व संख्या	सर्व संख्या	x	
तैज. बा.सू.प. अप. वायु ,, ,,	x	,,	x	x	
सासादन संख्या	x	एकइं. (पृथि.जल. वन. प्र. बा.सू.), पं.सं.ग.प. संख्या.	ग.प.संख्या. असंख्या.	भवन से शतार सहस्रार तक	
सम्यग्मिथ्या. संख्या. असंख्या.	x	x	x	x	निर्गमन नहीं होता

निर्गमन करने वाला जीव भेद	प्राप्त करने योग्य गतियाँ				
	नरक	तिर्यंच	मनुष्य	देव	विशेष
सम्यग्दृष्टि	X	X	X	सौ.ई.से आरण अच्युत तक	
मिथ्यादृष्टि असंख्या	X	X	X	भवन, व्यंतर ज्योतिषी	
सासादन असंख्या	X	X	X	,,	
सम्यग्दृष्टि असंख्या	X	X	X	सौधर्म ईशान	
मनुष्य					
मनुष्य मिथ्या. संख्या	सर्व	सर्व	सर्व	भवन से नौ ग्रैवे. तक	
मनुष्य प. संख्या	,,	,,	,,	,,	
मनुष्य अप. संख्या	X	,,	,,	X	
सासादन संख्या	X	एकेन्द्रिय (बा. पृथि., जल, वन.प्र.पर्याप्त) पंचेन्द्रिय सं.ग. प. संख्या असंख्या	ग.प. संख्या असंख्या	भवन से नौ	
सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्या असंख्या	X	X	X	X	
सम्यग्दृष्टि संख्या	X	X	X	सौ.ई.से सर्वार्थ सिद्धि तक	बद्धायुष्कों की विवक्षा नहीं
मिथ्या असंख्या	X	X	X	भवन व्यंतर, ज्योतिषी	
सासादन असंख्या	X	X	X	,,	
सम्यग्दृष्टि असंख्या	X	X	X	सौधर्म ईशान	
देव					
भवनत्रिक व सौधर्म ईशान कल्पवासी मिथ्यादृष्टि	X	एके. (बा.पृ.ज. वन.)सं.ग.प.पं.	ग.प. संख्या	X	
सासादन	X	,,	,,	X	
सम्यग्मिथ्या	X	X	X	X	
सम्यग्दृष्टि	X	X	ग.प.संख्या	X	
सनत्कु. से शतार-सहस्रार	X	पं.सं.ग.प.संख्या	,,	X	प्रथम पृथिवी समान
मिथ्या. सासादन	X	X	X	X	
सम्यग्मिथ्या	X	X	X	X	
सम्यग्दृष्टि	X	X	ग.प. संख्या	X	
आनतसे नौ ग्रैवेयक मिथ्या सासादन असंयतस	X	X	,,	X	
सम्यग्मिथ्या	X	X	X	X	
अनुदिश से सर्वार्थ सम्यग्दृष्टि	X	X	ग.प. संख्या	X	

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टई सासुणिसासु ।
केवलणाणु वि परिणवइ अंबरि जाहं णिवासु ।।

षट्. २

खुद्दाबन्ध

- विषय परिचय
- बन्धक सत्व प्ररूपणा
- महादण्ड चूलिका

(षट्खंडागम पुस्तक क्र. ७ की प्रस्तावना)

क्या षट्खंडागम जीवट्ठाण की सत्प्ररूपणा के सूत्र ९३ में 'संयत' पद अपेक्षित नहीं है ?

षट्खंडागम जीवट्ठाण सत्प्ररूपणा के सूत्र ९३ का जो पाठ उपलब्ध प्रतियों में पाया गया था उसमें संयत पद नहीं था। किन्तु उसका सम्पादन करते समय सम्पादकों को यह प्रतीत हुआ कि वहां 'संयत' पद होना अवश्य चाहिये और इसीलिये उन्होंने फुटनोट में सूचित किया है कि "अत्र 'संजद' इति पाठशेष: प्रतिभाति।" तथा हिन्दु अनुवाद में संयत पद ग्रहण भी किया है। इस पर कुछ पाठकों ने शंका भी उत्पन्न की थी, जिसका समाधान पुस्तक ३ की प्रस्तावना के पृष्ठ २८ पर किया गया है। इस समाधान में ध्यान देने योग्य बातें ये हैं कि एक तो उक्त सूत्र की धवला टीका में जो शंका-समाधान किया गया है वह मनुष्यनी के चौदहों गुणस्थान ग्रहण करके ही किया गया है। दूसरे, सत्प्ररूपणा के आलापाधिकार में भी धवलाकार ने सामान्य मनुष्यनी व पर्याप्त मनुष्यनी के अलग-अलग चौदहों गुणस्थान प्ररूपित किये हैं। तीसरे द्रव्यप्रमाणादि प्ररूपणाओं में भी सर्वत्र मनुष्यनी के चौदहों गुणस्थान कहे गये हैं। और चौथे गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी मनुष्यनी के चौदहों गुणस्थानों की ही परम्परा पाई जाती है, पांच गुणस्थानों की नहीं। इन प्रमाणों पर से स्पष्ट है कि यदि उक्त सूत्र में संयत पद ग्रहण न किया जाय तो शास्त्र में एक बड़ी भारी विषमता उत्पन्न होती है। अतएव षट्खंडागम के सम्पादन में जो वहां संयत पद की सूचना करके भाषान्तर किया गया वह सर्वथा उचित और आवश्यक था।

किन्तु मनुष्यनी के कहीं भी केवल पाँच गुणस्थानों का उल्लेख न पाकर कुछ लोग इसी सूत्र को स्त्रियों के केवल पांच गुणस्थानों की योग्यता का मूलाधार बनाना चाहते हैं। परन्तु इसके लिये उन्हें उपर्युक्त चार बातों का उचित समाधान करना आवश्यक है जो वे अभी तक नहीं कर सके। एक हेतु यह दिया जाता है कि प्रस्तुत सूत्र में मनुष्यनी का अर्थ द्रव्य स्त्री स्वीकार करना चाहिये और द्रव्यप्रमाणादि में जहां मनुष्यनी के चौदहों गुणस्थान बतलाये गये हैं वहां भाव स्त्री अर्थ लेना चाहिये। किन्तु ऐसा करने पर शास्त्र में यह विषमता उत्पन्न होगी कि उक्त प्रकरण में जिन जीवों के गुणस्थान बतलाये, उनका द्रव्यप्रमाण नहीं बतलाया गया, और जिनका द्रव्यप्रमाण बतलाया है उनके सब गुणस्थानों का सत्त्व ही प्रतिपादित नहीं किया, तथा धवलाकार ने वह शंका-समाधान अप्रकृत रूप से किया एवं आलापाधिकार भी निराधार रूप से लिखा। पर धवलाकार ने स्वयं अन्यत्र यह स्पष्ट कर

दिया है कि जिन जीवों के जो गुणस्थान प्रतिपादित किये गये हैं, उन्हीं जीवों के उसी प्रकार द्रव्यप्रमाणादि बतलाये गये हैं। उदाहरणार्थ, सत्प्ररूपणा के ही सूत्र २६ में जो तिर्यंचों के पांच गुणस्थान कहे गये हैं वहां धवलाकार शंका उठाते हैं कि तिर्यंच तो पांच प्रकार के होते हैं - सामान्य, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, तिर्यंचनी और अपर्याप्त। इनमें से किनके पांच गुणस्थान होते हैं यह सूत्र ज्ञात नहीं हो सका ? इसका वे समाधान इस प्रकार करते हैं।

न तावदपर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्येक्षु पंच गुणा सन्ति, लब्ध्यपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिव्यतिरिक्तशेषगुणा-सम्भवात् । तत्कुतोऽवगम्यते इति चेत् 'पंचिंदियतिक्खिअपज्जत्तमिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिय ? 'असंखेज्जा' इति तत्रैकस्यैव मिथ्यादृष्टिगुणस्य संख्यायाः प्रतिपादकार्षात्। शेषेवु पंचापि गुणस्थानानि सन्ति, अन्यथा तत्र पंचानां गुणस्थानानां संख्यादिप्रतिपादकद्रव्याद्यार्षस्याप्रामाण्यप्रसंगात्। (पुस्तक १, पृ.२०८-२०९)

इस शंका-समाधान से ये बातें सुस्पष्ट हो जाती है कि सत्त्वप्ररूपणा और द्रव्यप्रमाणादि प्ररूपणाओं का इस प्रकार अनुषंग है कि जिन जीवसमासों का जिन गुणस्थानों में द्रव्यप्रमाण बतलाया गया है उनमें उन गुणस्थानों का सत्त्व भी स्वीकार किया जाना अनिवार्य है, और यदि वह सत्त्व स्वीकार नहीं किया तो वह द्रव्यप्रमाण प्ररूपण ही अनार्ष हो जावेगा। यही बात द्रव्यप्रमाण के प्रारम्भ में भी कही गई है कि -

संपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणपडिबोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।" (पुस्तक ३ पृ. १)

अर्थात् जिन चौदह जीव समासों का अस्तित्व शिष्यों ने जान लिया है उन्हीं का परिमाण बतलाने के लिये भूतबलि आचार्य आगे सूत्र कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्यनी के सत्व में केवल पांच और द्रव्यप्रमाणादि प्ररूपण में चौदह गुणस्थानों के प्रतिपादन की बात बन नहीं सकती। और यदि उनका द्रव्यप्रमाण चौदहों गुणस्थानों में कहा जाना ठीक है, तो यह अनिवार्य है कि उनके सत्त्व में भी चौदहों गुणस्थान स्वीकार किये जाय।

एक बात यह भी कही जाती है कि जीवट्ठाण की सत्प्ररूपणा पुष्पदन्ताचार्य कृत है और शेष प्ररूपणायें भूतबलि आचार्य की। अतएव संभव है कि पुष्पदन्ताचार्य को मनुष्यनी के पांच ही गुणस्थान इष्ट हों। किन्तु यह बात भी संभव नहीं है, क्योंकि यदि उक्त सूत्र में पांच गुणस्थान ही स्वीकार किये जांय तो उसका उसी सत्प्ररूपणा के सूत्र १६४-१६५ से विरोध पड़ेगा जहां स्पष्टतः सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य और मनुष्यनी, इन तीनों के

असंयत संयतासंयत व संयत, इन सभी गुणस्थानों में क्षायिक, वेदक और उपशम सम्यक्त्व स्वीकार किया गया है। यथा -

मणुसा असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसम सम्माइट्ठी ॥ एवं मणुसपज्जत्त-मणुसणीसु ॥ १६४-१६५।

इन सूत्रों के सद्भाव में स्वयं पुष्पदन्तकृत सत्प्ररूपणा में ही मनुष्यनी के संयत गुणस्थान व तीनों सम्यक्त्वों का सद्भाव स्वीकार किया है।

इन सब प्रमाणों व युक्तियों से स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणा के सूत्र ९३ में संयत पद का ग्रहण करना अनिवार्य है। यदि उसका ग्रहण नहीं किया जाय तो शास्त्र में बड़ी विषमता और विरोध उत्पन्न हो जाता है। इस परिस्थिति में यदि उसी सूत्र के आधार पर स्त्रियों के केवल पांच ही गुणस्थानों की मान्यता स्थिर की जाती है तो कहना पड़ेगा कि यह मान्यता एक स्खलित और त्रुटित पाठ के आधार से होने के कारण भ्रान्त और अशुद्ध है।

मूडविद्री की ताड़पत्रीय प्रतियों में जीवट्ठाण की सत्प्ररूपणा के सूत्र ९३ में 'संजद' पाठ है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार उपलब्ध प्रतियों में उक्त सूत्र के अन्तर्गत 'संजद' पाठ न होने पर भी सम्पादकों ने उसे ग्रहण करना आवश्यक समझा और उस पर उत्तरोत्तर विचार करने पर भी उसके विना अर्थ की संगति बैठाना असम्भव अनुभव किया। किन्तु कुछ विद्वान इस कल्पना पर बेहद रूष्ट हो रहे हैं और लेखों, शास्त्रार्थों व चर्चाओं में नाना प्रकार के आक्षेप कर रहे हैं। प्रथम भाग के एक सहयोगी सम्पादक पं. हीरालालजी शास्त्री ने तो प्रकट भी कर दिया है कि उस पाठ के रखने में उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं है। दूसरे सहयोगी पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री ने उसके सम्बन्ध में कुछ भी न कहकर मौन धारण कर लिया है। इस कारण समालोचकों ने उसके सम्बन्ध में कुछ भी न कहकर मौन धारण कर लिया है। इस कारण समालोचकों ने प्रधान सम्पादक को ही अपने क्रोध का एक मात्र लक्ष्य बना रखा है। इस परिस्थिति को देखकर प्रधान सम्पादक ने मूडविद्री की ताड़पत्रीय प्रतियों से उस सूत्र के पुन: सावधानी से मिलान कराने का प्रयत्न किया। पुस्तक ३ के 'प्राक्कथन' व 'चित्र-परिचय' के पढ़ने से पाठकों को सुविदित हो ही चुका है कि मूडविदी में धवलसिद्धान्त की एक ही नहीं तीन ताड़पत्रीय प्रतियां हैं, यद्यपि

इनमें की दो में ताड़पत्र पूरे पूरे न होने से वे त्रुटित हैं। इन तीनों प्रतियों का सावधानी से अवलोकन करके श्रीयुत् पं. लोकनाथ जी शास्त्री अपने ता. २४.५.४५ के पत्र द्वारा सूचित करते हैं कि -

"जीवट्ठाण भाग १ पृष्ठ नं. ३३१ में सूत्र ताड़पत्रीय मूलप्रतियों में इस प्रकार है -

'तत्रैव शेषगुणस्थानविषयारेकापोहनार्थमाह - सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्मानइट्ठि संजदासंजद संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओं।'

टीका वही है जो मुद्रित पुस्तक में है। धवला की दो ताड़पत्रीय प्रतियों में सूत्र इसी प्रकार 'संजद' पद से युक्त है। तीसरी प्रति में ताड़पत्र ही नहीं है। पहले संशोधन-मुकाबिला करके भेजते समय भी लिखकर भेजा था। परन्तु रहा कैसा, सो मालूम नहीं पड़ता, सो जानियेगा।"

ताड़पत्रीय प्रतियों के इस मिलान पर से पाठक समझ सकेंगे कि षट्खंडागम का पाठ संशोधन कितनी सावधानी और चिन्तन के साथ किया गया है। तीसरे भाग की प्रस्तावना में हम लिख ही चुके थे कि उस भाग में हमने जिन १९ पाठों की कल्पना की थी उनमें से १२ पाठ जैसे के तैसे ताड़पत्रीय प्रतियों में पाये गये और शेष पाठ उनमें न पाये जाने पर भी शैली और अर्थ की दृष्टि से उनका वहां ग्रहण किया जाना अनिवार्य है। अब उक्त सूत्र में भी 'संजद' पाठ मिल जाने से मर्मज्ञ पाठकों को संतोष होगा और समालोचक विचार कर देखेंगे कि उनके आक्षेपादि कहां तक न्यायसंगत थे। जिनके पास प्रतियां हों उन्हें उक्त सूत्र में संजद पाठ सम्मिलित करके अपनी प्रति शुद्ध कर लेना चाहिये।

विषय-परिचय (पु.७)

पूर्व प्रकाशित छह पुस्तक में षट्खंडागम का प्रथम खंड 'जीवट्ठाण' प्रकट हो चुका है। प्रस्तुत पुस्तक में दूसरा खंड 'खुद्दाबंध' पूरा समाविष्ट है। इस खंड का विषय उसके नाम से ही सूचित हो जाता है कि इसमें क्षुद्र अर्थात् संक्षिप्त रूप से बंध अर्थात् कर्मबन्ध का प्रतिपादन किया गया है। पाठकों को इस बृहत्काय ग्रंथ में बन्ध का विवरण देखकर स्वभावत: यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि इसे क्षुद्र व संक्षिप्त विवरण क्यों कहा? किन्तु संक्षिप्त और विस्तृत आपेक्षिक संज्ञाएं हैं। भूतबलि आचार्य ने प्रस्तुत खंड में बन्धक अनुयोग का व्याख्यान केवल १५८९ सूत्रों में किया है जब कि उन्होंने बंधविधान का

विस्तार से व्याख्यान छठवें खंड महाबन्ध में तीस हजार ग्रंथरचना रूप से किया। इन्हीं दोनों खंडों की परस्पर विस्तार व संक्षेप की अपेक्षा से छठा खंड 'महाबंध' कहलाया और प्रस्तुत खंड खुद्दाबंध या क्षुद्रकबन्ध।

खुद्दाबन्ध की उत्पत्ति प्रथम पुस्तक की प्रस्तावना के पृ. ७२ पर दिखाई जा चुकी है और उसके विषय व अधिकारों का निर्देश उसी प्रस्तावना के पृष्ठ ६५ पर कर दिया गया है। उसके अनुसार बारहवें श्रुताङ्ग दृष्टिवाद के चतुर्थ भेद पूर्वगत का जो दूसरा पूर्व आग्रायणीय था उसकी पूर्वान्त आदि चौदह वस्तुओं में पंचम वस्तु 'चयनलब्धि' के कृति आदि चौबीस पाहुडों में से छठे पाहुड बन्धन के बन्ध, बन्धनीय, बन्धक और बन्धविधान नामक चार अधिकारों में से 'बन्धक' अधिकार से इस खंड की उत्पत्ति हुई है।

कर्मबन्ध के कर्त्ता हैं जीव जिनकी प्ररूपणा जीवट्ठाण खण्ड में सत् संख्या आदि आठ अनुयोग द्वारों के भीतर मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थानों द्वारा व गति आदि चौदह मार्गणाओं में की जा चुकी है। प्रस्तुत खण्ड में उन्हीं जीवों की प्ररूपणा स्वामित्त्वादि ग्यारह अनुयोगों द्वारा गुणस्थान विशेषण को छोड़कर मार्गणास्थानों में की गई है। यही इन दोनों खण्डों में विषय प्रतिपादन की विशेषता है। इस खण्ड के ग्यारह अनुयोगद्वारों का नामनिर्देश स्वामित्त्वानुगम के दूसरे सूत्र में किया गया है जिनके नाम हैं - (१) एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व (२) एक जीव की अपेक्षा काल (३) एक जीव की अपेक्षा अन्तर (४) नाना जीवों की अपेक्षा भंग-विचय (५) द्रव्यप्रमाणानुगम (६) क्षेत्रानुगम (७) स्पर्शनानुगम (८) नाना जीवों की अपेक्षा काल (९) नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर (१०) भागाभागानुगम और (११) अल्पबहुत्वानुगम। इनसे पूर्व प्रस्ताविक रूप से बंधकों के सत्त्वकी भी प्ररूपणा की गई है और अन्त में ग्यारहों अनुयोग द्वारों की चूलिका रूप से 'महादंडक' दिया गया है। इस प्रकार यद्यपि खुद्दाबन्ध के प्रधान ग्यारह ही अधिकार माने गये हैं, किन्तु यथार्थतः उसके भीतर तेरह अधिकारों में सूत्र रचना पाई जाती है जिनके विषय का परिचय इस प्रकार है —

बन्धक - सत्त्वप्ररूपणा

इस प्रस्तावना-रूप प्ररूपणा में केवल ४३ सूत्र हैं जिनमें चौदह मार्गणाओं के भीतर कौन जीव कर्मबन्ध करते हैं और कौन नहीं करते यह बतलाया गया है। सब मार्गणाओं का मथितार्थ यह निकलता है कि जहां तक योग अर्थात् मन, वचन, काय की क्रिया विद्यमान है वहां तक सब जीव बन्धक हैं, केवल अयोगी मनुष्य और सिद्ध अबन्धक हैं।

१. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व

इस अधिकार में ९१ सूत्र हैं जिनमें बतलाया गया है कि मार्गणाओं सम्बन्धी गुण व पर्याय जीव के कौन से भावों से प्रकट होते हैं। इनमें सिद्धगति व तत्सम्बन्धी अकायत्व आदि गुण, केवलज्ञान, केवलदर्शन व अलेश्यत्व तो क्षायिक लब्धि से उत्पन्न होते हैं। एकेन्द्रिय आदि पांचों जातियां, मन वचन काय योग, मति, श्रुत अवधि और मन: पर्यय ज्ञान, परिहारशुद्धि संयम, चक्षु, अचक्षु व अवधि दर्शन, सम्यग्मिथ्यात्व और संज्ञित्व ये क्षयोपशम लब्धिजन्य हैं। अपगतवेद, अकषाय, सूक्ष्मसाम्पराय व यथाख्यात संयम, ये औपशमिक तथा क्षायिक लब्धि से प्रकट होते हैं। सामाजिक व छेदोपस्थापन संयम और सम्यग्दर्शन औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक लब्धि से प्राप्त होते हैं। तथा भव्यत्व, अभव्यत्व एवं सासादनसम्यक्त्व, ये पारिणामिक भाव हैं। शेष गति आदि समस्त मार्गणान्तर्गत जीवपर्याय अपने अपने कर्मों के व विरोधक कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं। सूत्र ११ की टीका में धवलाकार ने एक शंका के आधार से जो नाम कर्म की प्रकृतियों के उदयस्थानों का वर्णन किया है वह उपयोगी है।

२. एक जीवकी अपेक्षा काल

इस अनुयोग द्वार में २१६ सूत्र हैं जिनमें प्रत्येक गति आदि मार्गणा में जीव की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति का निरूपण किया गया है। जीवस्थान में जो काल की प्ररूपणा की गई है वह गुणस्थानों की अपेक्षा है, किन्तु यहां गुणस्थान का विचार छोड़कर मार्गणा की ही अपेक्षा काल बतलाया गया है यही इन दोनों में विशेषता है।

३. एक जीव की अपेक्षा अन्तर

इस अनुयोग द्वार के १५१ सूत्रों में यह प्रतिपादन किया गया है कि एक जीव का गति आदि मार्गणाओं के प्रत्येक अवान्तर भेद से जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल अर्थात् विहरकाल कितने समय का होता है।

४. नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय

इस अनुयोगद्वार में केवल २३ सूत्र हैं। भंग अर्थात् प्रभेद और विचय अर्थात् विचारणा। अतएव प्रस्तुत अधिकार में यह निरूपण किया गया है कि भिन्न भिन्न मार्गणाओं में जीव नियम से रहते हैं या कभी रहते हैं और कभी नहीं भी रहते हैं। जैसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में जीव सदैव नियम से रहते ही हैं, किन्तु मनुष्य अपर्याप्त

कभी होते भी हैं और कभी नहीं भी होते। उसी प्रकार इन्द्रिय, काय, योग आदि मार्गणाओं में भी जीव सदैव रहते ही हैं, केवल वैक्रियिक मिश्र[२], आहार[३] व आहारमिश्र[४] काययोगों में, सूक्ष्मसाम्पराय[५] संयम में तथा उपशम[६], सासादन[७] व सम्यग्मिथ्यादृष्टि[८] समयक्त्व में, कभी जीव रहते हैं और कभी नहीं भी रहते। इस प्रकार उक्त आठ मार्गणाएं सान्तर हैं और शेष समस्त मार्गणाएं निरन्तर हैं (देखो गो. जी. गाथा १४२)

५. द्रव्यप्रमाणनुगम

इस अनुयोगद्वार के १७१ सूत्रों में भिन्न-भिन्न मार्गणाओं के भीतर जीवों का संख्यात्, असंख्यात व अनन्त रूप से अवसर्पिणी उत्सर्पिणी आदि काल प्रमाणों से अपहार्य व अनपहार्य रूप से एवं योजन, श्रेणी, प्रतर व लोक के यथायोग्य भागांश व गुणित क्रम रूप से प्रमाण बतलाया गया है। पूर्व निदेशानुसार जीवस्थान के द्रव्यप्रमाण व इस अधिकार के प्ररूपण में विशेषता केवल इतनी ही है कि यहां गुणस्थान की अपेक्षा नहीं रखी गई।

६. क्षेत्रानुगम

इस अनुयोगद्वार में १२४ सूत्रों में चौदह मार्गणानुसार सामान्यलोक, अधोलोक, उर्ध्वलोक, तिर्यग्लोक व मनुष्यलोक, इन पांचों लोकों के आश्रय से स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, सात समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा वर्तमान निवास की प्ररूपणा की गई है। पूर्व के समान यहां भी गुणस्थानों की अपेक्षा नहीं रखी गई।

७. स्पर्शनानुगम

इस अनुयोगद्वार में २७४ सूत्रों में गुणस्थानक्रम को छोड़कर केवल चौदह मार्गणाओं के अनुसार सामान्यादि पांच लोकों की अपेक्षा स्वस्थान, समुद्धात व उपपाद पदों से वर्तमान व अतीत काल सम्बन्धी निवास की प्ररूपणा की गई है।

८. नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम

इस अनुयोगद्वार में ५५ सूत्रों में चौदह मार्गणानुसार नाना जीवों की अपेक्षा अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त व सादि-सान्त कालभेदों को लक्ष्य कर जीवों की कालप्ररूपणा की गई है।

९. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम

इस अनुयोगद्वार में ६८ सूत्रों में चौदह मार्गणानुसार नाना जीवों की अपेक्षा बन्धकों के जघन्य व उत्कृष्ट अन्तरकाल की प्ररूपणा की गई है।

१०. भागाभागानुगम

इस अनुयोगद्वार में ८८ सूत्रों में चौदह मार्गणाओं के अनुसार सर्व जीवों की अपेक्षा बन्धकों के भागाभाग की प्ररूपणा की गई है। यहाँ भाग से अभिप्राय अनन्तवें भाग, असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग से, तथा अभाग से अभिप्राय अनन्त बहुभाग, असंख्यात बहुभाग व संख्यात बहुभाग से है। उदाहरण स्वरूप 'नारकी जीव सब जीवों की अपेक्षा कितने भाग प्रमाण हैं ?' इस प्रश्न के उत्तर में उन्हें सब जीवों के अनन्तवें भाग प्रमाण बतलाया गया है।

११. अल्पबहुत्वानुगम

इस अनुयोगद्वार में २०५ सूत्रों में चौदह मार्गणाओं के आश्रय से जीवसमासों का तुलनात्मक प्रमाणप्ररूपण किया गया है। इस प्रकरण में एक यह बात ध्यान देने योग्य है कि सूत्रकार ने वनस्पतिकाय जीवों से निगोद जीवों का प्रमाण विशेष अधिक बतलाया है जिसका अभिप्राय धवलाकार ने यह प्रकट किया है कि जो एकेन्द्रिय जीव निगोद जीवों से प्रतिष्ठित हैं उनका वनस्पतिकाय जीवों के भीतर ग्रहण नहीं किया गया। यहां शंकाकार के यह पूछने पर कि उक्त जीवों की वनस्पति संज्ञा क्यों नहीं मानी गई, धवलाकार ने उत्तर दिया है कि "यह प्रश्न गौतम से करो, हमने तो यहां उनका अभिप्राय कह दिया।" (पृ. ५४१)

इन ग्यारह अधिकारों के पश्चात् एक अधिकार चूलिकारूप महादंड का है जिसके ७९ सूत्रों में मार्गणा विभाग को छोड़कर गर्भोपक्रान्तिक मनुष्य पर्याप्त से लेकर निगोद जीवों तक के जीवसमासों का अल्पबहुत्व प्रतिपादन किया है और उसी के साथ क्षुद्रकबन्ध खण्ड समाप्त होता है।

प्रप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सयलु क्वहारु ।
एक्कु सु जोइय झाइयइ जो तइलोयहंसारु ।।

षट्. ३

बन्धस्वामित्व-विचय

- विषय परिचय
- ओघ (गुणास्थानुसार प्ररूपण)
- आदेश (मार्गणानुसार प्ररूपण)
- विशेष व्यवस्थाएँ

(षटखंडागम पुस्तक क्र. ८ की प्रस्तावना)

विषय-परिचय (पु.८)

इस खण्ड का नाम बन्धस्वामित्व-विचय है, जिसका अर्थ है बन्ध के स्वामित्व का विचय अर्थात् विचारणा, मीमांसा या परीक्षा। तदनुसार यहां यह विवेचन किया गया है कि कौन सा कर्मबन्ध किस किस गुणस्थान में व मार्गणास्थान में सम्भव है। इस खण्ड की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है -

कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में छठवें अनुयोगद्वार का नाम बन्धन है। बन्धन के चार भेद हैं - बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। बन्धविधान चार प्रकार का है - प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश। इनमें प्रकृतिबन्ध दो प्रकार का है - मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृतिबन्ध। सत्प्ररूपणा पृष्ठ १२७ के अनुसार उत्तर प्रकृतिबन्ध भी दो प्रकार का है, एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबन्ध। एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध के समुत्कीर्तनादि चौबीस अनुयोगद्वार हैं जिनमें बारहवां अनुयोगद्वार बन्धस्वामित्व-विचय है।

इस खण्ड में ३२४ सूत्र हैं। प्रथम ४२ सूत्रों में ओघ अर्थात् केवल गुणस्थानानुसार प्ररूपण है, और शेष सूत्रों में आदेश अर्थात् मार्गणानुसार गुणस्थानों का प्ररूपण किया गया है। सूत्रों में प्रश्नोत्तर क्रम से केवल यह बतलाया गया है कि कौन-कौन प्रकृतियां किन-किन गुणस्थानों में बन्ध को प्राप्त होती हैं। किन्तु धवलाकार ने सूत्रों को देशामर्शक मानकर बन्धव्युच्छेद आदि सम्बन्धी तेवीस प्रश्न और उठाये हैं और उनका समाधान करके बन्धोदयव्युच्छेद, स्वोदय-परोदय, सान्तर-निरन्तर, सप्रत्यय-अप्रत्यय, गति-संयोग व गति-स्वामित्व, बन्धाध्वान, बन्ध-व्युच्छित्तिस्थान, सादि-अनादि व ध्रुव-अध्रुव बन्धों की व्यवस्था का स्पष्टीकरण कर दिया है, जिससे विषय सर्वांगपूर्ण प्ररूपित हो गया है। इस प्ररूपणा की कुछ विशेष व्यवस्थायें इस प्रकार हैं :-

सान्तरबन्धी — एक समय बंधकर द्वितीय समय में जिनका बन्ध विश्रान्त हो जाता है वे सान्तरबन्धी प्रकृतियां हैं। वे ३४ हैं - असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति, शोक, नरकगति, एकेन्द्रियादि ४ जाति, समचतुरस्रसंस्थान को छोड़ शेष ५ संस्थान, वज्रर्षभवनाराच-संहनन को छोड़ शेष ५ संहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशकीर्ति।

निरन्तरबन्धी — जो प्रकृतियां जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त काल तक निरन्तर रूप से बंधती हैं वे निरन्तरबन्धी हैं। वे ५४ हैं - ध्रुवबन्धी ४७ (देखिये पृ.३), आयु ४, तीर्थकर, आहारकशरीर और आहारकशरीरांगोपांग।

सान्तर-निरन्तरबन्धी — जो जघन्य से एक समय और उत्कर्षक: एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त के आगे भी बंधती रहती हैं वे सान्तर-निरन्तरबन्धी प्रकृतियां हैं। वे ३२ हैं — सातावेदनीय, पुरुषवेद, हास्य, रति, तिर्यगति, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक-शरीर, वैक्रियिकशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिकशरीरांगोपांग, वैक्रियिकशरीरांगोपांग, वज्रर्षभ-संहनन, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति, नीचगोत्र और ऊंचगोत्र।

गतिसंयुक्त — प्रश्न के उत्तर में यह बतलाया गया है कि विवक्षित प्रकृति के बन्ध के साथ चार गतियों में कौन सी गतियों का बन्ध होता है। जैसे - मिथ्यादृष्टि जीव ५ ज्ञानावरण को चारों गतियों के साथ, उच्चगोत्र को मनुष्य व देवगति के साथ, तथा यशकीर्ति को नरकगति के बिना शेष ३ गतियों से संयुक्त बांधता है।

गतिस्वामित्व में विवक्षित प्रकृतियों को बांधनेवाले कौन-कौन सी गतियों के जीव हैं, यह प्ररूपित किया गया है। जैसे - ५ ज्ञानावरण को मिथ्यादृष्टि से असंयत गुणस्थान तक चारों गतियों के, संयतासंयत तिर्यंच व मनुष्य गति के, तथा प्रमत्तादि उपरिम गुणस्थानवर्ती मनुष्यगति के ही जीव बांधते हैं।

अध्वान में विवक्षित प्रकृति का बन्ध किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक होता है, यह प्रगट किया गया है। जैसे - ५ ज्ञानावरण का बन्ध मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक होता है।

सादि बन्ध — विवक्षित प्रकृति के बन्ध का एक बार व्युच्छेद हो जाने पर तो उपशमश्रेणी से भ्रष्ट हुए जीव के पुन: उसका बन्ध प्रारम्भ हो जाता है वह सादि बन्ध है। जैसे - उपशान्तकषाय गुणस्थान से भ्रष्ट होकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान को प्राप्त हुए जीव के ५ ज्ञानावरण का बन्ध।

अनादि बन्ध — विवक्षित कर्म के बन्ध के व्युच्छित्तिस्थान को नहीं प्राप्त हुए जीव के जो उसका बन्ध होता है वह अनादि बन्ध कहा जाता है। जैसे - अपने बन्धव्युच्छित्ति स्थान रूप सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय से नीचे सर्वत्र ५ ज्ञानावरण का बन्ध।

ध्रुव बन्ध — अभव्य जीवों के जो ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का बन्ध होता है वह अनादि अनन्त होने से ध्रुव बन्ध कहलाता है।

ध्रुवबन्धी प्रकृतियां ४८ हैं — ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, १६ कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस व कार्मण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और ५ अन्तराय।

अध्रुव बन्ध — भव्य जीवों के जो कर्मबन्ध होता है वह विनश्वर होने से अध्रुव बन्ध है।

अध्रुवबन्धी प्रकृतियां - ध्रुबन्धी प्रकृतियों मे से शेष ७३ प्रकृतियां अध्रुवबन्धी हैं।

इनमें ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों प्रकार तथा शेष प्रकृतियों का सादि व अध्रुव बन्ध ही होता है।

उक्त व्यवस्थायें यथासम्भव आगे की तालिकाओं में स्पष्ट की गई हैं -

बन्धोदय-तालिक

संख्या	प्रकृति	स्वोदयबन्धी आदि	सान्तरबन्धी आदि	बन्ध किस गुणस्थान से किस गुण-स्थान तक	उदय किस गुणस्थान से किस गुण-स्थान तक	पृष्ठ
१-५	ज्ञानावरण ५	स्वो-बन्धी	निरन्तरबन्धी	१-१०	१-१२	७
६-९	चक्षुदर्शनावरणादि ५	,,	,,	,,	,,	,,
१०-११	निद्रा, प्रचला	स्व.परो.	,,	१-८	,,	३५
१२-१४	निद्रानिद्रादि ३	,,	,,	१-२	१-६	३०
१५	सातावेदनीय	,,	सा.निर.	१-१३	१-१४	३८
१६	असातावेदनीय	,,	सान्तरबन्धी	१-६	,,	४०
१७	मिथ्यात्व	स्वो.	नि.	१	१	४२
१८-२१	अनन्तानुबन्धी ४	स्व-परो.	,,	१-२	१-२	३०

संख्या	प्रकृति	स्वोदयबन्धी आदि	सान्तरबन्धी आदि	बन्ध किस गुणस्थान से किस गुण-स्थान तक	उदय किस गुणस्थान से किस गुण-स्थान तक	पृष्ठ
२२-२५	अप्रत्याख्यानावरण ४	,,	,,	१-४	१-४	४६
२६-२९	प्रत्याख्यानावरण ४	,,	,,	१-५	१-५	५०
३०-३२	संज्वलनक्रोधादि ३	,,	,,	१-९	१-९	५२-५५
३३	संज्वलनलोभ	,,	,,	,,	१-१०	५८
३४-३५	हास्य, रति	स्व-परो.	सा निर.	१-८	१-८	९५
३६-३७	अरति, शोक	,,	सा.	१-६	,,	४०
३८-३९	भय, जुगुप्सा	,,	नि.	१-८	,,	५९
४०	नपुंसकवेद	,,	सा	१	१-९	४२
४१	स्त्रीवेद	,,	,,	१-२	,,	३०
४२	पुरुषवेद	,,	सा.नि.	१-९	,,	५२
४३	नारकायु	परो	नि.	१	१-४	४२
४४	तिर्यगायु	स्व-परो.	,,	१-२	१-५	३०
४५	मनुष्यायु	,,	,,	१, २, ४	१-१४	६१
४६	देवायु	परो.	,,	१-७ (३ को छोड़)	१-४	६४
४७	नरकगति	,,	सा.	१	,,	४२
४८	तिर्यग्गति	स्व.परो.	सा नि.	१-२	१-५	३०
४९	मनुष्यगति	,,	,,	१-४	१-१४	४६
५०	देवगति	परो.	,,	१-८	१-४	६६
५१-५४	एकेन्द्रियादि ४ जाति	स्व.परो.	सा.	१	१	४२
५५	पंचेन्द्रिय जाति	,,	सा.नि.	१-८	१-१४	६६
५६	औदारिकशरीर	,,	,,	१-४	१-१३	४६

संख्या	प्रकृति	स्वोदयबन्धी आदि	सान्तरबन्धी आदि	बन्ध किस गुणस्थान से किस गुण-स्थान तक	उदय किस गुणस्थान से किस गुण-स्थान तक	पृष्ठ
५७	वैक्रियिकशरीर	परो.	,,	१-८	१-४	६६
५८	आहारकशरीर	,,	नि.	७-८	६	७१
५९	तैजसशरीर	स्वो.	,,	१-८	१-१३	६६
६०	कार्मणशरीर	,,	,,	,,	,,	,,
६१	औदारिकअंगोपांग	स्व-परो.	सा.नि.	१-४	,,	४६
६२	वैक्रियिकअंगोपांग	परो.	,,	१-८	१-४	६६
६३	आहारकअंगोपांग	,,	नि.	७-८	६	७१
६४	निर्माण	स्वो.	नि.	१-८	१-१३	६६
६५	समचतुरस्रसंस्थान	स्व.परो.	सा.नि.	,,	,,	,,
६६	न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान	,,	सा	१-२	,,	३०
६७	स्वातिसंस्थान	,,	,,	,,	,,	,,
६८	कुब्जकसंस्थान	स्व -परो.	सा	१-२	१-१३	३०
६९	वामनसंस्थान	,,	,,	,,	,,	,,
७०	हुण्डकसंस्थान	,,	,,	१	,,	४२
७१	वज्रवृषभनाराचसंहनन	,,	सा.नि.	१-४	,,	४६
७२	बज्रनाराचसंहनन	,,	सा	१-२	१-११	३०
७३	नाराचसंहनन	,,	,,	,,	,,	,,
७४	अर्धनाराचसंहनन	,,	,,	,,	१-७	,,
७५	कीलितसंहनन	,,	,,	,,	,,	,,
७६	असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन	,,	,,	१	,,	४२
७७	स्पर्श	स्वो.	नि.	१-८	१-१३	६६

संख्या	प्रकृति	स्वोदयबन्धी आदि	सान्तरबन्धी आदि	बन्ध किस गुणस्थान से किस गुण-स्थान तक	उदय किस गुणस्थान से किस गुण-स्थान तक	पृष्ठ
७८	रस	,,	,,	,,	,,	,,
७९	गन्ध	,,	,,	,,	,,	,,
८०	वर्ण	,,	,,	,,	,,	,,
८१	नरकगत्यानुपूर्वी	परो.	सा.	१	१, २, ४	४२
८२	तिर्यग्गत्यानुपूर्वी	स्व.परो.	सा.नि.	१-२	,,	३०
८३	मनुष्यगत्यानुपूर्वी	,,	,,	१-४	,,	४६
८४	देवगत्यानुपूर्वी	परो.	,,	१-८	,,	६६
८५	अगुरुलघु	स्वो.	नि.	,,	१-१३	,,
८६	उपघात	स्व.परो.	,,	,,	,,	,,
८७	परघात	,,	सा.नि.	,,	,,	,,
८८	आताप	,,	सा.	१	१	४२
८९	उद्योत	,,	,,	१-२	१-५	३०
९०	उच्छ्वास	,,	सा.नि.	१-८	१-१३	६६
९१	प्रशस्तविहायोगति	,,	,,	,,	,,	,,
९२	अप्रशस्तविहायोगति	स्व.परो.	सा.	१-२	१-१३	३०
९३	प्रत्येकशरीर	,,	सा.नि.	१-८	,,	६६
९४	साधारणशरीर	,,	सा.	१	१	४२
९५	त्रस	,,	सा.नि.	१-८	१-१४	६६
९६	स्थावर	,,	सा.	१	१	४२
९७	सुभग	,,	सा.नि.	१-८	१-१४	६६
९८	दुर्भग	,,	सा.	१-२	१-४	३०
९९	सुस्वर	,,	सा.नि.	१-८	१-१३	६६

संख्या	प्रकृति	स्वोदयबन्धी आदि	सान्तरबन्धी आदि	बन्ध किस गुणस्थान से किस गुण-स्थान तक	उदय किस गुणस्थान से किस गुण-स्थान तक	पृष्ठ
१००	दुस्वर	,,	सा.	१-२	,,	३०
१०१	शुभ	स्वो.	सा.नि.	१-८	,,	६६
१०२	अशुभ	,,	सा	१-६	,,	४०
१०३	बादर	स्व परो	सा.नि.	१-८	१-१४	६६
१०४	सूक्ष्म	,,	सा.	१	१	४२
१०५	पर्याप्त	,,	सा नि.	१-८	१-१४	६६
१०६	अपर्याप्त	,,	सा	१	१	४२
१०७	स्थिर	स्त्रो.	सा.नि	१-८	१-१३	६६
१०८	अस्थिर	,,	सा.	१-६	,,	४०
१०९	आदेश	स्व परो.	सा नि	१-८	१-१४	६६
११०	अनादेय	,,	सा.	१-२	१-४	३०
१११	यशकीर्ति	,,	सा नि.	१-१०	१-१४	७
११२	अयशकीर्ति	,,	सा.	१-६	१-४	४०
११३	तीर्थकर	परो.	नि.	४-८	१३-१४	७३
११४	उच्चगोत्र	स्व.परो.	सा.नि.	१-१०	१-१४	७
११५	नीचगोत्र	,,	,,	१-२	१-५	३०
११६-२०	अन्तराय ५	स्वो.	नि.	१-१०	१-१२	७

प्रत्यय-तालिक (पृ. १९-२४)

गुणस्थन	मिथ्यात्व ५	अविरति १२	कषाय २५	योग १५	समस्त ५७
मिथ्यात्व	५	१२	२५	१३ आहारद्विक से रहित	५५

प्रत्यय-तालिक (पृ. १९-२४)

गुणस्थन	मिथ्यात्व ५	अविरति १२	कषाय २५	योग १५	समस्त ५७
सासादन	....	१२	२५	१३ आहारद्विक से रहित	५०
मिश्र	....	,,	२१ अनन्तानुबन्धिचतुष्क से रहित	१० आ. द्विक, औ.मि., व कार्मण से रहित	४३
असंयत	....	,,	,,	१३ आहारद्विक से रहित	४६
देशसंयत	....	११ त्रसअसंयम रहित	१७ अप्रत्याख्यानचतुष्क से	९ आ.द्विक, औ मि , व कार्मण से रहित	३७
प्रमत्त	.. ..	....	१३ प्रत्याख्यानचतुष्क से रहित	११ आहारद्विक से सहित उपर्युक्त	२४
अप्रमत्त	... ...	....	,,	९ आहारद्विक से रहित उपर्युक्त	२२
अपूर्वकरण	....	....	,,	,,	,,
अनिवृत्ति करण भा.१	....	....	७ नोकषाय ६ से हीन	,,	१६
भा.२	....	....	६ नपुंसक से हीन	,,	१५
अनिवृत्ति करण मा.३	....	....	५ स्त्रीवेद से हीन	९ आ.द्विक, औ.मि., वै. व कार्मण से रहित	१४

गुणस्थन	मिथ्यात्व ५	अविरति १२	कषाय २५	योग १५	समस्त ५७
भा.४	....	....	४ पुरुषवेद से हीन	,,	१३
भा.५	....	....	३ संज्वलनक्रोध से हीन	,,	१२
भा ६	.... .	.....	२ संज्वलनमन से हीन	,,	११
भा.७	.. ..	...	१ संज्वलनमाया से हीन	,,	१०
सूक्ष्मसाम्प राय	......	.... .	,,	,,	,,
उपशान्त कषाय	....	. .. ...	....	,,	९
क्षीणमोह	....	....	....	,,	,,
सयोगकेवली	....	....	....	७ सत्य व अनुभय मन वचन. औ. द्विक, कार्मण	७
अयोगकेवली	....	....	. ...	....	....

णम्मन्तिणि जे गव्विया विग्गुंत्ता ण गवंन्ति ।
गंथहि वाहिर भिंतरिहिं एक्कु इ तेण मुयंति ।।

षट्. ४

वेदना

- कृति अनुयोगद्वार प्ररूपणा
- वेदना महाधिकार
- चूलिका एक (चार अनुयोगद्वार)
- चूलिका दो (बारह अनुयोगद्वार)
- चूलिका तीन (जीवसमुदाहार)

(षट्खंडागम पु. क्र. ९. १०, ११, १२ की प्रस्तावना)

विषय-परिचय (पु.९)

षट्खंडागम के चतुर्थ खण्ड का नाम वेदना है। इस खण्ड की उत्पत्ति का कुछ परिचय पुस्तक १ की प्रस्तावना के पृष्ठ ६५ व ७२ पर कराया जा चुका है व इसकी खण्डव्यवस्था के सम्बन्ध में जो शंकायें उत्पन्न हुई थीं उनका निराकरण पुस्तक २ की प्रस्तावना में किया जा चुका है। इस खण्ड में अग्रायणीय पूर्व की पांचवीं वस्तु चयनलब्धि के चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृति के चौबीस अनुयोगद्वारों में से प्रथम दो अर्थात् कृति और वेदना अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की गई है, एवं वेदना अधिकार का अधिक विस्तार होने के कारण सम्पूर्ण खण्ड का नाम ही वेदना रखा गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में कृति अनुयोगद्वार की प्ररूपणा है। इसके प्रारम्भ में सूत्रकार भगवन्त भूतबलि द्वारा 'णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं' इत्यादि ४४ सूत्रों से मंगल किया गया है। ठीक यही मंगल 'योनिप्राभृत' ग्रन्थ में गणधरवलय मंत्र के रूप में पाया जाता है। यह ग्रन्थ धरसेनाचार्य द्वारा उनके शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि निमित्त रचा गया माना जाता है। इसका विशेष परिचय प्रथम पुस्तक की प्रस्तावना में पर कराया गया है। (देखिये Comparative and Critical Study of Mantrashastra by M.B. Jhaveri Appendix A.)। इन मंगलसूत्रों की टीका में आचार्य वीरसेन स्वामी ने देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, ऋजुमति व विपुलमति मनःपर्यय, केवलज्ञान एवं मतिज्ञान के अन्तर्गत कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिणी और संभिन्नश्रोतृबुद्धिकी विशद प्ररूपणा की है। उक्त बुद्धि ऋद्धि के साथ ही यहां अन्य सभी ऋद्धियों का मननीय विवेचन किया गया है। इन मंगलसूत्रों में अन्तिम सूत्र 'णमो वड्ढमाणबुद्धरिसिस्स' है। इसकी टीका में धवलाकार ने विस्तार से विवेचन करके उक्त मंगल को अनिबद्ध मंगल सिद्ध किया है, क्योंकि, वह प्रस्तुत ग्रन्थकार की रचना न होकर गौतम स्वामी द्वारा रचित है । धवलाकार जीव स्थान खण्ड के आदि में किये गये पंचणमोकार मंत्र रूप मंगल को निबद्ध मंगल कह आये हैं। इस भेद के आधार से धवलाकार का यह स्पष्ट अभिप्राय जाना जाता है कि वे भगवान् पुष्पदन्ताचार्य को ही णमोकारमंत्र के आदिकर्त्ता स्वीकार करते हैं। इसका सविस्तार विवेचन पुस्तक २ की प्रस्तावना के में किया जा चुका है । उस समय पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय की चर्चा भी चली और णमोकार मंत्र अनादित्व पर जोर दिया गया है। किन्तु विद्वानों ने धवलाकार के अभिप्राय को समझने व उस पर गम्भीरता से विचार करने का प्रयत्न नहीं किया।

टीकाकार ने इस मंगलदण्डक को देशामर्शक मानकर निमित्त, हेतु, परिमाण व नाम का भी निर्देश कर द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा कर्ता का विस्तृत वर्णन किया है, जो जीव स्थान के व विशेषकर जयधवला (कषायप्राभृत) के प्रारम्भिक कथन के ही समान है।

सूत्र ४५ में बतलाया है कि अग्रायणीय पूर्व की पंचम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत का नाम कम्मपर्यायप्रकृति है। उसमें कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति आदि २४ अनुयोगद्वार हैं। इनमें प्रथम कृतिअनुयोगद्वार प्रकृत है। इस सूत्र की टीका करते हुए वीरसेन स्वामी ने उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नयकी उसी प्रकार पुन: विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की है जैसे कि जीवस्थान के प्रारम्भ में एक बार की जा चुकी है।

सूत्र ४६ में नामकृति, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति, गणनकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति, ये कृति के सात भेद बतलाये हैं। इनकी संक्षिप्त प्ररूपणा इस प्रकार है --

१. एक व अनेक जीव एवं अजीव में से किसी का 'कृति' ऐसा नाम रखना नामकृति है।

२. काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोत्तकर्म, लेप्यकर्म, लयनकर्म, शैलकर्म, गृहकर्म, भित्तिकर्म, दन्तकर्म व मेंडकर्म में सद्भाव स्थापना रूप तथा अक्ष एवं बराटक आदि में असद्भावस्थापना रूप 'यह कृति है' ऐसा अभेदात्मक आरोप करना स्थापनाकृति कहलाती है।

३. द्रव्यकृति आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार हैं। इनमें आगमद्रव्यकृति के स्थिति, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम, ये नौ अधिकार हैं। यहां वाचनोपगत अधिकार की प्ररूपणा में व्याख्याताओं एवं श्रोताओं को द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव रूप शुद्धि करने का विधान बतलाया गया है। आगे चलकर स्थित व जित आदि उपर्युक्त नौ अधिकारों विषयक वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति व धर्मकथा आदि रूप उपयोगों की प्ररूपणा है।

नोआगमद्रव्यकृति ज्ञायकशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार है। इनमें से ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यकृति के भी आगमद्रव्यकृति के ही समान स्थित जित आदि उपर्युक्त नौ अधिकार कहे गये हैं। कृतिप्राभृत के जानकार जीव का च्युत, च्यावित एवं त्यक्त शरीर ज्ञायक शरीरद्रव्यकृति कहा गया है। जो जीव भविष्यत् काल में

कृतिअनुयोगद्वारों के उपादान कारण स्वरूप से स्थित है, परन्तु उसे करता नहीं है; वह भावी नोआगमद्रव्यकृति है। तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकृति ग्रन्थिम, वाइम, वेदिम, पूरिम, संघातिम, अहोदिम, निक्खोदिम, ओवेल्लिम, उद्वेल्लिम, वर्ण, चूर्ण और गन्धविलेपन आदि के भेद से अनेक प्रकार हैं।

४. गणनकृति नोकृति, अवक्तव्यकृति और कृति के भेद से तीन भेद रूप अथवा कृतिगत संख्यात, असंख्यात व अनन्त भेदों से अनेक प्रकार भी है। इनमें से 'एक' संख्या नोकृति, 'दो' संख्या अवक्तव्यकृति और 'तीन' को आदि लेकर संख्यात असंख्यात व अनन्त तक संख्या कृति कहलाती है। संकलना, वर्ग, वर्गावर्ग, घन व घनाघन राशियों की उत्पत्ति में निमित्तभूत गुणकार, कलासवर्ण तक भेदप्रकीर्णक जातियां, त्रैराशिक व पंचराशिक इत्यादि सब धनगणित है। व्युत्कलना व भागहार आदि ऋणगणित कहलाते हैं। गतिनिवृत्तिगणित और कुट्टिकार आदि धन-ऋण गणित के अन्तर्गत हैं। यहां कृति, नोकृति और अवक्तव्यकृति के उदाहरणार्थ ओघानुगम, प्रथमानुगम, चरमानुगम और संचयानुगम, ये चार अनुयोगद्वार कहे गये हैं। इनमें संचयानुगम की प्ररूपणा सत्-संख्या आदि आठ अनुयोगद्वारों के द्वारा विस्तारपूर्वक की गई है।

५. लोक, वेद अथवा समय में शब्द सन्दर्भ रूप अक्षरकाव्यादिकों के द्वारा जो ग्रन्थ रचना की जाती है वह ग्रन्थकृति कहलाती है। इसके नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव के भेद से चार भेद करके उनकी पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की गई है।

६. करणकृति मूलकरणकृति और उत्तरकरणकृति के भेद से दो प्रकार है। इनमें औदारिकादि शरीर रूप मूलकरण के पांच भेद होने से उसकी कृति रूप मूलकरणकृति भी पांच प्रकार निर्दिष्ट की गई है। औदारिकशरीरमूलकरणकृति, वैक्रियिकशरीरमूलकरणकृति और आहारकशरीरमूलकरणकृति, इनमें से प्रत्येक संघातन, परिशातन और संघातन-परिशातन स्वरूप से तीन-तीन प्रकार हैं। किन्तु तैजस और कार्मणशरीरमूलकरणकृति में से प्रत्येक संघातन से रहित शेष दो भेद रूप ही हैं।

विवक्षित शरीर के परमाणुओं का निर्जरा के बिना जो एक मात्र संचय होता है वह संघतनकृति है। यह यथासम्भव देव व मनुष्यादिकों के उत्पन्न होने के प्रथम समय में होती है, क्योंकि, उस समय विवक्षित शरीर के पुद्गलस्कन्धों का केवल आगमन ही होता है, निर्जरा नहीं होती।

विवक्षित शरीर सम्बन्धी पुद्गलस्कन्धों की आगमनपूर्वक होने वाली निर्जरा संघातन-परिशातनकृति कहलाती है। वह यथासम्भव देव-मनुष्यादिकों के उत्पन्न होने के द्वितीयादिक समयों में होती है, क्योंकि, उस समय अभव्य राशि से अनन्तगुणे और सिद्ध राशि से अनन्तगुणे हीन औदारिकादि शरीर रूप पुद्गलस्कन्धों का आगमन और निर्जरा दोनों ही पाये जाते हैं।

उक्त विवक्षित शरीर के पुद्गलस्कन्धों की संचय के बिना होने वाली एक मात्र निर्जरा का नाम परिशातनकृति है। यह यथासम्भव देव-मनुष्यादिकों के उत्तर शरीर के उत्पन्न करने पर होती है, क्योंकि, उस समय उक्त शरीर के पुद्गलस्कन्धों का आगमन नहीं होता।

तैजस और कार्मण इन दोनों शरीर ों की अयोगकेवली के परिशातनकृति होती है, कारण कि उनके योगों का अभाव हो जाने से बन्धका भी अभाव हो चुका है। अयोगकेवली को छोड़ शेष सभी संसारी जीवों के इन दोनों शरीरों की एक संघातन-परिशातनकृति ही हैं, क्योंकि, सर्वत्र उनके पुद्गलस्कन्धों का आगमन और निर्जरा दोनों ही पाये जाते हैं। उक्त दोनों शरीरों की संघातनकृति सम्भव नहीं है। कारण इसका यह है कि वह संसारी प्राणियों के तो हो नहीं सकती, क्योंकि, उनके उक्त दोनों शरीरों के पुद्गलस्कन्धों का जैसे आगमन होता है वैसे ही उसी के साथ निर्जरा भी होती है। अब रहे सिद्ध जीव सो उनके भी यह सम्भव नहीं है, क्योंकि, उनके बन्धकारणों का पूर्णतया अभाव हो चुका है।

आगे जाकर उपर्युक्त पांचों मूलकरणकृतियों की प्ररूपणा पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व, इन तीन अधिकारों द्वारा तथा सत्-संख्या आदि आठ अनुयोगद्वारों के भी द्वारा विस्तारपूर्वक की गई है।

असि, वासि, परशु, कुदारी, चक्र दण्ड, वेम व नालिका आदि उत्तरकरण अनेक मान जाते हैं। अत: एवं उत्तर करणों के अनेक होने से उनकी कृति रूप उत्तरकरणकृति भी अनेक प्रकार कही गई है।

७ कृतिप्राभृतका जानकार उपयोग युक्त जीव भावकृति कहा जाता है। उपर्युक्त सातों कृतियों में यहां गणनकृति को प्रकृत बतलाया है, कारण कि गणना के बिना अन्य अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा असम्भव हो जाती है।

विषय-परिचय (पु.१०)

अग्रायणीय पूर्वकी पंचम वस्तु चयनलब्धि के अन्तर्गत २० प्राभृतों में चतुर्थ प्राभृत का नाम 'कर्मप्रकृति' है। इसमें कृति व वेदना आदि २४ अनुयोगद्वार हैं। इनमें से कृति व वेदना नामक २ अनुयोगद्वार षट्खण्डागम के 'वेदना' नाम से प्रसिद्ध इस चतुर्थ खण्ड में वर्णित हैं। उनमें कृति अनुयोगद्वार की प्ररूपणा पूर्व प्रकाशित पुस्तक ९ में विस्तारपूर्वक की जा चुकी है। वेदना महाधिकार के अन्तर्गत निम्न १६ अनुयोगद्वार हैं - (१) वेदनानिक्षेप (२) वेदनानयविभाषणता (३) वेदना नामविधान (४) वेदनाद्रव्यविधान (५) वेदनाक्षेत्रविधान (६) वेदनाकालविधान (७) वेदनाभावविधान (८) वेदनाप्रत्ययविधान (९) वेदनास्वाभित्वविधान (१०) वेदना-वेदनाविधान (११) वेदनागतिविधान (१२) वेदना-अन्तरविधान (१३) वेदनासंनिकर्षविधान (१४) वेदनापरिमाण विधान (१५) वेदनाभागाभागाविधान और (१६) वेदनाअल्पबहुत्व। प्रस्तुत पुस्तक में इनमें से आदि के चार अनुयोगद्वार प्रगट किये जा रहे हैं।

१. वेदनानिक्षेप

इस अनुयोगद्वार में वेदना को नामवेदना, स्थापनावेदना, द्रव्यवेदना और भाववेदना; इन चार भेदों में निक्षिप्त किया गया है। बाह्य अर्थ का अवलम्बन न करके अपने आप मेंप्रवृत्त 'वेदना' शब्द को नामवेदना कहा गया है। 'वह वेदना यह है' इस प्रकार अभेदपूर्वक वेदना स्वरूप से व्यवहृत पदार्थ स्थापनावेदना कहा जाता है। वह सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना के भेद से दो प्रकार हैं। वेदना का अनुसरण करने वाले पदार्थ में वेदना के आरोप को सद्भावस्थापना और उसका अनुसरण न करनेवाले पदार्थ में उक्त वेदना के आरोप को असद्भावस्थापना बतलाया है।

द्रव्यवेदना के आगमद्रव्यवेदना और नोआगमद्रव्यवेदना ये दो भेद किये गये हैं। इनमें से नोआगमद्रव्यवेदना के ज्ञायकशरीर, भांवी और तद्व्यतिरिक्त इन तीन भेदों के अन्तर्गत ज्ञायक शरीर के भी भाव, वर्तमान और समुध्यात (त्यक्त) ये तीन भेद बतलाये हैं। तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यवेदना के कर्म व नोकर्म रूप दो भेदों में से कर्मवेदना ज्ञानावरणादिके भेद से आठ प्रकार की और नोकर्मवेदना सचित्त, अचित्त एवं मिश्र के भेद से तीन प्रकार की बतलाई गई है। इनमें सिद्ध जीवद्रव्य को सचित्त द्रव्यवेदना; पुद्गल, काल, आकाश, धर्म व अधर्म द्रव्यों को अचित्त द्रव्यवेदना; पुद्गल, काल, आकाश, धर्म व अधर्म द्रव्यों की अचित्त द्रव्यवेदना; तथा संसारी जीवद्रव्य को मिश्रवेदना कहा गया है।

भावभेदना आगम और नोआगम रूप दो भेदों में विभक्त की गई है। इनमें वेदनाअनुयोगद्वार के जानकार उपयोगउक्त जीव को आगमद्रव्यवेदना निर्दिष्ट करके नोआगमभाववेदना के जीवभाववेदना और अजीविभाववेदना ये दो भेद बतलाये हैं। उनमें जीवभाववेदना औदयिक आदि के भेद से पांच प्रकार तथा अजीवभाववेदना औदयिक व पारिणामिक के भेद से दो प्रकार की निर्दिष्ट की गई है।

२. वेदनानयविभाषणता

वेदनानिक्षेप अनुयोगद्वार में बतलाये गये वेदना के उन अनेक अर्थो में से यहां कौन सा अर्थ प्रकृत है , यह प्रगट करनेके लिये प्रस्तुत अनुयोगद्वार की आवश्यकता हुई। तदनुसार यहां यह बतलाया गया है कि नैगम, संग्रह और व्यवहार, इन तीन द्रव्यार्थिक नयों के अवलम्बन से वेदना निक्षेप में निर्दिष्ट सभी प्रकार की वेदनायें अपेक्षित हैं। ऋजुसूत्र नय एक स्थापनावेदना को स्वीकार नहीं करता, शेष सब वेदनाओं को वह भी स्वीकार करता है। स्थापनावेदना को स्वीकार न करने का कारण यह है कि स्थापनानिक्षेप में पुरुषसंकल्प के वश से पदार्थ को निज स्वरूप से ग्रहण न करके अन्य स्वरूप से ग्रहण किया जाता है। यह ऋजुसूत्र नयकी दृष्टि में सम्भव नहीं है, क्योंकि, एक समवर्ती वर्तमान पर्याय को विषय करने वाले इस नय के अनुसार पदार्थ का अन्य स्वरूप से परिणमन हो नहीं सकता। शब्दनय नामवेदना और भाववेदना को ही ग्रहण करता है, स्थापनावेदना और द्रव्यवेदना को वह ग्रहण नहीं करता। यहां द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा बन्ध, उदय व सत्व स्वरूप नोआगमकर्मद्रव्य वेदना; ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा उदयगत कर्मवेदना को, तथा शब्दनय की अपेक्षा कर्म के उदय व बन्ध से जनित भाववेदना को प्रकृत बतलाया गया है।

३. वेदनानामविधान

बन्ध, उद्धय व सत्व स्वरूप से जीव में स्थित कर्मरूप पौद्गलिक स्कन्धों में कहां- कहां, किस - किस नयका कैसा प्रयोग होता है, इस प्रकार नयाश्रित प्रयोगप्ररूपणा के लिये प्रस्तुत अनुयोगद्वार की आवश्यकता बतलाई गई है। तदनुसार नैगम और व्यवहार नयके आश्रय से नोआगमद्रव्यकर्मवेदना ज्ञानावरणीय आदि के भेद से आठ प्रकार की कही गई है, कारण यह कि यथाक्रम से उनके अज्ञान, अदर्शन, सुख-दुखवेदन, मिथ्यात्व व कषाय, भवधारण, शरीररचना, गोत्र एवं वीर्यादिविषयक विघ्न स्वरूप आठ प्रकार के कार्य देखे जाते हैं। यह हुई वेदनाविधान की प्ररूपणा। नामविधान की प्ररूपणा में ज्ञानावरणीय आदि रूप कर्मद्रव्य को ही 'वेदना ' कहा गया है। संग्रहनय की अपेक्षा सामान्य से आठों

कर्मों को एक वेदना रूप से ग्रहण किया गया है, क्योंकि, एक ही वेदना शब्द से समस्त वेदना-विशेषों की अविनाभाविनी एक वेदना जाति की उपलब्धि होती है। ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना आदि का निषेध कर एक मात्र वेदनीय कर्म को ही वेदना स्वीकार किया गया है, क्योंकि, लोक में सुख-दुख के विषय में ही वेदना शब्द का व्यवहार देखा जाता है। शब्दनय की अपेक्षा वेदनीय कर्मद्रव्य के उदय से उत्पन्न सुख-दुख का अथवा आठ कर्मो के उदय से उत्पन्न जीवपरिणाम को ही वेदना कहा गया है, क्योंकि, शब्दनय का विषय द्रव्य सम्भव नहीं है।

४. वेदनाद्रव्यविधान

वेदनारूप द्रव्य के सम्बन्ध में उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट एवं जघन्य आदि पदों की प्ररूपणा का नाम वेदनाद्रव्यविधान है। इसमें पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व, ये तीन अनुयोगद्वार ज्ञातव्य बतलाये गये हैं।

(१) पदमीमांसा में ज्ञानावरणीय आदि द्रव्यवेदना के विषय में उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, ओज[१], युग्म [२], ओम, विशिष्ट और नोम-नोविष्ट; इन १३ पदों का यथासम्भव विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त सामान्य चूंकि विशेष का अविनाभावी है, अतएव उक्त १३ पदों में से एक-एक पद को मुख्य करके प्रत्येक पद के विषय में भी शेष १२ पदों की सम्भावना का विचार किया गया है। इस प्रकार ज्ञानावरणादि प्रत्येक कर्म के सम्बन्ध में १६९ {१३ + (१३ X १२) = १६९} प्रश्न करके उक्त पदों के विचार का दिग्दर्शन कराया गया है। उदाहरण के रूप में ज्ञानावरण को ही ले लें। उसके सम्बन्ध में इस प्रकार विचार किया गया है -

ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्य से क्या उत्कृष्ट है, क्या अनुत्कृष्ट है, क्या जघन्य है, क्या अजघन्य है, क्या सादि है, क्या अनादि है, क्या ध्रुव है, क्या अध्रुव है, क्या ओज है, क्या

१ ओज का अर्थ विषम संख्या है। इसके २ भेद हैं - कलिओज और तेजोज। जिस राशि में ४ का भाग देने पर ३ अंक शेष रहते हैं वह तेजोज (जैसे १५ संख्या) तथा जिसमें ४ का भाग देने पर १ अंक शेष रहता है वह कलिओज (जैसे १३ संख्या) कही जाती है।

२ युग्म का अर्थ सम संख्या है। इसके २ भेद हैं - कृतयुग्म और बादरयुग्म (बादर वह द्वापर शब्द का बिगड़ा हुआ रूप प्रतीत होता है। भगवतीसूत्र आदि श्वेताम्बर ग्रंथों में दावर-द्वापर शब्द ही पाया जाता है।) जिस राशि में ४ का भाग देने पर कुछ शेष नहीं रहता वह कृतयुग्म राशि कही जाती है (जैसे १६ संख्या)। जिस राशि में ४ का भाग देने पर २ अंक शेष रहते हैं वह बादरयुग्म कही जाती है (जैसे १४ संख्या)।

युग्म है, क्या ओम है, क्या विशिष्ट है, और क्या नोम-नोविशिष्ट है ; इस प्रकार१३ प्रश्न करके उनके ऊपर क्रमशः विचार करते हुए कहा गया है कि (१) उक्त ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्य से कथंचित् उत्कृष्ट है, क्योंकि, गुणितकर्मांशिक सप्तम पृथिवीस्थ नारकी जीव के उस भवके अन्तिम समय में ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट वेदना पाई जाती है। (२) कथंचित् यह अनुत्कृष्ट है, क्योंकि, गुणितकर्मांशिक को छोड़कर शेष सभी जीवों के ज्ञानावरणीय का द्रव्य अनुत्कृष्ट पाया जाता है। (३) कथंचित् वह जघन्य है, क्योंकि, क्षपितकर्मांशिक क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव के इस गुणस्थान के अन्तिम समय में ज्ञानावरणीय का द्रव्य जघन्य पाया जाता है। (४) कथंचित् वह अजघन्य है, क्योंकि, उक्त क्षपितकर्मांशिक को छोड़कर अन्य सब प्राणियों में ज्ञानावरणीयका द्रव्य अजघन्य देखा जाता है। (५) कथंचित् वह सादि है, क्योंकि, उत्कृष्ट आदि पदों का परिवर्तन होता रहता है, वे शाश्वतिक नहीं हैं। (६) कथंचित् वह अनादि है, क्योंकि, जीव का कर्मका बन्धसामान्य अनादि है, उसके सादित्व की सम्भावना नहीं है। (७) कथंचित् यह ध्रुव है, क्योंकि, अभव्यों तथा अभव्य समान भव्य जीवों में भी सामान्य स्वरूप से ज्ञानावरण का विनाश सम्भव नहीं है। (८) कथंचित् यह अध्रुव है, क्योंकि, केवलज्ञानी जीवों में उसका विनाश देखा जाता है। इसके अतिरिक्त उक्त उत्कृष्ट आदि पदों का शाश्वतिक अवस्थान सम्भव न होने से उनमें परिवर्तन भी होता ही रहता है। (९) कथंचित् वह युग्म है, क्योंकि, प्रदेशों के रूप में ज्ञानावरणीय का द्रव्य सम संख्यात्मक पाया जाता है। (१०) कथंचित् वह ओज है, क्योंकि, उसका द्रव्य कदाचित् विषम संख्या के रूप में भी पाया जाता है। (११) वह कथंचित् ओम है, क्योंकि, उसके प्रदेशों में कदाचित् हानि देखी जाती है। (१२) कथंचित् वह विशिष्ट है, क्योंकि, कदाचित् उसके प्रदेशों में व्यय की अपेक्षा आय की अधिकता देखी जाती है। (१३) कथंचित् वह नोम-नोविशिष्ट है, क्योंकि, प्रत्येक पद के अवयव की विवक्षा में वृद्धि और हानि दोनों की ही सम्भावना नहीं है।

इसी प्रकार से उत्कृष्ट ज्ञानावरणीयवेदना क्या अनुत्कृष्ट है, क्या जघन्य है इत्यादि स्वरूप से एक-एक पद को विवक्षित करके उसके विषय में भी शेष १२ पदों की सम्भावना का विचार किया गया है (देखिये पृ. ३० पर दी गई इन पदों की तालिका)

(२) स्वामित्व अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट आदि पद किन-किन जीवों में किस-किस प्रकार से सम्भव है, इस प्रकार से उनके स्वामियों का विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। उदाहरणार्थ ज्ञानावरणीय को लेकर उसकी उत्कृष्ट

वेदना के स्वामी का विचार करते हुए कहा गया है कि जो जीव बादर पृथिवीकायिक जीवों में साधिक २००० सागरोपमों से हीन कर्मस्थिति (७० कोड़ाकोड़ि सागरोपम) प्रमाण रहा है, उनमें परिभ्रमण करता हुआ जो पर्याप्तों में बहुत बार और अपर्याप्तों में थोड़े बार उत्पन्न होता है (भवावास), पर्याप्तों में उत्पन्न होता हुआ दीर्घ आयुवालों में तथा अपर्याप्तों में उत्पन्न होता हुआ अल्प आयुवालों में ही जो उत्पन्न होता है (अद्धावास), तथा दीर्घ आयुवालों में उत्पन्न हो करके जो सर्वलघु काल में पर्याप्तियों को पूर्ण करता है, जब जब वह आयु को बांधता है तत्प्रायोग्य जघन्य योग के द्वारा ही बांधता है (आयुआवास), जो उपरिम स्थितियों के निषेक के उत्कृष्ट पद को तथा अधस्तन स्थितियों के निषेक के उत्कृष्ट पद को तथा अधस्तनस्थितियों के निषेक के जघन्य पद को करता है (अपकर्षण-उत्कर्षणआवास अथवा प्रदेशविन्यासावास), बहुत-बहुत बार जो उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त होता है (योगावास), तथा बहुत-बहुत बार जो मन्द संक्लेश परिणामों को प्राप्त होता है (संक्लेशावास)। इस प्रकार उक्त जीवों में परिभ्रमण करके पश्चात् जो बादर त्रस पर्याप्त जीवों में उत्पन्न हुआ है; उनमें परिभ्रमण कराते हुए उसके विषय में पहिले के ही समान यहां भी भवावास, अद्धावास, आयुआवास, अपकर्षण-उत्कर्षणआवास, योगावास और संक्लेशावास, इन आवासों की प्ररूपणा की गई है। उक्त रीति से परिभ्रमण करता हुआ जो अन्तिम भवग्रहण में सप्तम पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न हुआ है, उनमें उत्पन्न हो करके प्रथम समयवर्ती आहारक और प्रथम समयवर्ती तद्भवस्थ होते हुए जिसने उत्कृष्ट योग से आहार को ग्रहण किया है, उत्कृष्ट वृद्धि से जो वृद्धिगत हुआ है, सर्वलघु अन्तमुहूर्त काल में जो सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ है, वहां ३३ सागरोपम काल तक जो रहा है, बहुत-बहुत बार जो उत्कृष्ट योगस्थानों को तथा बहुत-बहुत बार बहुत संक्लेश परिणामों को जो प्राप्त हुआ है, उक्त प्रकार से परिभ्रमण करते हुए जीवित के थोड़े से अवशिष्ट रहने पर जो योगयवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल रहा है, अन्तिम जीवगुणहानिस्थानान्तर में जो आवली के असंख्यातवें भाग रहा है, द्विचरम व त्रिचरम समय में उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त हुआ है, तथा चरम व द्विचरम समय में जो उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ है; ऐसे उपर्युक्त जीव के नारक भव के अन्तिम समय में स्थित होने पर ज्ञानावरणीय की वेदना द्रव्य से उत्कृष्ट होती है (यही गुणितकर्मांशिक जीव का लक्षण है)।

उक्त जीव के उतने समय में कितने द्रव्य का संचय होता है तथा वह संचय भी उत्तरोत्तर किस क्रम से वृद्धिगत होता है, इत्यादि अनेक विषयों का वर्णन श्री वीरसेन स्वामी

ने गणित प्रक्रिया के अवलम्बन से अपनी धवला टीका के अन्तर्गत बहुत विस्तार से किया है। आगे चलकर आयु को छोड़कर शेष ६ कर्मों की उत्कृष्ट वेदना के स्वामियों की प्ररूपणा ज्ञानावरण के ही समान बतला करके फिर आयु कर्म की उत्कृष्ट वेदना के स्वामी की प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाला जो जीव जलचर जीवों में पूर्वकोटि मात्र आयु को दीर्घ आयुबन्धक काल, तत्प्रायोग्य संक्लेश और तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योग के द्वारा बांधता है; योगयवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल रहा है, अन्तिम जीवगुणहानिस्थानान्तर में आवली के असंख्यातवें भाग रहा है, तत्पश्चात् क्रम से मृत्यु को प्राप्त होकर पूर्वकोटि आयुवाले जलचर जीवों में उत्पन्न हुआ है, वहां पर सवलघु अन्तर्मुहूर्त में सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ है, दीर्घ आयुबन्धक काल मेंतत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योग के द्वारा पूर्वकोटि प्रमाण जलचर-आयु को दुबारा बांधता है, योगयवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल रहा है, अन्तिम गुणहानिस्थानान्तर में आवली के असंख्यातवें भाग रहा है, तथा जो बहुत बहुत वार साता वेदनीय के बन्ध योग्य काल से सहित हुआ है, ऐसे जीव के अनन्तर समय में सब परभविक आयु के बन्ध की परिसमाप्ति होती है उसी समय उसके आयु कर्म की वेदना द्रव्य से उत्कृष्ट होती है। सभी कर्मो की उत्कृष्ट वेदना से भिन्न अनुत्कृष्ट वेदना कही गई है।

ज्ञानावरणीय की जघन्य वेदना से स्वामी की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि जो जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन कर्मस्थिति प्रमाण सूक्ष्म निगोद जीवों में रहा है, उनमें परिभ्रमण करता हुआ जो अपर्याप्तों में बहुत बार और पर्याप्तों में थोड़े ही बार उत्पन्न हुआ है, जिसका अपर्याप्तकाल बहुत पर्याप्तकाल थोड़ा रहा है, जब-जब आयु को बांधता है तब-तब तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योग से बांधता है, जो उपरिम स्थितियों के निषेक के जघन्य पद को और अधस्तन स्थितियों के निषेक के उत्कृष्ट पद को करता है, जो बहुत-बहुत बार जघन्य योगस्थाना को प्राप्त होता है, बहुत-बहुत बार मंद संक्लेश रूप परिणामों से परिणमता है, इस प्रकार से निगोद जीवों में परिभ्रमण करके पश्चात् जो बादर पृथिवीकायिक पर्याप्तों से उत्पन्न होकर वहां सर्वलघु अन्तर्मुहूर्त काल में सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ है, तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में मरण को प्राप्त होकर जो पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ है, जिसने वहां पर गर्भ से निकलने के पश्चात् आठ वर्ष का होकर संयम को धारणा किया है, कुछ कम पूर्वकोटि काल तक संयमका परिपालन करके जो जीवित के थोड़े से शेष रहने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ है, जो मिथ्यात्व सम्बन्धी सबसे स्तोक असंयमकाल में रहा है, तत्पश्चात् मिथ्यात्व के साथ मरण को प्राप्त होकर जो दस हजार वर्ष की आयुवाले देवों में

उत्पन्न हुआ है, वहां पर जो सबसे छोटे अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ है, पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में जो सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ है, उक्त देवों में रहते हुए जो कुछ कम दस हजार वर्ष तक सम्यक्त्व का परिपालन कर जीवित के थोड़े से शेष रहने पर पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ है, मिथ्यात्व के साथ मरकर जो फिर से बादर पृथिवीकायिक पर्याप्तों में उत्पन्न हुआ है, वहां पर जो सबसे छोटे अन्तर्मुहूर्त काल में सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ है, पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में मृत्यु को प्राप्त होकर जो सूक्ष्म निगोद पर्याप्त जीवों में उत्पन्न हुआ है, पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिकाण्डकघातों के द्वारा पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र काल में कर्म को हतसमुत्पत्तिक करके जो फिर से भी बादर पृथिवीकायिक पर्याप्तों में उत्पन्न हुआ है; इस प्रकार नाना भवग्रहणों में आठ संयमकाण्डकों को पालकर, चार बार कषायों को उपशमा कर, पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र संममासंयमकाण्डकों और इतने ही सम्यक्त्वकाण्डकों का परिपालन करके उपर्युक्त प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ जो फिर से भी पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ है; वहां सर्व लघुकाल में योनि निष्क्रमण रूप जन्म से उत्पन्न होकर जो आठ वर्ष का हुआ है, पश्चात् संयम को प्राप्त होकर और कुछ कम पूर्वकोटि काल तक उसका परिपालन करके जो जीवित के थोड़े से शेष रहने पर दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की क्षपणा में उद्यत हुआ है, इस प्रकार से जो जीव छद्मस्थ अवस्था के अन्तिम समय को प्राप्त हुआ है उसके उक्त छद्मस्थ अवस्था के अन्तिम समय में ज्ञानावरणीय की वेदना द्रव्य से जघन्य होती है। (यही क्षपितकर्मांशिकका का लक्षण है)।

३. अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में ज्ञानवरणादि आठ कर्मो की जघन्य, उत्कृष्ट एवं जघन्य-उत्कृष्ट वेदनाओं का अल्पबहुत्व बतलाया गया है। इस प्रकार पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन ३ अनुयोगद्वारों के पूर्ण हो जाने पर द्रव्यविधान की चूलिका का प्रारम्भ होता है।

इस चूलिका में योग के अल्पबहुत्व और योग के निमित्त से आने वाले कर्मप्रदेशों के भी अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करके पश्चात् अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा, इन १० अनुयोगद्वारों के द्वारा योगस्थानों की विस्तृत प्ररूपणा की गई है।

विषय-परिचय (पु.११)

वेदना महाधिकार के अन्तर्गत जो वेदनानिक्षेपादि १६ अनुयोगद्वार हैं उनमें से आदि के ४ अनुयोगद्वार पुस्तक १० में प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उनसे आगे के वेदनाक्षेत्रविधान और वेदनाकालविधान ये २ अनुयोगद्वार प्रकाशित किये जा रहे हैं।

५. वेदनाक्षेत्र विधान

द्रव्यविधान के समान इस अनुयोगद्वार में भी पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व, ये तीन अनुयोगद्वार हैं। यहाँ प्रारम्भ में श्री वीरसेन स्वामी ने क्षेत्रविधान की सार्थकता प्रगट करते हुए प्रथमत: नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव के भेद से क्षेत्र के ४ भेद बतलाकर उनमें से नोआगमद्रव्यक्षेत्र (आकाश) को अधिकारप्राप्त बतलाया है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप पुद्गल द्रव्य का नाम वेदना है। समुद्घातादि रूप विविध अवस्थाओं में संकोच व विस्तार को प्राप्त होने वाले जीवप्रदेश उक्त वेदनाका क्षेत्र है। प्रकृत अनुयोगद्वार में चूंकि इसी क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है, अतएव 'वेदनाक्षेत्रविधान' यह उसका सार्थक नाम है।

(१) पदमीमांसा – जिस प्रकार द्रव्यविधान (पु.१०) के अन्तर्गत पदमीमांसा अनुयोगद्वार में द्रव्य की अपेक्षा ज्ञानावरणादि कर्मों की वेदना के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य व अजघन्य तथा देशामर्शकभाव से सूचित सादिअनादि पदों की प्ररूपणा की गई है, ठीक उसी प्रकार से यहाँ इस अनुयोगद्वार में भी उन्हीं १३ पदों की क्षेत्र की अपेक्षा प्ररूपणा की गई है। उससे यहाँ कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। (देखिए द्रव्यविधान का विषयपरिचय)

(२) स्वामित्व – अनुयोगद्वार में उत्कृष्ट पद विषयक स्वामित्व और जघन्य पद विषयक स्वामित्व, इस प्रकार स्वामित्व के २ भेद बतलाकर प्रकरण वश यहाँ जघन्य व उत्कृष्ट के विषय में निश्चित पद्धति के अनुसार नामादि रूप निक्षेपविधिकी योजना की गई है इसमें नोआगमद्रव्य जघन्य के ओघ और आदेश की अपेक्षा मुख्तया २ भेद बतलाकर फिर उनमें से भी प्रत्येक के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा ४- ४ भेद बतलाये हैं। उनमें ओघ की अपेक्षा एक परमाणु को द्रव्य-जघन्य कहा गया है। कर्मक्षेत्रजघन्य और नोकर्मक्षेत्रजघन्य के भेद से क्षेत्रजघन्य दो प्रकार का है। इनमें सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहनाका नाम कर्मक्षेत्रजघन्य और एक आकाश प्रदेश का नाम नोकर्मक्षेत्रजघन्य बतलाया

है। एक समय को कालजघन्य और परमाणु में रहने वाले एक स्निग्धत्व आदि गुण को भावजघन्य कहा गया है। आदेशत: तीन प्रदेशवाले स्कन्ध की अपेक्षा दो प्रदेशवाला स्कन्ध द्रव्यजघन्य, तीन आकाशप्रदेशों में अधिष्ठित द्रव्य की अपेक्षा दो आकाशप्रदेशों में अधिष्ठित द्रव्य क्षेत्रजघन्य, तीन समय परिणत द्रव्य की अपेक्षा दो समय परिणत द्रव्य कालजघन्य, तथा तीन गुण-परिणत द्रव्य की अपेक्षा दो गुण-परिणत द्रव्य भावजघन्य है। इसी प्रकार से आदेश की अपेक्षा इन द्रव्यजघन्यादि के भेदों की आगे भी कल्पना करना चाहिये। जैसे, चार प्रदेश वाले स्कन्ध की अपेक्षा तीन प्रदेशवाला तथा पाँच प्रदेशवाले स्कन्ध की अपेक्षा चार प्रदेश वाला स्कन्ध आदेश की अपेक्षा द्रव्यजघन्य है, इत्यादि। यही प्रक्रिया उत्कृष्ट के सम्बन्ध में भी निर्दिष्ट की गयी है। विशेष इतना है कि यहाँ ओघ की अपेक्षा महास्कन्ध को द्रव्य-उत्कृष्ट, लोकाकाश को कर्मक्षेत्र-उत्कृष्ट, आकाशद्रव्य को नोकर्मक्षेत्र- उत्कृष्ट, अनन्त लोकों काल-उत्कृष्ट और सर्वोत्कृष्ट वर्णादि को भाव - उत्कृष्ट कहा गया है।

आगे इस अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य वेदनायें किन-किन जीवों के कौन-कौनसी अवस्था में होती हैं, इस प्रकार इन वेदनाओं के स्वामियों की विस्तार से प्ररूपणा की गयी है। उदाहरणस्वरूप क्षेत्र की अपेक्षा ज्ञानावरण की उत्कृष्ट वेदना के स्वामी की प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि एक हजार योजन प्रमाण आयत जो महामत्स्य स्वयंम्भूरमण समुद्र के बाह्य तट पर स्थित है, वहां वेदना समुद्घात को प्राप्त होकर जो तनुवातवलय से संलग्न है तथा जो मारणान्तिकसमुद्घात को करते हुए तीन विग्रहकाण्डकों को करके अनन्तर समय में नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न होने वाला है उसके ज्ञानावरण कर्म की क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट वेदना होती है। इस उत्कृष्ट वेदना से भिन्न ज्ञानावरण की क्षेत्र की अपेक्षा अनुत्कृष्ट वेदना है। इसी प्रकार से दर्शनावरण आदि शेष कर्मों की उत्कृष्ट - अनुत्कृष्ट वेदनाओं की प्ररूपणा की गयी है। वेदनीय कर्म की क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट वेदना लोकपूरण केवलिसमुद्घात को प्राप्त हुए केवली के कही गयी है।

ज्ञानावरण की क्षेत्रत: जघन्यवेदना ऐसे सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीव के बतलायी है जो ऋतुगति से उत्पन्न होकर तद्भवस्थ होने के तृतीय समय में वर्तमान व तृतीय समयवर्ती आहारक है, अघन्य योगवाला है, तथा सर्वजघन्य अवगाह से युक्त है। इस जघन्य क्षेत्रवेदना से भिन्न अजघन्य क्षेत्रवेदना कही गयी है। इसी प्रकार से शेष कर्मों की भी क्षेत्र की अपेक्षा अघन्य व अजघन्य वेदना की यहाँ प्ररूपणा की गयी है।

(३) अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में आठों कर्मों की उक्त वेदनाओं के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा जघन्यपदविषयक, उत्कृष्टपदविषयक व जघन्य-उत्कृष्टपदविषयक, इन 3 अनुयोगद्वारों के द्वारा की गयी है। प्रसंग पाकर यहाँ (सूत्र ३०-९९ में) मूलग्रन्थकर्ता ने सब जीवों में अवगाहनादण्डककी भी प्ररूपणा कर दी है।

६ *वेदनाकालविधान*

इस अनुयोगद्वार में पहिले नामकाल, स्थापनाकाल, द्रव्यकाल, समाचारकाल, अद्धाकाल, प्रमाणकाल और भावकाल, इस प्रकार काल के ७ भेदों का निर्देश कर इनके और भी उत्तरभेदों को बतलाते हुए तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल के प्रधान और अप्रधान रूप से २ भेद बतलाये है। इनमें जो काल शेष पांच द्रव्यों के परिणमन में हेतुभूत हैं वह प्रधानकाल कहा गया है। यह प्रधानकाल कालाणु स्वरूप होकर संख्या में लोकाकाशप्रदेशों के बराबर, रत्नराशि के समान प्रदेश प्रचय से रहित, अमूर्त एवं अनादि-निधन है। अप्रधानकाल सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का बतलाया है। इनमें दंशकाल (डांसों का समय) व मशककाल (मच्छरों का समय) आदि को सचित्तकाल, धूलिकाल, कर्दमकाल, वर्षाकाल, शीतकाल व उष्णकाल आदि को अचित्तकाल तथा सदंश शीतकाल आदि को मिश्रकाल से नामांकित किया गया है।

समाचारकाल लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार हैं। वन्दनाकाल, नियमकाल, स्वाध्यायकाल व ध्यानकाल आदि रूप लोकोत्तर समाचारकाल तथा कर्षणकाल (खेत जोतने का समय) लुननकाल व वपनकाल (वोने का समय) आदि रूप लौकिक समाचारकाल कहा जाता है। वर्तमान, अतीत व अनागत रूपकाल अद्धाकाल तथा पल्योपम व सागरोपम आदि रूप काल प्रमाणकाल नाम से प्रसिद्ध हैं।

वेदनाद्रव्यविधान और क्षेत्रविधान के समान इस अनुयोगद्वार में भी पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व ये ही तीन अनुयोग द्वार हैं।

(१) पदमीमांसा — अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणादि कर्मों की वेदनाओं के उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट आदि उन्हीं १३ पदों की प्ररूपणा काल की अपेक्षा ठीक उसी प्रकार से की गयी है जैसे कि द्रव्य विधान में द्रव्य की अपेक्षा से और क्षेत्रविधान में क्षेत्र की अपेक्षा से वह की गयी है। यहाँ उससे कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है।

(२) स्वामित्व — पिछले उन दोनों अनुयोगद्वारों के समान यहाँ भी इस अनुयोगद्वार को उत्कृष्ट पद विषयक और अनुत्कृष्ट पदविषयक इन्हीं दो भेदों में विभक्त

किया गया है। प्रकरणवश यहाँ भी प्रारम्भ में क्षेत्र के विधान समान जघन्य और उत्कृष्ट के विषय में नामादि रूप निक्षेपविधि की योजना की गयी है। तत्पश्चात् ज्ञानावरणादि कर्मों सम्बन्धी काल की अपेक्षा होने वाली उत्कृष्ट -अनुत्कृष्ट एवं जघन्य-अजघन्य वेदनाओं के स्वामियों की प्ररूपणा की गयी है। उदाहरणार्थ, ज्ञानावरण की उत्कृष्ट वेदना के स्वामी का कथन करते हुए यह बतलाया है कि जो संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हो चुका है, साकार उपयोग से युक्त होकर श्रुतोपयोग से सहित है, जागृत है, तथा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के योग्य संक्लेश स्थानों से अथवा कुछ मध्यम जाति के संक्लेश परिणामों से सहित है, उसके ज्ञानावरण कर्म की काल की उत्कृष्ट वेदना होती है। उपर्युक्त विशेषताओं से संयुक्त यह जीव कर्मभूमिज (१५ कर्म भूमियों में उत्पन्न) ही होना चाहिये, भोग भूमिज नहीं, कारण कि भोगभूमियों में उत्पन्न जीवों के उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त वह चाहे अकर्मभूमिज (देव-नारकी) हो, चाहे कर्मभूमिप्रतिभागज (स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में उत्पन्न) हो, इसकी कोई विशेषता यहाँ अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार वह संख्यातवर्षायुष्क (अढ़ाई द्वीप-समुद्रों तथा कर्मभूमि प्रतिभाग में उत्पन्न) और असंख्यातवर्षायुक्त (देव-नारकी) इनमें से कोई भी हो सकता है। वह देव होना चाहिये, मनुष्य होना चाहिये, तिर्यंच होना चाहिये अथवा नारकी होना चाहिये, इस प्रकार की गतिजन्य विशेषता के साथ ही यहाँ वेदजनित विशेषता की भी कोई अपेक्षा नहीं की गयी है। वह जलचर भी हो सकता है, थलचर भी हो सकता है, और नभचर भी हो सकता है, इसकी भी विशेषता यहाँ नहीं ग्रहण की गयी।

इस उत्कृष्ट वेदना से भिन्न वेदना अनुत्कृष्ट बतलायी गई है। इसी प्रकार से यथासम्भव शेष कर्मों की कभी काल की अपेक्षा उत्कृष्ट- अनुत्कृष्ट वेदनाओं की विशदता से प्ररूपणा की गयी है। आयु कर्म की कालतः उत्कृष्ट वेदना का निरूपण करते हुए यह स्पष्ट किया है कि उत्कृष्ट देवायु के बन्धक मनुष्य सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, किन्तु उत्कृष्ट नारकायु के बन्धक मनुष्य पर्याप्त मिथ्यादृष्टि के साथ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच मिथ्यादृष्टि भी होते हैं। देवों की उत्कृष्ट आयु का बन्ध १५ कर्मभूमियों में ही होता है, कर्मभूमिप्रतिभाग और भोग भूमियों में उत्पन्न जीवों के उसका बन्ध सम्भव नहीं है। उत्कृष्ट नारकायुका बन्ध १५ कर्मभूमियों के साथ कर्मभूमिप्रतिभाग में भी उत्पन्न जीवों के होता है, भोगभूमियों में उसका बन्ध नहीं होता। इस उत्कृष्ट देवायु और नारकायु के बन्धक संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य व तिर्यंच उसके बन्धक नहीं होते। तीनों वेदों में से किसी भी वेद के साथ उत्कृष्ट आयु का बन्ध हो सकता है, उसका किसी वेद विशेष के साथ विरोध सम्भव नहीं है,

यह जो मूल ग्रन्थकारद्वारा सामान्य कथन किया गया है उसका स्पष्टीकरण करते हुए श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है कि वेद से अभिप्राय यहाँ भाववेद का रहा है। कारण कि अन्यथा द्रव्य स्त्रीवेद से भी उत्कृष्ट नारकायुका बन्ध हो सकता है, किन्तु वह "आ पंचमी त्ति सिंहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवि त्ति" इस सूत्र (मूलाचार १२-११३) के विरुद्ध होने से सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त द्रव्यस्त्रीवेद के साथ उत्कृष्ट देवायु का भी बन्ध संभव नहीं है, क्योंकि, उसका बन्ध निर्ग्रन्थ लिंग के साथ ही होता है, परन्तु द्रव्यस्त्रियों के वस्त्रादि त्यागरूप भावनिर्ग्रन्थता सम्भव नहीं है।

काल की अपेक्षा सब कर्मों की जघन्य वेदना की प्ररूपणा करते हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की यह वेदना छद्मस्थ अवस्था के अन्तिम समय को प्राप्त जीव के (क्षीणकषाय के अन्तिम समय में) बतलायी गयी है। वेदना, आयु, नाम व गोत्र की कालतः जघन्य वेदना अयोग-केवली के अन्तिम समय में होती है। मोहनीय कर्म की उक्त वेदना सूक्ष्मसाम्पराय के अन्तिम समय में होती है। अपनी अपनी जघन्य वेदना से भिन्न सब कर्मों की कालतः अजघन्य वेदना कही गयी है।

(३) अल्पबहुत्व — अनुयोगद्वार में क्रमशः जघन्य पद, उत्कृष्ट पद और जघन्य-उत्कृष्ट पद की अपेक्षा आठों कर्मों की कालवेदना के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है। इस प्रकार इन ३ अनुयोगद्वारों के समाप्त हो जाने पर प्रस्तुत वेदनाकाल विधान अनुयोगद्वार समाप्त हो जाता है। आगे चलकर उसकी प्रथम चूलिका प्रारम्भ होती है।

चूलिका १

इस चूलिका में निम्न ४ अनुयोगद्वार हैं – स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

(१) स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा — इसमें चौदह जीवसमासों के आश्रय से स्थितिबन्ध स्थानों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है। अपनी -अपनी उत्कृष्ट स्थिति में से जघन्य स्थिति को कम करके एक अंक के मिला देने पर जो प्राप्त हो उतने स्थितिस्थान होते हैं। इस अल्पबहुत्व को देशामर्शक सूचित कर श्री वीरसेन स्वामी ने यहाँ अल्पबहुत्व के अव्वोगाढअल्पबहुत्व और मूल प्रकृति अल्पबहुत्व ये दो भेद बतलाकर स्वस्थान-परस्थान के भेद से विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की है। अव्वोगाढअल्पबहुत्व में कर्मविशेष की अपेक्षा न कर सामान्यतया जीवसमासों के आधार से जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिबन्ध, स्थितिबन्धस्थान

और स्थितिबन्धस्थानविशेष का अल्पबहुत्व बतलाया गया है। परन्तु मूलप्रकृतिअल्पबहुत्व में उन्हीं जीवसमासों के आधार से ज्ञानावरणादि कर्मों की अपेक्षा कर उपर्युक्त जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिबन्धादि के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

आगे जाकर "बध्यते इति बन्धः, स्थितिश्चासी बन्धश्च स्थितिबन्धः, तस्य स्थानं विशेष स्थितिबन्धस्थानम्, अथवा बन्धनं बन्धः, स्थितेर्बन्धः स्थितिबन्धः, सोऽस्मिन् तिष्ठतीत्रि स्थिति बन्धस्थानम्" इन दो निरुक्तियों के अनुसार स्थितिबन्ध स्थान का अर्थ आबाधास्थान करके पूर्वोक्त पद्धति के ही अनुसार अव्वोगाढअल्पबहुत्व में स्वस्थान परस्थान स्वरूप से जघन्य व उत्कृष्ट आबाधा आबाधास्थान और आबाधास्थान विशेष के अल्पबहुत्व की सामान्यतया तथा मूल प्रकृति अल्पबहुत्व में इन्हीं के अल्पबहुत्व की कर्मविशेष के आधार से प्ररूपणा की गयी है। तत्पश्चात जघन्य व उत्कृष्ट आबाधा, आबाधास्थान और आबाधाविशेष, इन सबके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा पूर्वोक्त पद्धति के ही अनुसार सम्मिलित रूप में एक साथ भी की गयी है।

तत्पश्चात् "स्थितयो बध्यन्ते एभिरिति स्थितिबन्धः तेषां स्थानानि अवस्थाविशेषाः स्थितिबन्ध स्थानानि" इस निरुक्ति के अनुसार स्थितिबन्ध स्थानपद से स्थितिबन्ध के कारणभूत संक्लेश व विशुद्धि रूप परिणामों की व्याख्या प्ररुपणा, प्रमाण व अल्पबहुत्व इन ३ अनयोगद्वारों से की गयी है। संक्लेश विशुद्धिस्थानों का अल्पबहुत्व स्वयं मूलग्रन्थकर्ता भट्टारक भूतबलि के द्वारा चौदह जीवसमासों के आधार से किया गया है। तत्पश्चात् स्थितिबन्ध की जघन्य व उत्कृष्ट आदि अवस्थाविशेषों के अल्पबहुत्व का भी वर्णन मूलसूत्रकार ने स्वयं ही किया है [१]।

(२) निषेकप्ररूपणा - संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि पर्याप्त आदि विविध जीव ज्ञानावरणादि कर्मों के आबाधाकाल को छोड़कर उत्कृष्ट स्थिति के अन्तिम समय पर्यन्त प्रथमादिक समयों में किस प्रमाण से द्रव्य देकर निषेकरचना करते हैं, इसकी प्ररूपणा इस अधिकार में प्ररूपणा, प्रमाण, श्रेणि, अवहार, भागाभाग और अल्पबहुत्व, इन ६ अनुयोगद्वारों के द्वारा विस्तार से की गई है।

(३) आबाधाकाण्डकप्ररूपणा — इसमें यह बतलाया गया है कि पंचेन्द्रिय संज्ञी आदि जब आयुकर्म को छोड़कर शेष ७ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति से आबाधा के एक

१ यह अल्पबहुत्व श्वेताम्बर कर्मप्रकृति ग्रन्थ की आचार्य मलयगिरि विरचित संस्कृत टीका में भी यत् किंचित् भेद के साथ प्रायः ज्यों का त्यों पाया जाता है (देखिये कर्मप्रकृति गाथा १, ८०-८१ की टीका)। इसके अतिरिक्त यहाँ अन्य भी कुछ प्रकरण अनूदित जैसे उपलब्ध होते हैं।

एक समय में पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र नीचे आकर एक आबाधाकाण्ड को करते हैं। उदाहरणार्थ विवक्षित जीव आबाधा के अन्तिम समय में ज्ञानावरणादि की उत्कृष्ट स्थिति को भी बांधता है, उससे एक समय कम स्थिति को बांधता है, दो समय कम स्थिति को भी बांधता है, तीन समय कम स्थिति को भी बांधता है, इस क्रम से जाकर उक्त समय में ही पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र से हीन तक उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है। इस प्रकार आबाधा को अन्तिम समय में जितनी भी स्थितियाँ बन्ध के योग्य हैं उन सबकी एक आबाधाकाण्डक संज्ञा निर्दिष्ट की गयी है। इसी क्रम से आबाधा के द्विचरमादि समयों के विविक्षित द्वितीयादिक आबाधाकाण्डकों को भी समझना चाहिये। यह क्रम जघन्य स्थिति प्राप्त होने तक चालू रहता है। यहाँ श्री वीरसेन स्वामी ने चौदह जीव समासों में आबाधास्थानों और आबाधाकाण्डकशलाकाओं के प्रमाण की भी प्ररूपणा की है।

यहाँ आयु कर्म के आबाधाकाण्डकों की प्ररूपणा करने का कारण यह है कि अमुक आबाधा में आयु की अमुक स्थिति बंधती है, ऐसा कोई नियम अन्य कर्मों के समान आयुकर्म के विषय में सम्भव नहीं है। कारण है कि पूर्वकोटि के त्रिभाग को आबाधा करके उसमें तेतीस सागरोपम प्रमाण (उत्कृष्ट) आयु बंधती है, उससे एक समय कम भी बंधती है, दो समय कम भी बंधती है, तीन समय कम भी बंधती है, यहाँ तक कि इसी आबाधा में क्षुद्रभवग्रहण मात्र तक आयुस्थिति बँधती है। यही कारण है कि यहाँ आयु के आबाधाकाण्डकों की प्ररूपणा नहीं की गयी।

(४) अन्वबहुत्व अनुयोगद्वार — इसमें मूलसूत्रकार द्वारा चौदह जीवसमासों में ज्ञानावरणादि ७ कर्मों तथा आयु कर्म की जघन्य व उत्कृष्ट आबाधा, आबाधास्थान, आबाधाकाण्डक, नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, एक प्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, एक आबाधाकाण्डक, जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तथा स्थितिबन्धस्थान, इन सबके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा विशद रूप से की गयी है [१]। आगे चलकर यहाँ श्री वीरसेन स्वामी ने इस अल्पबहुत्व के द्वारा सूचित स्वस्थान व परस्थान अल्पबहुत्वों की भी प्ररूपणा बहुत विस्तार से की है।

चूलिका २

इस चूलिका के अन्तर्गत स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानों की प्ररूपणा में जीव-समुदाहार, प्रकृतिसमुदाहार और स्थितिसमुदाहार ये ३ अनुयोगद्वार निर्दिष्ट किये गये हैं।

१ तुलना के लिये देखिये कर्मप्रकृति १-८६ गाथा की आचार्य मलयगिरिविरचित संस्कृत टीका।

(१) जीवसमुदाहार में यह बतलाया है कि जो जीव ज्ञानावरणादि रूप ध्रुवप्रकृतियों के बन्धक हैं वे दो प्रकार होते हैं - सातबन्धक, और असातबन्धक। इसका कारण यह है कि साता व असाता वेदनीय के बन्ध के बिना उक्त ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का बन्ध सम्भव नहीं है। इनमें जो सात बन्धक हैं वे तीन प्रकार हैं - चतु:स्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक। असातबन्धक भी तीन प्रकार ही हैं - द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और चतु:स्थानबन्धक। इनमें साता के चतु:स्थानबन्धक सर्वविशुद्ध (अतिशय मंदकषायी), उनसे उसी के त्रिस्थानबन्धक संक्लिष्टतर होते हैं। असाता के द्विस्थानबन्धक सर्वविशुद्ध, इनसे त्रिस्थानबन्धक संक्लिष्टतर, और इनसे भी उसके चतु:स्थानबन्धक संक्लिष्टतर होते हैं। साता के चतु:स्थानबन्धक जीव उक्त ज्ञानावरणादि प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को, त्रिस्थानबन्धक अजघन्य अनुत्कृष्ट स्थिति का तथा द्विस्थानबन्धक उत्कृष्ट स्थिति को बाँधते हैं। असाता के द्विस्थानबन्धक उपर्युक्त प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को, त्रिस्थानबन्धक अजघन्य-अनुत्कृष्ट स्थिति को, तथा चतु:स्थानबन्धक उक्त प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के साथ ही असाता की भी उत्कृष्ट स्थिति को बांधते हैं। तत्पश्चात साता व असाता के चतु:स्थानबन्धक व द्विस्थानबन्धक आदि जीवों में ज्ञानावरण की जघन्य आदि स्थितियों को बाँधनेवाले जीव कितने हैं, तथा ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग से बंधने वाली स्थितियाँ कौन-कौन सी हैं, इत्यादि बतलाकर छह यवों के अधस्तन व उपरिम भागों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

(२) प्रकृतिसमुदाहार में प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व ये दो अनुयोगद्वार हैं इनमें प्रमाणानुगम के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मों की स्थिति के बन्ध के कारण भूत स्थिति बन्धाध्यवसायस्थानों के प्रमाण की प्ररूपणा तथा अल्पबहुत्व के द्वारा उक्त आठों कर्मों के स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानों के अल्प बहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

(३) स्थितिसमुदाहार में प्रगणना, अनुकृष्टि और तीव्र-मंदता ये तीन अनुयोगद्वार हैं। इनमें प्रगणना के द्वारा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त पाये जानेवाले स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानों की संख्या और उनके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है। अनुकृष्टि में उपर्युक्त जघन्य आदि स्थितियों में इन्हीं स्थिति बन्धाध्यवसायस्थानों की समानता व असमानता का विचार किया गया है। तीव्र-मंदता अनुयोगद्वार में जघन्य स्थिति - आदि के आधार से स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानों के अनुभाग की तीव्रता व मंदता का विवेचन किया गया है। इस प्रकार द्वितीय चूलिका के समाप्त हो जाने पर प्रस्तुत वेदनाकालविधान अनुयोगद्वार समाप्त होता है।

विषय-परिचय (पु.१२)

वेदना अनुयोगद्वार के मुख्य अधिकार सोलह हैं। उनमें से जिन अन्तिम दस अधिकारों की इस पुस्तक में प्ररूपणा की है। उनके नाम ये हैं - वेदनाभावविधान, वेदनाप्रत्ययविधान, वेदनास्वामित्व विधान, वेदनावेदनाविधान, वेदनागतिविधान, वेदनाअनन्तरविधान, वेदनासन्निकर्षविधान, वेदनापरिमाणविधान, वेदनाभागाभागविधान और वेदनाअल्पबहुत्वविधान।

७ वेदनाभावविधान

भाव के चार भेद हैं - नामभाव, स्थापनाभाव, द्रव्यभाव और भावभाव। उनमें से भाव शब्द नामभाव है तथा सद्भाव या असद्भाव रूप से 'वह यह है' इस प्रकार अभेद रूप से सङ्कल्पित पदार्थ स्थापनाभाव है। द्रव्यभाव के दो भेद हैं - आगमद्रव्यभाव और नोआगमद्रव्यभाव। भावविषयक शास्त्र का जानकार किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित जीव आगमद्रव्यभाव है। नोआगमद्रव्यभाव तीन प्रकार का है - ज्ञायकशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। जो भावविषयक शास्त्र के जानकार का त्रिकालविषयक शरीर है वह ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यभाव है और जो भविष्य में भावविषयक शास्त्र का जानकार होगा वह भाविनोआगमद्रव्यभाव है और जो भविष्य में भावविषयक शास्त्र का जानकार होगा वह भाविनोआगमद्रव्यभाव है। तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यभाव के दो भेद हैं - कर्म और नोकर्म। ज्ञानावरणादि कर्मों की अज्ञानादि को उत्पन्न कराने वाली जो शक्ति है उसे कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यभाव कहते हैं और इसके सिवा अन्य जितनी सचित्त और अचित्तद्रव्य सम्बन्धी शक्तियाँ हैं उन्हें नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यभाव कहते हैं। भावभाव के दो भेद हैं - आगमभावभाव और नोआगमभावभाव। भावविषयक शास्त्र का जानकार और उपयोगयुक्त जीव आगमभावभाव कहलाता है तथा नोआगम भावभाव के दो भेद हैं - तीव्रमन्दभाव और निर्जराभाव।

इन सब भावों में से वेदनाभावविधान में कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यभाव की पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अधिकारों द्वारा प्ररूपणा की गई है।

पदमीमांसा में ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मों की उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य भाववेदनाओं का विचार किया गया है। यहाँ वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में

उत्कृष्ट आदि पूर्वोक्त चार पदों के साथ सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, ओज, युग्म, ओम, विशिष्ट और नोमनोविशिष्ट इन अन्य नौ पदों को देशामर्षकभाव से सूचित कर इन तेरह पदों के परस्पर सन्निकर्ष की भी प्ररूपणा की है। मात्र ऐसा करते हुए वे कहाँ किस अपेक्षा से उत्कृष्ट आदि पद स्वीकार किये गये हैं इस दृष्टिकोण का पृथक्पृथक् रूप से उल्लेख करते गये हैं। इसके लिए प्रस्तुत पुस्तक का पृष्ठ ग्यारह का कोष्टक द्रष्टव्य है।

स्वामित्व अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियों के आश्रय से इन उत्कृष्ट आदि चार पदों की अपेक्षा स्वामी बतलाये गये हैं।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार के जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट ऐसे तीन भेद करके इनके उत्तर प्रकृतियों के आश्रय से चौसठ पदवाले उत्कृष्ट और जघन्य अल्पबहुत्व का भी विचार किया गया है। यहाँ दो बातें उल्लेखनीय हैं। प्रथम तो यह कि इन दोनों प्रकार के चौंसठ पद वाले अल्पबहुत्व का निर्देश पहले क्रम से सूत्र गाथाओं में किया गया है और फिर उन्हीं को गद्यसूत्रों में दिखलाया गया है। द्वितीय यह कि वीरसेन स्वामी ने इन दोनों प्रकार के अल्पबहुत्वों से सूचित होने वाले स्वस्थान अल्पबहुत्व का निर्देश अपनी धवला टीका में अलग से किया है।

इसके आगे इसी वेदनाभाव विधान की क्रम से प्रथम, द्वितीय और तृतीय ये तीन चूलिकाएँ चालू होती हैं। जिस प्रकरण में विवक्षित अनुयोगद्वार में कहे गये विषय का अवलम्बन लेकर विशेष व्याख्यान किया जाता है उसे चूलिका कहते हैं। इसलिए चूलिका सर्वथा स्वतन्त्र प्रकरण न होकर विवक्षित अनुयोग द्वार का ही एक अङ्ग माना जाता है। ऐसी यहाँ क्रम से तीन चूलिकायें निर्दिष्ट हैं।

प्रथम चूलिका में गुणश्रेणिनिर्जरा किसके कितनी गुणी होती हैं और उसमें लगने वाले काल का क्या प्रमाण है, इसका विचार किया गया है। यहाँ गुणश्रेणिनिर्जरा के कुल स्थान ग्यारह बतलाये हैं। यथा-सम्यक्त्व की उत्पत्ति, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करनेवाला, दर्शनमोहका क्षपक, चारित्रमोह का उपशामक, उपशान्तकषाय, क्षपक, क्षीणमोह, स्वस्थान जिन और योगनिरोध में प्रवृत्त हुए जिन। इन ग्यारह स्थानों में णश्रेणि निर्जरा उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी होती है। किन्तु इसमें लगनेवाला काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन जानना चाहिए। अर्थात् प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय गुणश्रेणि निर्ज्ररा में जो अन्तर्मुहूर्त काल लगता है उससे श्रावक के होनेवाली गुणश्रेणि निर्ज्ररा में संख्यातगुणा हीन अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। इस प्रकार आगे आगे हीन-हीन काल जानना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र के 'सम्यग्दृष्टिश्रावक' इत्यादि सूत्र की व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धि

में ये गुणश्रेणि के स्थान कुल दस गिनाये हैं। वहाँ जिनके दो भेदों का आश्रय कर प्रतिपादन नहीं करना इसका कारण है। यहाँ पहले दो सूत्र गाथाओं में इन ग्यारह गुणश्रेणि निर्जरा और उनके काल का विचार कर अनन्तर गद्यसूत्रों द्वारा इनका स्वतन्त्र विचार किया गया है।

द्वितीय चूलिका आगे अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान का कथन करने के लिए प्रारम्भ होती है। इस प्रकरण के ये बारह अनुयोगद्वार हैं - अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तर-प्ररूपणा, काण्डकप्ररूपणा, ओजयुग्मप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधस्तनस्थानप्ररूपणा, समय प्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा।

(१) *अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा* — कर्मों के जितने भेद-प्रभेद उपलब्ध होते हैं उनमें हीनाधिक अनुभाग शक्ति पाई जाती है। यह शक्ति कहाँ कितनी होती है इसका विचार अनुभाग शक्ति में उपलब्ध होने वाले अविभागप्रतिच्छेदों के आधार से किया जाता है। अविभागप्रतिच्छेद उन शक्त्यंशों की संज्ञा है जो विभाग के अयोग्य होते हैं। शक्ति का यह विभाग बुद्धि द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ, एक ऐसी शक्ति लो जो सर्वाधिक हीन दर्जे की है। पुन: इससे दूसरे दर्जे की शक्ति लो और देखो कि इन दोनों शक्तियों में कितना अन्तर है और उस अन्तर का कारण क्या है। अनुभव से प्रतीत होगा कि पहली शक्ति से दूसरी शक्ति में जो एक शक्यंश की वृद्धि दिखाई देती है उसी का नाम अविभागप्रतिच्छेद है। अनुभागसम्बन्धी ऐसे अविभाग प्रतिच्छेद एक अनुभागस्थान में अनन्तानन्त उपलब्ध होते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जितने कर्मपरमाणुओं में ये अविभागप्रतिच्छेद समान उपलब्ध होते हैं उनमें से प्रत्येक कर्मपरमाणु के अविभागप्रतिच्छेदों की वर्ग संज्ञा है और वे सब कर्मपरमाणु मिलकर वर्गणा कहलाते हैं। यह प्रथम वर्गणा है। पुन: इनसे एक अधिक अविभागप्रतिच्छेद को लिए हुए जितने कर्मपरमाणु होते हैं उनकी दूसरी वर्गणा बनती है। इस प्रकार निरन्तर क्रम से एक एक अविभागप्रतिच्छेद की वृद्धि के साथ तीसरी आदि वर्गणाएँ जहाँ तक उत्पन्न होती हैं उन सबकी स्पर्धक संज्ञा है। एक स्पर्धक में ये वर्गणाएँ जहाँ तक उत्पन्न होती हैं उन सबकी स्पर्धक संज्ञा है। एक स्पर्धक में ये वर्गणाएँ अभव्यों से अनन्तगुणीं और सिद्धों के अनन्तवें भाग उपलब्ध होती हैं। यह प्रथम स्पर्धक है। इसके आगे सब जीवों से अनन्तगुण अविभागप्रतिच्छेदों का अन्तर देकर द्वितीय स्पर्धक प्रारम्भ होता है और जहाँ जाकर द्वितीय स्पर्धक की समाप्ति होती है उससे आगे भी उत्तरोत्तर इसी प्रकार अन्तर देकर तृतीयादि स्पर्धक प्रारम्भ होते हैं जो प्रत्येक अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणाओं से बनते हैं। इस प्रकार अविभागप्रतिच्छेद प्ररूपणा में कहाँ कितने अविभागप्रतिच्छेद होते हैं इसका विचार किया जाता है।

(२) स्थानप्ररूपणा — इस प्रकार पूर्वोक्त अन्तर को लिए हुए जो अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भागप्रमाण स्पर्धक उत्पन्न होते हैं उन सबका एक स्थान होता है। यहाँ पर एक जीव में एक साथ जो कर्मों का अनुभाग दिखाई देता है उसकी स्थान संज्ञा है। उसके दो भेद हैं - अनुभागबन्धस्थान और अनुभागसत्वस्थान। उनमें से जो अनुभाग बन्ध द्वारा निष्पन्न होता है उसकी तो अनुभागबन्धस्थान संज्ञा है ही। साथ ही पूर्वबद्ध अनुभाग का घात होने पर तत्काल बन्ध को प्राप्त हुए अनुभाग के समान जो अनुभाग प्राप्त होता है उसकी भी अनुभागबन्धस्थान संज्ञा है। किन्तु जो अनुभागस्थान घात को प्राप्त होकर तत्काल बन्ध को प्राप्त हुए अनुभाग के समान न होकर बन्ध को प्राप्त हुए अष्टांक और ऊर्वक के मध्य में अधस्तन ऊर्वक से अनन्तगुणा और उपरिम अष्टांक से अनन्तगुणा हीन होता है उसे अनुभागसत्कर्मस्थान कहते हैं। यदि इन प्राप्त हुए स्थानों को मिलाकर देखाजाय तो ये सब असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं। इस प्रकार स्थानप्ररूपणा में इन सब स्थानों का विचार किया जाता है।

(३) अन्तरप्ररूपणा — स्थानप्ररूपणा में कुल स्थान कितने होते हैं यह तो बतलाया है, किन्तु वहाँ उनमें परस्पर किनना अन्तर होता है इसका विचार नहीं किया गया है। इसलिए इस प्ररूपणा का अवतार हुआ है। इसमें बतलाया गया है कि एक स्थान से तदनन्तरवर्ती स्थान में अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा सब जीवों से अनन्तगुणा अन्तर होता है। जो जघन्य स्थानान्तर है वह भी सब जीवों से अनन्तगुणा है, क्योंकि एक अनन्तभागरूप वृद्धिप्रक्षेप में सब जीवों से अनन्तगुणे अविभागप्रतिच्छेद उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार इस प्ररूपणा में विस्तार के साथ अन्तर का विचार किया गया है।

(४) काण्डकप्ररूपणा — कुल वृद्धियाँ छह हैं - अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणावृद्धि और अनन्तगुणावृद्धि। इनमें से अनन्तभागवृद्धि काण्डकप्रमाण होने पर एक बार असंख्यातभागवृद्धि होती है। पुन: काण्डकप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होने पर दूसरी बार असंख्याभागवृद्धि होती है। इस प्रकार पुन:पुन: पूर्वोक्त क्रम से जब असंख्यातभागवृद्धि काण्डकप्रमाण हो लेती है तब एक बार संख्यातभागवृद्धि होती है। इस प्रकार अनन्तगुणवृद्धि के प्राप्त होने तक यही क्रम जानना चाहिए। यहाँ काण्ड से अङ्गुल का असंख्यातवाँ भाग लिया गया है। यहाँ एक स्थान में इन वृद्धियों का विचार करने पर वे किस प्रकार उपलब्ध होती हैं इसकी चरचा प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ १३० में की ही है। उसके आधार से काण्डकप्ररूपणा की विस्तार से समझ लेना चाहिए।

(५) ओज-युग्मप्ररूपणा — जहाँ विवक्षित राशि में चार का भाग देने पर १ या ३ शेष रहते हैं उसकी ओज संज्ञा है और जहाँ २ शेष रहते हैं या कुछ भी शेष नहीं रहता है उसकी युग्म संज्ञा है। इस आधार से इस प्ररूपणा में यह बतलाया गया है कि सब अनुभागस्थानों के अविभागप्रतिच्छेद तथा सब स्थानों की अन्तिम वर्गणा के अविभागप्रतिच्छेद कृतयुग्मरूप हैं और द्विचरम आदि वर्गणाओं के अविभागप्रतिच्छेद कृतयुग्मरूप ही हैं यह नियम नहीं है, क्योंकि उनमें से कोई कृत युग्मरूप, कोई बादर युग्मरूप, कोई कलि ओजरूप और कोई तेज ओजरूप उपलब्ध होते हैं।

(६) षट्स्थानप्ररूपणा — पहले हम अनन्तभागवृद्धि आदि छह स्थानों का निर्देश कर आये हैं। उनमें अनन्त, असंख्यात और संख्यात पदों से कौन सी राशि ली गई है इन सब बातों का विचार इस प्ररूपणा में किया गया है।

(७) अधस्तनस्थानप्ररूपणा — ईसमें अनन्तभागवृद्धि से लेकर प्रत्येक वृद्धि जब काण्डक प्रमाण हो लेती है तब अगली वृद्धि होती है। अनन्तगुणावृद्धि के प्राप्त होने तक यही क्रम चालू रहता है। यह बतलाकर एक षट्स्थानवृद्धि में अनन्तभागवृद्धि कितनी होती है, संख्यातभागवृद्धि कितनी होती है आदि का निरूपण किया गया है।

(८) समयप्ररूपणा — जघन्य अनुभागबन्धस्थान से लेकर उत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान तक जितने अनुभागबन्धस्थान होते हैं उनमें से एक समय से लेकर चार समय तक बन्ध को प्राप्त होने वाले अनुभागबन्धस्थान असंख्यातलोक प्रमाण हैं। पाँच समय बँधनेवाले अनुभागबन्धस्थान भी असंख्यात लोकप्रमाण हैं। इस प्रकार चार समय से लेकर आठ समय तक बँधनेवाले अनुभाग बन्धस्थान और पुन: सात समय से लेकर दो समय तक बँधने वाले अनुभागबन्धस्थान प्रत्येक असंख्यात लोकप्रमाण हैं। यह बतलाना समयप्ररूपणा का कार्य है। साथ ही यद्यपि ये सब स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं फिर भी इनमें सबसे थोड़े कौन अनरुभागबन्धस्थान हैं और उनसे आगे उत्तरोत्तर वे कितने गुण हैं यह बतलाना भी इस प्ररूपणा का कार्य है।

(९) वृद्धिप्ररूपणा — इस प्ररूपणा में पहले अनन्तभागवृद्धि आदि छह वृद्धियों का व अनन्तभागहानि आदि छह हानियों का अस्तित्व स्वीकार करके उनके काल का निर्देश किया गया है।

(१०) यवमध्यप्ररूपणा — समय प्ररूपणा में छह वृद्धियों औरं छह हानियों का किसका कितना काल है यह बतला आये हैं। तथा वहाँ उनके अल्पबहुत्व का भी ज्ञान करा

आये हैं। फिर भी किस वृद्धि और हानि से यवमध्य का प्रारम्भ और अन्त होता है यह बतलाने के लिए यवमध्यप्ररूपणा की गई है। यद्यपि यवमध्य कालयवमध्य और जीवयवमध्य के भेद से दो प्रकार का होता है पर यहाँ पर कालयवमध्य का ही ग्रहण किया है, क्योंकि इसमें वृद्धियों और हानियों के काल की मुख्यता से ही इसकी रचना की गई है।

(११) पर्यवसान प्ररूपणा — अनंत गुणवृद्धि रूप काण्डक के ऊपर पांच वृद्धिरूप सब स्थान जाकर पुन: अनंतगुणवृद्धि रूप स्थान नहीं प्राप्त होता, यह बतलाना इस प्ररूपणा का कार्य है।

(१२) अल्पबहुत्वप्ररूपणा — इसके दो भेद हैं - अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधा अलपबहुत्व में अनन्तगुणावृद्धिस्थान सबसे थोड़े हैं। इनसे असंख्यातगुणवृद्धिसथान असंख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार आगे संख्यातगुणवृद्धिस्थान, संख्यातभागवृद्धिस्थान, असंख्यातभागवृद्धि स्थान और अनन्तभागवृद्धिस्थान उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे हैं, यह बतलाए गया है तथा परम्परोप निधा अल्पबहुत्व में अनन्तभागवृद्धि-स्थान उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे हैं, यह बतलाया गया है तथा परम्परोप निधा अल्पबहुत्व में अनन्तभागवृद्धिस्थान सबसे थोड़े हैं। इनसे असंख्यातभागवृद्धि स्थान असंख्यातगुणे हैं। तथा इनसे संख्यातभागवृद्धिस्थान संख्यातगुणे हैं आदि बतलाया गया है।

इस प्रकार अनुभागबन्धस्थान के आश्रय से यह प्ररूपणा समाप्त कर अन्त में वीरसेन स्वामी ने अनुभागसत्कर्म के आश्रय से यह सब विचार कर दूसरी चूलिका समाप्त की है।

तीसरी चूलिका में जीवसमुदाहार का विचार किया गया है। इसके ये आठ अनुयोगद्वार हैं - एक स्थान जीवप्रमाणानुगम, निरन्तरस्थान जीव प्रमाणानुगम , सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम, नानाजीव कालप्रमाणानुगम, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

(१) एकस्थानजीवप्रमाणानुगम — एक स्थान में जघन्यरूप से जीव एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्टरूप से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं, यह बतलाना इस प्ररूपणा का कार्य है।

(२) निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम — इस प्ररूपणा में जीवों से सहित निरन्तर स्थान एक, दो या तीन से लेकर अधिक से अधिक आवलि के असंख्यातवें भागप्रमाण होते हैं, यह बतलाया गया है।

(३) सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम — इस प्ररूपणा में जीवों से रहित स्थान कम से कम एक दो और तीन से लेकर अधिक से अधिक असंख्याततलोकप्रमाण होते हैं यह बतलाया गया है।

(४) नानाजीवकालप्रमाणानुगम - इस प्ररूपणा में एक-एक स्थान में नाना जीव जघन्य से एक समय तक और उत्कृष्ट से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण कालतक होते हैं, यह बतलाया गया है।

(५) वृद्धिप्ररूपणा - इसके दो भेद हैं - अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधा में जघन्य स्थान से लेकर द्वितीयादि स्थानों में कितने जीव होते हैं, यह बतलाया गया है तथा परम्परोपनिधा में जघन्य अनुभागस्थान में जितने जीव हैं उनसे असंख्याततलोक जाकर वे दूने हो जाते हैं, इत्यादि बतलाया गया है।

(६) यवमध्यप्ररूपणा - इस प्ररूपणा में सब स्थानों का असंख्यातवां भाग यवमध्य होता है यह बतलाकर यवमध्य के नीचे के स्थान सबसे थोड़े हैं और उपरिम स्थान असंख्यातगुणे हैं यह बतलाया गया है।

(७) स्पर्शनप्ररूपणा - इस प्ररूपणा में उत्कृष्ट अनुभागबन्ध स्थान, जघन्य अनुभाग बन्धस्थान, काण्डक और यवमध्य आदि का एक जीव के द्वारा स्पर्शनकाल कितना है, इसका विचार किया गया है।

(८) अल्पबहुत्व - उत्कृष्ट अनुभागस्थान, जघन्यअनुभागस्थान, काण्डक और यवमध्य में कहाँ कितने जीव हैं इसके अल्पबहुत्व का विचार इस प्ररूपणा में किया गया है।

८. वेदनाप्रत्ययविधान

इस अनुयोगद्वार में नैगमादि नयों के आश्रय से ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की वेदना के बन्ध कारणों का विचार किया गया है। यथा - नैगम, व्यवहार और संग्रह नय की अपेक्षा सब कर्मों की वेदना का बन्ध प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, रात्रिभोजन, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, माया, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग से होता है। ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होता है। तथा शब्द नयकी अपेक्षा किससे किसका बन्ध होता है यह कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस नयमें कार्यकारणसम्बन्ध नहीं बनता।

९. वेदनास्वामित्वविधान

इस अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के स्वामी का विचार किया गया

है। ऐसा करते हुए नयभेद से ये भंग आये हैं - नैगम और व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की वेदना का कथंचित् एक जीव स्वामी है, कथंचित् नोजीव स्वामी है, कथंचित् नाना जीव स्वामी हैं, कथंचित् नाना नोजीव स्वामी हैं, कथंचित् एक जीव और एक नोजीव स्वामी है, कथंचित् एक जीव और नाना नोजीव स्वामी हैं, कथंचित् नाना जीव और एक नोजीव स्वामी हैं तथा कथंचित् नाना जीव और नाना नोजीव स्वामी हैं। यहाँ पर जीव और नोजीव पद की व्याख्या करते हुए वीरसेन स्वामी ने बतलाया है कि जो अनन्तानन्त विस्रसोपचय सहित कर्मपुद्गल स्कन्ध उपलब्ध होते हैं। वे जीव से पृथक् न पाये जाने के कारण जीवपद से लिए गये हैं। तथा वे ही अनन्तानन्त विस्रसोपचयसहित कर्मपुद्गल स्कन्ध ही प्राणधारण शक्ति से रहित होने के कारण अथवा ज्ञान-दर्शन शक्ति से रहित होने के कारण नोजीव कहलाते हैं। अथवा उनसे सम्बन्ध रखने के कारण जीव को भी नोजीव कहते हैं। संग्रह नय की अपेक्षा इन ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की वेदना का कथंचित एक जीव स्वामी है और कथंचित् नाना जीव स्वामी हैं। तथा शब्द और ऋतुसूत्रनय की अपेक्षा इन ज्ञानावरणादि वेदना का एक जीव स्वामी है। यहाँ इन नयों की अपेक्षा एक जीव को स्वामी कहने का कारण यह है कि ये नय बहुवचन को स्वीकार नहीं करते।

१०. वेदनावेदनाविधान

इस अनुयोद्धार में सर्वप्रथम नैगमन की अपेक्षा जीव, प्रकृति और समय इनके एकत्व और अनेकत्व का आश्रय करके ज्ञानावरण वेदना के एकसंयोगी, द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी भंगों का प्ररूपण किया गया है। यथा - ज्ञानावरणीय वेदना कथंचित् बध्यमान वेदना है, कथंचित् उदीर्ण वेदना है, कथंचित् उपशान्त वेदना है,कथंचित् बध्यमान वेदनाएँ हैं, कथंचित् उदीर्ण वेदनाएँ हैं, कथंचित उपशान्त वेदनाएं हैं, इत्यादि। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन भंगों का विवेचन करते हुए वीरसेन स्वामी ने विवक्षाभेद से इन भंगों के अन्य अनेक अवान्तर भंगों का भी निर्देश किया है। नैगमनय की अपेक्षा शेष सात कर्मों के भंग ज्ञानावरण के ही समान हैं। आगे व्यवहारनय और संग्रहनय की अपेक्षा यथासम्भव इन भंगों का क्रम से विवेचन करके ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा आठों कर्मों के फल प्राप्त विपाक को ही वेदना बतलाया है। शब्दनय का विषय इन सब दृष्टियों से अवक्तव्य है, यह स्पष्ट ही है।

११. वेदनागतिविधान

इस अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणादि कर्मों की वेदना अपेक्षाभेद से क्या स्थित है, क्या अस्थित है या क्या स्थितास्थित है, इस बात का विचार किया गया है। पहले नैगम,

संग्रह और व्यवहारनय की अपेक्षा बतलाया है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायकर्म की वेदना कथंचित् स्थित है कथंचित् अस्थित है और कथंचित् स्थितास्थित है। तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म की वेदना कथंचित् स्थित है, कथंचित् अस्थित् है और कथंचित स्थितअस्थित है। ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा विवेचन करते हुए बतलाया है कि आठों कर्मों की वेदना कथंचित् स्थित है और कथंचित् अस्थित है। तथा शब्द की अपेक्षा सब कर्मों की वेदना अवक्तव्य है, यह बतलाया गया है।

१२. वेदनाअन्तरविधान

ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होने पर वे उसी समय फल देते हैं या कालान्तर में फल देते हैं, इस विषय का विवेचन करने के लिए वेदनाअन्तरविधान अनुयोगद्वार आया है। इसमें बतलाया है कि नैगम और व्यवहारनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की वेदना अनन्तरबन्ध है, परम्पराबन्ध है और तदुभयबन्ध है। संग्रहनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की वेदना अनन्तरबन्ध है और परम्पराबन्ध है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा आठों कर्मों की वेदना परम्पराबन्ध है और शब्दनय की अपेक्षा आठों कर्मों की वेदना अवक्तव्यबन्ध है।

१३. वेदनासन्निकर्षविधान

ज्ञानावरणादि कर्मों की वेदना द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट भी होती है और जघन्य भी। फिर भी इनमें से प्रत्येक कर्म के उत्कृष्ट या जघन्य द्रव्यादि वेदना के रहने पर उसी की क्षेत्रादि वेदना किस प्रकार की होती है। तथा विवक्षित एक कर्म की द्रव्यादि वेदना उत्कृष्ट या जघन्य रहने पर अन्य कर्म की द्रव्यादि वेदना उत्कृष्ट या जघन्य किस प्रकार की होती है, इस बात का विचार करने के लिए यह वेदनासन्निकर्षविधान अनुयोगद्वार आया है। इस हिसाब से वेदनासन्निकर्ष के स्वस्थानसन्निकर्ष और परस्थानसन्निकर्ष ये दो भेद होकर उनमें से प्रत्येक के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार-चार भेद करके स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष और परस्थानवेदनासन्निकर्ष का इस अनुयोगद्वार में विस्तार के साथ विचार किया गया है।

१४. वेदनापरिमाणविधान

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की प्रकृतियां कितनी हैं इस बात का विवेचन करने के लिए यह अनुयोगद्वारा आया है। इसमें प्रकृतियों का विचार प्रकृत्यर्थता समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास इन तीन प्रकारों से किया गया है। प्रकृत्यर्थता अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणादि

कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की मुख्यता से उनकी संख्या बतलाई है। मात्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण और नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ क्रम से ५, ९ और ९३ न बतलाकार असंख्यात लोकप्रमाण बतलाई हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण की असंख्यात लोकप्रमाण प्रकृतियाँ क्यों है इसका कारण बतलाते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि चूंकि ज्ञान और दर्शन के अवान्तर भेद असंख्यातलोक प्रमाण हैं इसलिये इनको आवरण करने वाले कर्म भी उतने ही हैं। तथा नामकर्म की असंख्यात प्रकृतियाँ क्यों हैं इसका कारण बतलाते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि चूँकि आनुपूर्वी के भेदों का तथा गति, जाति और शरीरादि के भेदों का ज्ञान कराना आवश्यक था, अत: इस कर्म की असंख्यातलोकप्रमाण प्रकृतियाँ कही हैं। समयप्रबद्धार्थता अनुयोगद्वार में प्रत्येक कर्म के अवान्तर भेदों की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण समयप्रबद्धों से उस उस कर्म की अवान्तर प्रकृतियों को गुणितकर परिमाण लाया गया है। मात्र ऐसा करते हुए आयुकर्म का समयप्रबद्धार्थता की अपेक्षा परिमाण लाते समय आयुकर्म की अवान्तर प्रकृतियों को अन्तमुहूर्त से गुणा कराया गया है। इसका कारण बतलाते हुए वीरसेन स्वामी का कहना है कि आयुकर्म का बन्धकाल यत: अन्तर्मुहूर्त है अत: यहाँ अन्तमुहूर्तकाल से गुणा कराया गया है। क्षेत्रप्रत्यास अनुयोगद्वार में प्रत्येक कम की समयप्रबद्धार्थतारूप जितनी प्रकृतियाँ उपलब्ध हुई उनकी उस उस प्रकृति के उत्कृष्ट क्षेत्र से गुणित करके परिमाण लाया गया है।

१५. वेदनाभागाभागविधान

इस अनुयोगद्वार में पूर्वोक्त प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास की अपेक्षा अलग-अलग ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृतियों के भागाभागका विचार किया गया है। यथा - प्रकृत्यर्थता की अपेक्षा ज्ञानावरण और दर्शनावरण की प्रकृतियाँ अलग-अलग सब प्रकृतियों के कुछ कम दो भागप्रमाण बतलाई हैं और शेष छह कर्मों की प्रकृतियाँ अलग-अलग असंख्यातवें भागप्रमाण बतलाई हैं। इसीप्रकार समयप्रबद्धार्थता ओर क्षेत्रप्रत्यास की अपेक्षा भी किस कर्म की प्रकृतियाँ सब प्रकृतियों के कितने भाग प्रमाण हैं इसका विचार किया गया है।

१६. वेदनाअल्पबहुत्वविधान

इस अनुयोगद्वार में भी प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास का आश्रयकर अलग-अलग ज्ञानावरणादि कर्मों के अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

इस प्रकार इन सोलह अनुयोग द्वारों की प्ररूपणा समाप्त होने पर वेदनाखण्ड समाप्त होता है।

कम्मु पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।
अणु दिणु झायइ देउ जिणु सो परमप्पउ होई ।।

षट्. ५

वर्गणा

(बन्धनीय आलम्बन से विवेचन)

- वर्गणा प्ररूपणा एक
- वर्गणा निरूपणा दो
- वाहय वर्गणा विचार

(षटखंडागम पुस्तक क्र. १३,१४ की प्रस्तावना)

विषय-परिचय (पु.१३)

स्पर्श अनुयोगद्वार से वर्गणाखण्ड प्रारम्भ होता है। इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति इन तीन अधिकारों के साथ बन्धन अनुयोगद्वार के बन्ध और बन्धनीय इन दो अधिकारों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। फिर भी इसमें बन्धनीय का आलम्बन लेकर वर्गणाओं का सविस्तर वर्णन किया है, इसलिए इसे वर्गणाखण्ड इस नाम से सम्बोधित करते हैं।

१. स्पर्श अनुयोगद्वार

स्पर्श छूने को कहते हैं। वह नामस्पर्श और स्थापनास्पर्श आदि के भेद से अनेक प्रकार का है, इसलिए प्रकृत में कौन सा स्पर्श गृहीत है यह बतलाने के लिए यहां स्पर्श अनुयोगद्वार का आलम्बन लेकर स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान आदि १६ अधिकारों के द्वारा स्पर्श का विचार किया है।

१. स्पर्शनिक्षेप — स्पर्शनिक्षेप के नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरक्षेत्रस्पर्श, देशस्पर्श, त्वक्स्पर्श, स्पर्शस्पर्श, कर्मस्पर्श, बन्धस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श ये तेरह भेद हैं।

२. स्पर्शनयविभाषणता — अभी जो स्पर्शनिक्षेप के तेरह भेद बतलाए हैं उनमें से कौन स्पर्श किस नय का विषय है, यह बतलाने के लिए यह अधिकार आया है। नयके मुख्य भेद पांच हैं - नैगमनय, व्यवहारनय, संग्रहनय, ऋजुसूत्रनय और शब्दनय। इनमें से नैगमनय नामस्पर्श आदि सब स्पर्शों को स्वीकार करता है। व्यवहार और संग्रहनय बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्श को स्वीकार नहीं करते, शेष ग्यारह को स्वीकार करते हैं। ये दोनों नय बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्श को क्यों स्वीकार नहीं करते, इसके कारण निर्देश करते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि इन नयों की दृष्टि में एक तो बन्धस्पर्श का कर्मस्पर्श में अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए उसे अलग से स्वीकार नहीं करते। दूसरे बन्धस्पर्श बनता ही नहीं है, क्योंकि बन्ध और स्पर्श इनमें कोई ही नहीं है, इसलिए बन्धस्पर्श के समान भव्यस्पर्श भी इनका विषय नहीं है। ऋजुसूत्रनय स्थापनास्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरस्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्श इन पांच को स्वीकार नहीं करता; शेष नौ स्पर्शों को स्वीकार करता है। ऋजुसूत्रनय एकक्षेत्रस्पर्श को क्यों विषय नहीं करता, इसके कारण का निर्देश करते हुए

वीरसेन स्वामी कहते हैं कि इस नयकी दृष्टि में एकक्षेत्र नहीं बनता, क्योंकि एकक्षेत्र पदका 'एक जो क्षेत्र वह एकक्षेत्र' ऐसा अर्थ करने पर आकाश की दृष्टि से एक आकाशप्रदेश उपलब्ध होता है। परन्तु यह ऋजुसूत्र की दृष्टि में एकक्षेत्रस्पर्श नहीं बन सकता, क्योंकि स्पर्श दो का होता है, और यह नय दो को स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार इस नयकी दृष्टि से अनन्तरक्षेत्रस्पर्श भी नहीं बनता, क्योंकि यह नय आधार-आधेयभाव को स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार इस नयकी दृष्टि से स्थापनास्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्श का निषेध जानना चाहिए। यहां यद्यपि सूत्रगाथा में ऋजुसूत्र के विषय रूप से स्थापनास्पर्शका निषेध नहीं किया है, पर स्थापना ऋजुसूत्र का विषय नहीं है, इसलिए उसका निषेधस्वयं ही सिद्ध है । शब्दनय नामस्पर्श, स्पर्शस्पर्श और भावस्पर्श को स्वीकार करता है। इसका कारण बतलाते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि भावस्पर्श शब्दनय का विषय है, यह तो स्पष्ट ही है। किन्तु नाम के बिना भावस्पर्श का कथन नहीं किया जा सकता है, इसलिए नामस्पर्श भी शब्दनय का विषय है। और द्रव्य की विवक्षा किये बिना भी कर्कश आदि गुणों का अन्य गुणों के साथ सम्बन्ध देखा जाता है, इसलिए स्पर्शस्पर्श भी शब्दनय का विषय है।

आगे स्पर्शनामविधान आदि चौदह अनुयोगद्वारों का मूल में कथन न कर स्पर्शनिक्षेप आदि तेरह निक्षेपों का ही स्वरूप निर्देश किया है जो इस प्रकार है -

नामस्पर्श — एक जीव, एक अजीव, नाना जीव, नाना अजीव, एक जीव और एक अजीव, एक जीव और नाना अजीव,नाना जीव और एक अजीव, तथा नाना जीव और नाना अजीव; इनमें से जिस किसी का भी 'स्पर्श' ऐसा नाम रखना नामस्पर्श है।

स्थापनास्पर्श — काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोतकर्म आदि विविध प्रकार के कर्म तथा अक्ष और वराटक आदि जो भी संकल्पद्वारा स्पर्शरूप से स्थापित किये जाते हैं वह सब स्थापनास्पर्श है।

द्रव्यस्पर्श — एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ जो सम्बन्ध होता है वह सब द्रव्यस्पर्श है। सब मिलाकर यह द्रव्यस्पर्श ६३ प्रकार का है, क्योंकि छहों द्रव्यों के एकसंयोगी ६, द्विसंयोगी १६, त्रिसंयोगी २०, चतुःसंयोगी १५, पञ्चसंयोगी ६ और छहसंयोगी १, कुल ६३ संयोगी भङ्ग होते हैं।

एकक्षेत्रस्पर्श — जो द्रव्य अपने एक अवयवद्वारा अन्य द्रव्य का स्पर्श करता है उसे एकक्षेत्र स्पर्श कहते हैं। जैसे एक आकाशप्रदेश में अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु संयुक्त होकर या बन्ध को प्राप्त होकर निवास करते हैं।

अनन्तर क्षेत्रस्पर्श — विवक्षित क्षेत्र से लगा हुआ क्षेत्र अनन्तर क्षेत्र कहलाता है। कोई द्रव्य विवक्षित क्षेत्र में स्थित है और अन्य द्रव्य उससे लगे हुए क्षेत्र में स्थित हैं। ऐसी अवस्था में इन दो द्रव्यों का जो स्पर्श होता है वह अनन्तरक्षेत्रस्पर्श कहलाता है। इसी प्रकार जो द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध होते हैं उनका दो आकाशप्रदेशों आदि में निवास करने पर उन स्कन्धों में रहनेवाले परमाणुओं का भी अनन्तरक्षेत्रस्पर्श घटित कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जहां क्षेत्र का व्यवधान न होकर दो द्रव्यों का स्पर्श होता है वहां यह स्पर्श घटित होता है।

देशस्पर्श — एक द्रव्य के एक देश का अन्य द्रव्य के एकदेश के साथ जो स्पर्श होता है उसे देशस्पर्श कहते हैं। यह देशस्पर्श स्कन्धोंके अवयवों का ही होता है, परमाणुरूप पुद्गलों का नहीं; क्योंकि, परमाणुओं के अवयव नहीं उपलब्ध होते; यदि ऐसा कोई कहे तो उसका यह कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि परमाणु का विभाग नहीं हो सकता इस अपेक्षा उसे अप्रदेशी कहा है। वैसे तो परमाणु भी सावयव होता है, अन्यथा परमाणुओं के संयोग से स्कन्ध की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए दो या दो से अधिक परमाणुओं का भी एकदेशस्पर्श होता है।

त्वक्स्पर्श — वृक्ष की छाल को त्वक् और पपड़ी को नोत्वक् कहते हैं। तथा सूरण, अदरख, प्याज और हलदी आदि की बाह्य पपड़ी को भी नोत्वक् कहते हैं। द्रव्य का त्वचा और नोत्वचा के साथ जो स्पर्श होता है उसे त्वक्स्पर्श कहते हैं। त्वचा और नोत्वचा के ये स्कन्ध के ही अवयव हैं, इसलिए पृथक द्रव्य न होने से इसका द्रव्य स्पर्श में अन्तर्भाव नहीं किया है। यहां त्वचा और नोत्वचा के एक ओर नाना भेद करके आठ भङ्ग उत्पन्न करने चाहिए। ये भेद वीरसेन स्वामी ने लिखे हैं, इसलिए उनका अलग से विवेचन नहीं किया है। यहां त्वचा और नोत्वचा का द्रव्यके साथ अथवा परस्पर स्पर्श विवक्षित है, इतना विशेष जानना चाहिए।

सर्वस्पर्श — एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ जो सर्वांग स्पर्श होता है उसे सर्वस्पर्श कहते हैं। उदाहरणार्थ एक आकाशप्रदेश में बन्ध को प्राप्त हुए दो परमाणुओं का सर्वांग स्पर्श देखा जाता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों का यथासम्भव सर्वस्पर्श जानना चाहिए।

स्पर्शस्पर्श — स्पर्श गुण के आठ भेद हैं। उनका स्पर्शन इन्द्रिय के साथ जो स्पर्श होता है उसे स्पर्शस्पर्श कहते हैं। यहां पर कर्कश आदि गुणों के परस्पर स्पर्श की

विवक्षा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्य रूप आदि गुणों का भी स्पर्श लेना पड़ेगा। किन्तु सूत्र में स्पर्शस्पर्श से कर्कश आदि आठ प्रकार के स्पर्श का ही ग्रहण किया है। इससे स्पष्ट है कि यहां कर्कश आदि का परस्पर स्पर्श विवक्षित नहीं है।

कर्मस्पर्श — ज्ञानावरण आदि के भेद से कर्म आठ प्रकार के हैं। इनका तथा इनके विस्रसोपचयों का जीव के साथ जो सम्बन्ध है वह सब कर्मस्पर्श कहलाता है। ज्ञानावरणादि कुल कर्म आठ हैं। इनमें से प्रत्येक कर्म का अपने साथ व अन्य कर्मों के साथ सम्बन्ध है, अत: कुल चौंसठ भंग होते हैं। उनमें से पुनरुक्त २८ भंगों को कम कर देने पर ३६ अपुनरुक्त भङ्ग शेष रहते हैं।

बन्धस्पर्श — औदारिकशरीर का औदारिकशरीर के साथ, तथा इसी प्रकार अन्य शरीरों का अपने-अपने साथ जो स्पर्श होता है उसे बन्धस्पर्श कहते हैं। कर्म का कर्म और नोकर्म के साथ तथा नोकर्म और कर्म के साथ स्पर्श होता है, यह दिखलाने के लिए कर्मस्पर्श और बन्धस्पर्श को द्रव्यस्पर्श से अलग कहा है। इस बन्धस्पर्श के कुल भङ्ग २३ हैं। उनमें से ९ पुनरुक्त भङ्ग अलग कर देने पर १४ अपुनरुक्त भङ्ग शेष रहते हैं। वीरसेन स्वामी ने इनका अलग से निर्देश किया ही है।

भव्यस्पर्श — जो आगे स्पर्श करने योग्य होंगे, परन्तु वर्तमान में स्पर्श नहीं करते, वह भव्यस्पर्श कहलाता है। मूल सूत्र में इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार दिए हैं - विष, कूट, यन्त्र, पिंजरा, कन्दक और जाल आदि तथा इनको करनेवाले और इन्हें इच्छित स्थान में रखने वाले। यद्यपि इनका वर्तमान में अन्य पदार्थ से स्पर्श नहीं हो रहा है, पर आगे होगा; इसलिए इसकी भव्यस्पर्श संज्ञा है।

भावस्पर्श - स्पर्शविषयक शास्त्र का जानकार और वर्तमान में उसके उपयोगवाला जीव भावस्पर्श कहलाता है। जो स्पर्शविषयक शास्त्र का ज्ञाता नहीं है, परन्तु स्पर्शरूप उपयोग से उपयुक्त है, उसकी भी भावस्पर्श संज्ञा है। अथवा जीव और पुद्गल आदि द्रव्यों के जो ज्ञान आदि भाव होते हैं उनके सम्बन्ध को भी भावस्पर्श कहते हैं।

इस प्रकार ये कुल १३ स्पर्श हैं। इनमें से इस शास्त्र में कर्मस्पर्श से ही प्रयोजन है, क्योंकि यह शास्त्र आध्यात्मविद्या का विवेचन करता है, इसलिए यहां अन्य स्पर्श नहीं लिए गये हैं और न स्पर्शनामविधान आदि अन्य अनुयोगद्वारों का आलम्बन लेकर उनका विचार ही किया है। उसमें भी कर्म का विवेचन वेदना आदि अनुयोगद्वारों में विस्तार के साथ किया है, इसलिए यहां उसका भी कर्मस्पर्शनयविभाषणता आदि अनुयोगद्वारों का आलम्बन लेकर विचार नहीं किया है।

२. कर्मअनुयोगद्वार

कर्म का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है क्रिया। निक्षेपव्यवस्था के अनुसार इसके नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म ये दस भेद हैं। साधारणतः कर्म का कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता आदि सोलह अनुयोगद्वारों का आलम्बन लेकर विचार किया जाता है। यहां सर्वप्रथम कर्मनिक्षेप के दस भेद गिनाकर किस कर्म को कौन नय स्वीकार करता है, यह बतलाया गया है। इसके बाद प्रत्येक निक्षेप के स्वरूप पर प्रकाश डालागया है। नय के पांच भेद पहले लिख आये हैं। उनमें से नैगमनय, व्यवहारनय और संग्रहनय सब कर्मों को विषय करते हैं। ऋजुसूत्रनय स्थापनाकर्म के सिवा शेष नौ कर्मों को स्वीकार करता है। तथा शब्दनय नामकर्म और भावकर्म को ही स्वीकार करता है। कारण स्पष्ट है।

नामकर्म और स्थापनाकर्म सुगम हैं। जीव या अजीवका 'कर्म' ऐसा नाम रखना नामकर्म है। काष्ठकर्म आदि में तदाकार या अतदाकार कर्म की स्थापना करना स्थापनाकर्म है।

द्रव्यकर्म — जिस द्रव्य की जो सद्भाव क्रिया है। उदाहरणार्थ - ज्ञान-दर्शन रूप से परिणमन करना जीव द्रव्य की सुद्भाव क्रिया है। वर्ण, गन्ध आदि रूप से परिणामन करना पुद्गल द्रव्य की सद्भाव क्रिया है। जीवों और पुद्गलों के गमनागमन में हेतु रूप से परिणमन करना धर्म द्रव्य की सद्भाव क्रिया है। जीवों और पुद्गलों के स्थित होने के हेतुरूप से परिणमन करना अधर्म द्रव्य की सद्भाव क्रिया है। सब द्रव्यों के परिणमन में हेतु होना काल द्रव्य की सद्भाव क्रिया है। अन्य द्रव्यों के अवकाशदानरूप से परिणमन करना आकाश द्रव्य की सद्भाव क्रिया है। इस प्रकार विवक्षित क्रिया रूप से द्रव्यों के परिणमन का जो स्वभाव है वह सब द्रव्यकर्म है।

प्रयोगकर्म — मनः प्रयोगकर्म, वचनप्रयोगकर्म और कायप्रयोगकर्म के भेद से प्रयोगकर्म तीन प्रकार का है। मन, वचन और काय आलम्बन हैं। इनके निमित्त से जो जीव का परिस्पंद होता है उसे प्रयोगकर्म कहते हैं। मनःप्रयोगकर्म और वचनप्रयोग कर्म में से प्रत्येक सत्य, असत्य, उभय और अनुभय के भेद से चार प्रकार का है। कायप्रयोगकर्म औदारिक शरीर कायप्रयोगकर्म आदि के भेद से सात प्रकार का है। यह तीनों प्रकार का प्रयोग कर्म यथासम्भव संसारी जीवों के और सयोगी जिनके होता है।

समवदानकर्म — जीव आठ प्रकार के, सात प्रकार के या छह प्रकार के कर्मों को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होताहै; इसलिए यह सब समवदानकर्म है। समवदान का अर्थ विभाग करना है। जीव मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगसे निमित्त से कर्मों को ज्ञानावरणादि रूप से आठ, सात या छह भेद करके ग्रहण करता है, इसलिए इसे समवदानकर्म कहते हैं; यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

अध:कर्म — जीव अंगछेदन, परिताप और आरम्भ आदि नाना कार्य करता है। उसमें भी ये कार्य औदारिकशरीर के निमित्त से होते हैं, इसलिए उसकी अध:कर्म संज्ञा है। यद्यपि नारकियों के वैक्रियिक शरीर द्वारा भी ये कार्य देखे हैं, पर वहां इनका फल जीववध नहीं दिखाई देता। इसीलिए औदारिकशरीर की ही यह संज्ञा है।

ईर्यापथकर्म — ईर्या अर्थात् केवल योग के निमित्त से जो कर्म होता है वह ईर्यापथकर्म कहलाता है। यह ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक होता है, क्योंकि केवल योग इन्हीं गुणस्थानों में उपलब्ध होता है। यहां वीरसेन स्वामी ने तीन पुरानी गाथाओं को उद्धृत कर ईर्यापथकर्म का अति सुन्दर विवेचन करते हुए लिखा है कि ईर्यापथकर्म अल्प है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म अल्प अर्थात् एक समय तक ही रुकते हैं। वह बादर है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्मपुद्गल बहुत होते हैं। यहांयह कथन वेदनीय कर्म की मुख्यता से किया है। वह मृदु है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म कर्कश आदि गुणों से रहित होते हैं। वह रूक्ष है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म रूक्ष गुणयुक्त होते हैं। वह शुक्ल है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म अन्य वर्ण से रहित एक मात्र शुक्ल रूप को लिए हुए होते हैं। वह मन्द्र है,क्योंकि वह सातारूप परिणाम को लिए हुए होता है। वह महाव्ययवाला है, क्योंकि यहां असंख्यातगुणी निर्जरा देखी जाती है। वह सातारूप है, क्योंकि वहां भूख-प्यास आदि की बाधा नहीं देखी जाती। वह गृहीत होकर भी अगृहीत है, बद्ध होकर भी अबद्ध है, स्पृष्ट होकर भी अस्पृष्ट है, उदित होकर भी अनुदित है, वेदित होकर भी अवेदित है, निर्जरावाला होकर भी एक साथ निर्जरावाला नहीं है, और उदीरित होकर भी अनुदीरित है। कारण का निर्देश वीरसेन स्वामी ने किया ही है।

तप:कर्म — रत्नत्रय को प्रगट करने के लियेजो इच्छाओं का निरोध किया जाता है वह तप कहलाता है। इसके बारह भेद हैं - छह अभ्यन्तर तप और छह बाह्य तप। बाह्य तपों में पहला अनशन तप है। इसे अनेषण भी कहते हैं। विवक्षित दिन या कई दिन या कई दिन तक किसी प्रकार का आहार न लेना अनशन तप है। स्वाभाविक आहार से कम

आहार लेना अवमौदर्य तप है। सामान्यत: पुरुष का आहार ३२ ग्रासका और महिला का आहार २८ ग्रास का माना गया है। एक ग्रास एक हजार चावल का होता है और इसी अनुपात से यहां पुरुष और महिला के ग्रासों का विधान किया गया है। वैसे जो जिसका स्वाभाविक आहार है वह उसका आहार माना गया है और उससे न्यून आहार अवमौदर्य तप कहलाता है। भोजन, भाजन और घर आदि को वृत्ति कहते हैं और इसका परिसंख्यान करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। क्षीर, गुड़, घी, नमक, और दही आदि रस हैं। इनका परित्याग करना रसपरित्याग तप है। वृक्ष के मूल में निवास, आतापन योग और पर्यंकासनआदि केद्वारा जीवका दमन कायक्लेश तप है। तथा विविक्त अर्थात् एकान्त में उठना, बैठना व शयन करना विविक्तशय्यासन तप है। यह छह प्रकार का बाह्य तप है। यह बाह्य अर्थात् मार्गविमुख जनों के भी ध्यान में आता है, इसलिए इसकी बाह्य तप संज्ञा है।

कृत अपराध के निराकरण के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है उसकी प्रायश्चित संज्ञा है। यहां पर प्राय: शब्द का अर्थ लोक है और चित्त का अर्थ मन है। अत: चित्त का संशोधन करना ही प्रायश्चित है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। वह प्रायश्चित आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान के भेद से दस प्रकार का है। इनमें से आलोचना गुरु की साक्षीपूर्वक और प्रतिक्रम गुरु के बिना अल्प अपराध होने पर किया जाता है। तदुभय स्पष्ट ही है। गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदि से अलग करना विवेक है। तात्पर्य है कि जिस द्रव्य आदि के संयोग से दोषोत्पत्ति की सम्भावना हो उससे जुदा कर देना विवेक प्रायश्चित्त है। ध्यानपूर्वक नियत समय के लिए कायसे मोह छोड़कर स्थित रहना व्युत्सर्ग प्रायश्चित है। उपवास, आचाम्ल आदि करना तप प्रायश्चित है। विवक्षित समय तक की दीक्षा का छेद करना छेद प्रायश्चित है। पूदी दीक्षा का छेद करना मूल प्रायश्चित्त है। परिहार दो प्रकार का है - अनवस्थाप्य और पारंचिक। अनवस्थाप्य का जघन्य काल छह माह और उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है। यह कायभूमि से दूर रहकर विहार करता है, इसकी कोई प्रतिवन्दना नहीं करता, वह गुरु के साथ ही संभाषण कर सकता है। पारंचिक तप में इतनी विशेषता है कि इसे जहां साधर्मी बन्धु नहीं होते ऐसे क्षेत्र में आहारादि की विधि सम्पन्न करते हुए निवास करना पड़ता है। यह दोनों प्रकार का प्रायश्चित राज्यविरुद्ध कार्य करने पर दिया जाता है। मिथ्यात्व को प्राप्त होने पर पुन: सद्धर्म को स्वीकार करना श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त है।

ज्ञानादि के भेद से विनय पांच प्रकार का है। आचार्य आदि की आपत्ति को दूर करना वैयावृत्यं तप है। जिनागम के रहस्य का अध्ययन करना स्वाध्याय तप है। एकाग्र

होकर अन्य चिन्ता का निरोध करना ध्यान तप है। कषायों के साथ देह का त्याग करना कायोत्सर्ग तप है। यह छह प्रकार का अभ्यन्तर तप है।

यहां ध्यान का विस्तार से वर्णन करते हुए ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का फल, इन चारों का विस्तार से विवेचन किया गया है। ध्यान के चार भेदों में से धर्मध्यान अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक, और शुक्लध्यान उपशान्तमोह गुणस्थान से होता है, यह बतलाया है। शुक्लध्यान के चार भेदों में से पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम ध्यान उपशान्तकषाय गुणस्थान में मुख्य रूप से होता है और कदाचित् एकत्ववितर्कअवीचार ध्यान भी होता है। क्षीणमोह गुणस्थान में एकत्ववितर्कअवीचार ध्यान मुख्य रूप से होता है और प्रारम्भ में पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान भी होता है।

क्रियाकर्म -- इसमें आत्माधीन होकर गुरु, जिन और जिनालय की तीन बार प्रदक्षिणा की जाती है। अथवा तीनों संध्याकालों में नमस्कारपूर्वक प्रदक्षिणा की जाती है, तीन बार भूमि पर बैठकर नमस्कार किया जाता है। विधि यह है कि शुद्धमन से और पादप्रक्षालन कर जिन भगवान् के आगे बैठना प्रथम नमस्कार है। फिर उठकर और प्रार्थना करके बैठना दूसरा नमस्कार है। पुन: उठकर और सामायिकदण्डक द्वारा आत्मशुद्धि करके कषाय और शरीर का उत्सर्ग करके जिन देव के अनन्त गुणों का चिन्तवन करते हुए चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना करके तथा जिन, जिनालय और गुरु की स्तुति करके बैठना तीसरा नमस्कार है। इस प्रकार एक क्रियाकर्म में तीन अवनति होती हैं। सब क्रियाकर्म चार नमस्कारों को लिये हुए होता है। यथा-- सामायिक के प्रारम्भ में और अन्त में जिनदेव को नमस्कार करना तथा 'त्थोस्सामि' दण्डक के आदि में और अन्त में नमस्कार करना। इस प्रकार एक क्रियाकर्म के चार नमस्कार होते हैं। तथा प्रत्येक नमस्कार के प्रारम्भ में मन वचन और कायकी शुद्धि के ज्ञापन करने के लिए तीन आवर्त किये जाते हैं। सब आवर्त बारह होते हैं। यह क्रियाकर्म हैं। मूलाचार और प्राचीन अन्य साहित्य में भी उपासाना की यही विधि उपलब्ध होती है। यह साधु और श्रावक दोनों के द्वारा अवश्यकरणीय है।

भावकर्म -- जिसे कर्म प्राभृत का ज्ञान है और उसका उपयोग है उसे भावकर्म कहते हैं। इस प्रकार कर्म के दस भेद हैं। उनमें से प्रकृत में समवदानकर्म प्रकरण है, क्योंकि कर्म अनुयोगद्वार में विस्तार से इसी का विवेचन किया गया है।

इसके आगे वीरसेन स्वामी ने प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अध:कर्म, ईर्यापथकर्म, तप:कर्म और क्रियाकर्म; इन छह कर्मों का सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव

और अल्पबहुत्व इन आठ अधिकारों के द्वारा ओघ और आदेश से विवेचन किया है। यथा-- ओघ से छहों कर्म हैं। आदेश से नारकियों और देवों में प्रयोगकर्म, समवदानकर्म और क्रियाकर्म हैं। शेषनहीं हैं। तिर्यञ्चों में ईर्यापथकर्म और तप:कर्म नहीं हैं, शेष चार हैं। मनुष्यों में छहों कर्म हैं। कारण स्पष्ट है। इसी प्रकार शेष मार्गणाओं में घटित कर लेना चाहिए। तात्पर्य इतना है कि प्रयोगकर्म तेरहवें गुणस्थान तक सब जीवों के उपलब्ध होता है, क्योंकि यथासम्भव मन, वचन और काय की प्रवृत्ति अयोगी और सिद्ध जीवों को छोड़कर सर्वत्र पायी जाती है। समवदानकर्म सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक सब जीवों के होता है, क्योंकि यहां तक किसी के आठ, किसी के सात और किसी के छह प्रकार के कर्मों का निरन्तर बन्ध होता रहता है। अध:कर्म केवल औदारिकशरीरके आलम्बन से होता है, इसलिए इसका सद्भाव मनुष्य तिर्यञ्चों के ही होता है। ईर्यापथकर्म उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगिकेवली के होता है, इसलिए यह मनुष्यों के बतलाया गया है। क्रियाकर्म अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से होता है, अत: इसका सद्भाव चारों गतियों में कहा गया है। तप:कर्म प्रमत्तसंयत गुणस्थान से होता है, अत: इसके स्वामी मनुष्य ही हैं। यह चार गति का विवेचन है। अन्य मार्गणाओं में इस विधि को जानकर घटित कर लेना चाहिए। तथा इसी विधि के अनुसार ओघ और आदेश से इनकी संख्या आदि भी जान लेनी चाहिए। इतनी विशेषता है कि संख्या आदि प्ररूपणाओं का विचार करते समय इन छह कर्मों की द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता की अपेक्षा कथन किया है, इसलिए यहां इनकी द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता का ज्ञान करा देना आवश्यक है।

प्रयोगकर्म, तप:कर्म और क्रियाकर्म में उस उस कर्मवाले जीवों की द्रव्यार्थता संज्ञा है और उन जीवों के प्रदेशों की प्रदेशार्थता संज्ञा है। समवदानकर्मऔर ईर्यापथकर्म में उस उस कर्मवाले जीवों की द्रव्यार्थता संज्ञा है और उन जीवों से सम्बन्ध को प्राप्त हुए कर्मपरमाणुओं की प्रदेशार्थता संज्ञा है। अध:कर्म में औदारिकशरीर के नोकर्मस्कन्धों की द्रव्यार्थता संज्ञा है और औदारिक शरीर के उन नोकर्मस्कन्धों के परमाणुओं की प्रदेशार्थता संज्ञा है। इसलिए संख्या आदि का विचार इन कर्मों की द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता की संख्या आदि को समझकर करना चाहिए।

३. प्रकृति अनुयोगद्वार

प्रकृति, शील और स्वभाव इनका एकही अर्थ है। उसका जिस अनुयोगद्वार में विवेचन हो उसका नाम प्रकृति अनुयोगद्वार है। इसका विचार प्रकृतिनिक्षेप आदि सोलह

अनुयोगद्धारों का आलम्बन लेकर किया जाता है। उसमें पहले प्रकृतिनिक्षेप का विचार करते हुए इसके नामप्रकृति, स्थापनाप्रकृति, द्रव्यप्रकृति और भावप्रकृति ये चार भेद किये गये हैं और इसके बाद कौन नय किस प्रकृति को स्वीकार करता है, यह बतलाते हुए कहा है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह नय सब प्रकृतियों कोस्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्रनय स्थापनाप्रकृति को स्वीकार नहीं करता। शब्दनय केवल नामऔर भावप्रकृति को स्वीकार करता है। कारण स्पष्ट है। आगे नामप्रकृति आदि का विस्तार से विचार किया है। यथा -

नामप्रकृति -- जीव और अजीव के एकवचन और बहुवचन तथा एक संयोगी और द्विसंयोगी जो आठ भेद हैं उनमें से जिस किसी का 'प्रकृति' ऐसा नाम रखना वह नामप्रकृति है।

स्थापनाप्रकृति -- काष्ठकर्म आदि में व अक्ष व वराटक आदि में बुद्धि से 'वह प्रकृति है' ऐसी स्थापना करना वह स्थापना प्रकृति है।

द्रव्यप्रकृति -- द्रव्य का अर्थ भव्य है। इसके दो भेद हैं - आगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमद्रव्यप्रकृति। आगमद्रव्यप्रकृति में प्रकृतिविषयक शास्त्र का जानकार उपयोगरहित जीव लिया गया है। अत: आगम के अधिकारी भेद से स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम ये नौ भेद करके उनकी वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति और धर्मकथा द्वारा ज्ञान सम्पादन की बातकही है। इसविधि से प्रकृति विषयकज्ञान सम्पादनकर जो उसके उपयोग से रहित है वहआगमद्रव्यप्रकृति कहलाता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। द्रव्यप्रकृति का दूसरा भेद नोआगमद्रव्यप्रकृति है। इसके दोभेदहैं - कर्मद्रव्यप्रकृति और नोकर्मद्रव्यप्रकृति। यह सर्वप्रथम नोकर्मद्रव्यप्रकृति के अनेक भेदों का संकेत करके कुछ उदाहरणों द्वारा नोकर्म की प्रकृति बतलाई गयी है। यथा - घट, सकोरा आदि की प्रकृति मिट्टी है, धान की प्रकृति जौ है, और तर्पण की प्रकृति गेहूं है। तात्पर्य यह है कि किसी कार्य के होने में जो पदार्थ निमित्त पड़ते हैं उन्हें नोकर्म कहते हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की दृष्टि से प्रत्येककर्म के नोकर्म का स्वतन्त्र विवेचन किया है। यथा- वस्त्रज्ञानावरण का नोकर्म है। तलवार वेदनीय का नोकर्म है। मद्य मोहनीय का नोकर्म है। आहार आयुकर्म का नोकर्म है। देह नाकर्म का नोकर्म है। उच्च-नीच शरीर गोत्रकर्म का नोकर्म है। भण्डारी अन्तराय कर्म का नोकर्म है। तात्पर्य यह है कि वस्त्रादि द्रव्य के सामने आ आने पर ज्ञानावरण का उदयविशेष होता है, जिससे वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इसलिए इसकी नोकर्म संज्ञा है। उसी प्रकार अन्य कर्मों के नोकर्म को घटितकर लेना चाहिए। वहां ये मूल प्रकृतियों की

अपेक्षा नोकर्म कहे गये हैं। उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा नोकर्म का विचार करते हुए इष्ट अन्न-पान आदि को सातावेदनीय का अनिष्ठ अन्न-पान आदि को असातावेदनीय का नोकर्म कहा है। इसका भी यही तात्पर्य है कि इष्ट अन्न-पान आदि का संयोग होने पर सातावेदनीय की उदय-उदीरणा होती है और अनिष्ट अन्न-पान आदि का संयोग होने पर असातावेदनीय की उदय-उदीरणा होती है। इन बाह्य पदार्थ के संयोग-वियोग यथासम्भव उस कर्म के उदय-उदीरणा में निमित्त होते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यहां प्रकृति अनुयोगद्वारमें मुख्य रूप से नोकर्म की क्या प्रकृति है, इसका विचार हो रहा है। इसलिए किस कार्य का क्या नोकर्म है, यह न बतलाकर जो पदार्थ नोकर्म हो सकते हैं उनकी प्रकृति का निर्देश किया है।

कर्मप्रकृति के ज्ञानावरण आदि आठ भेद हैं। इनका स्वरूप इनके नाम से ही परिज्ञात है। ज्ञानावरण - ज्ञान एक होकर भी बन्धविशेष के कारण उसके पांच भेद हैं, अत: सर्वत्र ज्ञानावरण के पांच भेद किये गये हैं। जो इन्द्रिय और नोइन्द्रिय के अभिमुख अर्थात् ग्रहणयोग्य नियमित विषय को जानता है वह आभिनिबोधिकज्ञान है। यह पांच इन्द्रियों और मन के निमित्त से अप्राप्त रूप बारह प्रकार के पदार्थो का अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप तथा प्राप्तरूप उन बारह प्रकार के पदार्थो का स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों के द्वारा मात्र अवग्रहरूप होता है; इसलिए इसके अनेक भेद हो जाते हैं। यथा- अवग्रह आदि के भेद से वह चार प्रकार का है, इन चार भेदों को पांच इन्द्रिय और मन इन छह से गुणा करने पर चौबीस प्रकार का है। इन चौबीस भेदों में व्यंजनावग्रह के चार भेद मिलाने पर अट्ठाईस प्रकार का है, और इनमें अवग्रह आदि चार सामान्य भेद मिलाने पर बत्तीस प्रकार का है। पुन: इन ४, २४, २८ और ३२ भेदों को छह प्रकार के पदार्थो से गुणा करने पर २४, १४४, १६८ और १९२ प्रकार का है तथा १२ प्रकार के पदार्थो से गुणा करने पर ४८, २२८, ३३६ और ३८४ प्रकार का है।

अवग्रह के भेदों का स्वरूपनिर्देश करते हुए वीरसेन स्वामी ने उनकी स्वतन्त्र व्याख्या प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह है और प्राप्त अर्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह हैं। इस आधार से उन्होंने स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन चार इन्द्रियों को प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकार के अर्थ का ग्रहण करने वाला माना है। इस कथन की पुष्टि में उन्होंने अनेक हेतु भी दिये हैं।

श्रोत्रेद्रिय के विषय का ऊहापोह करते हुए उन्होंने भाषा के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। वे अक्षरगत भाषा के भाषा और कुभाषा ये दो भेद करके लिखते हैं कि काश्मीर

देशवासी, पारसीक, सिंहल और वर्वरिक आदि जनों की भाषा कुभाषा है और ऐसी कुभाषायें सात सौ हैं। भाषायें अठारह हैं। इनका विभाग करते हुए वीरसेन स्वामी ने भारत देश के मुख्य छह विभाग किये हैं और प्रत्येक विभाग की तीन-तीन भाषायें मानी हैं। वे छह विभाग ये हैं - कुरु, लाठ, मरहठा, मालव गौड़ और मगध।

इसी प्रकार शब्द एक स्थान पर उत्पन्न होकर अन्य प्रदेशों में कैसे सुना जाता है, इस विषय का ऊहापोह करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द जिस प्रदेश में उत्पन्न होते हैं उनमें से बहुभाग तो वहीं रह जाते हैं और एक भाग प्रमाण शब्द उससे लगे हुए प्रदेश तक जाते हैं। इनमें भी बहुभाग उस दूसरे प्रदेश में रह जाते हैं और एक भाग प्रमाण शब्द आगे के प्रदेश तक जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर कम कम होते हुए वे लोक के अन्त तक जाते हैं। समय के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने दो समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल निर्धारित किया है। अर्थात् इन शब्दों को अपने उत्पत्तिस्थान से लोकान्त तक जाने में कम से कम दो समय लगते हैं और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। उन्होंने शब्द लोकान्त तक जाते हैं, इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वे उछल कर जाते हैं। इसलिए जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे ही उछल कर लोकान्त तक जाते हैं या तरङ्गक्रम से वे आगे नये नये शब्दों को उत्पन्न कर लोकान्त तक जाते हैं, यह विचारणीय है। वे शब्द सुने कैसे जाते हैं, इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि उत्पत्तिस्थान से जो शब्द सीध में सुने जाते हैं वे दो प्रकार से सुने जाते हैं - परघातरूप से और अपरघातरूप से। यदि वे दूसरे पदार्थ से टकराये नहीं हैं तो बाण के समान सीधी गति से आकर और कर्णछिद्र में प्रविष्ट होकर सुने जाते हैं, और यदि वे दूसरे से टकराकर सुने जाते हैं तो पहले वे सीध में किसी पदार्थ से टकराते हैं और तब फिर सीध को छोड़कर अन्य दिशा में गति करते हैं, पश्चात् वे फिर से अन्य पदार्थ से टकराकर सीध में आकर सुने जाते हैं। यह श्रेणिगत शब्दों के सम्बन्ध में विचार हुआ। इनसे भिन्न उच्छ्रेणिगत शब्द पराघात से (टकराकर) ही सुने जाते हैं।

आभिनिबोधिकज्ञानावरण के प्रकरण को समाप्त करते हुए यहां अन्त में आभिनिबोधिकज्ञान और अवग्रह आदि के पर्याय शब्द दिये गये हैं और उसे 'अण्णा परूवणा' कहा है। आभिनिबोधिकज्ञान के पर्यायवादी शब्द लिखते हुए कहा है कि संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये उसके पर्यायवाची नाम हैं। जहां तक विदित हुआ है आगमिक परम्परा में प्रथम ज्ञान को अभिनिबोधिकज्ञान ही कहा है और संज्ञा आदि उसके पर्यायवाची नाम कहे गये हैं। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में आभिनिबोधिकज्ञान शब्द के स्थान में

मतिज्ञान शब्द दृष्टिगोचर होता है और उसके बाद तत्वार्थसूत्र में यह क्रम दिखाई देता है। श्वेताम्बर आगम साहित्य भी इन शब्दों के प्रयोग में व्यत्यय देखा जाता है। उदाहरणार्थ समवायांग व नंदीसूत्र में आभिनिबोधिकज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु अन्यत्र व्यत्यय देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि ये आभिनिबोधिक, मति और स्मृति आदि शब्द एक ही अर्थ को कहते हैं। व्युत्पत्तिभेद से इनमें जो अर्थभेद किया जाता है वह ग्राह्य नहीं है। हां परोक्ष ज्ञान के भेदों में जो स्मृतिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान और तर्कज्ञान ये भेद आते हैं वे अवश्य ही आभिनिबोधिकज्ञान से भिन्न हैं और उनका समावेश मुख्यतया श्रुतज्ञान में होता है।

ज्ञान का दूसरा भेद श्रुतज्ञान है। यह मतिज्ञानपूर्वक मन के आलम्बन से होता है। तात्पर्य यह कि पांच इंद्रियों और मन के द्वारा पदार्थ को जानकर आगे जो उसी के सम्बन्ध में या उसके सम्बन्ध से अन्य पदार्थ के सम्बन्ध में विचार की धारा प्रवृत्त होती है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यहां सर्वप्रथम द्वादशांग वाणी की मुख्यता से उसके संख्यात भेद किये गये हैं, क्योंकि कुल अक्षर और उनके संयोगी भङ्ग संख्यात ही होते हैं। कुल अक्षर ६४ हैं। यथा - २५ वर्गाक्षर, य, र, ल और व ये ४ अन्तस्थ अक्षर; श, ष, स और ह ये ४ ऊष्माक्षर; अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, और औ ये नौ स्वर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से २७; तथा अं, अः ...... क और प ये ४ अयोगवाह। इस प्रकार सब मिलाकर ६४ स्वतन्त्र अक्षर होते हैं। इनके एकसंयोगी और द्विसंयोगी से लेकर चौसठसंयोगी तक सब अक्षर एकट्ठी प्रमाण होते हैं। एकट्ठी से तात्पर्य १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ संख्या से है। चौंसठ बार दो का अंक (२ X २ X २ इत्यादि) रख कर और परस्पर गुणा कर लब्ध राशि में से एक कम करने पर यह संख्या आती है। द्वादशांगवाणी का संकलन इन सब अक्षरों में हुआ था और इसलिए यह बतलाया गया है कि किस अंग में कितने अक्षर थे। वीरसेन स्वामी ने इन संयोगी और असंयोगी अक्षरोंका स्वयं ऊहापोह किया है। वे बतलाते हैं कि अ आदि प्रत्येक अक्षर असंयोगी अर्थात् स्वतंत्र अक्षर है औरअनेक अक्षर मिलाकर जो शब्द या वाक्य बनता है वह संयोगी अक्षरों का उदाहरण हैं। इसके लिए उन्होंने 'या श्रीः सा गौः' यह दृष्टान्त उपस्थित किया है। इस दृष्टान्त में 'य्, आ, श्, र्, ई, अं, स्, आ, ग्, औ और अः' ये ग्यारह अक्षर आये हैं। वीरसेन स्वामी इन्हें एक संयुक्ताक्षर मानते हैं। इससे द्वादशांग में संयुक्त और असंयुक्त अक्षर किस प्रकार के होंगे और उनका उच्चारण किस प्रकार से होता होगा, यह सब स्थिति स्पष्ट हो जाती है। पुनरुक्त अक्षरों का जो प्रश्न खड़ा किया जाता है उसपर भी इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। द्वादशांग वाणी में पद का प्रमाण अलग से माना गया है। इससे विदित होता है कि वहां पदों की परिगणना किसी वाक्य या श्लोक

के एक चरण के आधार से नहीं की जाती रही है, जिस प्रकार कि वर्तमान में गद्यात्मक या पद्यात्मक ग्रन्थ के परिमाण की गणना बत्तीस अक्षर ही नहीं होते; किन्तु मात्रा, विसर्ग और संयुक्त अक्षर बाद करके ये लिए जाते हैं। तथा गद्यात्मक या अनुष्टुप् सिवा अन्य पद्यात्मक साहित्य में चाहे वाक्य पूरा हो या न हो जहां बत्तीस अक्षर होते हैं वहां एक अनुष्टुम् श्लोक का परिमाण मान लिया जाता है। उसी प्रकार द्वादशांग वाणी में भी मध्यम पद के द्वारा इन अक्षरों की परिगणना की गई होगी। मात्र वहां पर गणना करते समय मात्रा आदि भी अक्षर के रूप में परिगणित किये गये होंगे। हां प्रत्येक अंग ग्रन्थ में अपुनरुक्त अक्षरोंका विभाग किस प्रकार किया गया होगा और प्रत्येक ग्रन्थ का इतना महा परिमाण कैसे सम्भव है, ये प्रश्न अवश्य ही ध्यान देने योग्य है। सम्भव है उत्तर काल में इनका भी निर्णय हो जाय और एतद्विषयक जिज्ञासा समाप्त हो जाय।

इस प्रकार अक्षरों की अपेक्षा श्रुतज्ञान का विचार कर आगे क्षयोपशम की दृष्टि से उसका विचार किया गया है।इसमें सबसे अल्प क्षयोपशम रूप ज्ञान को श्रुतज्ञान का प्रथम भेद माना गया है। इसका नाम पर्यायज्ञान है। यह सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक के होता है और नित्योद्घाटित है। अर्थात् इस ज्ञान के योग्य क्षयोपशम का संसारी छद्मस्थ जीव के कभी अभाव नहीं होता। इसका परिमाण अक्षरस्वरूप केवलज्ञान का अनन्तवां भाग है। इसके बाद दूसरा भेद पर्यायसमास है। यह पर्यायज्ञान से क्रमवृद्धिरूप है। वृद्धिका निर्देश धवला में किया ही है। तीसरा भेद अक्षरज्ञान है। विवक्षित अकारादि एक अक्षर के ज्ञान के लिए जितना क्षयोपशम लगता है तत्प्रमाण यह ज्ञान है। इसी प्रकार क्रमवृद्धिरूप आगे के ज्ञान जानने चाहिए। इतनी विशेषता है कि पर्यायज्ञान के ऊपर छह स्थानपतित वृद्धि होती है और अक्षरज्ञान के ऊपर अक्षर ज्ञान के क्रम से वृद्धि होती है। यद्यपि कुछ आचार्य अक्षरज्ञान के ऊपर भी छह स्थानपतित वृद्धि स्वीकार करते हैं, पर वीरसेन स्वामी इससे सहमत नहीं हैं। पदज्ञान से यहां मध्यम पद का ज्ञान लिया गया है। एक मध्यम पद में १६३४८३०७८८८ अक्षर होते हैं, क्योंकि द्वादशांग के पदों की गणना इतने अक्षरोंका एकपद मानकर की जाती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि होकर पूर्वसमास ज्ञान के अन्तिम विकल्प में श्रुतज्ञान की समाप्ति होती है। यह ज्ञान श्रुतकेवली के होता है। इस प्रकार क्षयोपशम की दृष्टि से श्रुतज्ञान के कुल भेद २० होते हैं।

पूर्व चौदह हैं। उनमें से प्रथम पूर्व का नाम उत्पादपूर्व है और अन्तिम पूर्व का नाम लोकबिन्दुसार है। इसलिए प्रथम पूर्व को मुख्य मान कर क्षयोपशम की वृद्धि करने पर भी यही क्रम बैठता है और अन्तिम पूर्व को प्रथम मानकर क्षयोपशम की वृद्धि करने पर भी

यही क्रम उपलब्ध होता है, क्योंकि सब पूर्वो में अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व औरपूर्वसमास ज्ञान विवक्षित हैं। किस क्रम से ज्ञान होता है, इसकी यहां मुख्यता नहीं है; यह अभ्यास की बात है। हो सकता है कि पर्याय और पर्यायसमास ज्ञान के बाद किसी को उत्पादपूर्व के एक अक्षर का ज्ञान सर्वप्रथम हो, किसी को लोकबिन्दुसार के एक अक्षर का ज्ञान सर्वप्रथम हो, और किसी को अन्य पूर्व के एक अक्षर का ज्ञान सर्वप्रथम हो। ज्ञान किसी भी पूर्व का हो, वह होगा अक्षरादिक्रम से ही; क्योंकि संघात आदि पूर्व के अधिकार हैं। किस पूर्व में कितनी वस्तुएं होती हैं, इसका अलग से निर्देश किया है। सब वस्तुओंका ज्ञान वस्तुसमासज्ञान कहलाता है। मात्र एक अक्षर का ज्ञान इस ज्ञान में से घटा देना चाहिए,क्योंकि एक पूर्व सम्बन्धी सब वस्तुओं का पूरा ज्ञान हो जाने पर उसकी पूर्वसमासश्रुतज्ञान संज्ञा होती है। इसी प्रकार वस्तु के अवान्तर अधिकार प्राभृतों के सम्बन्ध में जानना चाहिए। तथा यही क्रम अन्य अधिकारों, अधिकारों के पदों और पदों के अक्षरों के विषय में भी जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि समस्त श्रुतज्ञान के विकल्प मुख्यातया चौदह पूर्वज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान में पूर्वज्ञान की ही मुख्यता है।

इस प्रकार समस्त श्रुतज्ञान चौदह पूर्वो के ज्ञान के साथ सम्बन्धित हो जाने पर अंगबाह्यज्ञान, ग्यारह अंगों का ज्ञान; और परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग तथा चूलिकाओं का ज्ञान; ये श्रुतज्ञान के किस भेद में गार्भित है, यह प्रश्न उठता है। वीरसेन स्वामी ने इस प्रश्न का इस प्रकार समाधान किया है - वे कहते हैं कि इस सब ज्ञान का अनुयोगद्वार और अनुयोगद्वार समास में या प्रतिपत्तिसमास ज्ञान में अन्तर्भाव किया जा सकता है। यह पूछनेपर कि ये सब तो पूर्वसम्बन्धी अवान्तर अधिकार हैं, इनमें पूर्वातिरिक्त श्रुतज्ञान का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है। इस पर वीरसेन स्वामी का कहना है कि ये पूर्व के अवान्तर अधिकार ही होने चाहिए ऐसी कोई बात नहीं है; पूर्वातिरिक्त साहित्य के भी ये अधिकार हो सकते हैं।

साधारणत: इस प्रकार समाधान तो हो जाता है, पर फिर भी यह जिज्ञासा बनी रहती है कि यदि यही बात थी तो समस्त श्रुतज्ञान के भेद-प्रभेद समस्त पूर्वों और उनके अधिकारों व अवान्तर अधिकारों की दृष्टि से ही क्यों किये गये हैं। पूर्वो के ये अधिकार और अवान्तर अधिकार केवल दिगम्बर परम्परा ही स्वीकार करती हो, ऐसी बात नहीं है; श्वेताम्बर परम्परा में भी ये इसी प्रकार स्वीकार किये गये हैं। हमारा विश्वास है कि विशेष अनुसन्धान

करने पर इसमें ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ना सम्भव है। क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि श्रुतज्ञान में पहले पूर्वों सम्बन्धी ज्ञान ही विवक्षित था। बाद में उसमें आचारांग आदि सम्बन्धी अन्य ज्ञान गर्भित किया गया है। जो कुछ हो, है यह प्रश्न विचारणीय। इस प्रकार श्रुतज्ञान की प्ररूपणा करके अन्त में उसके पर्याय नाम दिये गये हैं जो कई दृष्टियों से महत्व रखते हैं।

तीसरा ज्ञान अवधिज्ञान है। इसे मर्यादाज्ञान भी कहते हैं, क्योंकि यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि की सहायता के बिना होता है। क्षयोपशम की दृष्टि से असंख्यात प्रकार का होकर भी इसके मुख्य भेद दो हैं- भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों, नारकियों तथा तीर्थङ्करों के होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तिर्यञ्चों व मनुष्यों के होता है। देवों और नारकियों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान होते हुए भी वह पर्याप्त अवस्था में ही होता है, इतना विशेष समझना चाहिए। तिर्यञ्चों और मनुष्यों के गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त अवस्था में ही होता है, यह स्पष्ट है। इन दोनों अवधिज्ञानों के अनेक भेद हैं - देशावधि, परमावधि और सर्वावधि तथा हीयमान, वर्द्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र। इन सबका विशेष विचार यहां वीरसेन स्वामी ने किया है। किस अवधिज्ञान का द्रव्य, क्षेत्र और काल कितना है; इसका भी विचार मूल सूत्रों में और धवला टीका में भी किया गया है।

ज्ञान का चौथा भेद मन:पर्यय ज्ञान है। यह दूसरे के मन में अवस्थित विषय को जानता है, इसलिए इसकीमन:पर्यय ज्ञान संज्ञा है। इसके दो भेद हैं - ऋजुमति और विपुलमति। इनमें विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र का विचार करते हुए सूत्र में कहा है कि यह ज्ञान उत्कृष्ट रूप से मानुषोत्तर शैल के भीतर जानता है, बाहर नहीं। वीरसेन स्वामी ने इसका व्याख्यान करते हुए क्षेत्र के विषय में तो यह बतलाया है कि मानुषोत्तर शैल पैंतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र का उपलक्षण है। इसलिए इससे मानुषोत्तर शैल के बाहर का प्रदेश भी लिया जासकता है। कारण कि उत्कृष्ट विपुलमति मन:पर्ययज्ञानी जहां स्थित होगा वहां से दोनों ओर के समान क्षेत्र के विषय को ही जानेगा। मान लीजिये कि कोई एक विपुलमति मन:पर्ययज्ञानी मानुषोत्तर शैल से एक लाख योजन हटकर अवस्थित है। ऐसीअवस्था में वह दोनों ओर साढे बाईस लाख योजन तक के विषय को जानेगा, अत: स्वाभावत: उसका विषयक्षेत्र मानुषोत्तर शैल के बाहर हो जायेगा। यह नहीं हो सकता कि एक ओर वह एक लाख योजन क्षेत्र का विषय जाने और दूसरी ओर ४४ लाख योजन का (देखिये पृ. ३४४ का विशेषार्थ)।

ज्ञान का पांचवां भेद केवलज्ञान है। यह सकल है, सम्पूर्ण है, और असपत्न है। खण्डरहित होने से वह सकल है। पूर्णरूप से विकास को प्राप्त होकर अवस्थित है, इसलिए सम्पूर्ण है। कर्म-शत्रुओं का अभाव हो जाने के कारण असपत्न है। इसके विषय का निर्देश करते हुए बतलाया है कि यह सब लोक, सब जीव और सब भावों को एक साथ जानता है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव जानना और देखना है। यदि वह समर्याद जानता है तो उसका कारण प्रतिबन्धक कारण है। किन्तु जब सब प्रकार के प्रतिबन्धक कारण दूर हो जाते हैं तो फिर ज्ञान में यह मर्यादा नहीं की जा सकती कि वह इतने क्षेत्र और इतने काल के भीतर के विषय को ही जान सकता है। इसलिए केवलज्ञान का विषय तीनों कालों और तीनों लोकों के समस्त पदार्थ माने गये हैं। ये ज्ञान के पांच भेद हैं, इसलिए ज्ञानावरण कर्म के भी पांच भेद माने गये हैं।

आत्मसंवेदन का नाम दर्शन है। इसका जो आवरण करता है उसे दर्शनावरण कहते हैं। इसकी चक्षुदर्शनावरण आदि ९ प्रकृतियां हैं।

साधारणत: दर्शन के स्वरूप के विषय में विवाद है। कुछ ऐसा मानते हैं कि ज्ञान के पूर्व जो सामान्यवलोकन होता है उसे दर्शन कहते हैं। किन्तु वीरसेन स्वामी यहां 'सामान्य' पद से आत्मा को ग्रहण करके यह अर्थ करते हैं कि उपयोग की आभ्यन्तर प्रवृत्ति का नाम दर्शन और बाह्य प्रवृत्ति का नाम ज्ञान है। दर्शन में कर्ता और कर्म के भेद नहीं होता, परन्तु ज्ञान में कर्ता और कर्म का स्पष्टत: भेद परिलक्षितहोता है। तात्पर्य यह है कि किसी विषय को जानने के पहले जो आत्मोन्मुख वृत्ति होती है उसे दर्शन कहते हैं और घट आदि पदार्थों को जानना ज्ञान है। दर्शन के मुख्य भेदचार हैं - चक्षुदर्शन,अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिए उसके पहले दर्शन नहीं होता; यह स्पष्ट ही है। इसी प्रकार मन:पर्ययज्ञान भी मतिज्ञानपूर्वक होता है इसलिए उसके पहले भी दर्शन नहीं होता, यह भी स्पष्ट है। शेष रहे तीन ज्ञान, सो इनमें मतिज्ञान पांच इन्द्रियों और मन के निमित्त से होता है। उसमें भी चाक्षुष ज्ञान को मुख्य मानकर दर्शन का एकभेद चक्षुदर्शन कहा गया है। शेष इन्द्रियों और मन की मुख्यता से दूसरे दर्शन का नाम अचक्षुदर्शन रखा है। अवधिज्ञान के पहले अवधिदर्शन होता है। यद्यपि आगम में अवधिदर्शन का सद्भाव चौथे गुणस्थान से माना गया है; इसलिए विभंगज्ञान के पहले कौन सा दर्शन होता है, यह शंका होती है जो वीरसेन स्वामी के सामने भी थी। पर वीरसेन स्वामी ने विभंगज्ञान के पहले होने वाले दर्शन को अवधिदर्शन ही माना है। केवलज्ञान के साथ जो दर्शन होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं। इस प्रकार दर्शन चार हैं, अत: इनको

आवरण करने वाले चार दर्शनावरण और निद्राविक पांच, कुल नौ दर्शनावरण कर्म माने गये हैं।

वेदनीय -- जो आत्मा को सुख और दु:ख का वेदन कराने में सहायक है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो भेद हैं। सात परिणाम का कारण सातावेदनीय और असात परिणाम का कारण असातावेदनीय कर्म है। यहां पर वीरसेन स्वामी ने दुक्खके प्रतिकार में कारणभूत द्रव्य का संयोग कराना और दु:ख को उत्पन्न करने वाले कर्मद्रव्य की शक्ति का विनाश करना भी सातावेदनीय कर्म का कार्य माना है।

मोहनीय कर्म -- जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है। परको स्व समझना, स्व और पर में भेद न करना, स्व को पर का कर्ता मान इष्टानिष्ट करने के लिए या उसे ग्रहण करने के लिए उद्यत होना, और गृहीत वस्तु को स्व मानकर उसका संग्रह करना आदि यह सब मोह का कार्य है। इसके दो भेद हैं - दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय उदय में 'स्व' की प्रतीति नहीं होती या 'पर' में 'स्व' की बुद्धि होती है और चारित्रमोहनीय के उदय में पर का ग्रहण और उसमें विविधि प्रकार के भाव होते हैं।

दर्शनमोहनीय -- यह मूल में एक है, अर्थात् बन्ध केवल मिथ्यात्व का ही होता है। और अनादि काल से जब तक जीव मिथ्यादृष्टि रहता है तब तक एक मिथ्यात्व की ही सत्ता रहती है, फल भी इसी का भोगना पड़ता है। किन्तु प्रथम बार सम्यक्त्व के होने पर यह मिथ्यात्व कर्म तीन भागों में बंट जाता है - मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। नामानुसार कार्य भी इनके अलग-अलग हो जाते हैं। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। नामानुसार कार्य भी इनके अलग-अलग हो जाते हैं। मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है, सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है, और सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से सम्यग्दर्शन में दोष लगाता है। आगे दर्शमोहनीय की क्षपणा होने तक मिथ्यात्व की सत्ता तो नियम से बनी रहती है, परन्तु शेष दो की सत्ता मिटती-बनती रहती है। पल्य के असंख्यातवें भाग काल से अधिक समय तक यदि मिथ्यात्व में रहता है तो इनकी सत्ता नहीं रहती और इस बीच या नये सिरेसेसम्यग्दृष्टि हो जाता है तो इनकी सत्ता का क्रम या तो चालू हो जाता है या पुन: प्राप्त हो जाती है। हां दर्शनमोहनीय क्षपणा के बाद इनकी सत्ता नियम से नहीं रहती, यह निश्चित हैं।

चारित्रमोहनीय -- इसके दो भेद हैं कषायवेदनीय और नोकषावेदनीय। कषायवेदनीय के १६ और नोकषायवेदनीय के ९ भेद हैं। इनके नाम और कार्य स्पष्ट हैं।

आयुकर्म -- जो नारक आदि भवधारण का कारण कर्म है उसे आयु कर्म कहते हैं। भव अन्य कर्म के उदय से होताहै। किन्तु उसमें विवक्षित समय तक रखना इस कर्म का कार्य है। भव की तीव्रता और मन्दता के अनुसार इस कर्म की भी तीव्रता और मन्दता जाननी चाहिए। भव मुख्य रूप से चार हैं - नारकभव, तिर्यञ्चभव, मनुष्यभव और देवभव। अत: आयुकर्म के भी चार ही भेद हैं - नारकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

नामकर्म -- जो जीव की नारक आदि नाना अवस्थाओं और शरीर आदि नाना भेदों के होने में कारण है उसे नामकर्म कहते हैं। इसके पिण्ड प्रकृतियों की दृष्टि से मुख्य भेद ब्यालीस हैं। जिस प्रकृति का जो नाम है तदनुरूप उसका कार्य है। मात्र इन प्रकृतियों का लक्षण करते समय जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी प्रकृतियों के विभाग को ध्यान में रखकर लक्षण करना चाहिए। आनुपूर्वी का उदय विग्रहगति में होता है। इसके उदय से विग्रहगति में जीवप्रदेशों का आनुपूर्वीक्रम से विशिष्ट आकार प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि विग्रहगति में संस्थान नामकर्म का उदय नहीं होता, इसलिए जीवप्रदेशों को विशिष्ट आकार प्रदान करना इसका मुख्य कार्य प्रतीत होता है। आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी प्रकृति है, इसलिए अपनी-अपनी गति के विग्रह क्षेत्र के अनुसार तो इसके भेद होते ही हैं, साथ ही जितनी प्रकार की अवगाहनाओं का त्याग होकर अगली गति प्राप्त होती है वे सब अवगाहनाएँ भी आनुपूर्वी के अवान्तर भेदों की कारण हैं। यही कारण है कि प्रत्येक आनुपूर्वी के विकल्पों का विवेचन सूत्रकार ने इन दो दृष्टियों को ध्यान में रखकर किया है। पहले तो एक अवगाहना और क्षेत्र के कारण जितने विकल्प सम्भव हैं वे लिए हैं, फिर इन विकल्पों को अवगाहना के विकल्पों से गुणित कर दिया है और इस प्रकार प्रत्येक आनुपूर्वी के सब विकल्प उत्पन्न किये गये हैं। इस प्रकार राजु के वर्ग को जगश्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण अवगाहनाविकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतने नरकगत्यानुपूर्वी के भेद हैं। लोक को जगश्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहनविकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतने तिर्यग्गत्यानुपूर्वी के विकल्प हैं। पैंतालीस लाखयोजन बाहल्यवाले राजुवर्ग को जगश्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहना विकल्पोंसे गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतने मनुष्यगत्यानुपूर्वी के भेद होते हैं। और नौ सौ योजन बाहल्यरूप राजुप्रतर को जगश्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण अवगाहनाविकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतने देवगत्यानुपूर्वी के अवगाहनाविकल्प होते हैं। यहां पैंतालीस लाख योजन बाहल्य रूप राजुप्रतर को जगश्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहनाविकल्पों से गुणित करने पर मनुष्यगत्यानुपूर्वी के कुल भेद उत्पन्न होते हैं, एक ऐसा उपदेश भी उपलब्ध होता है।

इस प्रकार इन दो उपदेशों में से प्रथमउपदेश के अनुसार नरकगत्यानुपूर्वीके भेद सबसे कम प्राप्त होते हैं और दूसरे उपदेश के अनुसार मनुष्यगत्यानुपूर्वी के भेद सबसे कम प्राप्त होते हैं। ये दोनों ही उपदेश सूत्रसिद्ध हैं, क्योंकि चारों आनुपूर्वियों के अल्पबहुत्व का विचार इन दोनों उपदेशों का आलम्बन लेकर किया है।

गोत्रकर्म — गोत्रकर्म का अर्थ है जीव की आचारगत परम्पर। यह दोप्रकार की होतीहै - उच्च और नीच। इसलिए गोत्रकर्म के भी दो भेद हो जाते हैं - उच्चगोत्र और नीचगोत्र। ब्राह्मण परम्परा में रक्तकी आनुवंशिकता गोत्र में विवक्षित है और जैन परम्परा में आचारगत परम्परा विवक्षित है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणपरम्परा में जहां उच्चत्व और नीचत्व का सम्बन्ध जन्म से अर्थात् माता-पिता की जाति से लिया गया है, वहां जैन परम्परा में वह वस्तु सदाचार और असदाचार से सम्बन्ध रखती है। इसी कारण वीरसेन स्वामी ने अनेक प्रकार के शंका-समाधान के बाद उच्चगोत्र का लक्षण कहते समय यह कहा है कि जो दीक्षा योग्य साधु आचार वाले हैं, तथा साधु आचार वालों के साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, जिन्हें देखकर 'आर्य' ऐसी प्रतीति होती हैं, और जो आर्य कहे भी जाते हैं, ऐसे पुरुषों की सन्तान को उच्च गोत्री कहते हैं और इनसे विपरीत परम्परा वाले नीचगोत्री कहलाते हैं।

अन्तरायकर्म — दानशक्ति, लाभशक्ति, भोगशक्ति, उपभोगशक्ति और वीर्यशक्ति ये जीव की स्वभावगत पांच प्रकार की शक्तियां मानी गई है। इन्हें पांच लब्धियां भी कहते हैं। इन्हीं पांच लब्धियों की प्राप्ति में जो अन्तराय करता है उसे अन्तरायकर्म कहते हैं। न्यूनाधिक रूप में सब संसारी जीवों के अन्तराय कर्म का क्षयोपशम देखा जाता है, इसलिए अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार प्रत्येक जीव के ये पांच लब्धियां उपलब्ध होती हैं और तदनुसार इनका कार्य भी देखा जाता है। लोक में माला, ताम्बूल आदि भोग; और शय्या, अश्व आदि उपभोग माने जाते हैं। धनादिक की प्राप्ति को लाभ गिना जाता है, और आहारादिक के प्रदान करने को दान कहा जाता है। इन वस्तुओं का ग्रहण होता तो है कषाय और योग से ही; पर इनके ग्रहण में जो भोग, उपभोग और लाभ भाव होता है वह अन्तराय कर्म को क्षयोपशम का फल है। इसी प्रकार आहारादिक का दान होता तो है कषाय की मन्दता या उसके अभाव से ही, पर आहारादिक के देने में जो दान भाव होता है वह भी दानान्तराय कर्म के क्षयोपशम का फल है। आशय यह है कि अन्तराय कर्म के क्षय और क्षयोपशमका कर्म इन भोगादिक भावों को उत्पन्न करना है। यदि मिथ्यात्वदृष्टि जीव है तो वह पर वस्तुओं के इन्द्रियों के विषय होने पर या उनके मिलने पर उन्हें अपना भोग आदि मानता है,

और यदि सम्यग्दृष्टि जीव है तो वह स्व के आधारसेस्व में ही अपने भोगादिक को मानता है। भोगादि रूप परिणाम स्व में हो या पर में, यह तो सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का माहात्म्य है। यहां तो केवल आत्मा में ये भोगादि भाव क्यों नही होते हैं, और यदि होते हैं तो किस कारण से होते हैं, इसी बात का विचार किया गया है और इसके उत्तरस्वरूप बतलाया है कि भोगादि भाव के न होने का मुख्य कारण अन्तराय कर्म है। भोगादिभाव पांच हैं, इसलिए अन्तराय के भी पांच ही भेद हैं।

भावप्रकृति — प्रकृतिनिक्षेप का चौथा भेद भावप्रकृति है। भाव का अर्थ पर्याय है। इसके दो भेद हैं - आगमभावप्रकृति और नोआगमभावप्रकृति। आगमभावप्रकृति में प्रकृति विषयक स्थित-जित आदि अनेक प्रकार के शास्त्रों का जानकार और उनके वाचना, पृच्छना आदि अनेक प्रकार के उपयोग से युक्त आत्मा लिया गया है। जब तक कोई जीव प्रकृति विषय का प्रतिपादन करने वाले स्थित-जित आदि शास्त्रों को जानते हुए भी उन शास्त्रों की वाचना, पृच्छा, प्रतीच्छना और परिवर्तना आदि करता है तब तक वह आगमभावप्रकृति कहलाता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। तथा नोआगमभावप्रकृति में वर्तमान पर्याययुक्त वह वस्तु ली गई है। यथा-सुर, असुर और नाग। जो अहिंसा आदि के अनुष्ठान में रत हैं वे सुर हैं, इनसे भिन्न असुर हैं। तथा जो फण से उपलक्षित हैं वे नाग हैं आदि। इसमें पर्याय की मुख्यता है।

इस प्रकार प्रकृतिनिक्षेपनामादिक के भेद से चार प्रकार का है। उनमें से यहां किसकी मुख्यता है, इस प्रश्न को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने बतलाया है कि यहां कर्मप्रकृति की मुख्यता है। वीरसेन स्वामी ने इसकी टीका करते हुए कहा है कि सूत्रकार ने 'यहां कर्मप्रकृति की मुख्यता है' यह वचन उपसंहार को ध्यान में रखकर कहा है। वैसे यहां नोआगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमभावप्रकृति इन दोनों की मुख्यता है। वीरसेन स्वामी के ऐसा कहने का कारण यह है कि आगे केवल कर्मप्रकृतिका ही विवेचन न होकर इन दोनों का भी विवेचन किया गया है।

यहां प्रारम्भमें १६ अनुयोगद्वारों का नामनिर्देश किया था। किन्तु प्रकृत में प्रकृतिनिक्षेप और प्रकृतिनयविभाषणता इन दो अधिकारों का ही विचार किया है, शेष का विचार नहीं किया। अतएव उनके विषय में विशेष जानकारी कराने के लिए यह कहा है- 'सेसं वेदणाए भंगो'। आशय यह है कि वेदनाखण्ड में जिस प्रकार वर्णन किया है तदनुसार यहां शेष अनुयोगद्वारों का वर्णन कर लेना चाहिए।

विषय-परिचय (पु.१४)

बन्धन के चार भेद हैं - बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान । यहाँ इस अनुयोगद्वार में बन्धक और बन्धविधान की सूचनामात्र की है, क्योंकि बन्धक का विशेष विचार खुद्दाबन्ध में और बन्धविधान का विशेष विचार महाबन्ध में किया है । शेष दो प्रकरण अर्थात् बन्ध और बन्धनीय का विचार इस अनुयोगद्वार में किया है । इस अनुयोगद्वार में बन्धनीय के प्रसंग से वर्गणाओं का विशेष रूप से ऊहापोह किया गया है, इसलिए ही स्पर्श से लेकर यहां तक के पूरे प्रकरण की वर्गणाखण्ड संज्ञा पड़ी है । अब संक्षेप में इस भाग में वर्णित विषय का ऊहापोह करते हैं -

१. बन्ध

बन्ध के चार भेद हैं - नामबन्ध, स्थापनाबन्ध, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध । इनमें से नैगम, संग्रह और व्यवहारनय सब बन्धों को स्वीकार करते हैं । ऋजुसूत्रनय स्थापनाबन्ध को स्वीकार नहीं करता है, शेष को स्वीकार करता है । शब्द नय केवल नामबन्ध और भावबन्ध को स्वीकार करताहै । कारण स्पष्ट है ।

एक जीव एक अजीव, नानाजीव और नाना अजीव आदि जिस किसी का बन्ध ऐसा नाम रखना नामबन्ध है । तदाकार और तदाकार पदार्थो में यह बन्ध है ऐसी स्थापनाकरना स्थापनाबन्ध है । द्रव्यबन्ध के दो भेदहैं - आगमद्रव्यबन्ध और नोआगामद्रव्यबन्ध । भावबन्ध के भी ये ही दो भेद हैं । बन्धविषयक स्थित आदि नौ प्रकार के आगम में वाचना आदिरूप जो उपयुक्त भाव होता है उसे आगम भावबन्ध कहते हैं । नोआगमभावबन्ध दो प्रकार का है - भावबन्ध के भी ये ही दो भेद हैं । बन्धविषयक स्थित आदि नौ प्रकार के आगम में वाचना आदि रूप जो उपयुक्त भाव होता है उसे आगम भावबन्ध कहते हैं । नोआगमभावबन्ध दो प्रकार का है-जीवभावबन्धऔर अजीवभावबन्ध। जीवभावबन्ध के तीन भेद हैं - विपाकज जीवभावबन्ध दो प्रकार का है - जीवभावबन्ध और अजीवभावबन्ध । जीव भावबन्ध के तीन भेद हैं - विपाकज जीवभावबन्ध, अविपाकज जीवभावबन्ध और तदुभयरूप जीवभावबन्ध । जीवविपाकी अपने-अपने कर्म के उदय से जो देवभाव, मनुष्यभाव, तिर्यञ्चभाव, नारकभाव, स्त्रीवेद, पुरुषवेद आदि रूप औदयिक भाव होते हैं वे सब विपाकजजीवभावबन्ध कहलाते हैं । अविपाकज जीवभावबन्ध के दो भेद हैं - औपशामिक और क्षायिक । उपशान्त क्रोध, उपशान्त मान आदि औपशमिक

अविपाकज जीवभावबन्ध कहलाते हैं और क्षीणमोह, क्षीणमान आदि क्षायिक अविपाकज जीवभावबन्ध कहलाते हैं। यद्यपि अन्यत्र जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक मानकर इन्हें अविपाकज जीवभावबन्ध कहा है। पर ये तीनों भाव भी कर्म के निमित्त से होते हैं, इसलिये यहाँ इन्हें अविपाकज जीवभावबन्ध में नहीं गिना है। तथा एकेन्द्रियलब्धि आदि क्षायोपशमिकभाव तदुभयरूप जीवभावबन्ध कहे जाते हैं। अजीव-भावबन्ध भी विपाकज, अविपाकज और तदुभय के भेद से तीन प्रकार का है। पुद्गलविपाकी कर्मों के उदय से शरीर में जो वर्णादि उत्पन्न होते हैंवे विपाकज अजीबभावबन्ध कहलाते हैं। तथा पुद्गल के विविध स्कन्धों में जो स्वाभाविक वर्णादि होते हैं वे अविपाकज अजीवभावबन्ध कहलाते हैं और दोनों मिले हुए वर्णादिक तदुभयरूप अजीबभावबन्ध कहलाते हैं।

यह हम पहले ही संकेत कर आये हैं कि द्रव्यबन्ध दो प्रकार का है - आगमद्रव्य बन्ध और नोआगमद्रव्यबन्ध। बन्धविषयक नौ प्रकार के आगम में वाचना आदिरूप जो अनुपयुक्त भाव होता है उसे आगमद्रव्यबन्ध कहते हैं। नोआगम द्रव्यबन्ध दो प्रकार का है- प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध। विस्रसाबन्ध के दो भेद हैं - सादिविस्रसाबन्ध और अनादिविस्रसाबन्ध। अलग-अलग धर्मास्तिकाय का अपने देशों और प्रदेशों के साथ, अधर्मास्तिकाय का अपने देशों और प्रदेशों के साथ और आकशास्तिकाय का अपने देशों और प्रदेशों के साथ अनादिकालीन जो बन्ध हैं वह अनादिविस्रसाबन्ध कहलाता है। तथा स्निग्ध और रूक्षगुणयुक्त पुद्गलों का जो बन्ध होता है वह सादि विस्रसाबन्ध कहलाता है। सादिविस्रसा बन्ध के लिए मूल ग्रन्थ का विशेष रूप से अवलोकन करना आवश्यक है। नाना प्रकारके स्कन्ध इसी सादि विस्रसाबन्ध के कारण बनते हैं। प्रयोगबन्ध दो प्रकारका है - कर्मबन्ध और नोकर्मबन्ध। नोकर्मबन्ध के पाँच भेद हैं - आलापनबन्ध, अल्लीवणाबन्ध, संश्लेषबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरिबन्ध। काष्ठ आदि पृथग्भूत द्रव्यों को रस्सी आदि से बाँधना आलापनबन्ध हैं। लेपविशेष के कारण विविध द्रव्यों के परस्पर बँधने को अल्लीवणाबन्ध कहते हैं। लाख आदि के कारण दो पदार्थों का परस्पर बँधना संश्लेषबन्ध कहलाता है। पाँच शरीरों का यथायोग्य सम्बन्ध को प्राप्त होना शरीरबन्ध कहलाता है। इस कारण पाँच शरीरों के द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी पन्द्रहभेद हो जाते हैं। नामों का निर्देश मूल में किया ही है। शरीरिबन्ध के दो भेद हैं - सादि शरीरिबन्ध और अनादि शरीरिबन्ध। जीव का औदारिक आदि शरीरों के साथ होने वाले बन्ध को सादि शरीरिबन्ध कहते हैं। यद्यपि तैजस और कार्मणा शरीर का जीव के साथ अनादिबन्ध है पर यहाँ अनादि सन्तानबन्ध की विवक्षा न होने से वह सादि शरीरिबन्ध में ही गर्भित कर लिया गया है। कर्मबन्ध का विशेष विचार कर्मप्रकृति अनुयोगद्वारमें पहले ही कर आये हैं।

२.बन्धक

बन्धक का विशेष विचारखुद्दाबन्ध में ग्यारह अनुयोगद्वारों का आलम्बन लेकर पहले कर आये हैं, इसलिए यहाँ इस विषय की सूचनामात्र दी गई है।

३. बन्धनीय

जीव से पृथग्भूत जो कर्म और नोकर्म स्कन्ध हैं उनकी बन्धनीय संज्ञा है। वे पुद्गल द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के अनुसार वेदनयोग्य होते हैं। ऐसा होते हुए भी वे स्कन्ध पर्याय से परिणत होकर ही वेदनयोग्य होते हैं ऐसा नियम है। उसमें भी सभी पुद्गलस्कन्ध वेदनयोग्य नहीं होते, किन्तु तेईस प्रकार की वर्गणाओं में जो ग्रहणप्रायोग्य वर्गणाएें हैं उनके कर्म और नोकर्मरूप परिणत होने पर ही वे वेदनयोग्य होते हैं, अत: यहाँ वर्गणाओं का अनुगम करते हुए उनका इन आठ अनुयोगद्वारों का अवलम्बन लेकर विचार किया गया है। वे आठ अनुयोगद्वार ये हैं- वर्गणा, वर्गणाद्रव्यसमुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व।

वर्गणा - वर्गणा के दो भेद हैं - आभ्यन्तर वर्गणा और बाह्य वर्गणा। आभ्यन्तरवर्गणा दो प्रकार की है- एकश्रेणिवर्गणा और नानाश्रेणिवर्गणा। उनमें से एक श्रेणिवर्गणा का सर्वप्रथम सोलह अनुयोगद्वारों का आलम्बन लेकर विचार किया गया है। वे सोलह अनुयोगद्वार ये हैं - वर्गणानिक्षेप, वर्गणानयविभाषणता, वर्गणाप्ररूपणा वर्गणानिरूपणा, वर्गणाध्रु, वाध्रुवानुगम, वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम, वर्गणाओजयुम्मानुगम, वर्गणाक्षेत्रानुगम, वर्गणास्पर्शनानुगम, वर्गणाकालानुगम, वर्गणाअन्तरानुगम, वर्गणाभावनुगम, वर्गणाउपनयनानुगम, वर्गणापरिमाणानुगम, वर्गणाभागाभागानुगमऔर वर्गणा अल्पबहुत्वानुगम।

यहाँ वर्गणा निक्षेप के छह भेद करके उनमें से कौन निक्षेप किस नय का विषय है यह बतलाकर इस प्रकरण को समाप्त किया गया है। वर्गणा के सोलह अनुयोगद्वारों में से केवल दो का ही विचार कर वर्गणा द्रव्य समुदाहार का अवतार क्यों किया गया है यह प्रश्न उठाकर वीरसेन स्वामी ने उसका यह समाधान किया है कि वर्गणा प्ररूपणा अधिकार केवल वर्गणाओं की एक श्रेणि का कथन करता है किन्तु वर्गणाद्रव्यसमुदाहार वर्गणाओं की एक श्रेणि और नानाश्रेणि का साङ्गोपाङ्ग विचार करता है। अत: यहाँ वर्गणा के शेष चौदह अधिकारों का कथन न करके वर्गणा द्रव्य समुदाहार का कथन प्रारम्भ किया है।

वर्गणाद्रव्यसमुदाहार - इस अनुयोगद्धार के भी चौदह अवान्तर अधिकार हैं जिनके नाम ये हैं - वर्गणाप्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा, वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम, वर्गणासान्तर निरन्तरासुगम, वर्गणाओजयुग्मानुगम, वर्गणाक्षेत्रानुगम,वर्गणास्पर्शनानुगम, वर्गणाकालानुगम, वर्गणाअन्तरानुगम, वर्गणाभावानुगम,वर्गणाउपनयनानुगम,वर्गणापरिमाणनुगम, वर्गणाभागाभागानुगम औरवर्गणा अल्पबहुत्व।

वर्गणाप्ररूपणा - इसके द्वारा तेईस प्रकार की वर्गणाओं का विचार किया है। ये तेईस प्रकार की वर्गणाएं ये हैं - एक प्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्य वर्गणा, संख्यातप्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्य वर्गणा, असंख्यात प्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा, अनन्तप्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्रहणवर्गणा,तैजसशरीरद्रव्यवर्गणा, अग्रहणवर्गणा भाषाद्रव्यवर्गणा,अग्रहणवर्गणा, मनोद्रव्यवर्गणा, अग्रहणावर्गणा, कार्मणाद्रव्यवर्गणा, ध्रुवस्कन्धवर्गणा, सान्तरनिरन्तरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा, ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा, बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा, ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, ध्रुव शून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा।

एक परमाणु की एकप्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। द्विप्रदेशिक से लेकर उत्कृष्ट संख्यातप्रदेशिक परमाणुपुद्गल द्रव्यवर्गणा तक की सब वर्गणाओं की संख्यात प्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। जघन्य असंख्यातप्रदेशिक से लेकर उत्कृष्ट असंख्याप्रदेशिक परमाणुपुद्गल द्रव्यवर्गणाओं की असंख्यात प्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्य वर्गणासंज्ञा है। आहारवर्गणा से पूर्व तक की अनन्तप्रदेशी और अनन्तानन्तप्रदेशी जितनी वर्गणाऐं हैं उनकी यहाँ अनन्तप्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा संज्ञा दी है। इन्हीं वर्गणाओं में परीत और अपरीतप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणाऐं भी सम्मिलित हैं। औदारिकशरीर, वैक्रियकशरीर और आहारकशरीर के योग्य वर्गणाओं की आहारवर्गणासंज्ञा है। इसी प्रकार आगे भी अपने अपने कार्य के अनुसार उन-उन वर्गणाओं की संज्ञा जाननी चाहिए। यहाँ जो चार ध्रुवशून्य वर्गणाऐं कही हैं वे वस्तुत: शून्य रूप हैं। केवल पिछली वर्गणा और अगली वर्गणा के मध्य के शून्य रूप अन्तराल का परिज्ञान कराने के लिए यह संज्ञा दी गई है।

यहां अन्त में आई हुई प्रत्येक शरीरवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा और महास्कन्ध वर्गणा ये चार ऐसी वर्गणाऐं हैं जिनके स्वरूप के विषय में कुछ अलग से प्रकाश डालना आवश्यक है, अत: यहां इस विषय में लिखा जाता है। एक जीव के एक

शरीर में जो कर्म और नोकर्मस्कन्ध सञ्चित होता है उसकी प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। यह प्रत्येक शरीर पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, देव, नारकी, आहारकशरीरी प्रमत्तसंयत और केवली जिनके पाया जाता है। इन आठ प्रकार के जीवों को छोड़कर शेष जितने संसारी जीव हैं उनका शरीर या तो निगोद जीवों से प्रतिष्ठित होने के कारण सप्रतिष्ठित प्रत्येक रूप है या स्वयं निगोदरूप है। मात्र जो प्रत्येक वनस्पति निगोद रहित होती है वह इसका अपवाद है। यहां यह प्रश्न उठता है कि जब मनुष्यों के शरीर अन्य अवस्थाओं में निगोदोंसे प्रतिष्ठित होते हैं तब ऐसी अवस्था में आहारकशरीरी, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली जीवों के शरीर निगोदरहित कैसे हो सकते हैं ? समाधान यह है कि प्रमत्तसंयत जीव के जो औदारिकशरीर होता है वह तो निगोदों से सप्रतिष्ठित ही होता है। वहां जो आहारकशरीर उत्पन्न होता है वह अवश्य ही निगोद राशि से अप्रतिष्ठित होने के कारण केवल प्रत्येक रूप होता है। इसी प्रकार जब यह जीव बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो वहां उसके शरीर में जितनी निगोदराशि होती है उसका क्रम से अभाव होता जाता है और बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में निगोदराशि और क्रमराशि का पूरी तरह से अभाव होकर सयोगिकेवली जीव का शरीर केवल प्रत्येक रूप हो जाता है। उसके बाद आयोगिकेवली जीव के यही शरीर रहता है, इसलिए यह भी प्रत्येकरूप होता है। यह जघन्य प्रत्येकशरीर वर्गणा क्षपितकर्मांश विधि से आये हुए अयोगिकेवली जिन के अन्तिमसमय में होती है और उत्कृष्ट प्रत्येकशरीरवर्गणा महावन के दाहादि के समय एकबन्धबद्ध अग्निकायिक जीवों के होती है। यहां यद्यपि महावन के दाह के समय जितने अग्निकायिक जीव होते हैं उनका अपना अपना शरीर अलग अलग ही होता है, पर वे सब जीव और उनके शरीर परस्पर संयुक्त रहते हैं, इसलिए उन सबकी एक वर्गणा मानी गई है। यहां एक प्रश्न यह होता है कि विग्रहगति में स्थित जो बादरनिगोद और सूक्ष्मनिगोद जीव होते हैं उन्हें प्रत्येकशरीर मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वहां उन जीवों का एक शरीर न होने से वे सब अलग अलग ही माने जाने चाहिए। इस शंका का समाधान यह है कि वहां भी उनके साधारण नामकर्म का उदय रहता है और इसलिए वे अनन्त होते हुए भी एकबन्धनबद्ध ही होते हैं, अतः उन्हें प्रत्येक शरीर नहीं माना जा सकता। यह कहना कि विग्रहगति में शरीरनामकर्म का उदय न होने से वहां स्थित जीव प्रत्येकशरीर और साधारण, इनमें से कोई नहीं माने जा सकते, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विग्रहगति में भी सूक्ष्म और बादर कर्मों के साथ साधारण नामकर्म का उदय देखा जाता है, इसलिए जिनके इन कर्मों का उदय होता है उन्हें निगोद जीव मानने में कोई बाधा नहीं आती। तथा इनके

अतिरिक्त जो जीव होते हैं, चाहे उन्होंने शरीर ग्रहण किया हो और चाहे शरीर ग्रहण न किया हो, वे सब प्रत्येकशरीर जीव कहलाते हैं। इस प्रकार प्रत्येकशरीरवर्गणा किन-किन जीवों के किस प्रकार होती है इसका विचार किया।

उक्त चार वर्गणाओं में दूसरी वर्गणा बादरनिगोदवर्गणा है। यह वर्गणा क्षपित कर्मांशविधि से आये हुए क्षीणकषायजीव के अन्तिम समय में होती है, क्योंकि एक तो जो क्षपितकर्मांश विधि से आया हुआ जीव होता है उसके कर्म और नोकर्म का संचय उत्तरोत्तर न्यून न्यून होता जाता है। दूसरे ऐसा नियम है कि क्षपकश्रेणि पर आरोहण करने वाले जीव के विशुद्धिवश ऐसी योग्यता उत्पन्न हो जाती है जिससे उस जीव के क्षीणकषाय गुणास्थान में पहुँचने पर उसके प्रथम समय में शरीरस्थित अनन्त बादरनिगोद उत्तरोत्तर विशेष अधिक विशेष अधिक बादरनिगोद जीव मरते हैं। उससे आगे क्षीणकषाय के काल मेंआवलि के असंख्यातवें भागप्रमाण काल शेष रहने तक संख्यातभाग अधिक संख्यातभाग अधिक जीव मरते हैं। उससे अगले समय में असंख्यातगुणे जीव मरते हैं। इस प्रकार क्षीणकषाय के अन्तिम समय तक असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे जीव मरते हैं। इस प्रकार क्षीणकषाय के अन्तिम समय में जो मरनेवाले निगोदजीव होते हैं उनके विस्रसोपचयसहित कर्मऔर नोकर्म के समुदाय को एक बादर निगोदवर्गणा कहते हैं। चूँकि यह अन्य बादर निगोदवर्गणाओं की अपेक्षा सबसे जघन्य होती है, अत: क्षपितकर्मांश विधि से आये हुए जीव के क्षीणकषाय के अन्तिम समय में जघन्यबादर निगोदवर्गणा कही गई है।

यहाँ बारहवें गुणस्थान में उस गुणस्थान वाले जीव के शरीर के सब निगोद जीवों के मरने की बात कही गई है। इसका अभिप्राय यह है कि सयोगिकेवली और अयोगिकेवली जीव का शरीर एकमात्र अपने जीव को छोडकर अन्य त्रस और स्थावर निगोद जीवों से रहित हो जाता है। उनके शरीर की सात धातु और उपधातु यहाँ तक कि रोम, नख, चमड़ी और रक्त भी एक सयोगिकेवली जीव के शरीर को छोड़कर अन्य किसी जीव का आधार नहीं रहता। यहाँ बारहवें गुणस्थान में यद्यपि क्रम से निगोद राशि का अभाव बतलाया गया है, इसलिए यह प्रश्न हो सकता है कि क्षीणकषाय जीव के शरीर से निगोदराशि का अभाव होता है तो होओ, पर उसके शरीर से त्रसराशि का भी अभाव हो जाता है यह कैसे माना जा सकता है ? उत्तर यह है कि नारकी, देव, आहारकशरीरी और केवली इन चार प्रकार के त्रस जीवों के शरीरों को छोड़कर अन्य जितने त्रस जीवों के शरीर हैं वेसब बादरनिगोद प्रतिष्ठित होते हैं, ऐसा आगमवचन है। अब जब कि केवली जिनके

शरीर में एक भी निगोद जीव नहीं रहता तो वहाँ उनके आधारभूत अन्य क्रमिरूप त्रस जीवों की सम्भावना ही नहीं की जा सकती है। यही कारण है कि केवली जिनके शरीर को कृमिरूप त्रस जीवों और बादरनिगोद जीवों से रहित बतलाया है।

निगोद जीव क्षीणकषाय जीव के शरीर में से क्यों मरने लगते हैं, इसका समाधान वीरसेन स्वामी ने इस प्रकार किया है। उनका कहना है कि ध्यान के बल से वहाँ उत्तरोत्तर बादर निगोद जीवों की उत्पत्ति का निरोध होता जाता है, इसलिए क्रम से नये बादर निगोद जीव उत्पन्न नहीं होते हैं और जो पुराने बादर निगोद जीव होते हैं उनकी आयु पूर्ण हो जाने के कारण वे मर जाते हैं। यद्यपि क्षीणकषाय के शरीर में बादर निगोदजीव सर्वथा उत्पन्न ही नहीं होते ऐसी बात नहीं है। प्रारम्भ में तो वे उत्पन्न होते हैं और क्षीण कषायगुणस्थान के काल में बादर निगोदजीव की जघन्य आयुप्रमाण काल के शेष रहने तक वे उत्पन्न होते हैं। इसके बाद नहीं उत्पन्न होते। यहाँ यह प्रश्न होता है कि जिस प्रकार प्रारम्भ में वे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार क्षीणकषाय के अन्तिम समय तक वे क्यों नहीं उत्पन्न होते ? समाधान यह है कि केवली का शरीर प्रतिष्ठित प्रत्येक रूप है ऐसा षट्खण्डागम शास्त्र का अभिप्राय है। अब यदि यह माना जाता है कि क्षीणकषाय जीव के शरीर में अन्तिम समय तक बादर निगोद जीव उत्पन्न होते हैं तो केवली जिनके शरीर में भी बादर निगोद जीवों का सद्भाव मानना पड़ता है। चूंकि केवली जिन के शरीर में बादर निगोद जीवों का सद्भाव नहीं बतलाया है, इसलिए यह बातसुतरां सिद्ध हो जाती है कि क्षीणकषाय के शरीर में अन्तिम समय तक बादर निगोद जीव न उत्पन्न होकर जहाँ तक सम्भव है वहीं तक उत्पन्न होते हैं।

साधारणत: अन्य शास्त्रों में केवली जिनके शरीर को सात धातु और उपधातु से रहित परमौदारिक रूप कहा गया है और यह भी बतलाया है कि केवली के शरीर के नख और केश नहीं बढ़ते। केवली होने के समय शरीर की जो अवस्था रहती है, आयु के अन्तिम समय तक वही अवस्था बनी रहती है, सो इन सब बातों का रहस्य इस मान्यता में छिपा हुआ है। इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि उनके शरीर में से हड्डी आदि का अभाव हो जाता है। जो चीज जैसी होती है वह वैसी ही बनी रहती है। मात्र उसमें से बादर निगोद जीव और उनके आधारभूत क्रमि का अभाव हो जाने से वह उस प्रकार पुद्गल का संचय मात्र रह जाता है। उदाहरण के लिए दूध लीजिए। गाय के स्तनों से दूध निकालने पर कुछ काल में उसमें जीवत्पत्ति होने लगती है, पर अग्नि पर अच्छी तरह से तपा लेने पर उस में कुछ काल तक जीवत्पत्ति नहीं होती। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह दूध ही नहीं रहता।

दूध तो उस अवस्था में भी बना रहता है। इस प्रकार जो बात दूध के विषय मे है वही बात केवली जिन के शरीर के और उसकी धातुओं और उपधातुओं के विषय में भी जाननी चाहिए।

इस प्रकार क्षपितकर्मांश विधि से आए हुए क्षीणकषाय जीव के अन्तिम समय में प्राप्त शरीर में जघन्य बादरनिगोदवर्गणा होती है। तथा स्वयम्भूरमणद्वीप के कर्मभूमि संबंधी भाग में मूली के शरीर में उत्कृष्ट बादरनिगोदवर्गणाहोती है। मध्य में नाना जीवों का आश्रय लेकर ये बादरनिगोदवर्गणाएँ अनेक विध होती हैं।

तीसरीविचारणीय सूक्ष्मनिगोदवर्गणा है। बादर और सूक्ष्मनिगोदवर्गणा में अन्तर यह है कि बादरनिगोदवर्गणा दूसरे के आश्रय से रहती हैं और सूक्ष्मनिगोदवर्गणा जल में, स्थल में व आकाश में सर्वत्र बिना आश्रय के रहती हैं। क्षपित कर्मांशविधि से और क्षपित घोलमान विधि सेआये हुए जो सूक्ष्म निगोद जीव होते हैं उनके यह सूक्ष्म निगोद वर्गणा जघन्य होती हैं। यह तो आगमप्रसिद्ध बात है कि एक निगोद जीव अकेला नहीं रहता। अनन्तानन्त निगोद जीवों का एक शरीर होता है। असंख्यातलोकप्रमाण शरीरों की एक पुलवि होती है और आवालि के असंख्यातवें भागप्रमाण पुलवियों का एक स्कन्ध होता है। यहाँ ऐसे सूक्ष्म स्कन्ध की एक जघन्य वर्गणा ली गई है। तथा उत्कृष्ट सूक्ष्मनिगोदवर्गणा एक बन्धनबद्ध छह जीव निकायों के संघात रूप महामत्स्य के शरीर में दिखलाई देती है। ये अपने जघन्य से उत्कृष्ट तक निरन्तर क्रम से पाई जाती है। बादर निगोद वर्गणाओं में जिस प्रकार बीच- बीचमें अन्तर दिखाई देता है उस प्रकार इनमें नहीं दिखलाई देता है।

चौथी विशेष वक्तव्य योग्य महास्कन्धद्रव्यवर्गणा है। यह वर्गणा आठों पृथिवियाँ, भवन और विमान आदि सब स्कन्धों के संयोग से बनती हैं। यद्यपि इन सब पृथिवी आदि में अन्तर दिखलाई देता है, परसूक्ष्म स्कन्धों द्वारा परस्पर सम्बन्ध बना हुआ है, इसलिए इन सबको मिलाकर एक महास्कन्ध द्रव्यवर्गणा मानी गई है।

इस प्रकार ये कुल तेईस वर्गणाएँ हैं। इनमें से आहारवर्गणा, तैजसशरीरवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कर्मणाशरीरवर्गणा ये पाँच वर्गणाएँ जीव द्वारा ग्रहणयोग्य हैं, शेष नहीं। इन वर्गणाओं का प्रमाण कितना है, पिछली वर्गणा से अगली वर्गणा किस क्रम से चालू होती है, अपनी जघन्य से अपनी उत्कृष्ट कितनी बड़ी है आदि प्रश्नों का समाधान मूल को देखकर कर लेना चाहिए।

यहां तक एकश्रेणिवर्गणाओं का विचार करके आगे नानाश्रेणिवर्गणाओं का विचार

करते हुए कौन वर्गणा कितनी होती है यह बतलाया गया है। एकश्रेणिवर्गणा में जाति की अपेक्षा कुल वर्गणाएँ तेईस मानकर उनकाविचार किया गया है और नानाश्रेणिवर्गर्णा में प्रत्येक वर्गणा संख्या की अपेक्षा कितनी हैं इस प्रकार परिणाम बतलाकर विचार किया गया है।

वर्गणानिरूपणा - तेईस प्रकार कीवर्गणाओं में से कौन वर्गणा किस प्रकार उत्पन्न होती है क्या भेद से उत्पन्न होती हैं या संघात से उत्पन्न होती हैं या भेद-संघात से उत्पन्न होती हैं, इस बात का विचार इस अधिकार में किया गया है। स्कन्ध में टूटने के नाम भेद हैं। परमाणुओं के समागम का नाम संघात है और स्कन्ध का भेद होकर मिलने का नाम भेद-संघात है। उदाहरणार्थ - द्विप्रदेशी आदि उपरिक वर्गणाओके भेद से एक प्रदेशी वर्गणा उत्पन्न होती है। द्विप्रदेशी वर्गणा त्रिप्रदेशी आदि उपरिम वर्गणाओं के भेद से एक प्रदेशी वर्गणाओं के संघात से और स्वस्थान की अपेक्षा भेद-संघात से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। मात्र सान्तर-निरन्तर वर्गणा से लेकर अशून्यरूप जितनी वर्गणाएँ हैं वे सब स्वस्थान की अपेक्षा भेद-संघात से ही उत्पन्न होती हैं। इतनी बात अवश्य है कि किन्हीं सूत्रपोथियों में सान्तर-निरन्तर वर्गणा की उत्पत्ति भी पूर्व की वर्गणाओं के संघात से, उपरिम वर्गणाओं के भेद से और स्वस्थान की अपेक्षा भेद-संज्ञात से बतलाई है। कारण का विचार मूल टीका में किया ही है, इसलिए वहाँ से जान लेना चाहिए।

पहले वर्गणाद्रव्यसमुदाहार के चौदह भेद करके सूत्रकार ने वर्गणाप्ररूपणा और वर्गणानिरूपणा इन दो का ही विचार किया है। शेष बारह का क्यों नहीं किया है इस बात का विचार करते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि सूत्रकार चौबीस अनुयोगद्वारस्वरूप महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के ज्ञाता थे इसलिए उन अनुयोगद्वारों के अजानकार होने के कारण नहीं किया है, यह तो कहा नहीं जा सकता है। वे उनका कथन करना भूल गये इसलिए नहीं किया है यह भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि सावधान व्यक्ति से ऐसी भूल होना सम्भव नहीं है। फिर क्यों नहीं किया है इस बात का समाधान करते हुए वीरसेनस्वामी कहते हैं कि पूर्वाचार्यो के व्याख्यान का जो क्रम रहा है उसका प्ररूपण करने के लिए ही यहाँ भूतबलि भट्टारक ने शेष बारह अनुयोगद्वारों का कथन नहीं किया है। इस प्रकार मूल सूत्रों में शेष बारह अनुयोगद्वारों का विचार तो नहीं किया गया है, फिर भी वीरसेनस्वामी ने उन अनुयोगद्वारों का आश्रय लेकर वर्गणाओं का विस्तार से विचार किया है, सो यह समस्त विषय मूल से जान लेना चाहिए।

बाह्य वर्गणा विचार

इस प्रकार यहाँ तक आभ्यन्तर वर्गणा का विचार करके आगे बाह्यवर्गणा का विचार चार अनुयोगद्वारों का आश्रय लेकर किया गया है। वे चार अनुयोगद्वार ये हैं - शरीरिशरीरप्ररूपणा, शरीरप्ररूपणा, शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणा और विस्रसोपचयप्ररूपणा। शरीरी जीव को कहते हैं। इनके प्रत्येक और साधरण के भेद से दो प्रकार के शरीर होते हैं। इन दोनों का जिसमें प्रतिपादन किया जाता है उसे शरीरिशरीरप्ररूपणा कहते हैं। औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीरों का अपनी अवान्तर विशेषताओं के साथ जिसमें प्ररूपण किया जाता है उसे शरीरप्ररूपणा कहते हैं। जिसमें पाँचों शरीरों के विस्रोसोपचय के सम्बन्ध के कारण भूत स्निग्ध और रूक्षगुण के अविभागप्रतिच्छेदों का कथन किया जाता है उसे शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणा कहते हैं। तथा जिसमें जीव से मुक्त हुए उन्हीं परमाणुओं के विस्रसोपचय की प्ररूपणा की जाती है उसे विस्रासोपचयप्ररूपणा कहते हैं।

शरीरिशरीरप्ररूपणा - इसमें जीवों के प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर ये दो भेद बतलाकर साधारण शरीर वनस्पतिकायिक ही होते हैं और शेष जीव प्रत्येक शरीर होते हैं यह बतलाया गया है। इसके आगे साधारण का लक्षण करते हुए बतलाया है कि जिनका साधारण आहार है और श्वासोच्छ्वास का ग्रहण साधारण है वे साधारण जीव हैं। इनका शरीर एक होता है। उसे व्याप्त कर अनन्तानन्त निगोद जीव रहते हैं, इसलिए इन्हें साधारण कहते हैं और इसीलिए आहार और श्वासोच्छ्वासका ग्रहण भी साधारण होता है। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम उत्पन्न हुए जीव जितने काल में शरीर आदि चार पर्याप्तियों से पर्याप्त होते हैं उतने ही काल में अनन्तर उसी शरीर में उत्पन्न हुए जीव भी शरीर आदि चार पर्याप्तियों के पूर्ण करने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यहां तक पर्याप्तियों के पूर्ण होने के समय में यदि जीव इस शरीर में उत्पन्न होते हैं तो वे उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही पूर्व में उत्पन्न हुए जीवों द्वारा ग्रहण किये गये आहर से उत्पन्न हुई शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें उसके लिए अलग से प्रयत्नशील नहीं होना पड़ता। विशेष स्पष्ट कहें तो यह कहा जा सकता है कि पर्याप्तियों की निष्पत्ति के लिए एक जीवद्वारा जो अनुग्रहण अर्थात् परमाणु-पुद्गलों का ग्रहण है वह उस समय वहाँ रहने वाले या पीछे उत्पन्न होने वाले अन्य अनन्तानन्त जीवों का अनुग्रहण होता है, क्योंकि एक तो उस आहर से जो शक्ति उत्पन्न होती है वह युगपत् सब जीवों को मिल जाती है। दूसरे उन परमाणुओं से जो शरीर के अवयव बनते हैं वे सबके होते हैं। इसी प्रकार बहुत जीवों के द्वारा जो अनुग्रहण है वह एक जीव के लिए भी होता है। एक शरीर में जो प्रथम समय में जीव उत्पन्न होते हैं और जो द्वितीयादि समयों में

उत्पन्न होते हैं वे सब यहाँ पर एक साथ उत्पन्न हुए माने जाते हैं, क्योंकि उन सबका एक शरीर के साथ सम्बन्ध पाया जाता है। यह तो उसके आहार ग्रहण की विधि है। उनके मरण और जन्म के सम्बन्ध में भी यह नियम है कि जिस शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ नियम से अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं और जिस सरीर में एक जीव मरता है वहाँ नियम से अनन्तानन्त जीवों का मरण होता है। तात्पर्य यह है कि वे एक बन्धबद्ध होकर ही जन्मते हैं और मरते हैं। वे निगोद जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं और ये परस्पर अपने सब अवयवों द्वारा समवेत होकर ही रहते हैं। उसमें भी बादर निगोद जीव मूली, थूवर और आद्रर्क आदि के आश्रय से रहते हैं और सूक्ष्म निगोद जीव सर्वत्र एक बन्धनबद्ध होकर पाये जाते हैं। एक निगोद जीव अकेला कहीं नहीं रहता। इन निगोद जीवों के जो आश्रय स्थान हैं उनमें असंख्यातलोकप्रमाण निगोदशरीर होते हैं। उनमें से एक एक निगोदशरीर में जितने बादर और सूक्ष्मनिगोद जीव प्रथम समय में उत्पन्न होते हैं उनसे दूसरे समय में उसी शरीर में असंख्यात गुणे हीन निगोद जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार आवलि के असंख्यातवें भागप्रमाणकाल तक उत्तरोत्तर प्रत्येक समय में असंख्यातगुणे हीन जीव उत्पन्न होते हैं। पुन:एक, दोआदि समय से लेकर उत्कृष्टरूप से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाणकाल का अन्तर देकर पुन: एक, दो आदि समयों से लेकर आवलि के असंख्यतवें भागप्रमाणकाल तक उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सान्तर निरन्तर क्रम से जब तक सम्भव है वे निगोदजीव उत्पन्न होते हैं। ये सब उत्पन्न हुए जीव एक साथ एक क्षेत्रावगाही होकर रहते हैं। सूत्रकार कहते हैं कि ऐसे अनन्त जीव हैं जो अभी तक त्रसपर्याय को नहीं प्राप्त हुए हैं, क्योंकि इनका एकेन्द्रिय जाति में उत्पत्ति का कारणभूत संक्लेश परिणाम इतना प्रबल है जिससे वे निगोदवास छोड़ने में असमर्थ हैं। अब तक जितने सिद्ध हुए और जितना काल व्यतीत हुआ उससे भी अनन्तगुणे जीव एक निगोदशरीर में निवास करते हैं। यहाँ पर वीरसेनाचार्य संख्यात आदि की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि आय रहित जिन राशियों का केवल व्यय के द्वारा विनाश सम्भव है वे राशियाँ संख्यात और असंख्यात कही जाती हैं। तथा आय न होने पर भी जिस राशि का व्यय के द्वारा कभी अभाव नहीं होता वह राशि अनन्त कही जाती है। यद्यपि अर्धपुद्गल परिवर्तन काल भी अनन्त माना जाताहै, पर यह उपचार कथन है। और इस उपचार का कारण यह है कि यह अन्य ज्ञानों का विषय न होकर अनन्त संज्ञा वाले सिर्फ केवल ज्ञान का विषय है, इसलिए इसमें अनन्त का व्यवहार किया जाता है। निगोद राशि दो प्रकार की है - चतुर्गतितिनिगोद और नित्यनिगोद। जो चारों गतियों में उत्पन्न होकर पुन: निगोद में चले जाते हैं वे चतुर्गतिनिगोद कहलाते हैं। इतरानिगोद

शब्द इसी का वाचक है और जो अवतक निगोद से नहीं निकले हैं या सर्वदा निगोद में रहते हैं वे नित्य निगोद कहे जाते हैं। अतीत काल में कितने जीव त्रसपर्याय को प्राप्त कर चुके हैं इस प्रश्न का समाधान करते हुए वीरसेनस्वामी लिखते हैं कि अतीतकाल से असंख्यातगुणे जीव ही अभी तक त्रसपर्याय को प्राप्त हुए हैं।

यह अर्थपद है। इसके अनुसार यहाँ आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं। वे ये हैं - सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। यहाँ इन आठों अनुयोगद्वारों का आश्रय लेकर दो शरीर वाले तीन शरीर वाले,चार शरीरवाले और शरीर सहित जीवों का ओघ और आदेश से विचार किया गया है। विग्रहगति में विद्यमान चारों गति के जीव दो शरीरवाले होते हैं, क्योंकि उनके तैजस और कार्मणशरीर वाले या वैक्रियिक, तैजस और कार्मण शरीर वाले जीव तीन शरीर वाले होते हैं। औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मणा शरीर वाले या औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मणा शरीर वाले जीव चार शरीर वाले होते हैं। तथा सिद्ध जीव शरीर रहित होते हैं। यहाँ सत् आदि अनुयोगद्वारों के आश्रय से विशेष व्याख्यान मूल से जान लेना चाहिए। विशेष बात इतनी है कि सूत्रों में केवल सत्प्ररूपणा और अल्पबहुत्व प्ररूपणा ही कही गई हैं। शेष छह का व्याख्यान वीरसेन आचार्य ने किया है।

शरीरप्ररूपणा — इसका व्याख्यान छह अनुयोगद्वारों के आश्रय से किया गया है। वे छह अनुयोगद्वार ये हैं - नामनिरुक्ति, प्रदेशप्रमाणानुगम, निषेकप्ररूपणा, गुणकार, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व। नामनिरुक्ति में पाँचों शरीर की निरुक्ति की गई है। प्रदेशप्रमाणा नुगम में पाँचों शरीरों के प्रदेश अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भागप्रमाण हैं यह बतलाया गया है। निषेकप्ररूपणा का विचार अवान्तर छह अनुयोगद्वारों का आश्रय लेकर किया गया है। उनके नाम ये हैं - समुत्कीर्तना, प्रदेशप्रमाणानुगम, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, प्रदेशविरच और अल्पबहुत्व। समुत्कीर्तना द्वारा बतलाया गया है कि जिन औदारिक, वैक्रियिक और आहारकशरीर की वर्गणाओं का प्रथम समय में ग्रहण होता है उनमें से कुछ समय तक, कुछ दो समय तक इस प्रकार तीन आदि समय से लेकर जिसकी जितनी उत्कृष्ट स्थिति होती है कुछ उतने काल तक रहती है। आशय यह है कि इन शरीरों की स्थिति में आबाधा काल नहीं होता। इसी प्रकार तैजसशरीर के विषय में भी जानना चाहिए। मात्र तैजसशरीर की उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागर लेनी चाहिए। कार्मणाशरीर के परमाणु ग्रहण करने के बाद एक आवलि तक नहीं खिरते, इसलिए इसके परमाणु कुछ एक समय अधिक एक आवलि तक और कुछ दो समय अधिक एक आवलि तक इस प्रकार

तीन समय अधिक एक आवलि से लेकर उत्कृष्ट रूप से कार्मस्थितिप्रमाण काल तक रहते हैं। कार्मणाशरीर की स्थिति में कम से कम एक आवलिप्रमाण आबाधा काल है, इसलिए यहाँ आबाधा को ध्यान में रखकर निर्जरा का विचार किया गया है। प्रदेशप्रमाणानुगम में बतलाया है कि पाँचों शरीर के प्रदेश प्रत्येक समय में अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भागप्रमाण प्राप्त होते हैं। और यह क्रम अपनी अपनी स्थिति तक जानना चाहिए। अनन्तरोपनिधा में बतलाया है कि पाँचों शरीर के प्रदेश प्राप्त होकर प्रथम समय में बहुत दिये जाते हैं। तथा द्वितीयादि समयों में विशेष हीन दिए जाते हैं। इस प्रकार अपनी-अपनी स्थिति पर्यन्त जानना चाहिए। परम्परोपनिधा में बतलाया है कि प्रारम्भ के तीन शरीरों के प्रदेश प्रथम समय में जितने दिये जाते हैं, अन्तर्मुहूर्त जाने पर उसके अन्तिम समय में वे आधे दिये जाते हैं। इसलिए इन शरीर की एक द्विगुणाहानि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और नाना द्विगुणहानियाँ आदि के दो शरीरों में पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण और आहारक शरीर में संख्यात समयप्रमाण होती हैं। तथा तैजसशरीर और कार्मणाशरीर के प्रदेश प्रथम समय में जितने निक्षिप्त होते हैं, पल्य के असंख्यातवें भाग जाकर वे आधे निक्षिप्त होते हैं। इनकी एक द्विगुणाहानि पल्य के असंख्यात प्रथम वर्गमूल प्रमाण हैं और नाना द्विगुणहानियाँ पल्य के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। प्रदेशविरच में सोलह पदवाला दण्डक कहा गया है जिसमें पर्याप्तानिर्वृत्ति, निर्वृत्तिस्थान और जीवनीयस्थान इनका स्वतन्त्र भाव से और सम्मूर्च्छन, गर्भज व औपपादिक जीवों के आश्रय से स्वस्थान अल्पबहुत्व कहा गया है। उसके बाद इन्हीं का परस्थान अल्पबहुत्व कहा गया है। पुन: इसके आगे प्रदेशविरच के छह अवान्तर अनुयोगद्वारों का नामनिर्देश करके उनके आश्रय से पाँच शरीरों की प्ररूपणा की गई है। उनके नाम ये हैं - जघन्य अग्रस्थिति, अग्रस्थितिविशेष, अग्रस्थितिस्थान, उत्कृष्ट अग्रस्थिति, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्व। निषेकप्ररूपणा के अन्तिम अनुयोगद्वार अल्पबहुत्व में पाँच शरीरों के आश्रय से एकगुणाहानि और नाना गुणाहानियों के अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। इस प्रकार अपने अवान्तर अधिकारों के साथ निषेकप्ररूपणा का कथन करके गुणाकार अनुयोगद्वारों में पाँच शरीरों के प्रदेश उत्तरोत्तर कितने गुणे हैं इस बात का ज्ञान कराने के लिए गुणाकार का कथन किया है। पदमीमांसा में औदारिक आदि पाँच शरीरों के जघन्य और उत्कृष्ट प्रदेशों का स्वामी कौन कौन जीव है इसका विचार किया गया है। अल्पबहुत्व में औदारिक आदि पाँच शरीरों के प्रदेशों के अल्पबहुत्व का विचार कर शरीरप्ररूपणा समाप्त की गई है।

शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणा - यद्यपि पांच शरीर में स्निग्धादि गुणों के कारण जो परमाणुपुद्गल सम्बद्ध होकर रहते हैं उनकी विस्रसोपचय संज्ञा है। फिर भी यहाँ पर इन विस्रसोपचार्यो के कारणभूत जो स्निग्धादि गुण हैं उन्हें भी कारण में कार्य का उपचार करके विस्रसोपय कहा गया है। इस प्रकार यहां इन्हीं स्निग्धादि गुणों का इस अनुयोगद्वार में अपने छह अवान्तर अनुयोगद्वारों का आश्रय लेकर विचार किया गया है। उनके नाम ये हैं - अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, शरीरप्ररूपणा और अल्पबहुत्व। अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा में बतलाया है कि औदारिक शरीर के एक एक प्रदेश में सब जीवों से अनन्तगुणे अनन्त अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। वर्गणाप्ररूपणा में बतलाया है कि इस प्रकार अविभागप्रतिच्छेदवाले सब जीवों से अनन्तगुणे परमाणुओं की एक वर्गणा होती है और ये सब वर्गणाएँ अभव्यों अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भागप्रमाण होती हैं। इतनी वर्गणाओं का एक औदारिकशरीरस्थान होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। स्पर्धक प्ररूपणा में बतलाया है कि अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भागप्रमाणवर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है। तथा सब स्पर्धक मिलकर भी इतने ही होते हैं। अन्तर प्ररूपणा में बतलाया है कि एक स्पर्धक् से दूसरे स्पर्धक के मध्य अन्तर सब जीवों से अनन्तगुणे अविभागप्रतिच्छेदकों को लेकर होता है। अर्थात् पिछले स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा में जितने अविभागप्रतिच्छेद उससे अगले स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में जानने चाहिए। शरीर प्ररूपणा में बतलाया है कि अनन्त अविभागप्रतिच्छेद शरीर के बन्धन के कारणभूत गुणों का प्रज्ञा से छेद करने पर उत्पन्न होते हैं और फिर यहीं पर प्रसंग से छेद के दस भेदों का स्वरूपनिर्देश किया गया है। अल्पबहुत्व में पांच शरीरों के अविभागप्रतिच्छेदों के अल्पबहुत्व का विचार करके शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणा समाप्त की गई है।

विस्रसोपचयप्ररूपणा - जो पाँच शरीरों के पुद्‌गल जीव ने छोड़ दिये हैं और जो औदायिकभाव को छोड़कर सब लोक में व्याप्त होकर अवस्थित है उनकी यहाँ विस्रसोपचय संज्ञा मानकर विस्रसोपचयप्ररूपणा की गई है। एक-एक जीवप्रदेश अर्थात् एक-एक परमाणु पर सब जीवों से अनन्तगुणे विस्रसोपचय उपचित रहते हैं और वे सब लोक में से आकर विस्रसोपचयरूप से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। या वे पाँच शरीरों के पुद्‌गल जीव से अलग होकर सब आकाश प्रदेशों से सम्बन्ध को प्राप्त होकर रहते हैं। इस प्रकार जीव से अलग होकर सब लोक को प्राप्त हुए उन पुद्‌गलों की द्रव्यहानि, क्षेत्रहानि, कालहानि और भावहानि किस प्रकार होती है, आगे यह बतलाया गया है और यह बतलाने

के बाद जीव से अभेदरूप पाँच शरीरपुद्गलों के विस्रसोपचय का माहात्म्य बतलाने के लिए अल्पबहुत्व का निर्देश किया गया है। तथा मध्य में प्रसंग से जीवप्रमाणानुगम, प्रदेशप्रमाणानुगम और इनके अल्पबहुत्व का भी विचार किया गया है। इस प्रकार इतना विचार करने पर बाह्यवर्गणा का विचार समाप्त होता है।

चूलिका

पहले जो अर्थ कह आये हैं उसका विशेष रूप से कथन करना चूलिका है। पहले 'जत्थेय मरदि जीवो' इत्यादि गाथा कह आये हैं। यहां पर सर्वप्रथम इसी गाथा के उत्तरार्ध का विचार किया गया है। ऐसा करते हुए बतलाया है कि प्रथम समय में एकनिगोद जीव के उत्पन्न होने पर उसके साथ अनन्तनिगोद जीव उत्पन्न होते हैं। तथा जिस समय ये जीव उत्पन्न होते हैं उसी समय उनका शरीर और पुलवि भी उत्पन्न होती हैं। तथा कहीं कहीं पुलवि की उत्पत्ति पहले भी हो जाती है, क्योंकि पुलवि अनेक शरीरों का आधार है, इसलिए उसकी उत्पत्ति पहले मानने में कोई बाधा नहीं आती। साधारण नियम यह है कि अनन्तानन्त निगोद जीवों का एक शरीर होता है और असंख्यातलोकप्रमाण शरीरों की एक पुलवि होती है। प्रथम समय में जितने निगोद जीव उत्पन्न होते हैं दूसरे समय में वही पर असंख्यातगुणे हीन जीव उत्पन्न होते हैं। तीसरे समय में उनसे भी असंख्यातगुणे हीन जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार आवलि के असंख्यातवें भागप्रमाण काल तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे हीन जीव उत्पन्न होते हैं। उसके बाद क्रम से कम एक समय का और अधिक से अधिक आवलि के असंख्यातवें भागप्रमाण काल का अन्तर पड जाता है। पुन: अन्तर के बाद के समय में असंख्यातगुणे हीन जीव उत्पन्न होते हैं और यह क्रम आवलि के असंख्यातवेंभागप्रमाण काल तक चालू रहता है। इस प्रकार इन निगोद जीवों की उत्पत्ति और अन्तर का क्रम कहकर श्रद्धाअल्पबहुत्व और जीव अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। श्रद्धाअल्पबहुत्व में सान्तर समय में और निरन्तर समय में उत्पन्न होने जीवों का अल्पबहुत्व तथा इन कालों का अल्पबहुत्व विस्तार के साथ बतलाया गया है। जीव अल्पबहुत्व में काल का आश्रय लेकर जीवों का अल्पबहुत्व बतलाया गया है। इसके बाद स्कन्ध, आवास और पुलिवियों में जो बादर और सूक्ष्म निगोद जीव उत्पन्न होते हैं वे सब पर्याप्त ही होते हैं या अपर्याप्त ही होते हैं या मिश्ररूप ही होते हैं इस प्रश्न का समाधान करते हुए प्रतिपादन किया है कि सब बादर निगोद जीव पर्याप्त ही होते हैं, क्योंकि अपर्याप्तकों की आयु कम होने से वे पहले मर जाते हैं, इसलिए पर्याप्त जीव ही होते हैं। किन्तु इसके बाद वे मिश्ररूप होते हैं, क्योंकि

बाद में पर्याप्त और अपर्याप्त बादर निगोद जीवों के एक साथ रहने में कोई बाधा नहीं आती। किन्तु सूक्ष्म निगोद वर्गणा में सभी सूक्ष्मनिगोद जीव मिश्ररूप ही होते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति के प्रदेश और काल का कोई नियम नहीं है।

इस प्रकार 'जत्थेय मरदि जीवों' इत्यादि गाथा के उत्तरार्ध का कथन करके उसके पूर्वार्ध का विचार करते हुए बतलाया गया है कि जो बादर निगोद जीव उत्पत्ति के क्रम से उत्पन्न होते हैं और परस्पर बन्धन के क्रम से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं उनका मरण क्रम से ही निर्गम होता है। इनका उत्पत्ति के क्रम से निर्गमन नहीं होता है, किन्तु मरण के क्रम से निर्गमन होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। मरण का क्रम क्या है इस प्रश्न का समाधान करते हुए बतलाया है कि वह दो प्रकार का है - यवमध्यक्रम और अयव मध्यक्रम। इनमें से पहले अयवयमध्यक्रम का निर्देश करते हैं - सर्वोत्कृष्ट गुणश्रेणि के द्वारा मरनेवाले और सबसे दीर्घकाल द्वारा निर्लेप्यमान होने वाले जीवों के अन्तिम समय में मृत होने से बचे हुए निगोदों का प्रमाण आवलि के असंख्यातवें भागप्रमाण होता है। यहाँ निगोद शब्द पुलवियाची है। अभिप्राय यह है किक्षीणकषाय के अन्तिम समय में पूर्व में मृत हुए जीवों से बचे हुए जीवों की पुलवियाँ आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है। क्षीणकषाय के अन्तिम समय में निगोद जीव्रों के शरीर असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं और एक-एक शरीर में पूर्व में मरने से बचे हुए अनन्त निगोद जीव होते हैं। तथा उनकी आधारभूत पुलवियाँ उक्तप्रमाण होती हैं। यहाँ क्षीणकषाय के काल के भीतर या थूवर आदि में मरने वाले जीवों की प्ररूपणा चार प्रकार की है - प्ररूपणा, प्रमाण, श्रेणि अल्पबहुत्व। प्ररूपणा में बतलाया है कि क्षीणकषाय के प्रत्येक समय में जीव मरते हैं। प्रमाण में बतलाया है कि क्षीणकषाय के प्रत्येक समय में अनन्त जीव मरते हैं। श्रेणि दो प्रकार की है - अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधा में बतलाया है कि क्षीणकषाय के प्रथम समय में मरने वाले जीव स्तोक हैं। दूसरे समय में मरने वाले जीव विशेष अधिक हैं। इस प्रकार आवलिपृथक्त्व काल तक प्रत्येक समय में विशेषअधिक विशेष अधिक जीव मरते हैं। उसके बाद क्षीणकषाय के संख्यातवें भागप्रमाण काल में से आवलि के असंख्यातवें भागप्रमाण काल जाने पर मरने वाले जीव दूने हो जाते हैं। इस प्रकार इतना इतना अवस्थित अध्वान जाकर मरने वाले जीवों की संख्या दूनी दूनी होती जाती है और वह क्रम असंख्यातवें भाग अधिक मरने वाले जीवों के अन्तिम समय के प्राप्त होने तक जानना चाहिए। उसके बाद अन्तिम समय तक प्रत्येक समय में असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे जीव मरते हैं।

आगे क्षीणकषाय के काल में बादर निगोद जीव के जघन्य आयुप्रमाण काल के शेष रहने पर बादर निगोद जीव नहीं उत्पन्न होते हैं। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए

आयुओं का अल्पबहुत्व बतलाया गया है। आगे जघन्य और उत्कृष्ट बादर और सूक्ष्म निगोद जीवों की पुलवियों का परिमाण बतलाकर सब निगोदों की उत्पत्ति में कारण महास्कन्ध के अवयव आठ पृथिवी, टङ्क, कूट,भवन,विमान, विमानेन्द्रक आदि बतलाये गये हैं। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि जब महास्कन्ध के स्थानों का जघन्य पद होता है तब बादर त्रसपर्याप्तकों का उत्कृष्ट पद होताहै और जब बादर त्रसपर्याप्तकों का जघन्य पद होता है तब मूल महास्कन्ध स्थानों का उत्कृष्ट पद होता है।

आगे मरणयवमध्य और शमिलायवमध्य आदि का कथन करने के लिए संदृष्टियाँ स्थापित करके सब जीवों में महादण्ड का कथन किया गया है और संदृष्टियों में जो बादत दरसाई गई है उसका यहाँ सूत्रों द्वारा प्रतिपादन किया गयाहै। यहाँ विशेष जानकारी के लिए मूल का स्वाध्याय अपेक्षित है। इस प्रकार इतने कथन द्वारा 'जत्थेय मरइ जीवो' इस गाथा की प्ररूपणा समाप्त होती है।

अब पाँच शरीरों के ग्रहण योग्य कौन वर्गणाएँ हैं और कौन ग्रहण योग्य नहीं है इस बात का ज्ञान कराने के लिए ये चार अनुयोगद्वार आये हैं- वर्गणाप्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा, प्रदेशार्थता और अल्पबहुत्व। वर्गणाप्ररूपणा में पुन: एक प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा से लेकर कार्मणाद्रव्य वर्गणा तक की सब वर्गणाओं का नामोल्लेख किया गया है। वर्गणानिरूपणा में इन वर्गणाओं में से एक-एक वर्गणा को लेकर यह वर्गणाग्रहण प्रायोग्य नहीं है ऐसी पृच्छा करके जो जो वर्गणाग्रहण प्रायोग्य नहीं है उसे अग्रहणप्रायोग्य बतलाकर अन्त में यही पृच्छा अनन्तानन्त परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणाके विषय में करके यह बतलाया गया है कि इसमें से कुछ वर्गणाएँ ग्रहणप्रायोग्य हैं और कुछ वर्गणाएँ ग्रहणप्रायोग्य नहीं हैं। इसका विशेष खुलासा करते हुए वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि इस सूत्र में जघन्य आहारवर्गणा से लेकर महास्कन्धद्रव्य वर्गणा तक सब वर्गणाओंकी अनन्तानन्तप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। इनमें से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणाशरीरवर्गणा ये पाँच वर्गणाएँ ग्रहणप्रायोग्य हैं, शेष नहीं। जो पाँचवर्गणाएँ ग्रहणप्रायोग्य हैं उनमें आहरवर्गणा में से औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर और आहारकशरीर इन तीन शरीरोंका ग्रहण होता है। तैजसवर्गणा में से तैजसशरीर का ग्रहण होताहै। भाषावर्गणा में से चार प्रकार की भाषाओं का ग्रहण होता है। मनोवर्गणा में से चार प्रकार के मन की रचना होती है और कार्मणावर्गणा में से ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों का ग्रहण होता है। इन सूत्रों की टीका करते हुए वीरसेन स्वामी ने एक बहुत ही महत्व की बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कहना है कि यद्यपि आहारवर्गणा से औदारिक आदि तीन शरीरों का निर्माण होता है पर जिन आहारवर्गणाओं से औदारिकशरीर कानिर्माण

होता है उनसे वैक्रियिकऔर आहारक शरीर का निर्माण नहीं होता। जिन आहरवर्गणाओंसे वैक्रियिकशरीर का निर्माण होता है उनसे औदारिक और आहारकशरीर का निर्माण नहीं होता। तथा जिन आहारवर्गणाओं से आहारकशरीर का निर्माण होता है, उनसे औदारिक और वैक्रियिक शरीर का निर्माण नहीं होता। वस्तुत: औदारिक आदि तीन शरीरों का निर्माण करने वाली आहारवर्गणाएँ अलग अलग हैं पर उनके मध्य में व्यवधान न होने से उनकी एकवर्गणा मानी गई है। इसी प्रकार भाषा आदि वर्गणाओं में चार भाषाओं, चार मन और आठ कर्मों की वर्गणाएँ भी अलग अलग जाननी चाहिए। इस प्रकारण के जो सूत्र हैं उन्हीं के आधार से उन्होंने यह अर्थ फलित किया है। प्रदेशार्थता में सब शरीरों की प्रदेशार्थता अनन्तानन्त प्रदेशवाली है यह बतलाकर आदि के तीन शरीरों में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श बतलाये हैं। तथा अन्त के दो शरीरों में पाँच वर्ण पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श बतलाये हैं। आहारकशरीर में धवल वर्ण होता है ऐसी अवस्था में यहां पांच वर्ण कैसे बतलाये हैं इसका समाधान करते हुए वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि आहारकशरीर के विस्रसोपचय की अपेक्षा उसका धवल वर्ण कहा जाता है, वैसे उसमें पाँचों वर्ण होते हैं। इसी प्रकार इस शरीर में अशुभ रस, अशुभ गन्धऔर अशुभ स्पर्श अव्यक्तभाव से रहते हैं, या अशुभ रस, अशुभ गन्ध और अशुभ स्पर्श वाली वर्गणाएँ आहारकशरीर रूप से परिणमन करते समय शुभ रूप हो जाती हैं, इसलिए इसमें पाँच वर्णों के समान पाँच रस, दोगन्ध और आठ स्पर्श भी बतलाये हैं। तथा तैजस और कार्मण स्कन्ध में प्रतिपक्षरूप स्पर्श नहीं होते, इसलिए चार स्पर्श बतलाये हैं। अल्पबहुत्व दो प्रकार का है - प्रदेशअल्पबहुत्व और अवगाहना अल्पबहुत्व। प्रदेशअल्पबहुत्व में बतलाया है कि औदारिकशरीर द्रव्यवर्गणा के प्रदेश सबसे स्तोक हैं। उनसे वैक्रियिकशरीर द्रव्यवर्गणा के प्रदेश अनन्तगुणे हैं। उनसे भाषा, मन और कार्मणा शरीर द्रव्यवर्गणा की अवगाहना सबसे स्तोक है। उससे मनोद्रव्यवर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी है। उससे भाषाद्रव्यवर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी है। उससे आहारकशरीर द्रव्यवर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी है। उससे वैक्रियिकशरीर द्रव्यवर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी है और उससे औदारिकशरीर द्रव्यवर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी है।

बन्धविधान

बन्ध के चार भेद हैं - प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन चारों का विस्तार से निरूपण भगवान् भूतबलि भट्टारक ने महाबन्ध में किया है। उनका यहां पर प्ररूपण करने पर बन्धविधान समाप्त होता है।

भवि भवि दंसणु मलरहिउ भवि भवि करउं समाहि ।
भवि भवि रिसि गुरू हो इ महु णिहयमणुभववाहि ।।

षट्. ६

महाबन्ध

(कर्मप्रकृतिप्राभृत बनाम सत्कर्म)

- सत्कर्म परिचय
- सतकम्म पंजिका
- कर्मप्रकृतिप्राभृत परिचय
- धवलाग्रंथ समाप्ति सूचना

(षट्खंडागम पुस्तक क्र. १५, १६ की प्रस्तावना)

विषय-परिचय (पु.१५)

अग्रायणीय पूर्व के १४ अधिकारों में पांचवाँ चयनलब्धि नाम का अधिकार है। उसमें २० प्राभृत हैं। इनमें चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृतिप्राभृत हैं। उसमें निम्न २४ अधिकार हैं- १ कृति, २ वेदना, ३.स्पर्श, ४. कर्म, ५. प्रकृति, ६. बन्धन, ७. निबन्धन, ८. प्रक्रम, ९. उपक्रम, १०. उदय, ११. मोक्ष, १२ संक्रम, १३. लेश्या, १४. लेश्याकर्म, १५. लेश्यापरिणाम १६. सातासात, १७. दीर्घ-ह्रस्व, १८. भवधारणीय, १९. पुद्गलात्त (पुद्गलात्म), २०. निधित्त- अनिधत्त, २१. निकाचित-अनिकाचित, २२. कर्मस्थिति, २३. पश्चिमस्कन्ध और २४. अल्पबहुत्व। इन २४ अधिकारों में से प्रस्तुत षट्खण्डागम (मूलसूत्र) के वेदना नामक चतुर्थ खण्ड में कृति (पु.९) और वेदना की (पु.१०-१२) तथा वर्गणा नामक पांचवे खण्ड में स्पर्श, कर्म और प्रकृति (पु.१३) अधिकारों की प्ररूपणा की गयी है।

बन्धन अनुयोगद्वार बन्ध, बन्धनीय, बन्धक और बन्धविधान इन ४ अवान्तर अनुयोगद्वारों में विभक्त हैं। इनमें से बन्ध और बन्धनीय अधिकारों की भी प्ररूपणा वर्गणाखण्ड (पृ.१४) में की गई है। बन्धक अधिकार की प्ररूपणा खुद्दाबन्ध नामक द्वितीय खण्ड में तथा बन्धविधान नामक अवान्तर अधिकार की प्ररूपणा महाबन्ध नामक छठे खण्ड में की गयी है। इस प्रकार मूल षट्खण्डागम में पूर्वोक्त २४ अनुयोगद्वारों में से प्रथम ६ अनुयोगद्वारों के ही विषय का विवरण किया गया है। शेष निबन्धन आदि १८ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा यद्यपि मूलषट्खण्डागम में नहीं की गयी है फिर भी वर्गणाखण्ड के अन्तिमसूत्र को देशामर्शक मानकर उनकी प्ररूपणा अपनी धवला टीका (पृ.१५-१६) में वीरसेनाचार्य ने प्राप्त उपदेश के अनुसार संक्षेप में कर दी है [१]। इनका नाम सत्कर्म प्रतीत होता है [२]।

उन शेष १८ अनुयोगद्वारों में से निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम और उदय ये ४ (७-१०) अनुयोगद्वार पुस्तक १५ में प्रकाशित हो रहे हैं। तथा शेष १४ (११-२४) अनुयोगद्वार पुस्तक १६ में प्रकाशित किये जायँगे। इनका विषयपरिचय संक्षेप में इस प्रकार है -

---

१ भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिदसेसअट्ठारसअणियोग द्दाराणं किंचिसंखेवेण परूपणं कस्सामो। पु. १५, पृ. १.

२ महाकम्मपयडि ..... सव्वाणि परूविदाणि। संतकम्मपंजियाकी उत्थानिका (पु.१५,परिशिष्ट पृ. १)

७. निबन्धन - 'निबध्यते तदस्मिन्निति निबन्धनम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो द्रव्य जिसमें निबद्ध है उसे निबन्धन कहा जाता है। निक्षेपयोजना में इसके ये ६ भेद किये गये हैं - नामनिबन्धन, स्थापनानिबन्धन, द्रव्यनिबन्धन, क्षेत्रनिबन्धन, कालनिबन्धन और भावनिबन्धन। इन सबके स्वरूप का विवरण करते हुए यहाँ नाम और स्थापना निबन्धनों को छोडकर शेष ४ निबन्धनों को प्रकृत बतलाया है। साथ में यहाँ यह भी निर्देश किया गया है कि यद्यपि इस निबन्धन अनुयोगद्वार में छहों द्रव्योंके निबन्धन की प्ररूपणा की जाती है[1] फिर भी अध्यात्मविद्या का अधिकार होने से यहाँ उन सबको छोड़कर केवल कर्म निबन्धन की ही प्ररूपणा की गयी है। सर्वप्रथम यहाँ निबन्धन अनुयोगद्वार की आवश्यकता प्रगट करते हुए यह बतलाया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा कर्मों और उनके मिथ्यात्वप्रभृति प्रत्ययों की प्ररूपणा की जा चुकी है। साथ ही कर्मरूप होने की योग्यता रखनेवाले पुद्गलों का भी विवेचन किया जा चुका है। किन्तु उन कर्मों की प्रकृति कहाँ किस प्रकार होती है, यह नहीं बतलाया गया है। इसीलिये कर्मों के इस व्यापार की प्ररूपणा के लिये प्रकृत निबन्धन अनुयोगद्वार का अवतार हुआ है।

नोआगमकर्मनिबन्धन के दो भेद हैं - मूलकर्मनिबन्धन और उत्तरकर्मनिबन्धन। इनमें से मूल कर्मनिबन्धन में ज्ञानावरणादि ८ मूल प्रकृतियों के तथा उत्तरकर्मप्रकृतिनिबन्धन में इन्हीं के उत्तर भेदों के निबन्धन की प्ररूपणा की गयी है।

८. प्रक्रम - यहाँ निक्षेपयोजना करते हुये प्रक्रम के ये ६ भेद निर्दिष्ट किये गये हैं- नामप्रक्रम, स्थापनाप्रक्रम, द्रव्यप्रक्रम, क्षेत्रप्रक्रम, कालप्रक्रम और भावप्रक्रम। इनके कुछ और उत्तर भेदों का उल्लेख करते हुए यहाँ कर्मप्रक्रम को अधिकार प्राप्त बतलाया है तथा 'प्रक्रामतीति प्रक्रम:' इस निरुक्ति के अनुसार प्रक्रम से कार्मणा पुद्गलप्रचय का अभिप्राय बतलाया है।

यहाँ यह शंका उठायी गयी है कि जिस प्रकार कुंभार एक मिट्टी के पिण्ड से अनेक घटादिकों कोउत्पन्न करता है उसी प्रकार यह संसारी प्राणी एकप्रकार से कर्म को बांधकर फिर उससे आठ प्रकार के कर्मों को उत्पन्न करता है, क्योंकि अन्यथा अकर्म पर्याय से कर्मपर्याय का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। इसके उत्तर में कहा गया है कि जब अकर्म से कर्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं है तब जिस एक कर्म से आठ प्रकार के कर्मों की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है वह एक कर्म भी कैसे उत्पन्न हो सकेगा ? यदि उसे भी कर्म से ही

---

१ इसकी प्ररूपणा संतकम्मपंजिया में देखिये।

उत्पन्न माना जावेगा तो ऐसी अवस्था में अनवस्थाजनित अव्यवस्था दुर्निवार होगी। इसलिये उसे अकर्म से ही उत्पन्न मानना पडेगा। दूसरे, कार्य सर्वथा कारण के ही अनुरूप होना चाहिये, ऐसा एकान्त नियम नहीं बन सकता; अन्यथा मृत्तिकापिण्ड से घट-घटी आदि उत्पन्न न होकर मृत्तिकापिण्ड के ही उत्पन्न होने का प्रसंग अनिवार्य होगा। परन्तु चूंकि ऐसा होता नहीं है, अतएव कार्य कथंचित् (द्रव्य की अपेक्षा) कारण के अनुरूप और कथंचित् (पर्याय की अपेक्षा) उससे भिन्न ही उत्पन्न होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

प्रसंग पाकर यहाँ सांख्याभिमत सत्कार्यवाद का उल्लेख करके उसका निराकरण करते हुए 'नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि' इत्यादि आप्तमीमांसा की अनेक कारिकाओं को उद्धृत करके तदनुसार नित्यत्वैकान्त और सर्वथा असत्कार्यवाद का भी खण्डन किया गया है। इसके अतिरिक्त परस्पर निरपेक्ष अवस्था में उभय (सत्-असत्) रूपता भी उत्पद्यमान कार्य में नहीं बनती, इसका उल्लेख करते हुए स्याद्वादसम्मत सप्तभंगी की भी योजना की गयी है। इसी सिलसिले में बौद्धाभिमत क्षणक्षयित्व का उल्लेख कर उसका निराकरण करते हुए द्रव्य की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूपता को सिद्ध किया गया है।

पूर्वोक्त कारिकाओं के अभिप्रायानुसार पदार्थों को सर्वथा सत् स्वीकार करने वाले सांख्यों के यहाँ प्रागभावादि के असम्भव हो जाने से जिस प्रकार अनादिता, अनन्तता, सर्वात्मकता और निःस्वरूपता का प्रसंग दुर्निवार है उसी सर्वथा अभाव (शून्यैकान्त) को स्वीकार करने वाले माध्यमिकों के यहाँ अनुमानादि प्रमाण के असम्भव होने से स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष को दूषित न कर सकने का भी प्रसंग अनिवार्य होगा। परस्पर निरपेक्ष उभयस्वरूपता (सदसदात्मकता) को स्वीकार करने वाले भाट्टों के समान सांख्यों के यहाँ भी परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध की सम्भावना है ही। कारण कि वह (उभयस्वरूपता) स्यादाद सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना बन नहीं सकती। पूर्वोक्त दोषों के परिहार की इच्छा से बौद्ध जो सर्वथा अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हैं वे भी भला 'तत्व अनिर्वचनीय है' इस प्रकार के वचन के बिना अपनी अभीष्ट तत्वव्यवस्था का बोध दूसरों को किस प्रकार से करा सकेंगें ? इस प्रकार सर्वथा सदसदादि एकान्त पक्षों की समीक्षा करते हुए यहाँ इन सात भंगों की योजना की गयी है। यथा -

१. स्वद्रव्य; क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा वस्तु कथंचित् सत् ही है। २ वही परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा कथंचित् असत् ही है। ३ क्रम से स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि की विवक्षा होने पर वह कथंचित् सदसत् (उभय स्वरूप) ही है। ४ युगपत् स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि दोनों की विवक्षा में वस्तु कथंचित् अवाच्य ही है। इन चार

मुख्य भंगों का निर्देश तो 'कथंचित्ते सदेवेष्टं' इत्यादि कारिका में ही कर दिया गया है। शेष तीन भंग 'च' शब्द से सूचित कर दिये गये हैं। वे इस प्रकार है - ५. कथंचित् वस्तु सत् और अवक्तव्य ही है। ६. कथंचित् वह असत् और अवक्तव्य ही हैं। ७ कथंचित् वह सत्-असत् और अवक्तव्य ही है। इन तीन भंगों में यथाक्रम से स्वद्रव्यादि तथा युगपत् स्व-परद्रव्यादि, परद्रव्यादि तथा युगपत् स्व-परद्रव्यादि और क्रम से स्व-परद्रव्यादि तथा युगपत् स्व-परद्रव्यादिकी विवक्षा की गयी है।

यहाँ जो आप्तमीमांसा की 'कथंचित् ते सदेवेष्टं' आदि कारिका उद्धृत की गयी है ठीक उसी प्रकार की प्राकृत गाथा पंचास्तिकाय में पायी जाती है। यथा -

सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥

प्रकृतिप्रक्रम, स्थितिप्रक्रम और अनुभागप्रक्रम के भेद से प्रक्रम तीन प्रकार का बतलाया गया है। इनमें प्रकृतिप्रक्रम को मूलप्रकृतिप्रक्रम और उत्तरप्रकृतिप्रक्रम इन दो भेदों में विभक्त कर यथाक्रम से उनके अल्पबहुत्व की यहाँ प्ररूपणा की गयी है। अन्त में स्थितिप्रक्रम और अनुभागप्रक्रम की भी संक्षेप में प्ररूपणा करके इस अनुयोगद्वार को समाप्त किया गया है।

९. उपक्रम- प्रक्रम के समान ही उपक्रम के भी ये छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं - नामप्रक्रम, स्थापनाप्रक्रम, द्रव्यप्रक्रम, क्षेत्रप्रक्रम, कालप्रक्रम और भावप्रक्रम। यहाँ कर्मप्रक्रम को अधिकार प्राप्त बतलाकर उसके ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं - बन्धनोप्रक्रम, उदीरणोप्रक्रम, उपशामनोपकर्म और विपरिणामोप्रक्रम। यहाँ प्रक्रम और उपक्रम में विशेषता का उल्लेख करते हुए यह बतलाया है कि प्रक्रम प्रकृति, स्थिति और अनुभाग में आने वाले प्रदेशाग्र की प्ररूपणा करता है कि उपक्रम बन्ध होने के द्वितीय समय से लेकर सत्तव स्वरूप से स्थित कर्मपुद्गलों के व्यापार की प्ररूपणा करता है।

बन्धनोप्रक्रम के भी यहाँ प्रकृति व स्थिति आदि के भेद से चार भेद बतलाकर उनकी प्ररूपणा सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत के समान करना चाहिये, ऐसा उल्लेखमात्र किया है। यहाँ यह आशंका उठायी गयी है कि इनकी प्ररूपणा जैसे महाबन्ध में की गयी है तदनुसार ही वह यहाँ क्यों न की जाय ? इनके समाधान में बतलाया है कि महाबन्ध में चूंकि प्रथम समय सम्बन्धी बन्ध का आश्रय लेकर वह प्ररूपणा की गयी है अतएव तदनुसार यहाँ उनकी प्ररूपणा करना इष्ट नहीं है।

उदीरणा - उदयावलीबाह्य स्थिति को आदि लेकर आगे की स्थितियों के बन्धावली अतिक्रान्त प्रदेश पिण्ड का पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रतिभाग से या असंख्यात लोक प्रतिभाग से अपकर्षण करके उसको उदयावली में देना, उसे उदीरणा कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि उदयावली को छोड़कर आगे की स्थितियों में से प्रदेशपिण्ड को खींचकर उसे उदयावली में प्रक्षिप्त करने को उदीरणा कहते हैं। वह दो प्रकार की है - एक-एक-प्रकृतिउद्दीरणा और प्रकृतिस्थानउदीरणा। एक-एक प्रकृतिउदीरणा की प्ररूपणा में प्रथमतः उसके स्वामियों का विवेचन किया गया है। उदाहरणार्थ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों की उदीरणा के स्वामी का निर्देश करते हुए बतलाया है कि इन कर्मों की उदीरणा मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय गुणास्थान तक होती है। विशेषता इतनी है कि क्षीणकषाय के काल में एक समय अधिक आवलीमात्र शेष रहने पर उनकी उदीरणा व्युच्छिन्न हो जाती है।

तत्पश्चात् एक-एक प्रकृति उदीरणा विषयक एक जीव की अपेक्षा काल और अन्तर तथा नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल और अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है। नाना जीवों की अपेक्षा उसके अन्तर की सम्भावना ही नहीं है। एक-एक प्रकृति का अधिकार होने से यहाँ भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि उदीरणा की भी सम्भावना नहीं है।

प्रकृतिस्थान उदीरणा की प्ररूपणा में स्थानसमुत्कीर्तना करते हुए मूल प्रकृतियों के आधार से ये पांच प्रकृतिस्थान बतलाये गये हैं - आठों प्रकृतियों की उदीरणारूप पहिला, आयु के बिना शेष सात प्रकृतियों रूप दूसरा; आयु और वेदनीय के बिना शेष छह प्रकृतियों रूप तीसरा; मोहनीय, आयु और वेदनीय के बिना शेष पांच प्रकृतियों रूप चौथा; तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु और अन्तराय के बिना शेष दो प्रकृतियों रूप पांचवां।

स्वामित्वप्ररूपणा में उक्त स्थानों के स्वामियों का निर्देश करते हुए बतलाया है कि इनमें से प्रथम स्थान, जिसका आयु कर्म उदयावली में प्रविष्ट नहीं है ऐसे प्रमत्त (मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्तसंयत तक प्रमाद युक्त) जीव के होता है। द्वितीय स्थान भी उक्त जीव के ही होता है। विशेषता केवल इतनी है है कि उसका आयु कर्म उदयावली में प्रविष्ट होना चाहिये। तीसरा स्थान सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक होता है। चौथे स्थान का स्वामी छद्मस्थ वीतराग (उपशान्तकषाय और क्षीणमोह) जीव होता है।

विशेष इतना है कि क्षीणमोह के काल में एक समय अधिक आवली मात्र काल शेष रह जाने के पहिले पहिले ही होता है, उसके पश्चात् नहीं। पाँचवे (नाम व गोत्र प्रकृतिरूप) स्थान के स्वामी सयोगकेवली है।

तत्पश्चात् प्रकृतिस्थान उदीरणा की ही प्ररूपणा में एक जीव की अपेक्षा काल और अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल व अन्तर तथा अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

भुजाकार उदीरणा की प्ररूपणा में अर्थपद का कथन करते हुए बतलाया है कि अनन्तर अधिक्रान्त समय में थोडी प्रकृतियों की उदीरणा करके इस समय उनसे अधिक प्रकृतियों की उदीरणा करना इसे भुजाकार (भुयस्कार) उदीरणा कहते हैं। अनन्तर अतिकान्त समय में अधिक प्रकृतियों की उदीरणा करके इस समय उनसे कम प्रकृतियों की उदीरणा करने का नाम अल्पतरउदीरणा है। अनन्तर अतिक्रान्त समय में जितनी प्रकृतियों की उदीरणा कर रहा था इस समय भी उतनी ही प्रकृतियों की उदीरणा करना उनसे हीन या अधिक की उदीरणा न करना - इसे अवस्थितउदीरणा कहा जाता है। अनन्तर अतिक्रान्त समय में अनुदीरक होकर इस समय में की जानेवाली उदीरणा नाम अवक्तव्य उदीरणा है।

स्वामित्वप्ररूपणा में यह बतलाया गया है कि भुजाकारउदीरणा, अल्पतरउदीरणा और अवस्थित उदीरणा का स्वामी कोई भी मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि जीव हो सकता है। अवक्तव्यउदीरणा का स्वामी सम्भव नहीं है।

एक जीव की अपेक्षा काल की प्ररूपणा में भुजाकारउदीरणा का काल जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से दो समय मात्र बतलाया है जो इस प्रकार से सम्भव है - कोई उपशान्तकषाय जीव वहाँ से च्युत होकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती हुआ। वहाँ पर पाँच से छह प्रकृतियों की उदीरणा करने के कारण भुजाकारउदीरक हो गया। इस प्रकार भुजाकार उदीरणा का जघन्य काल एक समय प्राप्त हुआ। पुन: वही द्वितीय समय में मृत्यु को प्राप्त होकर देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ उत्पन्न होने के प्रथम समय में वह छह प्रकृतियों से आठ का उदीरक होकर भुजाकार उदीरक ही रहा। यहाँ भुजाकार उदीरणा का द्वितीय समय प्राप्त हुआ। इस प्रकार भुजाकार उदीरणा का उत्कृष्ट काल दो समय मात्र प्राप्त होता है।

अल्पतर उदीरणा का भी काल जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से दो समय मात्र है। वह इस प्रकार है - प्रमत्तसंयत के अन्तिम समय में आयु कर्म के उदयावली में

प्रविष्ट हो जाने पर वह आठ से सात प्रकृतियों की उदीरणा करता हुआ अल्पतर उदीरक हो गया। इस प्रकार अल्पतर उदीरणा का जघन्य काल एक समय प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् द्वितीय समय में अप्रमत्त गुणास्थान को प्राप्त होने पर वह वेदनीय कर्म के बिना छह प्रकृतियों की उदीरणा करता हुआ अल्पतर उदीरक ही रहा। इस प्रकार अल्पतर उदीरणा का काल भी उत्कर्ष से दो समय मात्र ही पाया जाता है।

अवस्थित उदीरणा का कालजघन्य से एक समय और उत्कर्ष से एक समय अधिक एक आवली से हीन त`तीस सागरोपमप्रमाणा है। देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में पाँच, छह या सात से आठ का उदीरक होकर भुजाकार उदीरक हुआ। पुन: द्वितीय समय से लेकर मरणावली प्राप्त होने तक अवस्थित रूप से आठ का ही उदीरक रहा। इस प्रकार अवस्थित उदीरणा का उत्कृष्ट काल प्रथमसमय और अन्तिम आवली को छोडकर पूर्ण देव पर्यायप्रमाण तेतीस सागरोपम मात्र प्राप्त हो जाता है।

अन्तरप्ररूपणा में भुजाकार उदीरणा के अन्तर पर विचार करते हुए उसका जघन्य अन्तर एक या दो समय मात्र बतलाया है। यथा - पांच प्रकृतियों का उदीरक कोई उपशान्तकषाय नीचे गिरता हुआ सूक्ष्मसाम्परायिक होकर छह का उदीरक हुआ। तत्पश्चात् द्वितीय समय में भी वह छह का ही उदीरक रहा। इस प्रकार भुजाकार उदीरणा का अवस्थित उदीरणास अन्तर हुआ। पुन तृतीय समय में मरकर वह देवों में उत्पन्न हो आठ का उदीरक होकर भुजाकार उदीरणा करने लगा। इस प्रकार भुजाकार उदीरणा का एक समय मात्र जघन्य अन्तर प्राप्त हो जाता है। उसका उत्कृष्ट अन्तर एक समय कम तेतीस सागरोपम प्रमाण है। वह इस प्रकार से - कोई जीव तेतीस सागरोपम आयुवाले देवों में उत्पन्न होकर उत्पन्न होने के प्रथम समय में भुजाकार उदीरक हुआ और द्वितीय समय से लेकर मरणावली प्राप्त होने के पूर्व समय तक वह अवस्थित उदीरक रहा। इस प्रकार उसका इतना अन्तर अवस्थित उदीरणा से हुआ। तत्पश्चात् मरणावली के प्रथम समय में वह आयु के बिना सात प्रकृतियों की उदीरणा करता हुआ अल्पतर उदीरक हो मरणावली काल के अन्तिम समय तक अवस्थित उदीरक रहा। तत्पश्चात् मरण को प्राप्त होकर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होने के प्रथम समय में पुन: भुजाकार उदीरक हुआ। इस प्रकार भुजाकार उदीरणा का अवस्थित और अल्पतर उदीरणाओं से एक समय कम पूरे तेतीस सागरोपम काल तक अन्तर रहा।

आगे चलकर इसी भुजाकार उदीरणा की प्ररूपणा में नाना जीवों की अपेक्षा

भंगविचय की अतिसंक्षेप में प्ररूपणा करते हुए भागाभग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर और भाव; इन सबकी जानकर प्ररूपणा करने का निर्देशमात्र किया गया है।

पदनिक्षेपप्ररूपणा में भुजाकार उदीरणा की उत्कृष्ट वृद्धि आदि किसके होती है, इसका कुछ विवेचन करते हुए प्रकृत हानि-वृद्धि आदि के अल्पबहुत्व का निर्देश मात्र किया गया है।

वृद्धिउदीरणाप्ररूपणा में संख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणाहानि और अवस्थित उदीरणा इन चार पदों के अस्तित्व का उल्लेख मात्र करके शेष प्ररूपणा जानकर करना चाहिये (सेसंजाणिऊ ण वत्तव्वं) इतना मात्र निर्देश करते हुए मूल प्रकृतिउदीरणा की प्ररूपणा समाप्त की गयी है।

मूलप्रकृतिउदीरणा के समान उत्तर प्रकृतिउदीरणा भी दो प्रकार की है - एक-एक प्रकृतिउदीरणा और प्रकृतिस्थानउदीरणा। इनमें प्रथमत: एक-एक प्रकृतिउदीरणा की प्ररूपणा स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल तथा नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर इन अधिकारों के द्वारा की गयी है। आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में से किस-किस प्रकृति के कौन-कौन से जीव उदीरक होते हैं, इसका विवेचन स्वामित्व में किया गया है। एक जीव की अपेक्षा काल के कथन में यह बतलाया है कि अमुक-अमुक प्रकृति की उदीरणा एक जीव के आश्रय से निरन्तर जघन्यत इतने काल और उत्कर्षत: इतने काल तक होती है। एक जीव की अपेक्षा विवक्षित प्रकृति की उदीरणा का निरूपण में किया गया है। मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियों की उदीरणा में नाना जीवों की अपेक्षा कितने भंग पांच ज्ञानावरण प्रकृतियों के उदीरक कदाचित् सब जीव हो सकते हैं, कदाचित् बहुत उदीरक और एक यहाँ तीन भंग संभव है। नाना जीव यदि विवक्षित प्रकृति की उदीरणा करें तो कम से कम कितने काल और अधिक से अधिक कितने काल करेंगें, इसका विचार 'नाना जीवों की अपेक्षा काल' में किया गया है। इसी प्रकार नाना जीव विविक्षत कप्रकृति को छोडकर अन्य प्रकृति की उदीरणा करते हुए यदि फिसे उक्त प्रकृतियों की उदीरणा प्रारम्भ करते हैं तो कम से कम कितने काल में और अधिक से अधिक कितने काल में करते हैं, इसका विवेचन नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर में किया गया है।

संनिकर्ष - एक-एक प्रकृति उदीरणा की ही प्ररूपणा को चालू रखते हुए संनिकर्ष का भी यहाँ कथन किया गया है। यह संनिकर्ष स्वस्थान और परस्थान के भेद से दो प्रकार

का निर्दिष्ट किया गया है। स्वस्थान संनिकर्ष के विवेचन में ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में किसी एक कर्म की उत्तर प्रकृतियों से विवक्षित प्रकृति की उदीरणा करने वाला जीव उसकी ही अन्य शेष प्रकृतियों का उदीरक होता है या अनुदीरक इसका विचार किया गया है। जैसे - मतिज्ञानावरण की उदीरणा करने वाला शेष चार ज्ञानावरण प्रकृतियों का भी नियम से उदीरक होता है । चक्षुदर्शनावरण की उदीरणा करने वाला शेष चार ज्ञानावरण प्रकृतियों का भी नियम से उदीरक होता है। चक्षुदर्शनावरण की उदीरणा करने वाला अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इन तीन दर्शनावरण प्रकृतियों का नियम से उदीरक तथा शेष पाँच दर्शनावरण प्रकृतियों का वह कदाचित् उदीरक होता है। परस्थानसंनिकर्ष में आठों कर्मों की समस्त उत्तर प्रकृतियों में से किसी एक की विवक्षा कर शेष सभी प्रकृतियों की उदीरणा अनुदीरणा का विचार किया जाना चाहिये था । परन्तु सम्भवत: उपदेश के अभाव में वह यहाँ नहीं किया जा सका, उसके सम्बन्ध में यहाँ केवल इतनी मात्र सूचना की गयी है कि 'परत्थाणासणिणयासो जाणियूण वत्तव्वो' अर्थात् परस्थान संनिकर्ष का कथन जानकर करना चाहिये।

अल्पबहुत्व - यह अल्पबहुत्व भी स्वस्थान और परस्थान के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से स्वस्थान अल्पबहुत्व में ज्ञानावरणादि एक-एक कर्म की पृथक्-पृथक् उत्तर प्रकृतियों के उदीरकों की हीनाधिता का विचार किया गया है। परस्थान अल्पबहुत्व की प्ररूपणा में समस्त कर्मप्रकृतियों के उदीरकों की हीनाधिकता का विचार सामान्य स्वरूप से किया जाना चाहिये था। परन्तु उसका भी विवेचन यहाँ सम्भवत· उपदेश के अभाव से ही नहीं किया जा सका है। इतना ही नहीं, बल्कि स्वस्थान अल्पबहुत्व की प्ररूपणा में भी केवल ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय इन तीन ही कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के आश्रय से उपर्युक्त अपबहुत्व की प्ररूपणा की जा सकी है, शेष मोहनीय आदि कर्मों के आश्रय से वह भी नहीं की गयी है। यहाँ उसके सम्बन्ध में इतनी मात्र सूचना की गयी है 'उपरि उपदेसं लहिय वत्तव्वं। परत्थाणाप्पाबहुगं जाणिय वत्तव्वं' अर्थात् आगे मोहनीय आदि शेष कर्मों के सम्बन्ध में प्रकृत स्वस्थान अल्पबहुत्व की प्ररूपणा उपदेश पाकर करना चाहिये। परस्थान अल्पबहुत्व का कथन जानकर करना चाहिये।

यहाँ एक-एक प्रकृति की विवक्षा होने से भुजाकर, पदनिक्षेप और वृद्धि प्ररूपणाओं की असम्भावना प्रगट की गयी है।

प्रकृतिस्थानउदीरणा - यहाँ ज्ञानावरण आदि एक-एक कर्म की अलग-अलग उत्तर प्रकृतियों का आश्रय करके जितने उदीरणास्थान सम्भव हों उनकी आधार से स्वामित्व,

एक जीव की अपेक्षा काल व अन्तर तथा नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर तथा अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। उदाहरण स्वरूप मोहनीय कर्म की स्थान उदीरणा में एक, दो, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ और दस प्रकृति रूप नौ स्थानों की सम्भावना है। उनमें एक प्रकृति रूप उदीरणास्थान के चार भंग हैं - संज्वलन क्रोध के उदय से प्रथम भंग, मानसंज्वलन के उदय से दूसरा भंग, मायासंज्वलन के उदय से तीसरा भंग, और लोभसंज्वलन के उदय से चौथा भंग। इन भंगों का कारण यह है कि इन चारों प्रकृतियों में से विवक्षित समय में किसी एक की ही उदीरणा हो सकती है। दो प्रकृतिरूप स्थान के उदीरक के बारह भंग होते हैं - इसका कारण यह है कि विवक्षित समय में तीन वेदों में से किसी एक ही वेद की उदीरणा हो सकेगी तथा उसके साथ उक्त चार संज्वलन कषायों में से किसी एक संज्वलन कषाय की भी उदीरणा होगी। इस प्रकार दो प्रकृतिरूप स्थान की उदीरणा में बारह (४ x ३ = १२) भंग प्राप्त होते हैं। चार प्रकृतिरूप स्थान की उदीरणा में चौबीस भंग होते हैं। वे इस प्रकार से- तीन वेदों में से कोई एक वेद प्रकृति, चार, संज्वलन कषायों में से कोई एक, तथा इनके साथ हास्य-रति या अरति-शोक इन दो युगलों में से कोई एक युगल रहेगा। इस प्रकार चार प्रकृतिरूप स्थान के चौबीस (३ x ४ x २ = २४) भंग प्राप्त होते हैं। इस चार प्रकृतिरूप स्थान में भय, जुगुप्सा, सम्यक्त्व प्रकृति अथवा प्रत्याख्यानावरणादि चार में से किसी एक प्रत्याख्यानावरण कषाय के सम्मिलित होने पर पाँच प्रकृतिरूप स्थान के चार चौबीस (२४ x ४ = ९६) भंग होते हैं। इसी प्रकार से आगे भी छह प्रकृतिरूप स्थान के सात चौबीस (२४ x ७ = १६८), सात प्रकृतिरूप स्थान के दस चौबीस (२४ x १० = २४०), आठ प्रकृतिरूप स्थान के ग्यारह चौबी (२४x११= २६४), नौ प्रकृतिरूप स्थान के छह चौबीस (२४ x ६ x १४४), तथा दस प्रकृति रूप स्थान के एक चौबीस (२४ x १ = २४) भंग होते हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्म की स्थान उदीरणा में प्रथमत स्थान समुत्कीर्तना करके तत्पश्चात् स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, संनिकर्ष और अल्पबहुत्व इन अधिकारों के द्वारा उसकी प्ररूपणा की गयी है।

इसी प्रकार से ज्ञानावरणादि अन्य कर्मों के भी विषय में पूर्वोक्त स्वामित्व आदि अधिकारों के द्वारा यथासम्भव स्थान उदीरणा की प्ररूपणा की गयी है। वेदनीय और आयु कर्मों के स्थान उदीरणा की सम्भावना नहीं है।

भुजाकार उदीरणा – यहाँ प्रथमत: दर्शनावरण के सम्बन्ध में भुजाकार, अल्पतर,

अवस्थित और अवक्तव्य इन चारों ही उदीरणाओं के अस्तित्व की सम्भावना बतलाकर तत्पश्चात् उनके स्वामी, एक जीव की अपेक्षा काल व अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, भंगविचय, नानाजीवों की अपेक्षा काल व अन्तर का तथा अल्पबहुत्व का संक्षेप में विवेचन किया गया है। आगे चलकर इसी क्रम से मोहनीय के सम्बन्ध में भी भुजाकार उदीरणा की प्ररूपणा करके उसे यही समाप्त कर दिया है। नामकर्म आदि अन्य कर्मों के सम्बन्ध में उक्त प्ररूपणा नहीं की गयी है। इसके पश्चात् अति संक्षेप में पदनिक्षेप और वृद्धिप्ररूपणा करके प्रकृतिउदीरणा की प्ररूपणा समाप्त की गयी है।

स्थितिउदीरणा - यह भी मूलप्रकृतिस्थितिउदीरणा और उत्तरप्रकृतिस्थित उदीरणा के भेद से दो प्रकार की है। मूलप्रकृतिउदीरणा में मूल प्रकृतियों के आश्रय से स्थिति उदीरणा का जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण बतलाया गया है। जैसे - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थितिउदीरणा दो आवलियों से कम तीस कोड़-कोड़ि सागरोपम प्रमाण है। यहाँ उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा में दो आवली कम बतलाने का कारण यह है कि बन्धावली और उदयावलीगत स्थिति उदीरणा के अयोग्य होती है। जघन्य स्थितिउदीरणा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की एक स्थिति मात्र है जो कि ऐसे क्षीणकषाय जीव के पायी जाती है जिसे अन्तिम समयवर्ती क्षीणकषाय होने में एक समय अधिक एक आवलि काल शेष हैं। मोहनीच की जघन्य स्थिति उदीरणा भी एक स्थितिमात्र है जो कि ऐसे सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपक के पायी जाती है जिसके अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक होने में एक समय अधिक आवली मात्र स्थिति शेष रही है। वेदनीय की जघन्य स्थितिउदीरणा पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन तीन बटे सात ($\frac{3}{7}$) सागरोपमप्रमाण है।

जिस प्रकार मूलप्रकृतिस्थिति उदीरणा में मूलप्रकृतियों के आश्रय से यह प्ररूपणा की गयी है उसी प्रकार से उत्तर प्रकृति स्थिति उदीरणा में उत्तर प्रकृतियों के आश्रय से उक्त प्ररूपणा की गयी है।

स्वामित्व - पाँच ज्ञानावरण आदि प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के उदीरक कौन और किस अवस्था में होते हैं, इसका विचार स्वामित्वप्ररूपणा में किया गया है।

एक जीव की अपेक्षा काल- उक्त पाँच ज्ञानावरण आदि प्रकृलियों की उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट तथा जघन्य और अजघन्य स्थितिउदीरणा जघन्य से कितने काल और उत्कर्ष

से कितने काल होती है, इसका विचार यहाँ कालप्ररूपणा में किया गया है। उदाहरण के रूप में जैसे पाँच ज्ञानावरण प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति की उदीरणा जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है। उनकी अनुत्कृष्ट स्थिति उदीरणा का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से असंख्यात पुद्गलपरिवर्तनरूप अनन्त काल है। उन्हीं की जघन्यस्थिति उदीरणा का काल जघन्य से भी एक समय मात्र है और उत्कर्ष से भी एक समय मात्र ही है। इनकी अजघन्य स्थिति उदीरणा का काल अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-अपर्यवसित और भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सपर्यवसित है।

एक जीव की अपेक्षा अन्तर- जिस प्रकार काल प्ररूपणा में उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य स्थितिउदीरणाओं के काल का कथन किया गया है उसी प्रकार अन्तर प्ररूपणा में उनके अन्तर का विचार किया गया है।

नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय - यहाँ अर्थपद के कथन में यह बतलाया है कि जो जीव उत्कृष्ट स्थिति के उदीरक होते हैं वे अनुत्कृष्ट स्थिति के अनुदीरक होते हैं और जो अनुत्कृष्ट स्थित के उदीरक होते हैं वे उत्कृष्ट स्थित के अनुदीरक होते हैं। इसी प्रकार से जो जघन्य स्थिति के उदीरक होते हैं वे अजघन्य स्थिति के नियम से अनुदीरक होते हैं तथा जो अजघन्य स्थिति के उदीरक होते हैं वे जघन्य स्थिति के नियम से अनुदीरक होते हैं। इस प्रकार अर्थपद का उल्लेख करके तत्पश्चात् किन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा आदि में कितने भंग होते हैं, इसका विचार किया गया है। जैसे - पाँच ज्ञानावरण प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के कदाचित् सब जीव अनुदीरक होते हैं, कदाचित बहुत अनुदीरकऔर एक उदीरक होता है तथा कदाचित् बहुत अनुदीरक और बहुत ही उदीरक होते हैं। इस प्रकार उनकी उत्कृष्ट स्थिति के उदीरकों में तीन भंग पाये जाते हैं। यथा - अनुत्कृष्ट स्थिति के कदाचित् सब जीव उदीरक, कदाचित् बहुत उदीरक एक अनुदीरक तथा कदाचित् बहुत उदीरक व बहुत अनुदीरक होते हैं।

नाना जीवों की अपेक्षा काल और अन्तर की प्ररूपणा न करके यहाँ केवल इतना उल्लेख भर किया गया है कि उनकी प्ररूपणा नाना जीवों की अपेक्षा की गयी पूर्वोक्त भंगविचयप्ररूपणा से ही सिद्ध करके करना चाहिये।

संनिकर्ष - मतिज्ञानावरण प्रकृति को प्रधान करके उसके उत्कृष्ट स्थिति की उदीरणा करने वाला जीव अन्य सब प्रकृतियों में किस - किस प्रकृतिकी स्थिति का उदीरक या अनुदीरक होता है, तथा यदि उदीरक होता है तो क्या उत्कृष्ट स्थिति का उदीरक होता है

या अनुत्कृष्ट स्थित का; इसका विचार यहां किया गया है। उदाहरणार्थ - मतिज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति की उदीरणा करने वाला श्रुतज्ञानावरण की स्थिति का नियम से उदीरक होता है। उदीरक होकर भी वह उसकी उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट दोनों ही स्थितियों का उदीरक होता है। अनुत्कृष्ट स्थिति का उदीरक होता हुआ उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा एक समय कम, दो समय कम, तीन समय कम, इत्यादि क्रम से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र से हीन अनुत्कृष्ट स्थिति का उदीरक होता है। इसी प्रकार से अवधिज्ञानावरणादि शेष तीन ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण तथा साता व असातावेदनीय आदि सभी प्रकृतियों की स्थिति उदीरणा का तुलनात्मक विचार यहाँ संनिकर्षप्ररूपणा में किया गया है। इस प्रकार मतिज्ञानावरण की प्रधानता से पूर्वोक्त प्ररूपणा कर चुकाने के बाद यहाँ यह उल्लेख मात्र किया गया है कि शेष ध्रुवबन्धी प्रकृतियों में सक एक-एक को प्रधान कर उनके संनिकर्ष की प्ररूपणा मतिज्ञानावरण के ही समान करना चाहिये।

तत्पश्चात् यहाँ कुछ प्रकृतियों के संनिकर्ष के कहने की प्रतिज्ञा करके सम्भवत: सातावेदनीय को प्रधान करके (प्रतियों में यह उल्लेख पाया नहीं जाता, सम्भवत: वह स्खलित हो गया है) भी पूर्वोक्त प्रकार से संनिकर्ष की प्ररूपणा की गयी है। यह उत्कृष्ट पद विषय संनिकर्ष की प्ररूपणा की गयी है। जघन्य पद विषयक संनिकर्ष की प्ररूपणा के सम्बन्ध में इतना मात्र उल्लेख किया गया है कि उसकी प्ररूपणा विचाकर करना चाहिये।

अल्पबहुत्व - यहाँ प्रथमत: सामान्य (ओघ) स्वरूप से सब प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा विषयक अल्पबहुत्व का विवेचन करते हुए तदनुसार आदेश की अपेक्षा गत्यादि मार्गणाओं में भी पूर्वोक्त अल्पबहुत्व के कथन करने का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् ओघ और फिर आदेश रूप से जघन्य स्थिति उदीरणा विषयक अल्पबहुत्व की भी प्ररूपणा की है।

भुजाकार स्थितिउदीरणा - यहाँ पहिले अर्थपद का विवेचन करते हुए यह बतलाया है कि अल्पतर स्थितियों की उदीरणा करके आगे के अनन्तर समय में बहुत स्थितियों की उदीरणा करने पर भुजाकार स्थिति उदीरणा होती है। बहुत स्थितियों की उदीरणा करके आगे के अनन्तर समय में अल्प स्थितियों की उदीरणा करने पर यह अल्पतर स्थितिउदीरणा कही जाती है। जितनी स्थितियों की उदीरणा इस समय की गयी है आगे के अनन्तर समय में भी उतनी ही स्थितियों की उदीरणा की जाने पर यह अवस्थित उदीरणा कहलाती है। जिसने पहिले स्थितिउदीरणा नही की है किन्तु अब कर रहा है उसकी यह उदीरणा अवक्तव्य उदीरणा कही जाती है। इस प्रकार से अर्थपद का कथन करके तत्पश्चात् यहाँ

भुजाकारस्थितिउदीरणा की प्ररूपणा स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर और अल्पबहुत्व इन अधिकारों के द्वारा यथासम्भव की गयी है। तत्पश्चात् पदनिक्षेप का संक्षिप्त विवेचन करते हुए वृद्धिउदीरणा की प्ररूपणा के इन अधिकारों के द्वारा जानकर करने का संकेतमात्र किया है - स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल और अन्तर। इसके बाद फिर इसी वृद्धिप्ररूपणा के आश्रय से अल्पबहुत्व का विचार विस्तार किया गया है।

अनुभागउदीरणा - अनुभागउदीरणा को मूलप्रकृतिउदीरणा और उत्तरप्रकृतिउदीरणा इन दो भेदों से विभक्त करके उनमें मूलप्रकृतिउदीरणा का कथन जानकर करने का उल्लेखमात्र किया गया है। उत्तरप्रकृतिअनुभाग उदीरणा कीप्ररूपणा में इन २४ अनुयोगद्वारों का निर्देश करके यह कहा गया है कि इन अनुयोगद्वारों का कथन करके तत्पश्चात् भुजाकार, पदनिक्षेप, वृद्धि और स्थान का भी कथन करना चाहिये। वे अनुयोगद्वार ये हैं - १ संज्ञा, २ सर्वउदीरणा, ३. नोसर्वउदीरणा, ४, उत्कृष्ट उदीरणा, ५ अनुत्कृष्ट उदीरणा, ६. जघन्य उदीरणा, ७. अजघन्य उदीरणा, ८. सादिउदीरणा, ९. अनादिउदीरणा, १०.ध्रुवउदीरणा, ११. अध्रुवउदीरणा, १२. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, १३. एक जीव की अपेक्षा काल, १४. एक जीव की अपेक्षा अन्तर, १५. नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, १६ भागाभागानुगम, १७. परिमाण, १८ क्षेत्र, १९. स्पर्शन, २०. नाना जीवों की अपेक्षा काल, २१ नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, २२. भाव, २३. अल्पबहुत्व और २४. संनिकर्ष।

इनमें संज्ञा के घातिसंज्ञा और स्थानसंज्ञा इन दो भेदों का निर्देश करके फिर घातिसंज्ञा की प्ररूपणा करते हुये यह बतलाया है कि आभिनिबोधिकज्ञानावरण,श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और मन:पर्ययज्ञानावरण इन चार की उत्कृष्ट उदीरणा सर्वघाती तथा अनुत्कृष्ट उदीरणा सर्वघाती एवं देसघाती भी होती है। केवलज्ञानावरण की उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट उदीरणा सर्वघाती ही होती है। इसी प्रकार से दर्शनावरण आदि अन्य अन्य प्रकृतिभेदों के सम्बन्ध में भी इस घातिसंज्ञा की प्ररूपणा की गयी है।

स्वामित्व - यहाँ ये चार अनुयोगद्वार निर्दिष्ट किये गये हैं - प्रत्ययप्ररूपणा, विपाकप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा और शुभाशुभप्ररूपणा। प्रत्ययप्ररूपणा में यह बतलाया है कि पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्ननावरण, तीन दर्शनमोहनीय और सोलह कषाय की उदीरणा

परिणामप्रत्ययिक है। नौ नोकषायों की पूर्वानुपूर्वी से असंख्यातवें भाग प्रमाण परिणामप्रत्ययिक तथा पश्चादानुपूर्वी से असंख्यात बहुभाग प्रमाण भवप्रत्ययिक है। साता व असाता वेदनीय, चार आयु कर्म, चार गति और पाँच जातिकी उदीरणा भवप्रत्ययिक है। औदारिकशरीर की उदीरणा तिर्यंञ्च और मनुष्यों के भवप्रत्ययिक है। वैक्रियिकशरीर की उदीरणा देवनारकियों के भवप्रत्ययिक तथा तिर्यंच-मनुष्यों के परिणामप्रत्ययिक है। इसी क्रम से आगे भी यह प्ररूपणा की गयी है।

विपाकप्ररूपणा में बतलाया है कि जैसे पहले निबन्धन प्ररूपणा की गयी है उसी प्रकार यहाँ विपाक की भी प्ररूपणा करना चाहिये। स्थानप्ररूपणा में मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियों की उदीरणा के उत्कृष्ट आदि भेदों में एक स्थानिक और द्विस्थानिक आदि अनुभागस्थानों की सम्भावना बतलायी गयी है। शुभाशुभप्ररूपणा में पुण्य-पापरूप प्रकृतियों का नामोल्लेख मात्र किया गया है।

इसके पश्चात् मतिज्ञानवरणादि प्रकृतियों के उत्कष्ट-अनुत्कृष्ट आदि उदीरणा भेदों के स्वामियों की प्ररूपणा यथाक्रम से की गयी है। आगे इसी क्रम से पूर्वोक्त उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य एवं अजघन्य उदीरणा भेदों की एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल व अन्तर तथा स्वस्थान व परस्थान संनिकर्षकी भी प्ररूपणा की गयी है। इस प्रकार पूर्वोक्त २४ अनुयोगद्वारों में इतने अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करके शेष अनुयोगद्वारों के सम्बन्ध में यह कह दिया है कि उनकी प्ररूपणा जानकर करना चाहिये। अन्त में अल्पबहुत्व (२३वें) अनुयोगद्वार की प्ररूपणा विस्तार से की गयी है।

भुजाकार अनुभागउदीरणा - यहाँ अर्थपद की प्ररूपणा करते हुए यह बतलाया है कि अनन्तर अतिक्रान्त समय में अल्पतर स्पर्धकों की उदीरणा करके यदि इस समय में बहुत स्पर्धकों की उदीरणा करता है तो वह भुजाकार अनुभाग उदीरणा कही जायेगी। यदि अनन्तर अतिक्रमान्त समय में बहुतर स्पर्धकों की उदीरणा करके इस समय स्तोक स्पर्धकों की उदीरणा करता है तो उसे अल्पतर उदीरणा कहना चाहिये। अनन्तर अतिक्रान्त समय में जितने स्पर्धकों की उदीरणा की गयी है आगे भी यदि उतने उतने ही स्पर्धकों की उदीरणा करता है तो इसका नाम अवस्थित उदीरणा होगा। पूर्व में अनुदीरक होकर आगे उदीरणा करने पर यह अवक्तव्य उदीरणा कही जायेगी। इस प्रकार से अर्थपद का कथन करते हुए यहाँ यह संकेत किया है कि पूर्वोक्त भुजाकारादि उदीरणाओं के स्वामित्व की प्ररूपणा इसी अर्थपद के अनुसार करना चाहिये।

तत्पश्चात् यहाँ इन्हीं उदीरणाओं से सम्बन्धित एक जीव की अपेक्षा काल व अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल व अन्तर; तथा अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है। पश्चात् पदनिक्षेप की प्ररूपणा करते हुए उसमें उत्कृष्ट एवं जघन्य भेदों की अपेक्षा स्वामित्व और अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है। वृद्धिउदीरणा में समुत्कीर्तनाका कथन करके तत्पश्चात् यह संकेत किया है कि अल्पबहुत्व पर्यन्त स्वामित्व आदि अधिकारों की प्ररूपणा जिस प्रकार अनुभागवृद्धिबन्ध में की गयी है उसी प्रकार से उनकी प्ररूपणा यहाँ भी करना चाहिये।

प्रदेशउदीरणा - मूलप्रकृतिप्रदेशउदीरणा और उत्तरप्रकृतिप्रदेशउदीरणा के भेद से प्रदेश उदीरणा दो प्रकार की है। इनमें मूलप्रकृतिप्रदेश उदीरणा की विशेष प्ररूपणा यहाँ न कर केवल इतना संकेत किया गया है कि मूलप्रकृतिप्रदेशउदीरणा की समुत्वकीर्तना आदि चौबीस अनुयोगद्वारों के द्वारा अन्वेषण करके भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि की प्ररूपणा कर चुकने पर मूलप्रकृतिप्रदेशउदीरणा समाप्त होती है। ऐसा ही निर्देश कषायप्राभृत में चूर्णिसूत्र के कर्ता द्वारा भी किया गया है (देखिये क पा.सूत्र पृ.५१९)

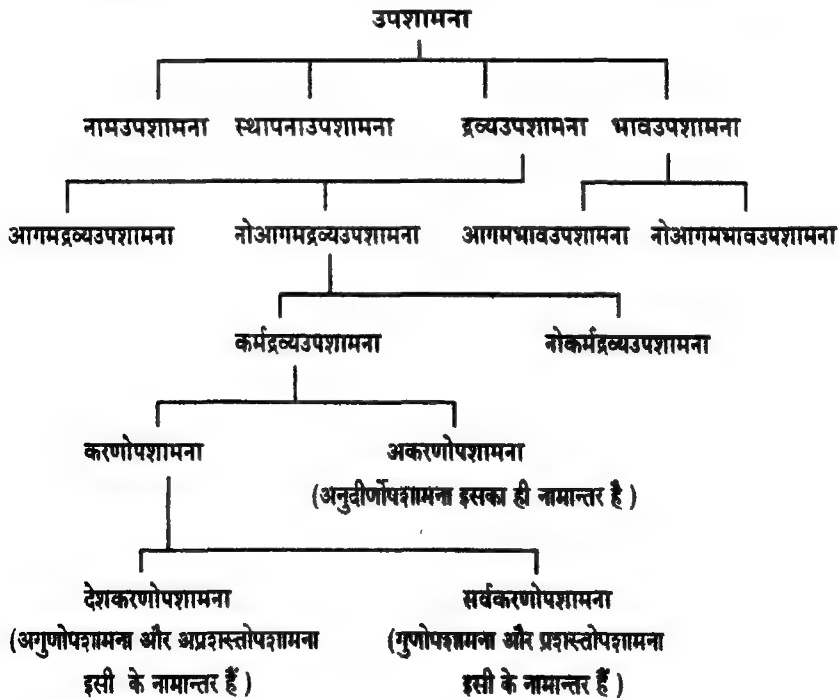
उत्तर प्रकृति प्रदेश उदीरणा की प्ररूपणामें स्वामित्व का विवेचन करते हुए पहिले मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशउदीरणा के स्वामियों का और तत्पश्चात् उन्हीं की जघन्य प्रदेशउदीरणा के स्वामियों का कथन किया गया है। इसके बाद एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल और नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर इन अनुयोगद्वारों का कथन स्वामित्व से सिद्ध करके करना चाहिये; इतना उल्लेख मात्र करके स्वस्थान और परस्थान संनिकर्ष की संक्षेप में प्ररूपणा की गयी है।

प्रदेशभुजाकार उदीरणा की प्ररूपणा में पहिले प्रदेशभुजाकारउदीरणा, प्रदेशअल्पतर उदीरणा, प्रदेशअवस्थितउदीरणा और प्रदेशअवक्तव्य उदीरणा इन चारों के स्वरूप का निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल तथा नाना जीवों की अपेक्षा काल तथा नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर इनकी प्ररूपणा अनुभागभुजाकार उदीरणा के समान करने का उल्लेख करके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

पदनिक्षेपप्ररूपणा में पहले उत्कृष्ट स्वामित्व का विवेचन करके तत्पश्चात् जघन्य स्वामित्व का भी विवेचन करते हुए उत्कृष्ट और जघन्य अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

वृद्धिउदीरणा में प्रथमत: स्थानसमुत्कीर्तना का कथन करके तत्पश्चात् स्वामित्व, आदि शेष अनुयोगद्धारों का कथन भी अति संक्षेप में किया गया है। इस प्रकार से प्रदेश उदीरणा की प्ररूपणा हो चुकने पर यहाँ उदीरणा उपक्रम समाप्त हो जाता है।

उपशामना उपक्रम - यहाँ उपशामना के सम्बन्ध में निक्षेपयोजना करते हुए कर्मद्रव्यउपशामना के दो भेद बतलाये हैं - करणोपशामना और अकरणोपशामना। इनमें अकरणोपशामना का अनुदीर्णपशामना यह दूसरा भी नाम है। इसकी सविस्तर प्ररूपणा कर्मप्रवाद में की गयी है। करणोपशामना भी दो प्रकार की है - देशाकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। सर्वकरणोपशामना के और भी दोनाम हैं - गुणोपशामना और प्रशास्तोपशामना। इस सर्वकरणोपशामना की प्ररूपणा कसायपाहुड में की जायगी, ऐसा निर्देश करके यहाँ उसकी प्ररूपणा नहीं की गयी है। इसी प्रकार देशाकरणोपशामना के भी दूसरे दो नाम हैं - अगुणोपशामना और अप्रशास्तोपशामना। इसी प्रकार देशकरणोपशामना के भी दूसरे दो नाम हैं - अगुणोपशामना और अप्रशास्तोपशामना। इसी अप्रशास्तोपशामना को यहाँ अधिकार प्राप्त बतलाया है। उपशामनाके पूर्वोक्त भेदों के लिये तालिका देखिये -



आचार्य यतिवृषभ द्वारा रचित कसायपाहुड के चूर्णिसूत्रों में भी इन उपशामनाभेदों के सम्बन्ध में प्राय: इसी प्रकार और इन्हीं शब्दों में कथन किया गया है [१] । कसायपाहुड से इतनी ही विशेषता है कि यहाँ सर्वकरयोपशामना का 'गुणोपशामना' और देशकरणोपशामना का 'अगुणोपशामना' इन नामान्तरों का उल्लेख अधिक किया गया है । कसायपाहुड की जयधवला टीका में उपशामना के पूर्वोक्त भेदों में से कुछ का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है-

अकरणोपशामना - कर्मप्रवाद नामका जो आठवाँ पूर्वाधिकार है वहाँ सब कर्मों सम्बन्धी मूल और उत्तर प्रकृतियों की विपाक पर्याय और अविपाक पर्याय का कथन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार बहुत विस्तार से किया गया है । वहाँ इस अकरणोपशामना की प्ररूपणा देखना चाहिये ।

देशकरणोपशामना - दर्शनमोहनीय का उपशम कर चुकने पर उदयादि करणों में से कुछ तो उपशान्त और कुछ अनुपशान्त रहते हैं । इसलिये यह देशकरणोपशामना कही जाती है । .... द्वितीय पूर्व की पाँचवी 'वस्तु' से प्रतिबद्ध कर्मप्रकृति नामका चौथा प्राभृत अधिकार प्राप्त है । वहाँ इस देशकरणोपशामना की प्ररूपणा देखना चाहिये, क्योंकि, वहाँ इसकी प्ररूपणा विस्तारपूर्वक की गयी है ।

सर्वकरणोपशामना - सब करणों की उपशामना का नाम सर्वकरणोपशामना है ।

अप्रशस्तोपशामना - संसारपरिभ्रमण के योग्य अप्रशस्त परिणामों के निमित्त से होने के कारण यह अप्रशस्तोपशामना कही जाती है ।

इन उपशामना भेदों का उल्लेख प्राय: इसी प्रकार से श्वेताम्बर कर्मप्रकृति ग्रन्थ

---

१ एतो सुत्तविहासा । तं जहा । उपसामणा कदिविधात्ति ? उपसामणा दुविहा करणोवसामणा अकरणोवसामणा च । जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयाणि -अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि । एसा कम्मपवादे । जा सा करणोवसामणा सा दुविहा - देसकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि । देसकरणोव-सामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थउवसामणा त्ति वि । एसा कम्मपयडीसु । जा सा सव्वकरणोव सामणा तिस्से वि दुवे णामाणि-सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि । एदाए तत्थ पयदं । क.पा. सुत्त पृ. ७०७ - ८

में पाया जाता है। इस करण की प्ररूपणा प्रारम्भ करते हुए वहाँ सर्वप्रथम यह गाथा प्राप्त होती है -

करणकयाऽकरणा वि य दुविहा उवसामणात्थ बिइयाए।
अकरण-अणुइन्नाए अणुओगधरे पणिवयामि॥ १॥

इसमें उपशामना के करणकृता और अकरणकृता ये वे ही दो भेद बतलाये गये हैं। इनमें द्वितीय अकरणकृता उपशामना के वे ही दो नाम यहाँ भी निर्दिष्ट किये गये हैं - अकरणकृता और अनुदीर्णा। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य 'अणुओगधरे पणिवयामि' वाक्यांश है। इसकी संस्कृत टीका में श्रीमलयगिरि सूरि ने लिखा है -

इस अकरणकृतोपशामना के दो नाम हैं - अकरणोपशामना और अनुदीरणोपशामना। उसका अनुयोग इस समय नष्ट हो चुका है। इसीलिये आचार्य (शिवशर्मसूरि) स्वयं उसके अनुयोग को न जानते हुए उसके जानकार विशिष्ट प्रतिभा से सम्पन्न चतुर्दशपूर्ववेदियों को नमस्कार करते हुए कहते हैं - 'बिइयाए' इत्यादि।

यहाँ द्वितीय गाथा में सर्वोपशामना और देशोपशामना के भी वे ही दो दो नाम निर्दिष्ट किये गये हैं जो कि यहाँ प्रकृत धवला में बतलाये गये हैं। यथा-सर्वकरणोपशामना के गुणोपशामना और प्रशस्तोपशामना तथा देशकरणोपशामना के उनसे विपरीत अगुणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना।

यहाँ अप्रशस्तोपशामना को अधिकारप्राप्त बतलाये हुए श्री वीरसेनाचार्य ने उसके अर्थपद का कथन करते हुए बतलाया है कि जो प्रदेशपिण्ड अप्रशस्तोपशामना के द्वारा उपशान्त किया गया है उसका न तो अपकर्षण किया जा सकता है, न उत्कर्षण किया जा सकता है, न अन्य प्रकृति में संक्रम कराया जा सकता है और न उदयावली में प्रवेश भी कराया जा सकता है। इस अर्थपद के अनुसार यहाँ पहिले स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर तथा अल्पबहुत्व, (भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि प्ररूपणाओं की यहाँ सम्भावना नहीं है) इन अधिकारों के द्वारा मूलप्रकृति उपशामना की प्ररूपणा अतिसंक्षेप में की गयी है। उत्तरप्रकृतिउपशामना की प्ररूपणा भी इन्हीं अधिकारों के द्वारा संक्षेप में की गयी है।

प्रकृतिस्थानोपशामना की प्ररूपणा में ज्ञानावरणादि कर्मों के सम्भव स्थानों का उल्लेख मात्र करके उनकी प्ररूपणा स्वामित्व आदि अधिकारों के द्वारा करना चाहिये, ऐसा

उल्लेखमात्र किया गया है। यहाँ भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि उपशामनाओं की भी सम्भावना है।

स्थितिउपशामना - यहाँ पहिले मूल प्रकृतियों के आश्रय से क्रमश: उत्कृष्ट और जघन्य अद्धाछेद की प्ररूपणा करके तत्पश्चात् स्वामित्व आदि शेष अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा स्थितिउदीरणा के समान करना चाहिये, ऐसा संकेत कियागया है।

अनुभागउपशामना - यहाँ मूलप्रकृतिअनुभागउपशामना को सुगम बतलाकर उत्तरप्रकृति अनुभाग उपशामना में उत्कृष्ट व जघन्य प्रमायानुगम, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर और संनिकर्ष; इन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा यथासम्भव अनुभागसत्कर्म के समान करना चाहिये ऐसा निर्देश किया गया है। यहाँ तीव्रता और मन्दता के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा को जैसे अनुभागबन्ध में छयासठ पदों द्वारा तद्विषयक अल्पबहुत्व की गयी है वैसे करने योग्य बतलाया है।

प्रदेशउदीरणा - यहाँ 'प्रदेशउदीरणा की प्ररूपणा जानकर करना चाहिये' इतना मात्र संकेत किया गया है।

विपरिणामोपक्रम - प्रकृतिविपरिणमना आदि के भेद से विपरिणामोपक्रम चार प्रकार का है। इनमें प्रकृतिविपरिणमना के दो भेद हैं - मूलप्रकृतिविपरिणमना और उत्तरप्रकृतिविपरिणमना। मूलप्रकृतिविपरिणमना के भी दोभेद हैं - देशविपरिणमना और सर्वविपरिणमना।

देशविपरिणमना - जिन प्रकृतियों का अध:स्थितिगलना के द्वारा एकदेश निर्जीर्ण होता है उसका नाम देशविपरिणमना है।

सर्वविपरिणमना - जो प्रकृति सर्वनिर्जरा के द्वारा निर्जीर्ण होती है वह सर्वविपरिणमना कहलाती है।

उत्तरप्रकृति विपरिणमना - देशनिर्जरा या सर्वनिर्जरा के द्वारा निर्जीर्ण प्रकृति तथा जो अन्य प्रकृति में देशसंक्रमण अथवा सर्वसंक्रमण के द्वारा संक्रान्त होती है इसका नाम उत्तरप्रकृतिविपरिणमना है।

इस स्वरूप कथन के अनुसार, यहाँ मूल और उत्तर प्रकृतिविपरिणमना की प्ररूपणा स्वामित्व आदि अधिकारों के द्वारा करना चाहिये, ऐसा उल्लेख भर किया गया है। इसका कारण तद्विषयक उपदेश का अभाव ही प्रतीत होता है। यहाँ भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि की सम्भावना नहीं है।

अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रम को प्राप्त कराई जाने वाली स्थिति का नाम विपरिणमिना स्थिति है। अपकर्षित, उत्कर्षित अथवा अन्य प्रकृति को प्राप्त कराया गया अनुभाग विपरिणामित अनुभाग कहलाता है। जो प्रदेशपिण्ड निर्जरा को प्राप्त हुआ है अथवा अन्य प्रकृति को प्राप्त कराया गया है वह प्रदेशविपरिणामना कही जाती है। इनमें स्थितिविपरिणामना की प्ररूपणा स्थितिसंक्रम, अनुभागाविपरिणामना की प्ररूपणा अनुभागसंक्रम, और प्रदेशाविपरिणामना की प्ररूपणा प्रदेशसंक्रम के समान करने योग्य बतलायी गयीहै।

१०. उदयानुयोगद्वार - यहाँ नोआगमकर्मद्रव्य उदय को प्रकृत बतलाकर उसके प्रकृतिउदय आदि के भेद से चार भेद बतलाये हैं। उत्तर प्रकृति उदय की प्ररूपणा में स्वामित्व का कथन करते हुए किन प्रकृतियों के कौन-कौन से जीव वेदक हैं, इसका विवेचन किया गया है। अन्य काल आदि अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा स्वामित्व से सिद्ध करके करना चाहिये, ऐसा उल्लेख करते हुए यहाँ अल्पबहुत्व के विवेचन में जो प्रकृति उदीरणाअल्पबहुत्व से कुछ विशेषता है उसका उपदेश भेद के अनुसार निर्देशमात्र किया गया है।

स्थितिउदय - स्थितिउदय की प्ररूपणा में पहिले स्थिति उदय प्रमाणानुगम, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, संनिकर्ष और अल्पबहुत्व इन अधिकारों के अनुसार मूलप्रकृतिस्थिति उदय की प्ररूपणा की गयी है। यह उदय की प्ररूपणा प्राय: उदीरणाप्ररूपणा के ही समान निर्दिष्ट की गयी है।

उत्तरप्रकृतिस्थितिउदय - यहाँ एवं उत्कृष्ट स्थिति उदय की प्रमाणानुगम की प्ररूपणा उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के प्रमाणानुगम के समान बतलाये हुए उसे उदयस्थिति से अधिक बतलाया गया है। जघन्य स्थिति उदय की प्ररूपणा में नामनिर्देशपूर्वक कुछ कर्मों का जघन्य प्रमाणानुगम बतलाकर शेष कर्मों के प्रमाणाुगम, सभी कर्मों के स्वामित्व , एक जीव की अपेक्षा काल, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, संनिकर्ष और अल्पबहुत्व इन अधिकारों की भी प्ररूपणा स्थिति उदीरणा के समान निर्दिष्ट की गयी है।

अनुभाग उदय - यहाँ मूलप्रकृति अनुभागउदय और उत्तरप्रकृतिअनुभाग उदय की प्ररूपणा चौबीस अनुयोगद्वारों के द्वारा करणीय बतलाकर जघन्य स्वामित्व के विषय में कुछ थोड़ी सी विशेषता का भी उल्लेख किया गया है।

प्रदेश उदय – यहाँ मूलप्रकृति प्रदेश उदय की प्ररूपणा सब अनुयोगद्वारों के द्वारा जानकर करने योग्य बतलाकर उत्तरप्रकृतिप्रदेश उदय की प्ररूपणा में स्वामित्व के परिज्ञानार्थ 'सम्मत्तप्पत्तीए' आदि २ गाथाओं के द्वारा १० गुणश्रेणियों का निर्देश करके उक्त गुणश्रेणियों में कौन सी गुणश्रेणियाँ भवान्तर में संक्रान्त होती हैं, इसका उल्लेख करते हुए उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेशउदयविषयक स्वामित्व का विवेचन किया गया है।

एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व आदि अन्य अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा पूर्वोक्त स्वामित्व प्ररूपणा से ही सिद्ध करने योग्य बतलाकर तत्पश्चात् उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशउदयविषयक अल्पबहुत्व का विवेचन किया गया है।

भुजाकार प्रदेश उदय की प्ररूपणा में प्रथमत: अर्थपद का निर्देश करके तत्पश्चात् स्वामित्व आदि अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की गयी है। एक जीव की अपेक्षा काल प्ररूपणा प्रथमत: नागहस्ती क्षमाश्रमण के उपदेशानुसार और तत्पश्चात् अन्य उपदेश के अनुसार की गयी है।

पदनिक्षेपप्ररूपणा में स्वामित्व का विवेचन करते हुए तत्पश्चात् अलपबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

संतकम्मपंजिया

निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम और उदय इन पूर्वोक्त चार अनुयोगद्वारों के ऊपर एक पंजिका भी उपलब्ध है जो पु १५ के 'परिशिष्ट' में दी गयी है। यह पंजिका किसके द्वारा रची गयी है, इसका कुछ संकेत यहाँ प्राप्त नहीं है। उसकी उत्थानिका में यह बतलाया गया है कि 'महाकर्मप्रकृति प्राभृत' के जो कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वार हैं उनमें से कृति और वेदना नामक २ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा वेदनाखण्ड (पु.९-१२) में की गयी है। स्पर्श, कर्म, प्रकृति (पु.१३) और बन्धन अनुयोगद्वार के अन्तर्गत बन्ध एवं बन्धनीय (बन्धन अनुयोग द्वार चार प्रकार का है - बन्ध, बन्धनीय, बन्धक, और बन्धविधान) अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा वर्गणाखण्ड में की गयी है। बन्धन अनुयोगद्वार के अन्तर्गत बन्ध विधान नामक अवान्तर अनुयोगद्वार की प्ररूपणा महाबन्ध में विस्तारपूर्वक की गयी है। तथा उक्त बन्धन अनुयोगद्वार के अवान्तर अनुयोगद्वारभूत बन्धक अनुयोगद्वार की प्ररूपणा क्षुद्रकबन्ध (पु.७) में विस्तार से की गयी है। शेष १८ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा सत्कर्म' में की गयी है। तथापि उसके

अतिशय गम्भीर होने से यहाँ अर्थविषम पदों के अर्थ की प्ररूपणा पंजिका स्वरूप से की जाती है [१]।

इससे यह निश्चित होता है कि प्रस्तुत मूलभूत षट्खंडागम में कृति-वेदनादि पूर्वोक्त २४ अनुयोगद्वारों में से प्रथम ६ अनुयोगद्वारों की ही प्ररूपणा की गयी है। शेष निबन्धन आदि १८ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा श्री वीरसेन स्वामी ने स्वयं ही की है, जैसा कि उन्होंने उसके प्रारम्भ में इस वाक्य के द्वारा सूचित भी कर दिया है -

भुदबलिभडारएणा जेणेदं सुत्त देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिदसेसअट्ठारसअणियोगद्दारणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो। तं जहा -

उक्त 'संतकम्मपंजिया' की उत्थानिका में की गयी सूचना के अनुसार तो वह शेष सभी १८ अनुयोगद्वार के ऊपर लिखी जानी चाहिये थी। परन्तु उपलब्ध वह उदयानुयोगद्वार तक ही है। इसकी जो हस्तलिखित प्रति हमारे सामने रही है वह श्री पं. लोकनाथजी शास्त्री के अन्यतम शिष्य श्री देवकुमारजी के द्वारा मूडबिद्रीस्थ श्री वीरवाणीविलास जैनसिद्धान्त भवन की प्रतिपर से लिखी गयी है। यह प्राय: अशुद्ध बहुत है। इसमें लेखक ने पूर्णविराम, अर्धविराम और प्रश्नसूचक आदि चिन्हों का भी उपयोग किया है जो यत्र तत्र भ्रान्तिजनक भी हो गया है।

पंजिका में जहाँ कही भी अल्पबहुत्व का प्रकरण प्राप्त हुआ है उसी के ऊपर प्राय: विशेष लिखा गया है, अन्य विषयों का स्पष्टीकरण प्राय: कहीं भी विशेष रूप से नहीं किया गया है। यहाँ पंजिकाकार ने जो संख्याओं का उपयोग अल्पबहुत्व के स्पष्टीकरणार्थ किया है वह किसआधार से किया है, यह समझ में नहीं आ सका है। इसमें प्राय: सर्वत्र अस्पष्ट स्वरूप से एक विशेष चिन्ह आया है। जो प्राय: संख्यात का प्रतीक दिखता है। उसके स्थान में हमने अंग्रेजी के दो (2) के अंक का उपयोग किया है।

---

१. महाकम्मपयडियापाहुडस्स कदि-वेदणाओ (इ) चउवीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदि-वेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेदणाखंडम्मि, पुणो प (पस्स-कम्म-पयडि-बंधण त्ति) चत्तारिअणिओगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामाणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्मि, पुणो बंधविधाणणामाणियोगद्दारो महाबंधम्मि, पुणो बंधगाणियोगो खुद्दाबंधम्मि च सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहिंतो सेसअट्ठारसणियोगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्साइगंभीरत्तादो अत्थविसम पदाणमत्थे थोरुच्चयेण पंजियसरूवेण भणिस्सामो। परिशिष्ट पृष्ठ १

विषय-परिचय (पु.१६)

कर्मप्रकृतिप्राभृत के कृति आदि २४ अनुयोगद्वारों में प्रथम १० अनुयोगद्वरों का संक्षिप्त परिचय यथास्थान कराया जा चुका है। यहाँ मोक्ष अनुयोगद्वार से लेकर शेष १४ अनुयोगद्वारों का परिचय कराया जाता है।

११. मोक्ष- मोक्ष अनुयोगद्वार का विचार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों द्वारा करने की प्रतिज्ञा करके मात्र कर्मद्रव्यमोक्ष का विशेष विचार प्रकृत में किया गया है और शेष निक्षेपों के व्याख्यान को सुगम बतलाकर छोड़ दिया गया है। कर्मप्रकृतियाँ मूल और उत्तर के भेद से दो प्रकार की हैं, इसलिए कर्मद्रव्यमोक्ष के दो भेद हो जाते हैं - मूलप्रकृतिकर्मद्रव्यमोक्ष और उत्तरप्रकृतिकर्मद्रव्यमोक्ष। ये दोनों भी देशमोक्ष और सर्वमोक्ष के भेद से दो दो प्रकार के हैं। किसी मूल या उत्तर प्रकृति के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की अपेक्षा एकदेश का अभाव होना देशमोक्ष है और किसी मूल या उत्तर प्रकृति का प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की अपेक्षा सर्वथा अभाव होना सर्वमोक्ष है, इसलिए देशमोक्ष और सर्वमोक्ष ये दोनों ही प्रकृतिमोक्ष, स्थितिमोक्ष, अनुभागमोक्ष और प्रदेशमोक्ष इन चार भागों में विभक्त हो जाते हैं। खुलासा इस प्रकार है- विवक्षित प्रकृति की निर्जरा होना या उसका अन्य प्रकृतिरूप से संक्रमित होना प्रकृतिमोक्ष कहलाता है। प्रदेशमोक्ष का विचार प्रकृतिमोक्ष के ही समान है, किसी भी प्रकृति की विवक्षित स्थिति का अभाव चार प्रकार से होता है - अपकर्षण द्वारा, उत्कर्षण द्वारा, संक्रमणद्वारा और अध:स्थितिगलन द्वारा; इसलिए इन चारों में से किसी एक के आश्रय से विवक्षित स्थिति का अभाव होना स्थितिमोक्ष कहलाता है। स्थिति के जघन्यादि सब विकल्पों में स्थितिमोक्ष का विचार इसी प्रकार कर लेना चाहिए। अनुभागमोक्ष भी स्थितिमोक्ष के समान चार प्रकार से होता है, इसलिए अनुभाग के भी उत्कृष्टादि सब भेदों में उक्त प्रकार से अनुभागमोक्ष को घटित करके बतलाया गया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कर्मद्रव्यमोक्ष अनुयोगद्वार में सम्यग्दर्शन आदि गुणों के द्वारा जीव के बन्धन से मुक्त होने मात्र का विचार न करके प्रति समय बन्ध को प्राप्त होनेवाले कर्मों की प्रकृति आदि का अभाव किस किस प्रकार से होता रहता है इसका भी विचार किया गया है। जीवका कर्मों से छूटने का क्रम एक प्रकार का ही है। यदि सम्यगदर्शनादि गुणों के द्वारा कर्म से छुटकारा मिलता है तो नवीन बन्ध न होने से

वह सर्वथा मुक्ति का कारण होता है इतना मात्र यहाँ विशेष है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर नोआगमद्रव्यमोक्ष के मोक्ष, मोक्षकरण और मुक्त ये तीन भेद किये गये हैं। जीव और कर्मों का वियुक्त हो जाना मोक्ष है। सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष के कारण हैं और समस्त कर्मों से रहित अनन्त गुण युक्त शुद्ध बुद्ध आत्मा मुक्त है। मोक्ष अनुयोगद्वार में इसका भी विस्तार के साथ विचार किया गया है।

१२. संक्रम - संक्रम का छह प्रकार का निक्षेप करके उसके आश्रय से इस अनुयोगद्वार में विचार किया गया है। क्षेत्र संक्रम का निर्देश करते हुए बतलाया है कि एक क्षेत्र का क्षेत्रान्तर को प्राप्त होना क्षेत्रसंक्रम है। इस पर यह शंका की गई कि क्षेत्र निष्क्रिय होता है, इसलिए उसका अन्य क्षेत्र में गमन कैसे हो सकता है। उसका समाधान वीरसेनस्वामी ने इस प्रकार किया है कि जीव और पुद्गल सक्रिय पदार्थ हैं, इसलिए आधेय में आधार का उपचार करने से क्षेत्रसंक्रम बन जाता है। कालसंक्रम का निर्देश करते हुए बतलाया है कि एक काल गत होकर नवीन काल का प्रादुर्भाव होना कालसंक्रम है। लोक में हेमन्त ऋतु या ग्रीष्म ऋतु संक्रान्त हुई ऐसा व्यवहार भी देखा जाता है। यहाँ विवक्षित क्षेत्र और विवक्षित काल में स्थित द्रव्य की क्षेत्र और काल संज्ञा रखकर भी क्षेत्रसंक्रम और कालसंक्रम घटित कर लेना चाहिए, ऐसा वीरसेनस्वामी ने सूचित किया है।

इस प्रकार संक्षेप से छह निक्षेपों का विचार करने के पश्चात् विवक्षित अनुयोगद्वार में कर्म संक्रम को प्रकृत बतलाकर उसके चार भेद किये हैं - प्रकृतिसंक्रम, स्थितिसंक्रम, अनुभाग संक्रम और प्रदेशसंक्रम। एक प्रकृति का अन्य प्रकृतिरूप से संक्रान्त होना यह प्रकृतिसंक्रम है। इस विषय में विशेष नियम ये हैं। यथा- किसी भी मूलप्रकृति का अनय मूलप्रकृतिरूप से संक्रमण नहीं होता। उदाहरणार्थ, ज्ञानावरण का दर्शनावरणरूप से संक्रमण नहीं होता। इसीप्रकार अन्य मूल प्रकृतियों के विषय में भी जानना चाहिए। उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा जिस मूल कर्म की जितनी उत्तर प्रकृतियाँ हैं उनमें परस्पर संक्रमण होता है। उसी प्रकार अन्य मूल प्रकृतियों में से जिसकी जितनी उत्तर प्रकृतियाँ हों उनके परस्पर संक्रमण के विषय में यह नियम जानना चाहिये। मात्र दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय में और चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीय में संक्रमण नहीं होता तथा चार आयुओं का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता इतना यहाँ विशेष जानना चाहिए।

भागहार की दृष्टि से संक्रम के पाँच भेद हैं - अध:प्रवृत्तसंक्रम, विध्यातसंक्रम, उद्वेलनासंक्रम, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम। इनमें से प्रकृत में इन अवान्तर भेदों की दृष्टि से संक्रम का विचार न करके वीरसेन स्वामी ने बन्ध के समय होने वाले इस संक्रम का

स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षाकाल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भङ्गविचय, काल, अन्तर और अल्पबहुत्व इन अनुयोगद्वारों का आश्रय लेकर उत्तरप्रकृतिसंक्रम का विचार किया है।

स्वामित्व का निर्देश करते हुए बतलाया है कि पाँच ज्ञानवरण, नौ दर्शनावरण, बारह कषाय और पाँच अन्तराय का अन्यतर सकषाय जीव संक्रामक होता है। असाताका बन्ध करने वाला जीव साताका संक्रामक होता है और साताका बन्ध करनेवाला सकषाय जीव असाता का संक्रामक होता है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता यह तो स्पष्ट ही है। दर्शनमोहनीय के संक्रम के विषय में यह नियम है कि सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनमोहनीय का संक्रामक नहीं होता। सम्यक्त्व का मिथ्यादृष्टि जीव संक्रामक होता है। मात्र सम्यक्त्व का एक आवलि प्रमाण सत्कर्म शेष रहने पर उसका संक्रम नहीं होता। मिथ्यात्व का सम्यग्दृष्टि जीव संक्रामक होता है। मात्र जिस सम्यग्दृष्टि के एक आवलित से अधिक सत्कर्म विद्यमान है ऐसा जीव इसका संक्रामक होता है। यही नियम सम्यग्मिथ्यात्व के लिए भी लागू करना चाहिए। पर इसका संक्रामक मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों होते हैं। स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का उपशम और क्षय क्रिया का अन्तिम समय प्राप्त होने तक कोई भी जीव संक्रामक होता है। पुरुषवेद और तीन संज्वलन का उपशम और क्षय का प्रथम समय प्राप्त होने तक कोई भी जीव संक्रामक होता है। संज्वलन लोभ का ऐसा जीव संक्रामक होता है जिस उपशामक और क्षपकने संज्वलन लोभ के अन्तर का अन्तिम समय नहीं प्राप्त किया है। तथा जो अक्षपक और अनुशामक है वह भी इसका संक्रामक होता है। चारों आयुओं का संक्रम नहीं होता ऐसा स्वभाव है। यश:कीर्तिको छोड़कर सब नामकर्म की प्रकृतियों का सकषाय जीव संक्रामक होता है। मात्र जिसके एक आवलि से अधिक सत्कर्म विद्यमान हैं ऐसा जीव इनका संक्रामक होता है। यश:कीर्ति का संक्रामक तब तक होता है जब तक परभव सम्बन्धी नामकर्म की प्रकृतियों को बन्ध करता है। उच्चगोत्र का संक्रामक नीचगोत्र का बन्ध करने वाला अन्यतर जीव होता है। मात्र एक आवलि से अधिक सत्कर्म के रहते हुए उच्चगोत्र का संक्रामक होता है। नीचगोत्र का संक्रामक उच्चगोत्र का बन्ध करने वाला अन्यतर जीव होता हे। इस प्रकार सब प्रकृतियों के स्वामित्व को जान कर काल आदि अनुयोगद्वारों का विचार कर लेना चाहिए। मूल में इनका विचार किया ही है, इसलिए विस्तारभय से यहाँ उनका अलग अलग निर्देश नहीं करते हैं।

इस प्रकार प्रकृतिसंक्रम का विचार कर आगे प्रकृतिस्थानसंक्रम की सूचना करते हुए बतलाया गया है कि ज्ञानावरणीय, बेदनीय, गोत्र और अन्तराय का एक एक ही संक्रमस्थान है। दर्शनावरण के नौ प्रकृतिक और छह प्रकृतिक ये दो संक्रमस्थान हैं। मोहनीय के संक्रमस्थानों का विचार कषायप्राभृत में विस्तार के साथ किया है। नामकर्म की पिण्डप्रकृतियों के आश्रय से स्थान समुत्कीर्तना करनी चाहिए। इस प्रकार अलग-अलग प्रकृतियों के संक्रमस्थान जानकर उनके आश्रय से स्वामित्व और काल आदि सब अनुयोगद्वारों का विचार करने की सूचना करके यह प्रकरण समाप्त किया गया है।

आगे स्थितिसंक्रम का निर्देश करके उसकी प्ररूपणा इस प्रकार की है। स्थितिसंक्रम दो प्रकार का है - मूलप्रकृतिस्थितिसंक्रम और उत्तरप्रकृतिस्थितिसंक्रम। स्थितिसंक्रम तीन प्रकार से होता है। यथा-स्थिति का अपकर्षण होने पर स्थितिसंक्रम होता है, स्थिति का उकर्त्पण होने पर स्थितिसंक्रम होता है और स्थिति के अन्य प्रकृति को प्राप्त करने पर भी स्थितिसंक्रम होता है। अपकर्षण की अपेक्षा संक्षेप में स्थितिसंक्रम का विचार इस प्रकार है - उदयावलि के भीतर की सब स्थितियों का अपकर्षण नहीं होता। उदयावलि के बाहर जो एक समय उदयावलिप्रमाण स्थिति है उसका अपकर्षण होता है। अपकर्षण होकर उसका एक समय कम आवलि के दो बटे तीन भागप्रमाण स्थिति को अतिस्थापनारूप से रखकर एक अधिक तृतीय भाग में निक्षेप होता है। इससे आगे की स्थिति का अपकर्षण होने पर एक आवलिप्रमाण अतिस्थापना प्राप्त होने तक उसकी वृद्धि होती है और निक्षेप उतना ही रहता है। इससे आगे अतिस्थापना अवस्थितरूप से एक आवलिप्रमाण ही रहती है और निक्षेप उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। उत्कर्षण के विषयमें यह नियम है कि उदयावलि के भीतर की सब स्थितयों का उत्कर्षण नहीं होता। एक समय अधिक उदयावलिकी अन्तिम स्थितिका उत्कर्षण होता है। किन्तु उसका नहीं बँधनेवाली स्थिति में निक्षेप न होकर बँधने वाली जघन्य स्थिति से लेकर ऊपर की सब स्थितियों में निक्षेप होता है। यह विधि उत्कर्षण को प्राप्त होने वाली नीचे की स्थितियों की कही है। ऊपर की स्थितियों का उत्कर्षण किस प्रकार होता है इसका विचार करने पर यदि यह जीव सत्कर्म से एक समय अधिक स्थिति का बन्ध करता है तो पूर्वबद्ध कर्म की अन्तिम स्थिति का उत्कर्षण नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर अतिस्थापना और निक्षेप का अभाव है। पूर्वबद्ध कर्म की द्विचरम स्थिति का भी उत्कर्षण नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर भी अतिस्थापना और निक्षेप सम्भव नहीं है। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्म की एक आबलि और एक आबलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति के नीचे जाने तक जितने भी स्थितिविकल्प हैं उनका उत्कर्षण सम्भव नही।

कारण वही है। हाँ उससे नीचे एक स्थिति के जाने पर जो स्थितिविकल्प स्थित है उसका उत्कर्षण हो सकता है और वैसी अवस्था में एक आवलिप्रमाण अतिस्थापना होती है तथा शेष आवलिका असंख्यातवाँ भाग निक्षेप होता है। इस प्रकार संक्षेप में उत्कर्षण का निर्देश करके आगे निक्षेप और अतिस्थापना का अल्पबहुत्व बतलाया गया है।

आगे उत्तरप्रकृतिसंक्रम के प्रमाणानुगम का निर्देश करते हुए वह उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य के भेद से चार प्रकार का बतलाया है। उदाहरणार्थ मतिज्ञानावरण का उत्कृष्ट स्थिति संक्रम दो आवलि कम तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है, क्योंकि किसी भी प्रकृति का बन्ध होने पर एक आवालि काल तक उसका संक्रमण नहीं होता, इसलिए एक आवलि तो यह कम हो जाती है। इसके बाद उदयावलि को छोड़कर शेष स्थिति का अन्य बन्ध को प्राप्त होने वाली प्रकृति में संक्रमण होता है, इसलिए एक आवलि यह कम हो जाती है। इस प्रकार उक्त दो आवलियों को छोड़कर शेष सब स्थित संक्रमण से प्राप्त हो सकती है, इसलिए मतिज्ञानावरण की उत्कृष्ट संक्रमस्थिति दो आवलि कम तीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण कही है। पर उस समय उस कर्म की स्थिति आवलि कम तीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण होती है, इसलिये उसका यत्स्थितिसंक्रम एक आवलि कम तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कहा है। इस प्रकार मूल में मात्र मतिज्ञानावरण का उदाहरण देकर शेष कर्मों के विषय में उत्कृष्ट स्थितिउदीरणा के समान उत्कृष्टस्थितिसंक्रम जानने की सूचना की है और जिन कर्मों में उत्कृष्ट स्थितिउदीरणा से भेद है उनका अलग से निर्देश कर दिया है सो विचारकर उसे घटित कर लेना चाहिए। स्वतन्त्ररूप से विचार किया जाय तो उसका तात्पर्य इतना ही है कि जो बन्ध से उत्कृष्ट स्थितिवाली प्रकृतियाँ हैं उनका उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम दो आवलिकम अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिप्रमाण प्राप्त होताहै और उत्कृष्टयत्स्थितिसंक्रम एक आवलि कम अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण प्राप्त होता है। परन्तु जो बन्धोत्कृष्ट स्थितिवाली प्रकृतियाँ न होकर संक्रमोत्कृष्ट स्थितिवाली प्रकृतियाँ हैं उनका उत्कृष्टस्थितिसंक्रम तीन आवलि कम उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण प्राप्त होता है और उत्कृष्ट यत्स्थितिसंक्रम दो आवलि कम उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण प्राप्त होता है। मात्र दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों में तथा आहारकद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृति में जो विशेषता है उसे अलग से जान लेना चाहिए। चारों आयुओं का जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है वही उनका उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम है, क्योंकि एक आयु का अन्य आयु में संक्रम नहीं होता। मात्र इनकी यत्स्थिति एक आवलि कम उत्कृष्ट आबाधासहित अपनी-अपनी उत्कृष्टस्थितिप्रमाण कही है। इनकी उत्कृष्ट यत्स्थिति इतनी कैसे कही है इस विषय को श्वेताम्बर कर्मप्रकृति की टीका में स्पष्ट

किया है। उसका भाव यह है कि आयुबन्ध होते समय बन्धावलिप्रमाणकाल जाने पर आयुबन्ध के प्रथम समय में बँधे हुए कर्म का उत्कर्षण होने पर उनकी अबाधा सहित उत्कृष्ट यत्स्थिति उक्त कालप्रमाण प्राप्त होती है। यह एक समाधान है। तथा 'अथवा' कहकर दूसरा समाधान इस प्रकार किया है कि बन्धावलि के बाद आयु की निर्व्याघातरूप अपवर्तना (अपकर्षण) भी सर्वदा सम्भव है, इसलिए उसकी अपेक्षा पूर्वोक्त प्रमाण यत्स्थिति जान लेनी चाहिए। अभिप्राय इतना ही है कि पूर्वकोटि की आयु वाले मनुष्य के प्रथम त्रिभाग में परभवसम्बन्धी उत्कृष्ट आयु का बन्ध होने पर उसकी निषेक रचना तो नरकायु और देवायुकी तेतीस सागरप्रमाण तथा तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु की तीन पल्यप्रमाण ही रहती है। आबाधाकाल पूर्वकोटि का त्रिभाग इससे अलग है इसलिए इनका जो स्थितिबन्ध है वही स्थितिसंक्रम है। पर इनके बन्ध के प्रथम समय से लेकर एक आवलि काल जाने पर इन निषेकस्थितियों में बन्ध होते समय उत्कर्षण और बन्ध होते समय या बन्ध समय के बाद भी अपकर्षण होने लगता है। अत: इस उत्कर्षण और अपकर्षण में एक स्थिति से प्रदेशसमूह उठकर दूसरी स्थिति में निक्षिप्त होते समय स्थिति के परिमाण के अबाधाकाल भी गर्भित हैं। पर यह उत्कर्षण और अपकर्षण बन्ध के प्रथम समय से लेकर एक आवलिकाल तक सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आयुकर्म की यत्स्थिति कहते समय नरकायु आदि की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति में एक आवलिकम उत्कृष्ट आबाधाकाल भी सम्मिलित कर लिया है।

इस प्रकार उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के प्रमाण का अनुगम करने के बाद जघन्य स्थितिसंक्रम के प्रमाण का निर्देश किया है। खुलासा इस प्रकार है - पाँच ज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण, सम्यक्त्व, संज्वलन लोभ, चार आयु और पाँच अन्तराय इनकी एक समय अधिक एक आवलिप्रमाण स्थिति शेष रहने पर उदयावलि से उपरितन एक समयमात्र स्थिति का अपकर्षण होता है, इसलिए उनका जघन्य स्थितिसंक्रम एक स्थितिप्रमाण है और यत्स्थितिसंक्रम समयाधिक एक आवलिप्रमाण है। स्त्यानगृद्धित्रिक, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, बारह कषाय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, नरकगतिद्विक, तिर्यंञ्चगतिद्विक, एकेन्द्रिय आदि चार जाति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इनकी क्षपणा होने के अन्तिम समय में जघन्य स्थिति पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण होती है, इसलिए इनका जघन्य स्थितिसंक्रम उक्त प्रमाण कहा है। परन्तु क्षपणा के अन्तिम समय में इनके उदयावलि में स्थित निषेकों का संक्रम नहीं होता, इसलिए उक्त काल में उदयावलि के मिला देने पर इनकी यत्स्थिति उदयावलि अधिक पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण होती है। यहाँ इतना

विशेष जानना चाहिए कि स्त्रीवेद और नपुंसकवेद की यत्स्थिति उदयावलि अधिक न कहकर अन्तर्मुहूर्त अधिक कहनी चाहिए, क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों की क्षपणा की समाप्ति अन्तरकरण में रहते हुए होती है और अन्तरकरण का काल उस समय अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है इसलिए यह स्पष्ट है कि अन्तरकरण में इनके प्रदेशों का अभाव होने से यत्स्थिति इतनी बढ़ जाती है। निद्रा और प्रचला की स्थिति दो आवलि और एक आवलि का असंख्यातवाँ भाग शेष रहने पर इनकी मात्रा उपरितन एक स्थिति का संक्रम होता है ऐसा स्वभाव है, इसलिए इनका जघन्य स्थितिसंक्रम एक स्थिति और यत्स्थितिसंक्रम आवलि का असंख्यातवाँ भाग अधिक दो आवलि होता है। हास्यादि छह की क्षपणा के अन्तिम समय में जघन्य स्थिति संख्यात वर्षप्रमाण होती है, इसलिए इनका जघन्य स्थितिसंक्रम संख्यात वर्ष प्रमाण होता है। पर इनकी क्षपणा की समाप्ति भी अन्तरकरण में रहते हुए होती है और उस समय अन्तरकरण का काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, इसलिए इनकी यत्स्थिति अन्तर्मुहूर्त अधिक असंख्यात वर्ष होती है। क्रोधसंज्वलन का जघन्य स्थितिबन्ध दो महीना प्रमाण होता है, मानसंज्वलन का जघन्य स्थितिबन्ध एक महीनाप्रमाण होता है, मायासंज्वलन का जघन्य स्थितिबन्ध अर्धमासप्रमाण होता है और पुरुषवेद का जघन्य स्थितिबन्ध आठ वर्ष प्रमाण होताहै। इन प्रकृतियों के उक्त स्थितिबन्ध में से अलग-अलग अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अबाधाकाल के कम कर देने पर उनके जघन्य स्थिति संक्रम का प्रमाण आ जाता है जो क्रमशः अन्तर्मुहूर्त कम दो माह अन्तर्मुहूर्त कम एक माह, अन्तर्मुहूर्त कम अर्धमास और अन्तर्मुहूर्त कम आठ वर्ष प्रमाण होता है। तथा इनका यस्थितिसंक्रम क्रम से दो आवलि कम दो माह, दो आवलि कम एक माह, दो आवलि कम अर्धमास और दो आवलि कम आठ वर्षप्रमाण होता है, क्योंकि अपना-अपना जघन्यस्थितिबन्ध होने पर उसका एक आवलि काल तक संक्रम नहीं होता, इसलिए अपने-अपने जघन्य स्थितिबन्ध में से एक आवलि तो यह कम हो गई और संक्रम प्रारम्भ होने पर वह एक आवलि काल तक होता रहता है, इसलिए एक आवलि यह कम हो गई। अतः इन प्रकृतियों के जघन्य यत्स्थितिसंक्रम का प्रमाण अपने-अपने जघन्य स्थितिबन्ध में से दो आवलि कम करने पर जो प्रमाण शेष रहे उतना प्राप्त होता है। अब रहीं शेष प्रकृतियाँ सो उनकी जघन्य स्थिति सयोगिकेवली के अन्तिम समय में अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होती है, इसलिए वहाँ पर उसमें से उदयावलिप्रमाण स्थिति को छोड़कर शेष स्थिति का संक्रमण सम्भव होने से उनका जघन्य स्थितिसंक्रम उदयावलि कम अन्तर्मुहर्त प्रमाण और यत्स्थितिसंक्रम उदयावलिसहित अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है। यहाँ पर मूल में इन प्रकृतियों की यत्स्थिति तथा स्त्यानगृद्धित्रिक आदि बत्तीस

प्रकृतियों की यत्स्थिति नहीं बतलाई गई है। किन्तु वह सम्भव है, इसलिए हमने उनका अलग से निर्देश कर दिया है। तथा मूल में देवगति आदि का जघन्य स्थितिसंक्रम बतलाते समय जो प्रकृतियाँ परिगणित की गई हैं उनमें तीन आङ्गोपाङ्ग भी परिगणित किये जाने चाहिए, क्योंकि इनका जघन्य स्थितिसंक्रम भी सयोगिकेवली के अन्तिम समय में होता है। आगे जो जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामित्व कहा है उससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार प्रमाणानुगम का निर्देश करने के बाद जघन्य और उत्कृष्ट भेदों का आश्रयकर स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भङ्गविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर और अल्पबहुत्व का निर्देश करके भुजगार, पदनिक्षेप और वृद्धि इन अनुयोगद्वारों का संक्षेप में निरूपण किया है।

इस प्रकार स्थितिसंक्रम का विचार कर आगे अनुभागसंक्रम का प्रकरण प्रारम्भ होता है। इसमें सब कर्मों को देशघाति, सर्वघाति और अघाति इन भेदों में विभक्तकर इनके आदि स्पर्धक परस्पर में किनके समान हैं और किनके किस क्रम से प्राप्त होते हैं यह बतलाकर उत्कर्षण से प्राप्तहोनेवाला अनुभाग अनुभागसंक्रम है, अपकर्षण से प्राप्त होनेवाला अनुभाग अनुभागसंक्रम है और अन्य प्रकृतियों में संक्रमण होकर प्राप्त होने वाला अनुभाव अनुभागसंक्रम है इस अर्थपद का निर्देश किया गयाहै। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि मूल प्रकृतियों में उत्कर्षण और अपकर्षण इन दो प्रकारों से और उत्तर प्रकृतियों में यथासम्भव तीनों प्रकारों से अनुभागसंक्रम होता है।

आगे अपकर्षण से प्राप्त होने वाले अनुभागसंक्रम का निर्देश करते हुए बतलाया गया है कि आदि स्पर्धक का अपकर्षण नहीं होता, क्योंकि इसके नीचे जघन्य निक्षेप और जघन्य अतिस्थापना का अभाव है। इसी प्रकार जघन्य निक्षेप और जघन्य अतिस्थापना के अन्तर्गत जितने स्पर्धक हैं उनका अपकर्षण नहीं होता। मात्र इनके ऊपर जो स्पर्धक अवस्थित हैं उनका अपकर्षण होता है क्योंकि इनकी अतिस्थापना और निक्षेप पाये जाते हैं। इतना निर्देश करने के बाद यहाँ प्रकृत विषय में उपयोगी अल्पबहुत्व दिया गया है।

आगे उत्कर्षण के विषय में यह नियम दिया है कि चरम स्पर्धक की स्थापना और निखेप का अभाव है, इसलिए जघन्य निक्षेप और जघन्य अतिस्थापनाप्रमाण स्पर्धक नीचे सरककर जो स्पर्धक अवस्थित है उसका उत्कर्षण होता है। इसके आगे अपकर्षण और

उत्कर्षण की अपेक्षा निक्षेप और अतिस्थापना का अल्पबहुत्व देकर अर्थपद समाप्त किया गया है।

आगे प्रमाणानुगम, स्वामित्व एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भङ्गविचयय, नाना जीवों की अपेक्षा काल, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, सन्निकर्ष, स्वस्थान अल्पबहुत्व और परस्थान अल्पबहुत्व का निर्देश करके कुछ अनुयोगद्वारों का आश्रय लेकर भुजगार, पदनिक्षेप और वृद्धि का विचारकर अनुभाग संक्रमप्रकरण समाप्त होता है।

आगे संक्रमस्थानों को सत्कर्मस्थानों के अनुसार जानने की सूचना पर प्रदेशसंक्रम के विषय में कहा है कि एक उत्तर प्रकृति के प्रदेशों का अन्य सजातीय प्रकृति में संक्रमित होना प्रदेशसंक्रम कहलाता है। प्रदेशसंक्रम भी मूलप्रकृतियों में न होकर उत्तर प्रकृतियों में होता है। तदनुसार उत्तर प्रकृतिसंक्रम के पाँच भेद हैं - उद्वेलनसंक्रम, विध्यातसंक्रम, गुणसक्रम और सर्वसंक्रम। आगे ये संक्रम किस अवस्था में और कहाँ होते हैं तथा किन प्रकृतियों के कितने संक्रम होते हैं यह बतला कर इन संक्रमों के अवहारकाल के अल्पबहुत्व का निर्देश किया गया है। आगे स्वामित्व आदि अनुयोगद्वारों का आश्रय लेकर भुजगार, पदनिक्षेप और वृद्धिसंक्रम का निर्देश करते हुए प्रकरण को समाप्त किया गया है।

१३. लेश्या - लेश्या का निक्षेप चार प्रकार का है - नामलेश्या, स्थापनालेश्या, द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। यहाँ इन नामलेश्या आदि निक्षेपों का स्पष्टीकरण करते हुए तद्व्यतिरिक्त द्रव्यलेश्या के विषय में लिखा है कि चक्षु इन्द्रियद्वारा ग्राह्य पुद्गलस्कन्धों के कृष्ण आदि छह वर्णों की द्रव्यलेश्या संज्ञा है। यहाँ इनके उदाहरण भी दिये गये हैं। भावलेश्या के आगम और नोआगम ये भेद करके नोआगम भावलेश्या का वही लक्षण दिया है जो सर्वत्र प्रसिद्ध है। पकृत में नैगमनय की अपेक्षा नोआगमद्रव्यलेश्या और भावलेश्या प्रकृत है यह कहकर द्रव्यलेश्या के असंख्यात लोकप्रमाण भेद होने पर भी छह भेद ही क्यों किये गये हैं इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

आगे शरीर के आश्रय से किन जीवों के कौन लेश्या होती है यह बतलाकर छह शरीरों की द्रव्य लेश्याओं का अलग-अलग विचार किया गया है। यद्यपि कृष्णादि द्रव्यलेश्याओं में एक एक गुण की मुख्यता से नामकरण किया जाता है पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इनमें से प्रत्येक में एक-एक गुण ही होता है, इसलिए आगे किस

लेश्या में किस क्रम से कौन-कौन गुण होते हैं इसका स्पष्टीकरण तालिका द्वारा कराया जाता है -

लेश्या	१	२	३	४	५
कृष्णाले०	शुक्ल	पीत	लाल	नील	कृष्ण
नीलले०	शुक्ल	पीत	लाल	कृष्ण	नील
कापोतले०	शुक्ल	पीत	कृष्ण	लाल	नील
कापोतले०	शुक्ल	कृष्ण	पीत	नील	लाल
कापोतले०	कृष्ण	शुक्ल	नील	पीत	लाल
पीतले०	कृष्ण	नील	शुक्ल	पीत	लाल
पद्मले०	कृष्ण	नील	शुक्ल	लाल	पीत
पद्मले०	कृष्ण	नील	लाल	शुक्ल	पीत
पद्मले०	कृष्ण	नील	लाल	पीत	शुक्ल
शुक्लले०	कृष्ण	नील	लाल	पीत	शुक्ल

इन लेश्याओं में से जिसमें सर्वप्रथम गुणका निर्देश किया है वह उसमें सबसे स्तोक है और आगे के गुण उस लेश्या में उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हैं । कापोत और पद्मलेश्या तीन-तीन प्रकार से निष्पन्न होती हैं । शेष लेश्याएें एक ही प्रकार से निष्पन्न होती हैं । तथा कापोत लेश्या में द्विस्थानिक अनुभाग होता है और शेष लेश्याओं में द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु:स्थानिक अनुभाग होता है ।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से उत्पन्न हुए जीव के संस्कारविशेष का नाम भाव लेश्या है । द्रव्यलेश्या के समान ये भी छह प्रकार की होती हैं । उनमें से कापोत लेश्या तीव्र होती है, नीललेश्या तीव्रतर होती है और कृष्णलेश्या तीव्रतम होती है । पीतलेश्या मन्द होती है, पद्मलेश्या मन्दतर होती है और शुक्ललेश्या मन्दतम होती है । ये छहों लेश्याएें षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि को लिए हुए होती हैं । तथा इनमें भी कापोतलेश्या द्विस्थानिक अनुभाग को लिए हुए होती हैं और शेष पाँच लेश्याएँ द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु:स्थानिक अनुभाग को लिए हुए होती हैं । इस प्रकार इस अधिकार में लेश्याओं का उक्त

प्रकार से वर्णन करके अन्त में तीव्रता और मन्दता की अपेक्षा अल्पबहुत्व बतलाकर यह अधिकार समाप्त किया गया है।

१४. लेश्याकर्म - कृष्णादि लेश्याओं में से जिसके आलम्बन से मारण और विदारण आदि जिस प्रकार की क्रिया होती है उसके अनुसार उसका वह लेश्याकर्म माना गया है। उदाहरणार्थ कृष्णलेश्या से परिणत हुआ जीव निर्दय, कलहशील, रौद्र, अनुबद्धवैर, चोर, चपल, परस्त्री में आसक्त, मधु, मांस और सुरा में विशेष रुचि रखनेवाला, जिन शासन के सुनने में अतत्पर और असयंमी होता है। इसी प्रकार अन्य लेश्याओं का अपने-अपने नामानुरूप कर्म जानना चाहिए। इस प्रकार इस अधिकार में लेश्याकर्म का विचार किया गया है।

१५. लेश्यापरिणाम - कौन लेश्या किस रूप से अर्थात् किस वृद्धि या हानिरूप से परिणत होती है इस बात का विचार इस अधिकार में किया गया है। इसमें बतलाया है कि कृष्णलेश्या में षट्स्थानपतित संक्लेश की वृद्धि होने पर उसका अन्य लेश्या में संक्रमण न होकर स्वस्थान में ही संक्रमण होता है। मात्र विशुद्धि की वृद्धि होने पर उसका अन्य लेश्या में भी संक्रमण होता है और स्वस्थान में भी संक्रमण होता है। इतना अवश्य है कि कृष्णलेश्या में से नीललेश्या में आते समय नियम से अनन्तगुणहानि होती है। नीललेश्या में संक्लेश की वृद्धि होने पर स्वस्थान संक्रमण भी होता है और नील से कृष्णलेश्या में भी संक्रमण होता है। तथा विशुद्धि होने पर नीललेश्या से कृष्ण लेश्या में जाते समय संक्लेश की अनन्तगुणी वृद्धि होती है और नील से कापोत लेश्या में आते समय संक्लेश की अनन्तगुणी हानि होती है। इसी प्रकार शेष चार लेश्याओं में भी परिणाम का विचार कर लेना चाहिए। इस प्रकार इस अधिकार में परिणाम का विचार कर तीव्रता और मन्दता की अपेक्षा संक्रम और प्रतिमह के अल्पबहुत्व का विचार करते हुए इस अधिकार को समाप्त किया गया है।

१६. सातासात- इन अनुयोगद्वार का यहाँ पर पाँच अधिकारों के द्वारा विचार किया गया है वे पाँच अधिकार ये हैं - समुत्कीर्तना,अर्थपद, पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व समुत्कीर्तना में बतलाया गया है कि एकान्त सात और अनेकान्त सातके भेद से सात दो प्रकार का है। तथा इसी प्रकार एकान्त असात और अनेकान्त असात के भेद से असात भी दो प्रकार का है। अर्थपद का निर्देश करते हुए बतलायाहै कि जो कर्म सातरूप सेबद्ध होकर यथावस्थित रहते हुए वेदा जाता है वह एकान्त सातकर्म है और इससे अन्य अनेकान्त सातकर्म हैं। इसी प्रकार जो कर्म असातरूप से बद्ध होकर यथावस्थित रहते हुए वेदा जाता है वह एकान्त असात कर्म है और इससे अन्य अनेकानत असातकर्म है।

पदमीमांसा में इनके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य पदों के अस्तित्व की सूचना मात्र की गई है। स्वामित्व में इन उत्कृष्ट आदि भेद रूप एकान्त सात आदि के स्वामित्व का निर्देश किया गया है। तथा अन्त में प्रमाण का विचार कर अल्पबहुत्व का निर्देश करते हुए इस अनुयोगद्वार को समाप्त किया गया है।

१७. दीर्घ-ह्रस्व - इसमें दीर्घ को प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का बतला कर उनका बन्ध, उदय और सत्व की अपेक्षा विचार किया गया है। सर्वप्रथम मूलप्रकृतिदीर्घ के प्रकृतिस्थानदीर्घ और एकैकप्रकृतिस्थानदीर्घ ये दो भेद करके प्रकृतिस्थान का विचार करते हुए बतलाया है कि आठ प्रकृतियों का बन्ध होने पर प्रकृतिदीर्घ और उनसे न्यून प्रकृतियों का बन्ध होने पर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। इसी प्रकार उदय और सत्व की अपेक्षा प्रकृतिदीर्घ और नोप्रकृतिदीर्घ को घटित करके बतला कर उत्तरप्रकृतियों में से किस मूलकर्म की उत्तर प्रकृतियों में बन्धकी अपेक्षा प्रकृतिदीर्घ सम्भव नहीं है और किसकी उत्तर प्रकृतियों में प्रकृतिदीर्घ और नोप्रकृतिदीर्घ सम्भव है यह बतलाया गया है। आगे स्थितिदीर्घ, अनुभागदीर्घ और प्रदेशदीर्घ को भी बतलाया गया है।

आगे दीर्घ के समान ह्रस्व के भी चार भेद करके उनका विचार किया गया है। उदाहरणार्थ बन्ध की अपेक्षा प्रकृतिह्रस्व का निर्देश करते हुए बतलाया है कि एक-एक प्रकृति का बन्ध करने वाले के प्रकृतिह्रस्व होता है और इससे अधिक का बन्ध करने वाले के नोप्रकृतिह्रस्व होता है। इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियों का आलम्बन लेकर बन्ध, उदय और सत्व की अपेक्षा दीर्घ और ह्रस्व के विचार करने में इस अनुयोगद्वार की प्रवृत्ति हुई है।

१८. भवधारणीय - इस अनुयोगद्वार में भव के ओघभव, आदेशभव और भवग्रहणभव ये तीन भेद करके बतलाया है कि आठ कर्म और आठ कर्मों के निमित्त से उत्पन्न हुए जीव के परिणाम को ओघभाव कहते हैं। चार गति नामकर्म और उनसे उत्पन्न हुए जीव के परिणाम को आदेशभव कहते हैं। इनके अनुसार आदेशभव चार प्रकार का है- नारक भव,तिर्यञ्चभव, मनुष्यभव और देवभव। तथा भुज्यमान आयु गलकर नई आयु का उदय होने पर प्रथम समय में उत्पन्न हुए व्यञ्जन संज्ञावाले जीव के परिणाम को या पूर्वशरीर का त्याग होकर नूतन शरीर के ग्रहण को भवग्रहणभव कहते हैं। प्रकृत में भवग्रहणभव का प्रकरण है। यद्यपि जीव अमूर्त है फिर भी उसका कर्म के साथ अनादि सम्बन्ध होने से संसार अवस्था में वह मूर्तभाव को प्राप्त हो रहा है, इसलिए अमूर्त जीव का मूर्त कर्म के साथ बन्ध बन जाताहै। ऐसा यह जीव शेष कर्मों के द्वारा न धारण किया

जाकर आयुकर्मके द्वारा धारण किया जाता है, अतएव भवधारणीय आयुकर्म ठहरता है। इसका पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व को आलम्बन लेकर विस्तार से विचार वेदना अनुयोगद्वार में किया है, इसलिए उस सब व्याख्यान को वहाँ से जान लेना चाहिए। इस प्रकार भवग्रहणभव के व्याख्यान करने में यह अनुयोगद्वार चरितार्थ है।

१९. पुद्गलात्त - इसमें पुद्गल के चार निक्षेप करके प्रकृत में नोआगमतद्व्यतिरिक्त द्रव्यपुद्गल का विचार करते हुए बतलाया गया है कि पुद्गलात्त अर्थात् पुद्गलों का आत्मसात्कार छह प्रकारसे होता है - ग्रहण से, परिणाम से, उपभोग से, आहार से, ममत्व से और परिग्रह से। इनका खुलासा करते हुए बतलाया है कि हाथ और पैर आदि से ग्रहण किये गये दण्ड आदिपुद्गल ग्रहण से आत्तपुद्गल हैं। मिथ्यात्व आदि परिणामों से अपने किये गये पुद्गल परिणाम से आत्तपुद्गल हैं। मिथ्यात्व आदि परिणामों से अपने किये गये पुद्गल परिणाम से आत्तपुद्गल हैं। उपभोग से अपने किये गये गन्ध और ताम्बूल आदि पुद्गल उपभोग से आत्तपुद्गल हैं। खान-पान के द्वारा अपने किये गये पुद्गल आहार से आत्तपुद्गल हैं। अनुराग से ग्रहण किये गये पुद्गल ममत्व से आत्तपुद्गल हैं और स्वाधीन पुद्गल परिग्रह से आत्तपुद्ल हैं। इन सबका वर्णन इस अनुयोगद्वार में किया गयाहै। अथवा पुद्गलात्त का अर्थ पुद्गलात्मा है। पुद्गलात्मा से रूपादि गुणवाला पुद्गल लिया गया है। अत: उसके गुणों की षट्स्थानपतित वृद्धि आदि का इस अनुयोगद्वार में विचार किया गया है।

२०. निधत्त-अनिधत्त - इस अनुयोगद्वार में बतलाया है कि जिस प्रदेशाग्रका उत्कर्षण और अपकर्षण तो होता है पर उदीरणा और अन्य प्रकृतिरूप से संक्रमण नहीं होता उसकी निधत्त संज्ञा है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से निधत्त भी चार प्रकार का है और अनिधत्त भी चार प्रकार का है। इस विषय में यह नियम है कि दर्शनमोहनीय की उपशामना या क्षपणा करते समय मात्र दर्शनमोहनीय कर्म अनिवृत्तिकरण में अनिधत्त हो जाता है। अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करते समय मात्र अनन्तानुबन्धीचतुष्क अनिवृत्ति करण में अनिधत्त हो जाता है और चारित्रमोहनीय की उपशामना और क्षपणा करते समय अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में सबकर्म अनिधत्त हो जाते हैं। तथा अपने अपने निर्दिष्ट स्थान के पूर्व दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और शेष सब कर्म निधत्त और अनिधत्त दोनों प्रकार के होते हैं। यह अर्थपद है, इसके अनुसार चौबीस अनुयोगद्वारों का आश्रय लेकर इस अनुयोगद्वार का कथन करना चाहिए।

२१. निकाचित-अनिकाचित - इन अनुयोगद्वार में बतलाया है कि जिस प्रदेशाग्रका न तो अपकर्षण होता है, न उत्कर्षण होता है, न अन्य प्रकृतिरूप से संक्रमण होता है और न उदीरणा होती है। जिसके ये चारों नहीं होते उसकी निकाचित संज्ञा है। यह प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। इसके विषय में भी यह नियम है कि पूर्वोक्तप्रकार से अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करने पर सब कर्म अनिकाचित हो जाते हैं। किन्तु इसके पूर्व वे निकाचित और अनिकाचित दोनों प्रकार के होते हैं। इन निकचित और अनिकाचित प्रदेशाओं की भी चौबीस अनुयोगद्वारोंके आश्रय से प्ररूपणा करनी चाहिए। यहाँ उपशान्त, निधत्त और निकाचित के सन्निकर्ष का कथन करते हुए बतलाया है कि जो प्रदेशाग्र अप्रशस्त उपशामनारूप से उपशान्त है वह न निधत्त है और न निकाचित है। जो निधत्त प्रदेशाग्र है वह न उपशान्त है और न निकाचित है। तथा जो निकाचित प्रदेशाग्र है वह न उपशान्त है और न निधत्त है। आगे अध:प्रवृत्तसंक्रम के साथ इन तीनों के अल्पबहुत्व का निर्देश करके यह अनुयोगद्वार समाप्त किया गया है।

२२. कर्मस्थिति - इन अनुयोगद्वार के विषय में दो उपदेशों का निर्देश करके यह अनुयोगद्वार समाप्त किया गया है। पहला उपदेश नागहस्ति के मत के अनुसार निर्दिष्ट किया है और दूसरा उपदेश आर्यमंक्षु के मत का निर्देश करता है। नागहस्तिक्षमाश्रमणका कहना है कि कर्मस्थिति अनुयोगद्वार में कर्मों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के प्रमाण का कथन किया जाता है और आर्यमंक्षु का कहना है कि इसमें कर्मस्थिति के भीतर सञ्चित हुए सत्कर्म की प्ररूपणा की जाती है।

२३. पश्चिमस्कन्ध - इस अनुयोगद्वार में तीन भवों में से भवग्रहणभव को प्रकृत बतलाकर चरम भव में जीव के सब कर्मों की बन्धमार्गणा, उदयमार्गणा, उदीरणमार्गणा, संक्रममार्गणा और सत्कर्ममार्गणा इन पाँच मार्गणाओं का विचार किया जाता है यह बतलाया गया है। इसके आगे जो जीव सिद्ध होता है उसकी अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रह जाने पर तेरहवें गुणस्थान में कर्मों की और आत्मप्रदेशों की किस क्रम से क्या-क्या क्रिया होती है तथा चौदहवें गुणस्थान में यह जीव किस रूप से कितने काल तक अवस्थित रहकर कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध होता है यह बतलाया गया है। इस प्रकार इन सब बातों का विवेचन करने के बाद यह अनुयोगद्वार समाप्त किया गया है।

२४. अल्पबहुत्व - इन अनुयोगद्वार के प्रारम्भ में यह सूचना की है कि नागहस्ति भट्टारक इसमें सत्कर्म काविचार करते हैं। वीरसेन स्वामी ने इस उपदेश को प्रवृत्तमान बतला कर इसके अनुसार सत्कर्म के प्रकृतिसत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्म और

प्रदेशसत्कर्म ये चार भेद करके सर्वप्रथम मूल और उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा सत्कर्म का विचार किया है। उसमें भी मूल प्रकृतियों के स्वामित्व की सूचना मात्र करके उत्तरप्रकृतियों के स्वामित्व को विस्तार से बतला कर एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भङ्गविचय काल, अन्तर और स्वामित्व को स्वामित्व के बल से जान लेने की सूचना करके स्वस्थान और परस्थान दोनों प्रकार के अल्पबहुत्वों में से परस्थान अल्पबहुत्व का ओघ से और चारों गतियों के साथ असंज्ञी मार्गणा में विचार किया है। भुजगार, पदनिक्षेप और वृद्धि यहाँ पर नहीं है, अत: इनके विषय में इतनी मात्र सूचना देकर प्रकृतिस्थानसत्कर्म के विषय में लिखा है कि मोहनीय को कषायप्राभृत के अनुसार जानना चाहिए और शेष कर्मों की प्रकृतिस्थानप्ररूपणा सुगम है।

स्थितिसत्कर्म का विचार करते हुए मूलप्रकृतिस्थितिसत्कर्म का वर्णन सुगम कहकर उत्तर प्रकृतियों के स्थितिसत्कर्म का जघन्य और उत्कृष्ट अद्धाच्छेद तथा जघन्य और उत्कृष्ट स्वामित्व का विस्तार से विचार कर तथा एक जीव की अपेक्षा काल आदि अनुयोगद्धारों को स्वामित्व के बल से जाननेकी सूचनामात्र करकेअल्पबहुत्व दिया गया है।

यहाँ पर श्रद्धाच्छेद का विचार करते हुए 'जट्ठिदि' और 'जाओ ट्ठिदीओ' ये शब्द आये हैं। प्राय: अनेक स्थानोंपर 'जं ट्ठिदि' भी मुद्रित है। पर उससे 'जट्ठिदि' का ही ग्रहण करना चाहिए। इन शब्दों द्वारा दो प्रकार की स्थितियों का निर्देश किया गया है। 'जट्ठिदि' शब्द 'यत्स्थिति' का द्योतक है और 'जाओ ट्ठिदीओ' से स्थितिगत निषेकों का परिमाण लिया गया है। उदाहरणस्वरूप पाँच निद्राओं की उत्कृष्ट यत्स्थिति पूरी तीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण बतलाई है और निषेकों के अनुसार स्थितियाँ एक समय कम तीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण बतलाई है। अभिप्राय इतना है कि पाँच निद्राओं का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होते समय उदय नहीं होता, इसलिए पूरी स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर होकर भी उस समय सब निषेक एक कम तीस कोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण होते हैं, क्योंकि अनुदयवाली प्रकृतियों का एक निषेक उदय समय के पूर्व स्तिबुक संक्रमण के द्वारा अन्य प्रकृतिरूप परिणत होता रहता है, इसलिए इनकी यत्स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण होकर भी निषेकों के अनुसार स्थिति एक समय कम होती है। यहाँ बन्ध के समय आबाधा काल के भीतर प्राक्तनबद्ध कर्मों के निषेक का सत्व होने से एक समय कम तीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण निषेक बन जाते हैं इतना विशेष जानना चाहिए। यहाँ पर विशेष नियम इस प्रकार जानना चाहिए -

१- जिन कर्मों का स्वोदय से स्थितिबन्ध होता है उनकी यत्स्थिति और निषेकों

के परिमाण के अनुसार स्थिति समान होती है। बन्धोत्कृष्ट स्थिति के समान ही उनका दोनों प्रकार का उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म होता है।

२- जिन कर्मों का परोदय में उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है उनकी उत्कृष्ट यत्स्थिति तो बन्धोत्कृष्ट स्थिति के ही समान होती है। मात्र निषेकों के परिमाण के अनुसार उत्कृष्ट स्थिति सत्कर्म बन्धोत्कृष्ट स्थिति से एक समय कम होता है।

३- जिन कर्मों का स्वोदय में उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम से उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म प्राप्त होता है उनकी उत्कृष्ट यत्स्थितिसत्कर्म और निषेकों के परिमाण के अनुसार उत्कृष्ट स्थिति सत्कर्म तज्जातीय कर्म के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से एक आवलि कम होता है। मात्र सम्यक्त्व का उक्त दोनों प्रकार का उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म अन्तर्मुहूर्त कम जानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होकर अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्राप्त होने पर मिथ्यात्व की अन्तर्मुहूर्त कम उत्कृष्ट स्थिति का सम्यक्त्वरूप से संक्रमण होता है।

४- जिन कर्मों का परोदय में उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम से उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म प्राप्त होता है उनकी उत्कृष्ट यत्स्थिति तज्जातीय कर्म के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से एक आवलि कम होती है और निषेकों के परिमाण के अनुसार उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म तज्जातीय कर्म के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से एक समय अधिक एक आवलि कम होता है। मात्र सम्यग्मिथ्यात्व का उक्त दोनों प्रकार का उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म मिथ्यात्व के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से अन्तर्मुहूर्त कम जानना चाहिए। कारण का कथन स्पष्ट है।

५- चारों आयुओं का उत्कृष्ट अबाधा काल सहित उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट यत्स्थिति सत्कर्म होता है और अपने-अपने निषेकों के परिमाण के अनुसार निषेकगत उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म होता है।

इसी प्रकार जघन्य स्थितिसत्कर्म के विषय में भी अलग-अलग प्रकृतियों को ध्यान में रखकर नियम घटित कर लेने चाहिए।

अनुभागसत्कर्म का विचार करते हुए पहले क्रम से स्पर्धकप्ररूपणा, घातिसंज्ञा और स्थान संज्ञा का प्ररूपण करके जघन्य और उत्कृष्ट स्वामित्व और कुछ मार्गणाओं में अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

अनुभागसत्कर्म के पश्चात् प्रदेश उदीरणा के आश्रय से अल्पबहुत्व बतलाते हुए मूल और उत्तरप्रकृतियों का आलम्बन लेकर वह बतलाया गया है। आगे उत्तरप्रकृतिसंक्रम

में, मोहनीय सम्बन्धी प्रकृतिस्थानसंक्रम, जघन्य स्थितिसंक्रम, अनुभागसंक्रम, जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के आश्रय से प्रदेशसंक्रम और स्वतन्त्ररूप से प्रदेशसंक्रम के अल्पबहुत्व का विचार करके प्रदेशसंक्रम अधिकार को पूर्ण किया गया है।

इसके पश्चात् पहले कहे गये लेश्या, लेश्यापरिणाम, लेश्याकर्म, सात-असात, दीर्घ-ह्रस्व, भवधारण, पुद्गलात्त, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित-अनिकाचित, कर्मस्थिति और पश्चिमस्कन्ध इन अनुयोगद्वारों का पुन: पृथक्-पृथक् उल्लेख करके अलग-अलग सूचनाएँ दी गई हैं। अन्त में महावाचक क्षमाश्रमण के अभिप्रायानुसार अल्बहुत्व अनुयोगद्वार के आश्रय से सत्कर्म का विचार करते हुए उत्तरप्रकृतिसत्कर्म अल्पबहुत्वदण्डक, मोहनीय प्रकृतिस्थानसत्कर्म अल्पबहुत्व, उत्तर प्रकृतिस्थिति सत्कर्म अल्पबहुत्व, उत्तरप्रकृति अनुभाग सत्कर्म अल्पबहुत्व और उत्तरप्रकृतिप्रदेशसत्कर्म अल्पबहुत्व देकर अल्पबहुत्व के साथ चौबीस अनुयोगद्वार समाप्त करने के साथ धवला समाप्त होती है।

यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् ।
जाताः सर्वज्ञ-सद्भावे निरारेका मनस्विनः ।।

परिशिष्ट -

- डॉ. हीरालाल जैन : ऋषितुल्य व्यक्तित्व
- प्रासंगिक महत्वपूर्ण चित्र और परिचय
- षटखंडागम की पारिभाषिक शब्द सूची



डॉ. हीरालाल जैन

संस्थापक आचार्य एवं अध्यक्ष
डॉ. हीरालाल जैन संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

इस महादेश के मध्यप्रदेश में नरसिंहपुर जिले के अंतर्गत गांगई ग्राम के प्रतिष्ठित मोदी परिवार में ५ अक्टूबर १८९९ को जन्में मेधावी हीरालाल ने राबर्टसन कालेज, जबलपुर, सेंट जॉन्स कालेज आगरा और इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद से १९२२ में एम. ए. और एल.एल.बी. की शिक्षा प्राप्त की। उन्हें नागपुर विश्वविद्यालय ने १९४८ में डी.लिट. की उपाधि से अलंकृत किया।

डॉ. हीरालाल जैन, जबलपुर विश्वविद्यालय की सेवा में १९६१ से १९६९ तक आचार्य और अध्यक्ष पद पर कार्यरत रहे। पूर्व में, अधोदर्शित पदों पर उन्होंने १९२४ से १९६० तक अध्यापन और शोध-निर्देशन किया।

प्राध्यापक संस्कृत विभाग, किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती

आचार्य संस्कृत विभाग, मारिस कालेज, नागपुर

प्राचार्य, नागपुर महाविद्यालय, नागपुर

निदेशक, प्राकृत व जैनालॉजी अध्ययन और शोध संस्थान, मुजफ्फरपुर

डॉ. हीरालाल जैन ने अपने जीवनकाल में १४ हजार पृष्ठों की शोध-सामग्री और २७ मूल्यवान ग्रंथों की रचनाकार प्राच्य भारतीय इतिहास, संस्कृति, भाषा-शास्त्र और शिलालेखीय साहित्य की सर्वाधिक जटिल दिशा में अद्वितीय कार्य किया है।

आचार्य डा. हीरालाल जैन

डॉ. हीरालाल जैन प्राच्य विद्या के विशिष्ठ क्षेत्र 'जैन सिद्धान्त' तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा साहित्य के अप्रतिम और समर्पित विद्वान थे। ईसा की दूसरी शताब्दी में रचित षट्खंडागम का सात्विक श्रमसाध्य सम्पादन और आठवीं शती में लिखी गई उसकी धवलाटीका के भाष्य, भाषानुवाद और शास्त्रीय भूमिका के साथ षोड़शिक प्रस्फोटन उनकी अनन्य उपलब्धि है। जैन धर्म, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में अपने अद्वितीय योगदान के कारण वे जैन मनीषा की परम्परा में 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' पदवी से विभूषित किये जाने के अनन्य अधिकारी हैं।

उत्तर मध्ययुगीन लुप्तप्राय: अपभ्रंश साहित्य की विविध विधाओं की प्रतिनिधि रचनाओं की खोज, सम्पादन और उनकी संरचनात्मक भूमिका के साथ पुनर्रचना डॉ. हीरालाल जैन की अनुपम देन है। इस उपलब्धि से हिन्दी और आधुनिक भाषाओं के साहित्य की पूर्व परम्परा की टूटी कड़ियाँ जुड़ती हैं और भाषिक विकास तथा भारतीय चिंताधारा की रससिद्ध परम्परा पुष्ट होती है।

डॉ. हीरालाल जैन का व्यक्तित्व प्रभावशाली था। देव-गन्धर्वों की तरह सांचे में ढली उनकी गौरवर्णी देहयष्टि, उन्नत ललाट, आजानुबाहु भव्य तन और दिव्य मन के हीरालाल किसी भी परिधान में मनमोहक थे। अनुपमेय थे। अनन्वय अलंकार की तरह अपनी उपमा आप ही थे। उनमें अपूर्व विद्धता थी जो अध्यापक की गरिमा और चिंतन की गुरुता से सदैव भासमान रही। मधुरालाप सहजानुराग, ज्ञान के प्रति आग्रह, सहज जिज्ञासा, समताभाव, आडम्बर-शून्य सहज, सरल बौद्धिक तरलता, व्यक्ति को परखने की अद्भुत क्षमता, आसक्ति और कषायों पर सहज नियंत्रण, उनका प्रकृत रूप था। नियमित प्राणायाम और योगाभ्यास से जीवन पर्यंत उनकी देह आकर्षक और चित्त सुकुमार बना रहा।

५ अक्टूबर १९९९ को डॉ हीरालाल जैन की जन्म शताब्दी पूरी होती है और ५ अक्टूबर २००० को शताब्दी वर्ष। शतवार्षिकी आयोजनों में उनके अप्रकाशित साहित्य का प्रकाशन प्रमुख उद्यम है। शतवार्षिकी प्रकाशन के अंतर्गत उनके जीवन, व्यक्तित्व, कृतित्व और कुल परम्परा तथा वंशवृक्ष की संक्षिप्त जानकारी हमारी योजना का अनिवार्य अंग है।

जीवन क्रम और रचनात्मक वर्ष

१८९९ - पूर्व गोंडवाना राज्य (अब जिला- नरसिंहपुर तहसील गाडरवारा) के गांगई ग्राम के सुप्रसिद्ध मोदी कुल के धर्मपुरुष मोदी बालचंद जैन की सहधर्मिणी झुतरोदेवी की कोख से ५ अक्टूबर को जन्म।

१९०९ - गांगई ग्राम की प्राथमिक शाला से प्रायमरी परीक्षा शतप्रतिशत अंकों से उत्तीर्ण। इसी वर्ष गाडरवारा के मिडिल स्कूल में प्रवेश। सप्ताहांत में पितृगृह जाकर अगले ६ दिनों के लिये पूड़ी और आचार ले आते। अंतत: आश्रयस्थल राममंदिर की पुजारिन से अन्न पकाना सीखकर शेष विद्यार्जन काल में स्वपाकी रहकर संतुष्ट।

१९१३ - गाडरवारा से मिडिल परीक्षा सर्वोच्च अंकों में उत्तीर्ण कर जिला सदर मुकाम नरसिंहपुर में हाई स्कूल में प्रवेश। अब तक के छात्र हीरालाल को हेडमास्टर महोदय द्वारा उत्कृष्ठ छात्र होने के प्रतिफल में जैन सरनेम (कुलनाम) लिखने का निर्देश दिया। इसी वर्ष जमुनिया (गोटेगांव) वासी श्री शिवप्रसाद की सुकन्या सोनाबाई, जो पतिगृह में ''खिलौना'' नाम से ख्यात हुई, से १४ वर्ष की अल्पायु में पाणिग्रहण।

१९१७ - मैट्रिक की परीक्षा उच्चतम श्रेणी में उत्तीर्ण कर जबलपुर के रावर्टसन कॉलेज में उच्च शिक्षार्थ प्रवेश लिया। इसी वर्ष उन्हें प्रथम कन्या की उपलब्धि हुई जो भरे यौवन में पति और दो संतानों को छोड़कर स्वर्गवासी हुई। इस कालेज के अध्ययन काल में उन्हें जो दूसरी उपलब्धि हुई वह जीवन पर्यंत सुखकारी थी। यह उपलब्धि थी कुंजीलाल दुबे, श्री भट्ट और श्री ताराचंद श्रीवास्तव की मैत्री।

१९२० - बी.ए. प्रथम श्रेणी उत्तीर्ण में करने के बाद वे पहले म्योर कालेज आगरा में पढ़ने गये। किन्तु प्राच्य विद्या और संस्कृत भाषा और साहित्य विशेषज्ञता प्राप्त करने की ललक के कारण आगरा छोड़कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्ययन हेतु प्रवेश मिला। उनके इस अध्ययन काल की अन्य उपलब्धि थी - श्री जमनाप्रसाद सब जज और श्री लक्ष्मीचंद से मैत्री।

१९२२ - उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय संस्कृत में विशेष योग्यता से एम.ए. और पिता की आज्ञा के परिपालन में एल.एल.बी. परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष उन्हें एक मात्र पुत्र की प्राप्ति हुई जिसने पिता के आचार विचार को जीवन-पाथेय बनाकर

प्रोफेसर, प्रशासक प्राचार्य और विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर रहकर शिक्षा जगत की श्लाघ्य सेवा की।

१९२४ - इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा शोध-वृत्ति प्रदान कर शोधकार्य हेतु प्रेरित किया। इन्हीं दिनों उन्होंने जस्टिस जुगमंदर जैन को गोम्मटसार के अनुवाद में सहयोग दिया। यही समय था जब वे कारंजा ग्रंथ भण्डार का निरीक्षण कर अपभ्रंश भाषा में रचित ग्रंथों के चिंतन और अभिव्यक्ति सौन्दर्य से परिचित हुये और उन्होंने प्राच्य विद्या के लुप्त रत्नों के उद्धार का मौन संकल्प लिया। इसी संकल्प की परिणति देश विदेश में समादृत प्राच्यविद्याचार्य के रूप में दिखाई देती है।

१९२५ - इस वर्ष उन्हें इंदौर राज्य की न्यायिक सेवा, विश्वविद्यालय की उच्चतम शोध - वृत्ति और म.प्र. एवं बरार शासन की महाविद्यालयीन सेवा के निमंत्रण मिले। रायबहादुर डॉ.हीरालाल के आत्मीय निर्देश को स्वीकार कर उन्होंने किंग एडवर्ड कालेज अमरावती में असि. प्रोफेसर पद का कार्यभार ग्रहण किया।

१९२६ - कारंजा ग्रंथ भंडारों के ग्रंथों की विषयवार व्यवस्थित सूची तैयार की।

१९२७ - अमरावती के जैन और विद्वत समाज में समादृत।

१९२८- 'जैन शिलालेख संग्रह' पुस्तक का प्रकाशन और प्रथम कन्या का विवाह।

१९३२ - 'सावयधम्म दोहा' और 'पाहुड़ दोहा' का सम्पादन और पांचवी कन्या की प्राप्ति।

१९३३ - 'णायकुमारचरिउ' का सम्पादन। पं. नाथूराम प्रेमी से भ्रातृव्रत मैत्री का समारंभ।

१९३५ - 'षट्खंडागम' का विश्लेषण और वीरसेन रचित 'धवला टीका' का सम्पादन कार्यारम्भ।

१९३८ - धर्मपत्नी सोनाबाई उर्फ खिलौना का बिछोह। ज्ञानयज्ञ के संकल्प को पूरा करने में उपसर्गों का आरंभ।

१९३९ - षट्खंडागम ग्रंथ - १ का प्रकाशन और 'जैन इतिहास की पूर्वपीठिका' की कृति की रचना।

१९४० - षट्खंडागम ग्रंथ - २ का प्रकाशन तथा एकमात्र पुत्र का विवाह।

१९४१ - षट्खंडागम ग्रंथ - ३ का प्रकाशन। पारिवारिक विवादों से मुक्ति।

१९४२ - षट्खंडागम ग्रंथ - ४ और ५ का प्रकाशन।

१९४३ - षट्खंडागम ग्रंथ - ६ का प्रकाशन। बनारस में आयोजित ओरियेन्टल कान्फरेन्स के प्राकृत और जैन अनुभाग की अध्यक्षता की तथा अपनी शोध और तर्क पूर्ण निष्पत्तियों से स्त्री-मोक्ष की पात्रता प्रमाणित की।

१९४४ - अमरावती से मॉरिस कालेज में स्थानान्तरण। होस्टल वार्डन का दायित्व मिलना। प्रथम पौत्र की उपलब्धि।

१९४५ - षट्खंडागम ग्रंथ - ७ का प्रकाशन। अमरावती के कालेज में पिता द्वारा रिक्त किये गये पद पर पुत्र की गौरवमयी पदस्थापना।

१९४७ - षट्खंडागम ग्रंथ - ८ का प्रकाशन।

१९४८ - नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा सर्वोच्च शोध-उपाधि डी.लिट् से अलंकृत। जन्मदात्री मां और प्राणप्रिय पौत्र का बिछोह।

१९४९ - षट्खंडागम ग्रंथ - ९ का प्रकाशन।

१९५२ - तत्वसमुच्चय कृति का प्रकाशन।

१९५३ - स्नेही पिता का अवसान।

१९५४ - षट्खंडागम ग्रंथ - १० का प्रकाशन। शासकीय सेवा में प्राचार्य पद से निवृत्ति।

१९५५ - षट्खंडागम ग्रंथ - ११ का प्रकाशन। बिहार शासन से निमंत्रण पाकर नवनिर्मित "वैशाली इंस्टीट्यूट ऑफ संस्कृत, पालि प्राकृत एण्ड जैनोलॉजी" के डायरेक्टर का पद ग्रहण। षट्खंडागम ग्रंथ - १२ और १३ का प्रकाशन।

१९५७ - षट्खंडागम ग्रंथ - १४ का प्रकाशन। मुजफ्फरपुर में प्राकृत इंस्टीट्यूट का समारंभ। षट्खंडागम ग्रंथ- १५ का प्रकाशन।

१९५८ - षट्खंडागम - अंतिम ग्रंथ - १६ का प्रकाशन।

१९६१ - वैशाली इंस्टीट्यूट से त्यागपत्र देकर जबलपुर विश्वविद्यालय के निमंत्रण पर संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग के प्रोफेसर और संस्थापक अध्यक्ष का पदभार ग्रहण।

१९६३ - 'मयणपराजय' का प्रकाशन। भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान 'कृति का प्रकाशन'।

१९६६ - 'सुगंध दशमी कथा' रचना का प्रकाशन।

१९६९ - विश्वविद्यालय की सेवा से निवृत्ति। पुत्र की कर्मस्थली धार में विश्राम।

१९७० - मोटर यान से देशाटन। इसी वर्ष 'सुदंसणचरिउ' ओर सुदर्शनचरित रचनाओं का प्रकाशन।

१९७३ - पुत्र की कर्मस्थली बालाघाट में विश्राम और लेखन। 'जसहरचरिउ' के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन। मोदीवंश दोहावली का प्रकाशन। मार्च - १३ को देहत्याग।

कुल परम्परा

मूल पुरुष -

महारानी दुर्गावती के पश्चात् गढ़ मण्डला के राजाओं की एक शाखा चौगान दुर्ग से गोंडल देश का राज्य शासन चलाती रही। यह दुर्ग गाडरवारा से १० मील दक्षिण में सतपुड़ा पर्वत पर निर्मित है। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी की समाप्ति के समय गोंडल नरेश के कृपापात्र एवं विश्वासप्राप्त थे एक श्रेष्ठी- श्री मचल मोदी। बुंदेल राजा प्रतापसिंह ने जब चौगान दुर्ग को अपने आक्रमण से तहस-नहस कर दिया तब गोंडल नरेश चीचली आ गये। अपने साथ वे लाये श्री मचल मोदी को। इन्होंने अपनी कर्मठता, सद्व्यवहार और धर्मप्रेम से धन-सम्पत्ति, सम्मान और यश अर्जित किया। अपने धर्म प्रेम को मूर्तरूप देने हेतु उन्होंने एक जिन मन्दिर का निर्माण कराया। मोदी मचल मोदीवंश के मूलपुरुष हैं।

ध्वज पुरुष -

मोदी मचल के द्वितीय पुत्र थे खेतसिंह जिनके ज्येष्ठ पुत्र हुये जवाहर। जिनदेव पर इनकी अगाध श्रद्धा थी। वे जैन समाज के कर्णधार रहे और प्रतिष्ठा पाई। अपनी धार्मिक आस्थाओं को अपने वंशजों में प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से इन्होंने जिन-मंदिर की प्रतिष्ठा करवाकर उसमें पार्श्वनाथ की मनोरम प्रतिमा स्थापित कराई।

धर्म पुरुष -

खेतसिंह के चौथे सुत थे बालचंद। जब ये केवल चार वर्ष के थे तब इनके अग्रज इन्हें लेकर गांगई आ गये थे। गांगई में भी गोंडल नरेशों की एक शाखा राज्य करती थी। बालचंद बुद्धि और कौशल के धनी थे। तथा अपने धर्म के प्रति इनकी विशेष लगन थी। मात्र १६ वर्ष की आयु में ये श्रद्धालुओं का एक संघ लेकर तीर्थयात्रा पर निकल पड़े तथा गिरनार, आबू, जयपुर, मक्सी, सिद्धवरकूट आदि तीर्थों की



भेलसा (अब विदिशा) के दानवीर श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचंदजी जिनके उदात्त दान से सोलह खंडों में जैन सिद्धांतग्रंथ षट्खंडागम सुधी श्रावकों के लाभार्थ प्रकाशित हुआ।



प्राच्यविद्याचार्य (डा.) हीरालाल जैन जिनकी सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा और २० वर्षों के सात्विक श्रम से षट्खंडागम सिद्धान्तग्रंथ सर्वसुलभ हुये।



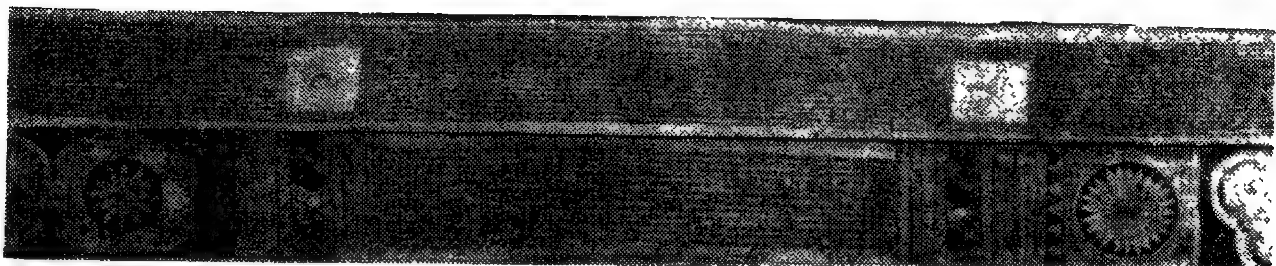
मूड़विद्री के 'गुरुवसदि' के भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामी जिनकी परम्परा-भंजक उदारता के फलस्वरूप षट्खंडागम का संशोधन और प्रामाणिक प्रकाशन संभव हुआ।



ताडपत्रीय प्रतियों को शताब्दियों से गर्वपूर्वक संरक्षण और सुरक्षा दे रहा मूड़विद्री में 'सिद्धांत वसदि' मंदिर जहां 'गुरुवसदि' नाम से मूल भट्टारक-गद्दी सदियों से चली आ रही है।



कनाड़ी लिपि में ताड़पत्र पर हस्तलिखित ग्रंथराज श्रीधवलग्रंथ की उपलब्ध प्राचीनतम प्रति का मूलपत्र। षट्खंडागम के सूत्रों के मूल पाठ और धवला टीका की मौलिकता को प्रमाणित करने के लिये इसे आधार प्रति संख्या-एक के रूप में स्वीकार किया गया है।



कनाड़ी लिपि में ताड़पत्र पर हस्तलिखित श्री महाधवल ग्रंथ की उपलब्ध प्राचीनतम प्रति का २७ वां पत्र जहां 'सत्तकम्मपंचिका' पूरी होती है।

जैन सिद्धांतग्रंथ के प्राचीनतम पाठ के लिये इसे प्रामाणिक आधार प्रति संख्या २ के रूप में मान्यता दी गई है।

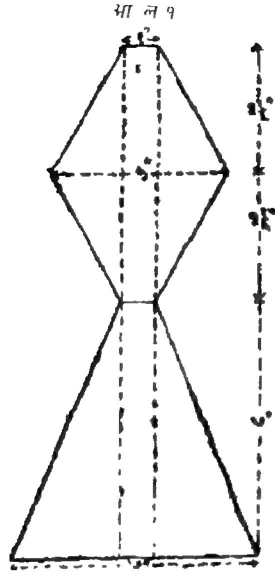
श्रीधवल
५२

५२

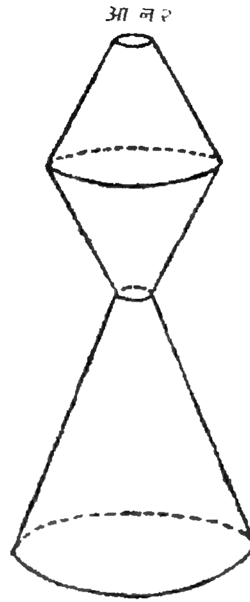
नागरी लिपि में मूलग्रंथ की कारंजा से उपलब्ध पाठालोचन के लिये आदर्श प्रति नं १ के हस्तलिखित पृष्ठ की फोटोकापी।

[illegible]

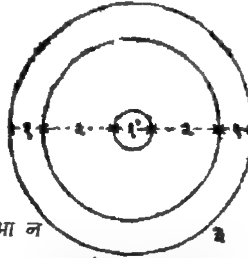
नागरी लिपि में पाठालोचन की आदर्श प्रति नं २ 'अमरावती प्रति' जिसमें संशोधन 'सहारनपुर प्रति' से लेकर पूर्ण किया गया है।



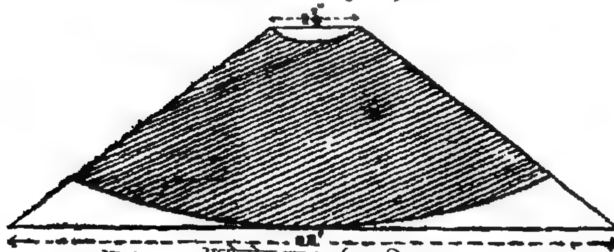
मृदगाकार लोक का सामान्य दृश्य
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १२)



मृदगाकार लोक का यथादर्शन चित्र
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १२)

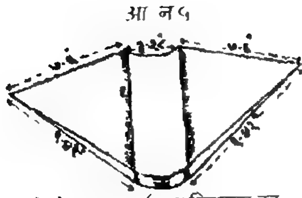


मृदगाकार लोक का तल विन्यास
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १२)

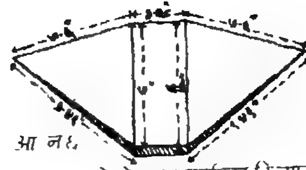


आ न ४ अधोलोक का सूर्पाकार विन्यास
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १३)

आ न ५



अधोलोक का सूर्पाकार विन्यास का
- यथादर्शन चित्र
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १३)



आ न ६

अधोलोक का सूर्पाकार विन्यास
(समीकृत)
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १३)

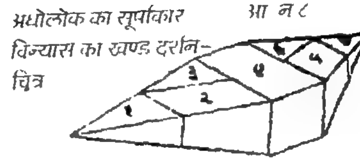
आ न ७



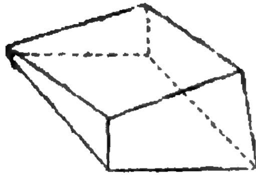
अधोलोक का सूर्पाकार का उपरितम दृश्य
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १३)

अधोलोक का सूर्पाकार विन्यास का खण्ड दर्शन-चित्र

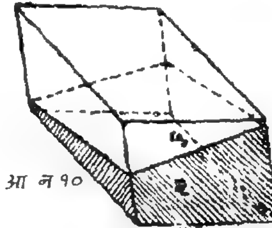
आ न ८



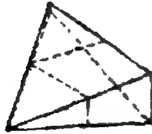
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १३-१४)



आ न ९
खड न २ और ५ का यथादर्शन चित्र
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १४)

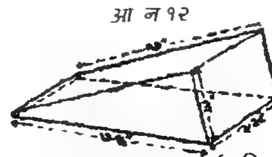


आ न १०
खड न २ और ५ का एक पर एक रखने पर दृश्य
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १४)

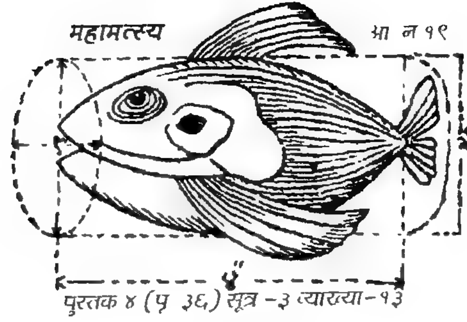


आ न ११
खड न १-३-६-७ के यथादर्शन चित्र मे त्रिकोणाकार और चतुरस्त्राकार खड
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ. १४)

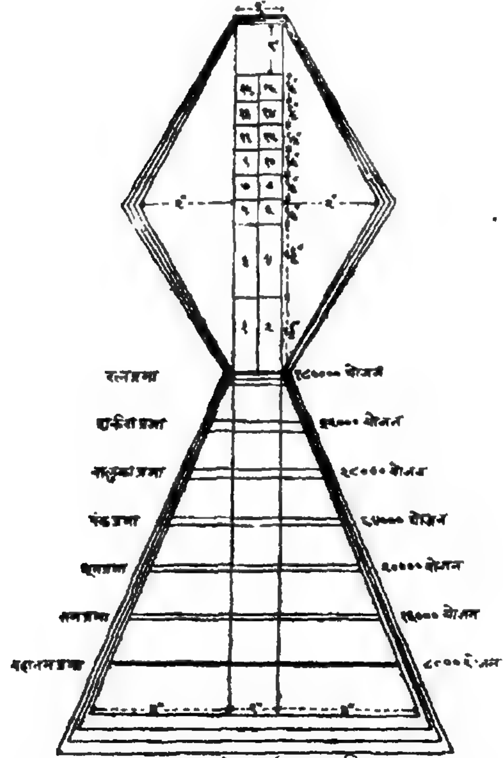
आ न १२



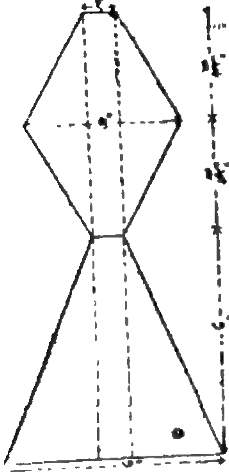
मध्यखड न ४ का यथादर्शन चित्र
सूत्र -२ भाष्य-६,७,८
पुस्तक ४ (पृ १३)



पुस्तक ४ (पृ ३६) सूत्र -३ व्याख्या-१३

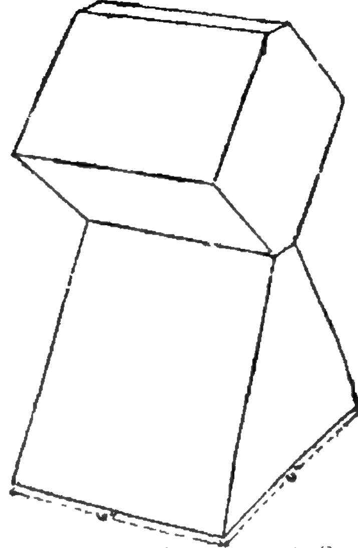

-लोकाकारा मे स्वर्ग-नरक विभाग-
(आ न २०)
पुस्तक ४ (पृ ८७-९२) सूत्र -२२

आ न १३



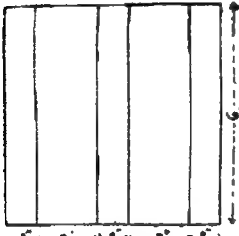
चतुरस्राकार लोक पूर्व पश्चिम दृश्य
सूत्र -२ भाष्य-८ ९
पुस्तक ४ (पृ १९-२०)

आ न १४



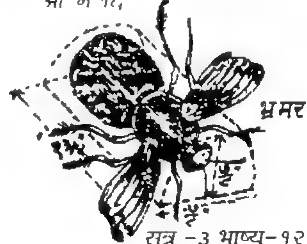
चतुरस्राकार लोक का यथादर्शन चित्र
सूत्र -२ भाष्य-८
पुस्तक ४ (पृ १९-२०)

आ न १५

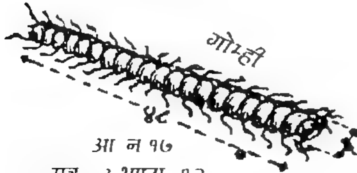


चतुरस्राकार लोक का तल विन्यास
सूत्र -२ भाष्य-८
पुस्तक ४ (पृ १९-२०)

आ न १६

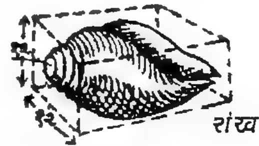


सूत्र -३ भाष्य-१२
पुस्तक ४ (पृ ३४)



आ न १७
सूत्र -३ भाष्य-१२
पुस्तक ४ (पृ ३४)

आ न १८



सूत्र -३ भाष्य-१३
पुस्तक ४ (पृ ३५)

भक्ति-भाव से वंदना की। वहां से लौटकर ये स्वतंत्र रूप से व्यवसाय में जुट गये तथा विपुल धन अर्जित किया। अचल और अविनाशी सम्पत्ति के स्वामी बालचंद ने गांगई में जिन-मंदिर का निर्माण कराया। इससे गांगई नरेश अत्यंत प्रभावित हुये। मोदी बालचंद ने गोंडल राजा से सदा प्रतिष्ठा और अग्रज का मान पाया।

प्रज्ञा पुरुष -

बालचंद के छः पुत्र हुये। उनमें मझले थे हीरालाल। ये अपनी शिक्षा और अध्ययन में विशेष रुचि रखते हुये अपनी ही टेक से आगे और आगे पढ़ते गये। गांगई से प्राथमिक, गाडरवारा से मैट्रिक, जबलपुर से इन्टर, आगरा से बी.ए. और इलाहाबाद से एम. ए. करने के बाद संस्कृत में शोधवृत्ति पाकर प्राचीन साहित्य के शोध की ओर अग्रसर हुये। अमरावती के किंग एडवर्ड कॉलेज में प्रोफेसर नियुक्त होने के बाद इन्होंने प्राचीन ग्रन्थों के उद्धार का बीड़ा उठाया। पाहुड़ दोहा, सावय धम्म दोहा, करकंडचरिउ एवं णायकुमार चरिउ प्रभृत अपभ्रंश ग्रंथों के सम्पादन प्रकाशन पर विश्वविद्यालय द्वारा इन्हें डी.लिट् की उपाधि से विभूषित किया गया। षट्खण्डागम और उसकी धवला टीका का सम्पादन इनके अध्यवसाय की चरम उपलब्धि थी। हिन्दी अनुवाद सहित यह ग्रन्थ १६ भागों में प्रकाशित है।

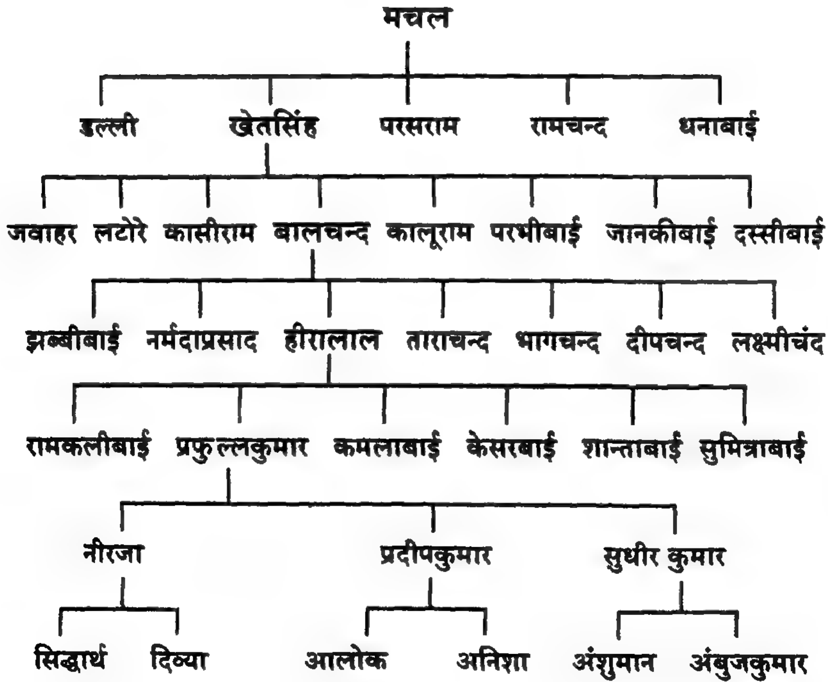
बिहार सरकार के आग्रह पर इन्होंने वैशाली में जैन शोध संस्थान स्थापित और विकसित किया। इसी अवधि में लिखी रचना 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' इतनी लोकप्रिय हुई कि उसका विभिन्न भाषाओं में अनुवाद किया गया। जबलपुर विश्वविद्यालय के विशेष अनुरोध पर आपने वैशाली से यहाँ आकर संस्कृत विभाग को पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के उच्चस्तरीय शोध का केन्द्र बनाया। 'तत्व समुच्चय' के प्रणयन के अतिरिक्त १५० शोधपत्रों का प्रकाशन और सुगंधदशमी कथा, सुदंसण चरिउ, मयण पराजय, कहकोसु, जसहर चरिउ का सम्पादन किया तथा अनेक ग्रंथमालाओं के सम्पादन मंडल के प्रमुख सम्पादक भी रहे। डॉ. हीरालाल मोहक व्यक्तित्व और अगाध ज्ञान के धनी थे। वस्तुतः वे तत्व दर्शन की विलुप्त विपुल सामग्री को प्रकाश में लाकर सटीक विवेचना करने वाले प्रज्ञा पुरुष थे।

मर्यादा पुरुष -

मोदी मचल से प्रस्फुटित वंशपरम्परा जिस मर्यादा-पुरुष में प्रफुल्लित हुई वह नाम, रूप, गुण में समत्व के धनी मोदी प्रफुल्ल हैं। धर्म की चेतना, ज्ञान और

आचरण की सौम्यता के वंश-संस्कार उनके व्यक्तित्व में जीवन्त हैं। धर्म पुरुष डॉ. हीरालाल के एकमात्र पुत्र प्रफुल्लकुमार ने अध्ययन-अध्यापन के पैतृक दाय को प्रदेश के सबसे बड़े और देश के गिने-चुने विद्यापीठों में विशिष्ट सागर विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में चरम पर पहुँचाया। जीवन मूल्यों को आचरण में प्रतिष्ठित करने वाले इस दुर्लभ शिक्षक - प्रशासक ने सिद्धांत से समझौता करने के बजाय शीर्ष काम्यपद को तृण-तुषवत त्यागकर मर्यादा-पुरुष के रूप में मोदीवंश की ख्यात और धर्म-पुरुष की आचरण-शुद्ध परम्परा को प्रतिष्ठित गरिमा दी।

मोदी वंशवृक्ष



षट्खंडागम सूत्र व धवला टीका के सोलहों भागों की सम्मिलित

पारिभाषिक शब्द-सूची

सूचना- मोटे टाइप के अंक भाग के और उसके आगे के अंक उसी भाग के पृष्ठों के सूचक हैं।

अ

एकेन्द्रिय १-२४८, २६४; ७-६२; ८-९
एकेन्द्रियजाति ६-६७
एकेन्द्रियजातिनाम १३-३६७

क्ष

घ

च

छ

ज

झ

ट

ड

त

ध

न

भ

म

व

ष

स

ह